हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

दशम भाग

उत्कर्षकाल (काव्य)

(सं० १९७५–१९९५ वि०)

प्रधान संपादक

डा० नगेंद्र

संपादक

आचार्य रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' :

श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' काशिकेय





नागरीप्रचारिणी सभा • काशी

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

दशम भाग

उत्कर्षकाल (काव्य)

(सं० १९७५–१९९५ वि०)

प्रधान संपादक

डा० नगेंद्र

संपादक

आचार्य रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' : श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' काशिकेय



नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

सं० २०२८ वि०

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सोलह भागों में)

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

सं० २०२८ वि०

प्राक्कथन

यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के प्रकाशन की सुचिंतित योजना बनाई है। यह इतिहास १६ खंडों में प्रकाशित होगा। हिंदी के प्रायः सभी मुख्य विद्वान् इस इतिहास के लिखने में सहयोग दे रहे हैं। यह हर्ष की बात है कि इस श्रृंखला का पहला भाग, जो लगभग ८०० पृष्ठों का है, छप गया है। प्रस्तुत योजना कितनी गंभीर है, यह इस भाग के पढ़ने से ही पता लग जाता है। निश्चय ही इस इतिहास में व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

हिंदी भारतवर्ष के बहुत बड़े भूभाग की भाषा है। गत एक हजार वर्ष से इस भूभाग की अनेक बोलियों में उत्तम साहित्य का निर्माण होता रहा है। इस देश के जनजीवन के निर्माण में इस साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संत और भक्त कवियों के सारगर्भित उपदेशों से यह साहित्य परिपूर्ण है। देश के वर्तमान जीवन को समझने के लिये और उसे अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिये यह साहित्य बहुत उपयोगी है। इसलिये, इस साहित्य के उदय और विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन महत्वपूर्ण कार्य है।

कई प्रदेशों में बिखरा हुआ साहित्य अभी बहुत अंशों में अप्रकाशित है। बहुत सी सामग्री हस्तलेखों के रूप में देश के कोने कोने में बिखरी पड़ी है। नागरी-प्रचारिणी सभा ने पिछले पचास वर्षों से इस सामग्री के अन्वेषण और संपादन का काम किया है। बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश, और उत्तर प्रदेश की अन्य महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी इस तरह के लेखों की खोज और संपादन का कार्य करने लगी हैं। विश्वविद्यालयों के शोधप्रेमी अध्येताओं ने भी महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन और विवेचन किया है। इस प्रकार अब हमारे पास नए सिरे से विचार और विश्लेषण के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गई है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि हिंदी साहित्य के इतिहास का नए सिरे से अवलोकन किया जाए।

इस बृहत् हिंदी साहित्य के इतिहास में लोकसाहित्य को भी स्थान दिया गया है, यह खुशी की बात है। लोकभाषाओं में अनेक गीतों, वीरगाथाओं, प्रेम-गाथाओं, तथा लोकोक्तियों आदि की भी भरमार है। विद्वानों का ध्यान इस ओर भी गया है, यद्यपि यह सामग्री अभी तक अप्रकाशित ही है। लोककथा और

लोककथानकों का साहित्य साधारण जनता के अंतरतर की अनुभूतियों का प्रत्यक्ष निदर्शन है। अपने बृहत् इतिहास की योजना में इस साहित्य को भी स्थान देकर सभा ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

हिंदी भाषा तथा साहित्य के विस्तृत और संपूर्ण इतिहास का प्रकाशन एक और दृष्टि से भी आवश्यक तथा वांछनीय है। हिंदी की सभी प्रवृत्तियों और साहित्यिक कृतियों के अविकल ज्ञान के बिना हम हिंदी और देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के आपसी संबंध को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। इंडोआर्यन वंश की जितनी भी आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं, किसी न किसी रूप में और किसी न किसी समय उनकी उत्पत्ति का हिंदी के विकास से घनिष्ठ संबंध रहा है उनके यथार्थ निदर्शन के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हिंदी के उत्पादन और विकास के बारे में हमारी जानकारी अधिकाधिक हो। साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मेलजोल के लिये ही नहीं बल्कि पारस्परिक सद्भावना तथा आदान प्रदान बनाए रखने के लिये भी यह जानकारी उपयोगी होगी।

इन सब भागों के प्रकाशित होने के बाद यह इतिहास हिंदी के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करेगा और मैं समझता हूँ, यह हमारी प्रादेशिक भाषाओं के सर्वांगीण अध्ययन में भी सहायक होगा। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के इस महत्वपूर्ण प्रयत्न के प्रति मैं अपनी हार्दिक शुभकामना प्रकट करता हूँ और इसकी सफलता चाहता हूँ।

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली
३ दिसंबर, १९५७

राजेन्द्र प्रसाद

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

नागरीप्रचारिणी सभा के संक्षिप्त खोज विवरणों के प्रकाशन के साथ ही सन् १९०१ ई० से हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन के लिये प्रचुर सामग्री उपलब्ध होनी आरंभ हुई और उसका विस्तार होता गया। इस क्षेत्र में धीरे धीरे अतुल सामग्री का भांडार उपस्थित हो गया। इन उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग और प्रयोग समय समय पर विद्वानों ने किया और सभा के भूतपूर्व खोजनिरीक्षक स्व० मिश्रबंधुओं ने **मिश्रबंधु विनोद** में सन् १९१० ई० तक उपलब्ध इस सामग्री का व्यापक रूप से उपयोग भी किया। यद्यपि उनके पूर्व भी गार्सां द तासी (सं० १८९६ वि०), शिवसिंह सेंगर (सं० १९३४ वि०), डा० सर जार्ज ग्रियर्सन (सं० १९४६ वि०), एफ० ई० की (सं० १९७७) द्वारा क्रमशः **हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास, शिवसिंह सरोज, माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिंदुस्तान, ए हिस्ट्री ऑव द हिंदी लिटरेचर** प्रकाशित हो चुके थे, तो भी ये ग्रंथ हिंदी साहित्य के इतिहास नहीं माने जा सकते क्योंकि इनकी सीमा इतिवृत्तसंग्रह की परिधि के बाहर नहीं। निश्चय ही ग्रियर्सन का मान अधिक वैज्ञानिक कालविभाजन के कारण और **मिश्रबंधु विनोद** की गरिमा उसके कालविभाजन तथा तथ्यसंग्रह की दृष्टि से है।

सभा ने हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन का गंभीर आयोजन **हिंदी शब्दसागर** की भूमिका के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा किया, जिसका परिवर्धित संशोधित रूप **हिंदी साहित्य का इतिहास** के रूप में सभा से सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ। यह इतिहास अपने गुणधर्म के कारण अनुपम मान का अधिकारी है। यद्यपि अबतक हिंदी साहित्य के प्रकाशित इतिहासों की संख्या शताधिक तक पहुँच चुकी है तो भी शुक्ल जी का इतिहास सर्वाधिक मान्य एवं प्रामाणिक है। अपने प्रकाशनकाल से आज तक उसकी स्थिति ज्यों की त्यों बनी है। शुक्ल जी ने अपने इतिहासलेखन में १९९६ वि० तक खोज में उपलब्ध प्रायः सारी सामग्री का उपयोग किया था। तब से इधर उपलब्ध होनेवाली सामग्री का बराबर विस्तार होता गया; हिंदी का भी प्रचार दिन पर दिन व्यापक होता गया और स्वतंत्रताप्राप्ति तथा हिंदी के राष्ट्रभाषा होने पर उसकी परिधि का और भी विस्तार हुआ।

संवत् २०१० में अपनी हीरक जयंती के अवसर पर नागरीप्रचारिणी सभा ने **हिंदी शब्दसागर** और **हिंदी विश्वकोश** के साथ ही **हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास** प्रस्तुत करने की भी योजना बनाई। सभा के तत्कालीन सभापति तथा इस

योजना के प्रधान संपादक स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा की प्रेरणा से इस योजना ने मूर्त रूप ग्रहण किया। हिंदी साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि से लेकर उसके अद्यतन इतिहास तक का क्रमबद्ध एवं धारावाही वर्णन उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रस्तुत करने के लिये इस योजना का संघटन किया गया। मूलतः यह योजना ५ लाख ५६ हजार ८ सौ ५४ रुपए २४ पैसे की बनाई गई। भूतपूर्व राष्ट्रपति देशरत्न स्व० डा० राजेंद्रप्रसाद जी ने इसमें विशेष रुचि ली और प्रस्तावना लिखना स्वीकार किया। इस मूल योजना में समय समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन परिवर्धन भी होता रहा है। प्रत्येक विभाग के अलग अलग मान्य विद्वान् इसके संपादक एवं लेखक नियुक्त किए गए जिनके सहयोग से बृहत् इतिहास का पहला खंड सं० २०१४ वि० में, छठा खंड २०१५, में सोलहवाँ खंड २०१७ में, दूसरा और तेरहवाँ खंड २०२२ में, चौथा खंड २०२५ में तथा चौदहवाँ खंड २०२७ में प्रकाशित हुए। अब यह दसवाँ खंड प्रकाशित हो रहा है। आठवाँ खंड भी तीव्र गति से मुद्रित हो रहा है और शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा। शेष खंडों का कार्य भी आगे बढ़ रहा है। उनके लेखन और संपादन में विद्वान् मनोयोगपूर्वक लगे हुए हैं। इस योजना पर अब तक तीन लाख से ऊपर रुपए व्यय हो चुके हैं जिसमें से मध्यप्रदेश, राजस्थान, अजमेर, बिहार, उत्तर प्रदेश और केंद्रीय सरकारों ने अबतक १ लाख ५२ हजार रुपए के अनुदान दिए हैं। शेष डेढ़ लाख से ऊपर सभा ने इसपर व्यय किया है और आगे व्यय करती जा रही है। यदि सरकार ने सहायता न की तो योजना का आगे संचालन कठिन होगा। देश के व्यस्त तथा निष्णात लेखकों को यह कार्य सौंपा गया था। पर इस योजना की गरिमा तथा विद्वानों की अतिव्यवस्तता के कारण इसमें विलंब हुआ। एक दशक बीत जाने पर भी कुछ संपादकों और लेखकों ने रंचमात्र कार्य नहीं किया था। किंतु ऐसी व्यवस्था कर ली गई है कि इसमें अब और अधिक विलंब न हो। संवत् २०११ तक इसके संयोजक डा० राजबली पांडेय थे और उसके पश्चात् सं० २०२० तक डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा रहे।

इस योजना को गति देने तथा आर्थिक बचत को ध्यान में रखकर इसे फिर से सँवारा गया और इसके लिये एक संपादकमंडल गठित किया गया जिसके प्रधान स्व० महामहिम डा० संपूर्णानंद जी थे। अब इसके सदस्य निम्नलिखित हैं :

माननीय श्री पं० कमलापति जी त्रिपाठी—प्रधान संपादक
श्री रामधारी सिंह जी 'दिनकर'
श्री डा० नगेंद्र
श्री पं० करुणापति जी त्रिपाठी
श्री डा० विजयपाल सिंह जी
श्री पं० सुधाकर जी पांडेय—संयोजक

इस बीच हमारे संपादक मंडल के तीन श्रेष्ठ विद्वान् सदस्यों—श्री डा० संपूर्णानंद, श्री डा० ए० चंद्रहासन और श्री पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' को काल ने हमसे छीन लिया जिसका हमें हार्दिक शोक है।

इस योजना का अद्यतन प्रारूप निम्नलिखित है :

विषय और काल	भाग	संपादक
हिंदी साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका	प्रथम (प्रकाशित)	डा० राजबली पांडेय
हिंदी भाषा का विकास	द्वितीय (प्रकाशित)	डा० धीरेंद्र वर्मा
हिंदी साहित्य का उदय और विकास १४०० वि० तक	तृतीय	पं० करुणापति त्रिपाठी डा० शिवप्रसाद सिंह
भक्तिकाल (निर्गुण) १४००–१७०० वि०	चतुर्थ (प्रकाशित)	पं० परशुराम चतुर्वेदी
भक्तिकाल (सगुण) १४००–१७०० वि०	पंचम	डा० दीनदयाल गुप्त डा० देवेंद्रनाथ शर्मा
रीतिकाल (रीतिबद्ध) १७००–१९०० वि०	षष्ठ (प्रकाशित)	डा० नगेंद्र
रीतिकाल (रीतिमुक्त) १७००–१९०० वि०	सप्तम	डा० भगीरथ मिश्र
हिंदी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेंदुकाल १९००–१९५० वि०)	अष्टम (यंत्रस्थ)	डा० विनयमोहन शर्मा
हिंदी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदी काल १९५०–'७५ वि०)	नवम	पं० कमलापति त्रिपाठी पं० सुधाकर पांडेय
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष : काव्य (१९७५–'९५ वि०)	दशम (प्रकाशित)	डा० नगेंद्र, डा० अंचल पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष : नाटक (१९७५–'९५ वि०)	एकादश	डा० सावित्री सिनहा डा० दशरथ ओझा डा० लक्ष्मीनारायण लाल
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष : कथा साहित्य (१९७५–'९५ वि०)	द्वादश	डा० कल्याणमल लोढ़ा श्री अमृतलाल नागर
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष : समालोचना-निबंध-पत्रकारिता (१९७५–'९५ वि०)	त्रयोदश (प्रकाशित)	डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु

हिंदी साहित्य का अद्यतनकाल सं० १९९५–२०१७ वि०	चतुर्दश (प्रकाशित)	डा० हरवंशलाल शर्मा डा० कैलाशचंद्र भाटिया
हिंदी में शास्त्र तथा विज्ञान	पंचदश	श्री दिनकर, श्री गोपालनारायण शर्मा
हिंदी का लोकसाहित्य	षोडश (प्रकाशित)	महापंडित राहुल सांकृत्यायन

इतिहासलेखन के लिये जो सामान्य सिद्धांत स्थिर किए गए वे निम्नलिखित हैं :

१. हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया जायगा।

२. व्यापक सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश इतिहास में होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

३. साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा जायगा अर्थात् तिथिक्रम, पूर्वापर तथा कार्य-कारण-संबंध, पारस्परिक संपर्क, संघर्ष, समन्वय, प्रभावग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, तिरोभाव, अंतर्भाव, आदि प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान दिया जायगा।

४. संतुलन और समन्वय—इसका ध्यान रखना होगा कि साहित्य के सभी पक्षों का समुचित विचार हो सके; ऐसा न हो कि किसी पक्ष की उपेक्षा हो जाय और किसी का अतिरंजन। साथ ही साथ साहित्य के सभी अंगों का एक दूसरे से संबंध और सामंजस्य किस प्रकार से विकसित और स्थापित हुआ, इसे स्पष्ट किया जायगा। उनके पारस्परिक संघर्षों का उल्लेख और प्रतिपादन उसी अंश और सीमा तक किया जायगा जहाँ तक वे साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध हुए होंगे।

५. हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्यशास्त्रीय होगा। इसके अंतर्गत ही विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों की समीक्षा और समन्वय किया जायगा। विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों में निम्नलिखित की मुख्यता होगी—

क—शुद्ध साहित्यिक दृष्टि : अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, व्यंजना आदि।
ख—दार्शनिक।
ग—सांस्कृतिक।

घ—समाजशास्त्रीय।

ङ—मानववादी, आदि।

च—विभिन्न राजनीतिक मतवादों और प्रचारात्मक प्रभावों से बचना होगा। जीवन में साहित्य के मूल स्थान का संरक्षण आवश्यक होगा।

छ—साहित्य के विभिन्न कालों में उसके विभिन्न रूपों में परिवर्तन और विकास के आधारभूत तत्वों का संकलन और समीक्षण किया जायगा।

ज—विभिन्न मतों की समीक्षा करते समय उपलब्ध प्रमाणों पर सम्यक् विचार किया जायगा। सबसे अधिक संतुलित और बहुमान्य सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए भी नवीन तथ्यों और सिद्धांतों का निरूपण संभव होगा।

झ—उपर्युक्त सामान्य सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक भाग के संपादक अपने भाग की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। संपादकमंडल इतिहास की व्यापक एकरूपता और आंतरिक सामंजस्य बनाए रखने का प्रयास करता रहेगा।

पद्धति :

६. प्रत्येक लेखक और कवि की सभी उपलब्ध कृतियों का पूरा संकलन किया जायगा और उसके आधार पर ही उनके साहित्यक्षेत्र का निर्वाचन और निर्धारण होगा तथा उनके जीवन और कृतियों के विकास में विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन और निर्देशन किया जायगा।

७. तथ्यों के आधार पर सिद्धांत का निर्धारण होगा, केवल कल्पना और संमतियों पर ही किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना अथवा समीक्षा नहीं की जायगी।

८. प्रत्येक निष्कर्ष के लिये प्रमाण तथा उद्धरण आवश्यक होंगे।

९. लेखन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जायगा—संकलन, वर्गीकरण, समीकरण (संतुलन), आगमन आदि।

१०. भाषा और शैली सुबोध तथा सुरुचिपूर्ण होगी।

११. प्रत्येक अध्याय के अंत में संदर्भग्रंथों की सूची आवश्यक होगी।

१२. संपादकों के यहाँ से विभिन्न भागों की संपादित पांडुलिपियाँ आने पर प्रधान संपादक को अथवा जिन्हें सभा निश्चित करे, उन्हें दिखा दी जाया करेंगी। भली भाँति देख परख लेने पर ही लेखन और संपादन के पुरस्कारों का भुगतान किया जाया करेगा। एतदर्थ प्रतिभाग २५०) रू० तक का व्यय स्वीकार किया जाय।

१३. सभा का आरंभ से ही यह विचार रहा है कि उर्दू कोई स्वतंत्र

भाषा नहीं है, बल्कि हिंदी की ही एक शैली है, अत: इस शैली के साहित्य की यथोचित चर्चा भी ब्रज, अवधी, डिंगल की भाँति, इतिहास में अवश्य होनी चाहिए।

१४. बृहत् इतिहास पर लेखकों को प्रति मुद्रित पृष्ठ ६) रू० की दर से और संपादक को प्रति मुद्रित पृष्ठ १) रू० की दर से पुरस्कार दिया जायगा।

१५. किसी भाग के संपादक यदि अपने भाग के किसी अंश के लेखक भी हों तो उन्हें अपने लिखे अंश पर केवल लेखन पुरस्कार दिया जायगा, संपादन पुरस्कार (उतने अंश का) पृथक् से न दिया जायगा।

१६. बृहत् इतिहास के लेखकों और सभा के बीच परस्पर अनुबंध होगा जिसमें यह भी उल्लेख रहेगा कि इतिहास की पुरस्कृत सामग्री पर सभा का स्वत्व सदा सर्वदा और सर्वत्र के लिये होगा और उसका उपयोग आवश्यकतानुसार करने के लिये सभा स्वतत्र रहेगी।

यह योजना अत्यंत विशाल है तथा अतिव्यस्त बहुसंख्यक निष्णात विद्वानों के सहयोग पर आधारित है। यह प्रसन्नता की बात है कि इन विद्वानों का योग तो सभा को प्राप्त है ही, अन्यान्य विद्वान् भी अपने अनुभव का लाभ हमें उठाने दे रहे हैं। हम अपने भूतपूर्व संयोजकों डा० पांडेय और डा० शर्मा के भी अत्यंत आभारी हैं जिन्होंने इस योजना को गति प्रदान की। हम भारत सरकार तथा अन्यान्य सरकारों के भी आभारी हैं जिन्होंने वित्त से हमारी सहायता की।

इस योजना के साथ ही सभा के संरक्षक स्व० डा० राजेंद्रप्रसाद और उसके भूतपूर्व सभापति स्व० पं० गोविंदवल्लभ पंत की स्मृति जाग उठती है। जीवनकाल में निष्ठापूर्वक उन्होंने इस योजना को चेतना और गति दी और आज उनकी स्मृति प्रेरणा दे रही है। विश्वास है, उनके आशीर्वाद से यह योजना शीघ्र ही पूरी हो सकेगी।

अबतक प्रकाशित इतिहास के खंडों को त्रुटियों के बावजूद भी हिंदी जगत् का आदर मिला है। मुझे विश्वास है, आगे के खंडों में और भी परिष्कार और सुधार होगा तथा अपनी उपयोगिता और विशेष गुणधर्म के कारण वे समादृत होंगे।

इस भाग के प्रधान संपादक डा० नगेंद्र का मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ कि व्यस्त होते हुए भी हिंदी के हित के इस कार्य को उन्होंने गरिमा के साथ पूरा

किया। इस भाग के अन्य संपादकों और लेखकों के प्रति भी सभा अनुगृहीत है। अंत में मैं इस योजना में योगदान करनेवाले ज्ञात और अज्ञात अन्य सभी मित्रों एवं हितैषियों के प्रति अनुगृहीत हूँ और विश्वास करता हूँ, उन सबका सहयोग सभा को इसी प्रकार निरंतर प्राप्त होता रहेगा।

सुधाकर पांडेय

संयोजक

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास उपसमिति
तथा
प्रधान मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
सं० २०२८

दशम भाग के लेखक

डा० नगेंद्र

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

डा० सुरेशचंद्र गुप्त

डा० उमाकांत गोयल

डा० निर्मला जैन

डा० कुमार विमल

डा० तारकनाथ बाली

डा० प्रतिमा कृष्णबल

डा० रामचंद्र प्रसाद

डा० भारतभूषण अग्रवाल

डा० रत्नाकर पांडेय

डा० शरणबिहारी गोस्वामी

डा० मोहम्मद हसन

आमुख

प्रस्तुत खंड तेरह लेखकों के समवेत प्रयास का फल है। वयःक्रम और साहित्यिक वरीयता की दृष्टि से इनमें भेद होना स्वाभाविक है, किंतु इसमें संदेह नहीं कि ये सभी अपने अपने विषय के अधिकारी विद्वान् हैं और इन सबने बड़ी निष्ठा एवं परिश्रम के साथ अपने दायित्व का निर्वाह किया है। साहित्य का इतिहास इतिहास भी होता है और समीक्षा भी। इतिहास होने के नाते जहाँ उसमें प्रामाणिक सामग्री का संकलन और नियोजन सर्वथा अनिवार्य हो जाता है, वहाँ साहित्यिक परिवेश के कारण उसपर समीक्षा का दायित्व भी अनिवार्यतः आ जाता है। हमारे सहयोगी लेखकों ने इन दोनों अनुबंधों की पूर्ति का प्रयास किया है।

इतिहास की प्रकल्पना के पीछे प्रायः दो प्रकार के दृष्टिकोण हो सकते हैं। एक दृष्टिकोण यह है कि इतिहास जीवनपरंपरा का समग्र दर्शन है। इस दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास की रचना के मूल में एक ही व्यक्ति की अविभक्त दृष्टि होनी चाहिए जो उसके विविध पक्षों को समंजित कर सके। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार जीवन में इतना अधिक वैविध्य है कि कोई एक व्यक्ति उसका सम्यक् विवेचन नहीं कर सकता—इसलिये इतिहासरचना एक व्यक्ति का कार्य न होकर सामूहिक योजना ही हो सकती है। आज के संकुल जीवन में यह दृष्टिकोण और भी उभरकर सामने आ रहा है और हम देख रहे हैं कि ज्ञान विज्ञान के क्षेत्रों में प्रायः सभी उपलब्धियाँ व्यक्ति की एकांतसाधना का फल न होकर सामूहिक योजना पर ही निर्भर होती जा रही हैं। 'हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास' इसी प्रकार का समवेत कार्यक्रम है जिसे किसी एक आचार्य शुक्ल की पारदर्शी प्रतिभा का वरदान प्राप्त न होने पर भी वर्तमान युग की शत शत लघुतर मेधाओं का सहयोग मिला है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रस्तुत कालखंड का महत्व असंदिग्ध है। यद्यपि इसकी अवधि अत्यंत सीमित है—एक हजार वर्ष तक प्रसरित हिंदी काव्य की विराट् परंपरा में १७-१८ वर्ष की सत्ता ही क्या होती है, फिर भी काव्यगुण की दृष्टि से यह आधुनिक हिंदी साहित्य का सुवर्णयुग है जिसकी तुलना सगुण भक्तिकाल से, वरन् उसके भी एक विशिष्ट खंड—सूर-तुलसी-युग से ही की जा सकती है। हमारा यह ग्रंथ हिंदी काव्य के इसी उत्कर्ष एवं समृद्धि के आधार तत्वों का विश्लेषण करता है।

वसंत पंचमी
सं० २०२७ } नगेंद्र

हिंदी काव्य का उत्कर्षकाल : संवत् १९७५ से १९९५ वि०
(सन् १९१८–३८ ई०)

हिंदी काव्य का उत्कर्षकाल

सं० १६७५—'६५ वि०

प्रथम अध्याय

नामकरण और सीमांकन

साहित्य इतिहास के किसी काल अथवा कालखंड का नामकरण अपने आपमें एक विषम समस्या है। साहित्य के इतिहासों में सामान्यतः निम्नोक्त आधार ग्रहण कर नामकरण किया गया है :

(१) शासक के नाम पर—जैसे एलिजाबेथ युग, विक्टोरिया युग आदि।

(२) लोकनायक के नाम पर—चैतन्य काल (बँगला), गांधी युग (गुजराती) आदि।

(३) साहित्यिक नेता के नाम पर—रवींद्र युग, भारतेंदु युग आदि।

(४) राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक घटना या आंदोलन के नाम पर—स्वातंत्र्योत्तर काल, युद्धोत्तर काल (प्रथम अथवा द्वितीय महायुद्ध के बाद का कालखंड), भक्तिकाल, पुनर्जागरणकाल, सुधारकाल आदि।

(५) साहित्यिक प्रवृत्ति के नाम पर—रोमानी युग, रीतिकाल आदि।

(६) ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार—आदिकाल, मध्यकाल, संक्रांतिकाल, आधुनिक काल आदि।

राजा या शासक के नाम पर भी साहित्यिक इतिहास के किसी कालखंड का नामकरण तभी हुआ है जब कि उस शासकविशेष के व्यक्तित्व ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य की गतिविधि को प्रभावित किया है। उदाहरण के लिये ऐलिजाबेथ और विक्टोरिया—दोनों के राजनीतिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व ने अपने युगजीवन को प्रभावित करते हुए साहित्य की गतिविधि पर भी प्रकारांतर से गहरा प्रभाव डाला था। लोकनायक के विषय में यही तर्क है। चैतन्य या गांधी का अपने युग के सांस्कृतिक सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव था जो साहित्य में व्यापक रूप से मुखरित होता रहा। राष्ट्रीय महत्व की घटनाओं—जैसे दोनों महायुद्ध, भारतीय स्वतंत्रता की घोषणा अथवा आंदोलन या प्रवृत्तियों के अनुसार नामकरण की सार्थकता और भी अधिक स्पष्ट है। उदाहरण के लिये भक्ति, पुनर्जागरण अथवा राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव जितना समाज पर था उतना ही साहित्य पर भी। साहित्यिक प्रवृत्ति के विषय में तो कहना ही क्या—उसके अनुसार नामकरण की सार्थकता स्वतःसिद्ध ही है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रायः सभी प्रसंगों में नामकरण के पीछे कुछ न कुछ

तर्क अवश्य रहता है अथवा रहना चाहिए। नाम की सार्थकता वास्तव में यह है कि वह पदार्थ के गुण अथवा लक्षण का मुख्यतया द्योतन कर सके। इस तर्क के अनुसार इतिहास के किसी कालखंड का उसकी प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर नामकरण करना सर्वाधिक युक्तिसंगत है। आचार्य शुक्ल ने इसीलिये आदि, मध्य तथा वर्तमान और दूसरी ओर सूर, तुलसी अथवा भूषण के नाम पर हिंदी साहित्य के कालविभाजन को अपर्याप्त एवं असंगत मानकर प्रवृत्ति को ही प्रमाण माना है: 'शिक्षित जनता की जिन जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत कालविभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था[1]।' आधुनिक काल में उन्होंने भारतेंदु बाबू अथवा द्विवेदी जी के नाम पर प्रथम और द्वितीय चरण का वैकल्पिक नामकरण अवश्य किया है, परंतु वहाँ भी प्रवृत्ति का आधार किसी न किसी रूप में विद्यमान है—अर्थात् भारतेंदु हरिश्चंद्र और महावीरप्रसाद द्विवेदी अपने साहित्यिक व्यक्तित्व में उस कालखंड की मुख्य प्रवृत्तियों को समाहित किए हुए हैं। उनके नाम पर युगविशेष के नामकरण की सार्थकता यही है कि वे व्यक्ति न होकर संस्था थे अथवा उस युगविशेष में उनके व्यक्तित्व की प्रवृत्तियाँ प्रतिबिंबित होती थीं। सारांश यह है कि किसी कालखंड का नाम ऐसा होना चाहिए जो उसकी मूल साहित्यचेतना का द्योतन कर सके। मैं समझता हूँ कि यह एक सीधा तर्क है और इसके आधार पर प्रस्तुत युग का नामकरण करना समीचीन होगा।

आधुनिक काल के द्वितीय चरण—द्विवेदी युग—के उपरांत आनेवाले कालखंड के लिये हिंदी साहित्य के इतिहासकारों एवं आलोचकों ने विभिन्न नामों का प्रयोग किया है: (१) उत्कर्ष काल, (२) प्रसाद काल, (३) छायावादकाल, (४) स्वच्छंदतावादी युग आदि। इनमें से पहला नाम गुणवाचक है। आधुनिक काल के इस तृतीय चरण का साहित्य गुण की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट है, इसमें संदेह नहीं। छायावाद के आधारस्तंभ प्रसाद, निराला, पंत तथा महादेवी की सर्वोत्कृष्ट काव्यकृतियों का प्रकाशन इसी युग में हुआ, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की काव्यप्रतिभा का भी उत्कर्षकाल—'साकेत', 'यशोधरा' और 'द्वापर' आदि का प्रकाशनकाल—यही है, प्रेमचंद के श्रेष्ठ

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास (संशोधित और परिवर्धित पंद्रहवाँ पुनर्मुद्रण, वि० सं० २०२२), वक्तव्य पृ० १-२।

उपन्यास और प्रसाद के उत्तम नाटक इसी अवधि में रचे गए और उधर आचार्य शुक्ल की आलोचना का भी विकास इसी युग में हुआ। इस प्रकार आधुनिक काल के काव्य, नाटक, उपन्यास तथा आलोचना साहित्य की चरम उपलब्धियों का युग यही है : कामायनी, साकेत, यशोधरा, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, रंगभूमि, गोदान, हिंदी साहित्य का इतिहास, जायसी ग्रंथावली की भूमिका, गोस्वामी तुलसीदास और चिंतामणि की रचना इसी कालावधि में हुई। अत: इसमें संदेह नहीं कि प्रस्तुत कालखंड आधुनिक हिंदी साहित्य के उत्कर्ष का युग है।

दूसरा नाम 'प्रसाद काल' अपेक्षाकृत अधिक विवादास्पद हो सकता है। प्रसाद इस युग के शलाकापुरुष थे, इस विषय में कदाचित् मतभेद अधिक न हो। सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी इस कलाकार ने हिंदी के काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, काव्यशास्त्र आदि अनेक अंगों को समृद्ध किया; काव्य के सृजन एवं चिंतन में आत्मवादी तत्वों का समावेश किया; प्राचीन इतिहास तथा काव्य की वैभवशाली परंपरा से संबंध स्थापित करते हुए रोमानी मूल्यों की नवप्रतिष्ठा की और इस प्रकार एक नवीन युग का प्रवतन किया। ये उपलब्धियाँ निश्चय ही महान् हैं और उस युग का कोई अन्य कलाकार व्यक्तिगत रूप में इतने गौरव का अधिकारी नहीं है। यह तो निर्विवाद है, परंतु किसी कालखंड का नामकरण केवल गुणात्मक उपलब्धियों के आधार पर अधिक समीचीन नहीं माना जा सकता। उसके लिये अनिवार्य अनुबंध है व्यापक प्रभाव। प्रसाद की प्रतिभा अत्यंत मौलिक थी, इस दृष्टि से केवल हिंदी में ही नहीं भारतीय साहित्य में भी उनके प्रतिद्वंद्वी अनेक नहीं हैं, परंतु उनकी उपलब्धियाँ व्यक्तिगत अधिक थीं—अत: सामूहिक प्रभाव उनका जितना पड़ना चाहिए था, उतना नहीं पड़ा। उनकी अपेक्षा उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद का, काव्य के क्षेत्र में पंत और निराला का और सिद्धांतचिंतन के क्षेत्र में शुक्ल जी का प्रभाव कहीं अधिक था : उनके अपने क्षेत्र नाटक में भी उनका प्रत्यक्ष प्रभाव कम ही पड़ा, उनकी नाट्यकला के विरुद्ध प्रतिभावान् कलाकारों की प्रतिक्रिया ही अधिक मुखर रही। अत: प्रसाद को इस कालखंड का शलाकापुरुष मानने पर भी इसे 'प्रसाद युग' नाम से अभिहित करना कदाचित् अधिक तर्कसंगत नहीं है।

'स्वच्छंदतावादी युग' और 'छायावाद काल'—ये दोनों नाम प्रवृत्तिमूलक हैं अर्थात् आलोच्य कालखंड की प्रमुख प्रवृत्ति पर आधृत हैं। इन दोनों नामों के पार्थक्य के पीछे स्वच्छंदतावाद और छायावाद के पार्थक्य की स्वीकृति स्पष्ट है और वास्तव में दोनों का ऐकात्म्य मान्य भी नहीं है। स्वच्छंदतावाद की परिधि छायावाद की अपेक्षा अधिक व्यापक है—छायावाद निश्चय ही एक स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति है परंतु उसकी अपनी विशेषता भी अत्यंत स्पष्ट है : उसका व्यक्तित्व

अपेक्षाकृत कहीं अधिक अंतर्मुख है, उसमें छायातत्व अर्थात् अतींद्रियता अपेक्षाकृत कहीं अधिक है। स्वच्छंदतावाद का प्रधान तत्व है रम्य और अद्भुत का संयोग; छायावाद में रम्य तत्व अधिक प्रमुख हो गया है और अद्भुत तत्व—कम से कम उसका ओज पक्ष—गौण रहा है। इसीलिये कुछ विद्वानों का मत है कि आलोच्य कालखंड की प्रमुख काव्यप्रवृत्ति स्वच्छंदतावाद ही है; निराला और प्रसाद, उधर कतिपय अन्य समर्थ कवियों, जैसे माखनलाल चतुर्वेदी, भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामनरेश त्रिपाठी; गुरुभक्त सिंह और सियारामशरण गुप्त आदि की अनेक प्रसिद्ध कृतियों का अंतर्भाव इसी में संभव है। उनका आक्षेप है कि 'छायावाद' नाम में इस संपूर्ण युग की मूल चेतना को अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं है। इसके विपरीत अन्य आलोचकों का तर्क यह है कि 'स्वच्छंदतावाद' नाम एक विशिष्ट देशकाल की काव्यप्रवृत्ति के लिये रूढ़ हो गया है। हिंदी में इस प्रवृत्ति के अनेक तत्वों का हिंदी के अपने देशकाल के अनुरूप प्रस्फुटन तो हुआ है, किंतु उनका हिंदी की अपनी भूमि और जलवायु के प्रभाव से रूपपरिवर्तन हो गया है। यह परिवर्तित रूप ही छायावाद है जो इस युगविशेष की मुख्य प्रवृत्ति है।

छायावाद के विषय में भी स्थिति सर्वथा स्पष्ट नहीं है। वास्तव में रचना-परिमाण की दृष्टि से तो छायावाद का पक्ष काफी निर्बल है: अन्य प्रवृत्तियों का, विशेष रूप से राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता का रचनापरिमाण कहीं अधिक है, और काव्यगुण की दृष्टि से भी उसका उत्कर्ष कम नहीं है। फिर भी, छायावाद के पक्ष में कई प्रबल तर्क हैं। सब मिलाकर उसका स्तर अन्य प्रवृत्तियों की अपेक्षा निश्चय ही ऊँचा है: अनुभूति के परिष्कार और कला की समृद्धि की दृष्टि से उसका मूल्य निश्चय ही अधिक है। हिंदी काव्यपरंपरा में कथ्य और कथनभंगिमा—दोनों की दृष्टि से एक नया वैभवपूर्ण अध्याय जोड़ने का श्रेय उसे प्राप्त है। अपने युग के सूक्ष्मतर रागात्मक मूल्यों की साहित्य में प्रतिष्ठा और नवीन सौंदर्यदृष्टि का उन्मेष करने का गौरव भी उसे ही प्राप्त है। समसामयिक कविता, कथा साहित्य, नाटक एवं ललित निबंध, सभी क्षेत्रों में उसका प्रभाव अंतर्व्याप्त है। छायावाद के विरोधी कवि भी उसके प्रभाव से अछूते नहीं रहे: 'साकेत' और 'यशोधरा' जैसी कृतियों पर उसका प्रभाव इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है—यहाँ तक कि ब्रजभाषा की कविता में भी छायावाद के तत्वों का अंतर्प्रवेश होने लगा था। वास्तव में उस युग की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना में जो परिष्कार और समृद्धि का समावेश हुआ, उसका मूल कारण छायावादी प्रभाव ही था। कहने का अभिप्राय यह है कि छायावाद उस युगविशेष की सांस्कृतिक साहित्यिक चेतना का मूल स्वर था। कोई भी नाम सर्वांग का वाचन नहीं कर सकता, मूल

चेतना का अधिकाधिक सफल संकेत करने में ही उसकी सार्थकता है। **अतः समग्र रूप से प्रस्तुत कालखंड का नाम 'छायावाद युग' ही अपेक्षाकृत अधिक मान्य है।**

सीमांकन : आधुनिक युग के द्वितीय चरण अथवा द्विवेदी युग की उत्तर सीमा सामान्यतः १९१८ ई० मानी जाती है। आचार्य शुक्ल ने तृतीय उत्थान का आरंभ यहीं से माना है। साहित्य के इतिहास में किसी एक वर्ष को सीमांत मान लेना खतरे से खाली नहीं है क्योंकि साहित्य में नए युग का सूत्रपात किसी घटनाविशेष से नहीं होता जैसा कि राजनीतिक इतिहास में प्रायः होता रहता है। यदि छायावाद को आलोच्य कालखंड की आधारभूत प्रवृत्ति मानें तो स्वभावतः छायावाद के आरंभ से ही इसका आरंभ भी मानना उचित होगा। छायावाद के आरंभ के विषय में प्रायः तीन मत हैं। एक यह कि उसका सूत्रपात 'इंदु' में प्रकाशित प्रसाद जी की कविताओं—अर्थात् इंदु के प्रकाशनवर्ष—सन् १९११ से मानना चाहिए, दूसरा यह कि मुकुटधर पांडेय की कविताओं में उसका प्रथम आभास मिलता है और तीसरा अपेक्षाकृत अधिक मान्य मत यह है कि छायावाद का आरंभ उस समय से मानना चाहिए जब से 'झरना' में प्रकाशित प्रसाद की, 'पल्लव' में प्रकाशित पंत की और पहले 'अनामिका' के प्रथम संस्करण और बाद में 'परिमल' में प्रकाशित निराला की कविताएँ नियमित रूप से प्रकाश में आकर एक नव्य काव्यचेतना के उदय की घोषणा कर रही थीं। मेरे विचार से यह तीसरा मत ही अधिक ग्राह्य है क्योंकि 'इंदु' में प्रकाशित रचनाएँ या मुकुटधर पांडेय की स्फुट कविताएँ नवयुग का आभास तो अवश्य दे रही थीं, परंतु नवयुग का प्रवर्तन करने की क्षमता उनमें नहीं थी। वे वस्तुतः उस समय के प्रबुद्ध साहित्यिक वृत्त में चर्चा का विषय ही नहीं बन पाई थीं; उसका तो छायावाद के परवर्ती शोधकों ने अनुसंधान किया है। पंत जी के शब्दों में 'श्री मुकुटधर पांडेय की रचनाओं में छायावाद की सूक्ष्म भावव्यंजना तथा रंगीन कल्पना धीरे धीरे प्रकट होने लगी थी जो आगे चलकर प्रसाद जी के युग में पुष्पित पल्लवित होकर, एक नूतन चमत्कार एवं चेतना का संस्कार धारण कर हिंदी काव्य के प्रांगण में नवीन युग के अरुणोदय की तरह मूर्तिमान हो उठी'।[1]

यह समय लगभग बीसवीं शती के दूसरे दशक के अंत में पड़ता है। निराला के अपने वक्तव्य के अनुसार उनकी प्रसिद्ध कविता 'जूही की कली' की रचना सन् १९१६ की है। 'परिमल' की अनेक कविताएँ २० के आस पास लिखी गई थीं, 'वीणा' की कविताओं और 'ग्रंथि' का रचनाकाल यही है, उधर 'पल्लव'

[1] आधुनिक काव्यप्रेरणा के स्रोत (निबंध)—ले० सुमित्रानंदन पंत।

की भी दो चार कविताओं की रचना इसी समय हुई थी। इसी प्रकार 'झरना' के प्रथम संस्करण (२२) में प्रकाशित अनेक कविताएँ यद्यपि द्विवेदी युग की काव्यशैली में लिखी हुई हैं फिर भी उसकी कुछ रचनाएँ निश्चय ही छायावाद के अंतर्गत आती हैं। अतः आलोच्य युग का आरंभ २० के आसपास—उससे कुछ पूर्व ही—माना जा सकता है और इस दृष्टि से शुक्ल जी द्वारा निर्धारित सीमा—सन् १९१८—को यथावत् स्वीकार कर लेने में कोई विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए, यद्यपि शुक्ल जी के कालविभाजन में पच्चीसी का हिसाब भी थोड़ा बहुत रहा है, यह भी स्पष्ट ही है।

उत्तर सीमा की समस्या अधिक कठिन नहीं है। १९३५ में दूसरे सत्याग्रह आंदोलन की विफलता के बाद भारतीय राजनीति के क्षेत्र में गांधी नीति का तथा सामाजिक जीवन में उनके आदर्शवादी जीवनमूल्यों का विरोध आरंभ हो गया था, और दोनों क्षेत्रों में वामपक्षीय तत्व उभरने लगे थे। 'कामायनी' का प्रकाशन सन् १९३५ में हुआ था। उसके बाद 'अनामिका' (सन् १९३८) में निराला की और 'युगांत' (सन् १९३६) में संकलित पंत की कई एक कविताएँ काव्य में एक नवीन चेतना के उन्मेष की सूचना देने लगी थीं। सन् १९३९ में पंत जी के 'रूपाभ' का प्रकाशन हुआ जो इस नवीन काव्यचेतना की अभिव्यक्ति का पहला माध्यम बना। " 'रूपाभ' शब्द केवल नाम ही नहीं था—नवीन चेतना का प्रतीक भी था, उसमें यह व्यंजना स्पष्ट थी कि छायावादी 'आभा' नवीन युग के सौंदर्यबोध को व्यक्त करने में असमर्थ हो चुकी है—नया युग केवल 'आभा' नहीं, उसके साथ 'रूप' की भी माँग कर रहा है। अतः छायावाद के अमूर्त सौंदर्य के स्थान पर मूर्त सौंदर्य काव्य का विषय बना—भाव के तारल्य के स्थान पर वस्तु की दृढ़ रूपरेखा सौंदर्य का प्रतिमान बनी"।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि सन् ३७-३८ के आसपास छायावाद का स्वर क्षीण पड़ गया था और ऐसी कविताओं का प्रभाव और प्रचार बढ़ने लगा था जो छायावाद की अतिशय आत्मलीन, अमूर्त सौंदर्यविवृतियों के स्थान पर जीवनगत, वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुभूतियों को मुखरित कर रही थीं। ये कविताएँ आगे चलकर 'प्रगतिवाद', 'प्रयोगवाद', 'वैयक्तिक गीतकाव्य' आदि पृथक् वर्गों में विभक्त हुईं और छायावादयुग का अंत प्रायः पूर्ण हो गया। **अतः सन् ३७-३८ को ही प्रस्तुत कालखंड की उत्तर सीमा मान लेना उचित है।** इस समय न केवल छायावाद का वरन् जीवन के स्थायी एवं आत्मवादी मूल्यों से अनुप्राणित उस व्यापक काव्यचेतना का ही क्षय आरंभ हो गया था जिसका केंद्रबिंदु था छायावाद।

[1] आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, द्वि० सं०, पृ० १३१।

द्वितीय अध्याय

परिवेश

(क) राजनीतिक सामाजिक परिस्थितियाँ

राष्ट्रीय दृष्टि से आलोच्य काल यदि एक ओर पराधीन भारत के सांस्कृतिक नवोत्थान से प्रेरित तथा स्वतंत्रता की उद्दाम आकांक्षा से उद्वेलित हो संसार की एक महान् साम्राज्यवादी शक्ति के साथ संघर्षरत होने और सत्य, अहिंसा, संयम, साधना, त्याग, बलिदान और आत्मशक्ति द्वारा आत्मोपलब्धि के पुनीत प्रयास की ओर संकेत करता तथा जनशक्ति एवं लोकतांत्रिक जीवनपद्धति की भूमिका प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर, वह प्रथम महायुद्ध (अगस्त, १९१४–नवंबर, १९१८) की विभीषिका के फलस्वरूप संत्रस्त मानवता, रूसी राज्यक्रांति (१९१७–१८), लीग ऑफ नेशंस की स्थापना, साथ ही विफलता, आर्थिक संकट और संसार के कई देशों में अधिनायकत्व के विषवृक्ष के बीजारोपण एवं पुष्पित पल्लवित होने और द्वितीय महायुद्ध (१९३९–१९४५) का, जिसने जापान के नागासाकी और हीरोशीमा के दो नगरों पर अणुबम गिराकर मानवसभ्यता और संस्कृति पर एक भारी प्रश्नसूचक चिह्न लगा दिया, साक्षी है। इस काल में भारतीय जीवन ही नहीं, संसार के लगभग सभी देश विविध प्रकार के संशयों से पीड़ित रहे। राष्ट्रीय इतिहास की दृष्टि से आलोच्य काल 'गांधी युग' और साहित्य की दृष्टि से 'छायावाद युग' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। आशा-निराशा-पूर्ण राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय गतिविधियों ने आलोच्यकालीन हिंदी साहित्य को जिस रूप में प्रभावित किया उसकी प्रौढ़तम अभिव्यक्ति 'साकेत' (१९३१), 'कामायनी' (१९३५) और 'गोदान' (१९३६) में उपलब्ध होती है।

यह तो सर्वविदित है कि भारत में अंग्रेजी शासनकाल जनता की घोर आर्थिक दुरवस्था, राजनीतिक पराधीनता और भारतीय संस्कृति के चौमुखी विध्वंस का काल है। किंतु यह राष्ट्रीय नवजागरण और क्रियाशीलता का युग भी है। इस क्रियाशीलता का मुख्य प्रतीक इंडियन नेशनल कांग्रेस (१८८५) के रूप में था। १९३५ में कांग्रेस की स्थापना हुए पूरे पचास वर्ष हो चुके थे। इन पचास वर्षों में उसका आलोच्यकालीन इतिहास संघर्ष, त्याग और बलिदान की लंबी कहानी है और उसके पूर्ववर्ती इतिहास से एकदम भिन्न है। इस काल में राष्ट्रीय भारत आशा निराशा के बीच डूबता उतराता रहा। जहाँ एक

और वह अपनी अलसता छोड़ गांधी (१८६९–१९४८) जैसे कर्मठ सेनानी के सेनापतित्व में युद्धघोष कर तत्कालीन संसार की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति को ललकार रहा था, वहाँ दूसरी ओर वह अपनी आंतरिक दुर्बलताओं, आपसी मतभेद और सरकारी भेदनीति से भी पीड़ित था। इससे राष्ट्रीय जीवन में कभी कभी संगठन का अभाव और विशृंखलता उत्पन्न हो जाने के फलस्वरूप हतोत्साहित होने के चिह्न भी दृष्टिगोचर होने लगते थे। किंतु जब एक बार कदम आगे बढ़ गया तो वह बढ़ता ही गया। अनेक प्रकार के संकटों और विघ्न बाधाओं के उपस्थित होते रहने पर भी, गिरते पड़ते और लड़खड़ाते हुए भी, वह अदम्य साहस, उत्साह और अबाधित गति के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता ही गया। जिस सुदूरस्थित विदेशी राजसत्ता की पराधीनता की शृंखला में वह १७५७ में जकड़ गया था, उस शृंखला को तोड़ फेंकने के लिये वह अब छटपटाने लगा और साम्राज्यवादी फौलादी पंजे से चूसे जाने पर भी वह 'सुजलां सुफलां शस्यश्यामलां' मातृभूमि के चरणों में अपनी आस्था और श्रद्धा के पुष्प चढ़ाए बिना न रह सका। यह उसकी आंतरिक जीवंतशक्ति का ज्वलंत प्रमाण था। संसार के इतिहास में अनुपलब्ध गांधी जैसा सेनानी, आत्मिक शक्ति और पार्थिव शक्ति का अभूतपूर्व संघर्ष और शताब्दियों से चले आ रहे भारतीय सांस्कृतिक अंधकार के स्थान पर नव अरुणोदय—ये सभी बातें आलोच्य काल में ही घटित हुईं। इसी काल में 'रामराज्य' की स्थापना का स्वप्न देखा गया।

वास्तव में जिस भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान का जन्म ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ, भारतेंदु और द्विवेदी काल जिसके क्रमशः प्रथम और द्वितीय चरण थे, आलोच्य काल में वह अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। भारतीय जनचेतना के जनक लोकमान्य तिलक के निधन (१९२० ई०) के पश्चात् राजनीतिक दृष्टि से लगभग सभी महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति गांधी जी (१८६९-१९४८) के साथ थे। सामान्य जन के अतिरिक्त महामना मालवीय, लाला लाजपतराय, राजेंद्रप्रसाद, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, स्वामी श्रद्धानंद, मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू, खान अब्दुल गफ्फार खाँ, वल्लभभाई पटेल, विट्ठलभाई पटेल, सुभाषचंद्र बोस आदि के रूप में प्रतिभाशाली एवं मेधावी बुद्धिजीवी वर्ग उनके नेतृत्व में प्राणों तक का बलिदान देने के लिये प्रस्तुत हो गया था।

भारत के गंभीर इतिहासविशेषज्ञ भी इस संबंध में एकमत हैं कि ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में देश की पराधीनता के फलस्वरूप पूर्व और पश्चिम का

जो संघर्ष स्थापित हुआ, उससे भारत में जो नवीन चेतना उत्पन्न हुई उसके मूल में भारत का अपनी खोई हुई आत्मगरिमा खोजने का अथक प्रयास था और उसका राजनीतिक संघर्ष उसी प्रयास का एक महत्वपूर्ण पक्ष था, क्योंकि बिना राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त किए वह अपना विश्वव्यापी संदेश देने में असमर्थ रहता। किंतु वह मात्र राजनीतिक जागरण नहीं था। उसने तो संपूर्ण भारतीय जीवन को अपने में समेट लिया था। वह 'गीता' के संदेश को व्यावहारिक रूप में परिणत करना चाह रहा था।

आलोच्य काल के पूर्व बंगभंग आंदोलन (१९०३-४), श्रीमती एनी-बेसेंट द्वारा प्रवर्तित होमरूल आंदोलन (१९१७) और महात्मा गांधी द्वारा संचालित चंपारन सत्याग्रह (१९१७) से जनशक्ति के जन्म और अहिंसात्मक नीति की सफलता घोषित हो चुकी थी। तिलक के निधन के बाद जब से गांधी जी ने देश के राजनीतिक जीवन में पदार्पण किया तभी से देश में सामूहिक जन-जागरण का अध्याय प्रारंभ होता है। संभवतः लोकमान्य तिलक जो कार्य स्फुट रूप से कर पाए थे, वह कार्य गांधी जी द्वारा व्यापक, देशव्यापी और संगठित रूप में संपन्न हुआ।

प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१८) के बाद भारतीय राजनीतिक जीवन अभूतपूर्व संघर्ष का जीवन है। रौलट ऐक्ट (१९१९) और जलियाँवाला बाग (१९१९), खिलाफत आंदोलन और सत्याग्रह एवं असहयोग (१९२१), बारडोली सत्याग्रह (१९२३ ई०), गुरु का बाग (झंडा सत्याग्रह, नागपुर, १९२५), साइमन कमीशन (१९२६), लाहौर कांग्रेस (१९२९), मेरठ षड्यंत्र केस (१९३०), दाँडी कूच (१९३०) और नमक कानून भंग, गोलमेज परिषद् (१९३०), गांधी इर्विन समझौता (१९३१), लगानबंदी आंदोलन (१९३२), खुदाई खिदमतगार सत्याग्रह आंदोलन (तत्कालीन उत्तरपश्चिम सीमांत प्रदेश, १९३४), सामूहिक सत्याग्रह के स्थान पर व्यक्तिगत सत्याग्रह, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट (१९३६) और कांग्रेस मंत्रिमंडलों की स्थापना तथा १९३९ में उनका पदत्याग आदि घटनाएँ आलोच्यकालीन राजनीतिक जीवन के आरोह अवरोह की प्रदर्शिका हैं। ज्यों ज्यों राष्ट्रीय उत्साह की वृद्धि होती जाती थी, त्यों त्यों सरकारी दमन भी बढ़ता जाता था। गांधी जी ने जो सत्याग्रह आंदोलन प्रारंभ किया था, वह निःस्वार्थता, सत्य, अहिंसा, उच्च आदर्शों, नैतिकता और आध्यात्मिक बल पर आधारित था जिसकी रूपरेखा उनकी 'हिंद स्वराज' नामक पुस्तक में उपलब्ध है। उनका १९११ का आंदोलन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध युद्ध की प्रथम घोषणा थी। उनके द्वारा जिस जनशक्ति का जन्म हुआ,

वह शेष आलोच्य काल में निरंतर विकसित होती गई। इससे भारत की पराधीन और मूक एवं निरीह जनता को ब्रिटिश साम्राज्यवाद की चुनौती स्वीकार करने की धीरे धीरे आदत पड़ी। अहिंसा के रूप में एक नया अस्त्र पाकर वह आए दिन ब्रिटिश साम्राज्यवाद को ललकारती रहती थी। राष्ट्रीय भारत की इस बढ़ती हुई शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण १९२९ के लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में पूर्ण स्वाधीनता संबंधी प्रस्ताव था। पूर्ण स्वतंत्रतावादियों और औपनिवेशिक स्वराज्य-वादियों के संघर्ष में पूर्ण स्वतंत्रतावादियों की यह महत्वपूर्ण विजय थी। यहीं से स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास का द्वितीय अध्याय प्रारंभ होता है, क्योंकि इसके बाद ब्रिटिश प्रभुत्व और ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करना ही राष्ट्रीय भारत का लक्ष्य बना।

यह निश्चित है कि गांधी जी के नेतृत्व में देश ने अहिंसाव्रत की कठोर अग्निपरीक्षा देने की ठान ली थी। वे सत्य, अहिंसा, संयम, साधना, सेवा, रचनात्मक कार्यक्रम, हृदयपरिवर्तन आदि के आधार पर अपना संग्राम जारी रखना चाहते थे। मिट्टी से बने लोगों को वे देवताओं में परिणत करने की चेष्टा में संलग्न रहे। स्पष्ट है, इस कार्य में उन्हें पूर्ण सफलता मिलना असंभव था। असफलता मिलने और दूसरों को अपने बताए हुए मार्ग से विचलित होते देखकर उन्होंने आत्मविश्लेषण और आत्मपरीक्षण किया और एक सच्चे महात्मा की भाँति दूसरों की कमियों को भी अपने ऊपर ओढ़ लिया। अपने दोषों और अभावों एवं त्रुटियों को सार्वजनिक रूप में स्वीकार करने में उन्होंने कोई संकोच न किया। सच तो यह है कि कांग्रेस के कुछ प्रमुख सदस्य प्रारंभ से ही सत्याग्रह आंदोलन से बहुत संतुष्ट नहीं थे और वे सरकारी संस्थाओं में प्रवेश कर कार्य करना चाहते थे। आगे चलकर कुछ कांग्रेसी कार्यकर्ता अपनी सेवाओं का मूल्य आँकने लगे। साथ ही राष्ट्रीय भारत की अपनी दलगत राजनीति के कारण गांधी जी का आंदोलन दिन पर दिन कमजोर पड़ता गया। १९३८ में सुभाष-चंद्र बोस द्वारा स्थापित फॉर्वर्ड ब्लॉक राष्ट्रीय भारत की प्राचीर में पड़ी दरार का एक प्रमुख उदाहरण है। १९१९ की मांटेग्यू चेम्सफर्ड सुधारयोजना से लेकर १९३५-३६ के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट तक ब्रिटिश गवर्नमेंट भी उदारदलीय नेताओं की सहायता से राष्ट्रीय नेताओं को विधान सभाओं की ओर खींच लेना चाहती थी। स्वयं कांग्रेस में अपरिवर्तनवादी (जन आंदोलन के पक्षपाती) और परिवर्तनवादी (स्वराज्य पार्टी) दो दल बराबर रहे। ब्रिटिश गवर्नमेंट द्वारा आयोजित विभिन्न गोलमेज परिषदें संवैधानिक सुधारों और भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य तक संतुष्ट रखने के प्रयास के रूप में थीं। इन तथा ऐसे ही आपस के वाद-विवादों से राष्ट्रीय भारत में मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण उसकी शक्ति क्षीण

हो जाया करती थी। पुरानी स्वराज्य पार्टीवाली प्रकृति फिर से जीवित हुई और १९३४-१९३५ में आनेवाले ऐक्ट की घोषणा हो जाने पर उसे और भी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। ऐक्ट अत्यंत असंतोषजनक था। १९३९ में द्वितीय महायुद्ध का विकराल मुँह चमकने लगा।

भारतीय स्वतंत्रता के लिये आलोच्य काल में यदि एक ओर अहिंसा पर आधारित सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह आंदोलन चलते रहे, तो दूसरी ओर गांधी जी की पद्धति से भिन्न उन जाँबाज और सरफ़रोशी की तमन्ना रखनेवाले क्रांतिकारी भावुक नवयुवकों का आंदोलन था जो भारतीय नवोत्थान और विद्रोह एवं विप्लववादी भावनाओं से ओतप्रोत और महापुरुषों के उदाहरणों से अनुप्राणित थे। यद्यपि इन क्रांतिकारी नवयुवकों की वीरता पर राष्ट्र मुग्ध था, तो भी व्यापक जनआंदोलन के रूप में उनके वीरतापूर्ण कृत्यों की उपादेयता संदिग्ध थी।

आलोच्यकालीन राष्ट्रीय भारत निस्संदेह जीवन मरण के निर्मम संघर्ष से जूझ रहा था। उसका पथ अग्निपथ था। उसे जहाँ अपनी आंतरिक दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करनी थी, वहाँ दूसरी ओर बाह्य कारणों से उत्पन्न कठिनाइयों और विघ्नबाधाओं की सुरसा भी मुँह बाए रहती थी। अंग्रेजों ने प्रारंभ से ही भेदनीति (१९०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना के साथ) ग्रहण कर रखी थी। उन्होंने न केवल राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में एक वर्ग का दूसरे वर्ग से भिड़ाने की चेष्टा की, वरन् भारत की समाज-धर्म-व्यवस्था और भाषाओं से भी अनुचित लाभ उठाते हुए हिंदू समाज की विभिन्न जातियों, विशेषतः बहुसंख्यक अछूत जातियों और सवर्ण हिंदुओं को और देश के हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिक्ख आदि बड़े बड़े जातिसमुदायों को भी आपस में लड़ाने की पूरी कोशिश की और बहुत बड़ी हद तक सफलता प्राप्त की। देश में परस्पर कलह उत्पन्न करने की दृष्टि से वे या तो संवैधानिक सुधार प्रस्तुत करते समय अर्थ, धर्म और जाति के आधार पर पृथक् निर्वाचन आदि विविध संवैधानिक अधिकार देकर देश और समाज को छोटी छोटी टुकड़ियों में बाँट देना चाहते थे, अथवा सांप्रदायिक दंगों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन प्रदान कर देश के जीवन को विषाक्त बना देते थे।

सांप्रदायिक दंगों से राष्ट्रीय क्षति तो हुई ही, साथ ही अंग्रेजों को दुनिया के सामने यह सिद्ध करने का भी अवसर प्राप्त हुआ कि (१) भारत एक राष्ट्र नहीं है। यहाँ अनेक धर्म एवं संस्कृतियों के अनुयायी निवास करते हैं और (२) ऐक्य के अभाव के कारण भारतवासी स्वराज्य के योग्य नहीं हैं। किंतु

सरकारी दमन और भेदनीति, भारतीय जीवन की विघटनात्मक शक्तियों का उत्तर गांधी जी ने अपने रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा दिया। रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा वे संगठनात्मक और क्रियात्मक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों को जन्म देना चाहते थे।

कांग्रेस के सभी अधिवेशनों में रचनात्मक कार्यक्रमों पर बल दिया जाता था। चरखा, हाथ से कता खद्दर और उसका प्रचार, अस्पृश्यता निवारण, सांप्रदायिक एकता, मादक द्रव्य सेवन का त्याग, विदेशी कपड़ा तथा अन्य वस्तुओं का बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षाप्रणाली, बड़े बड़े कल कारखानों के स्थान पर छोटे छोटे उपयोगी उद्योग धंधे, ग्रामीण जीवन का आर्थिक सुधार, शैक्षणिक, सामाजिक, आरोग्य संबंधी आदि दृष्टियों से पुनर्स्संगठन, प्रौढ़ शिक्षा, मजदूरों का संगठन, हिंदीप्रचार आदि रचनात्मक कार्यक्रम के प्रधान अंग थे। गांधी जी इन्हें देश की आंतरिक शक्ति समझते थे।

आर्थिक दृष्टि से आलोच्य काल कोई आशाजनक स्थिति प्रस्तुत नहीं करता। अँगरेजों की जो शोषणनीति प्रारंभ से चली आ रही थी वह इस काल में भी बनी रही। भारत कृषिप्रधान देश बना रहा और विदेशी शासकों ने उसकी उन्नति की ओर कोई विशेष ध्यान न दिया। देश इंगलैंड की मिलों और फैक्टरियों के लिये कच्चा माल भेजता रहा। भारतीय किसान बेकारी, भुखमरी और महँगाई से पीड़ित रहता था। अँगरेजों की साम्राज्यवादी नीति से पीड़ित रहने और ग्रामीण शिल्प तथा उद्योग धंधों के नष्ट हो जाने के साथ साथ भारतीय महाजनों, व्यापारियों और जमींदारों की स्वार्थपूर्ण नीतियों के कारण किसान पर कर्ज का काफी बोझ लद गया था। साम्राज्यवाद और पूँजी-वाद के पाटों के बीच वह पिस रहा था। किसान कर्ज में पैदा होता, कर्ज में जीता और कर्ज में ही मर जाता था। जूट, कपड़ा, लोहा एवं इस्पात आदि के कुछ कल कारखानों के खुल जाने पर भी देश का औद्योगिक विकास नहीं के बराबर था। चुंगी और विदेशी मुद्रा-विनियम-दर के रूप में भारतीय उद्योग धंधों को पनपने का अवसर ही न दिया जाता था। इसपर लगान, नमक कर, सैनिक व्यय, सरकारी कर्मचारियों के बड़े बड़े वेतन, विदेशी माल की खपत, पैदावार के भाव में कमी, बेकारी आदि के कारण देश में एक प्रकार से लगातार आर्थिक संकट बना रहता था। मध्यमवर्ग का ध्यान छोटी छोटी नौकरियों की ओर अधिक और वाणिज्य व्यवसाय तथा उद्योग धंधों की ओर कम रहता था। किसान मजदूर, बुद्धिजीवी मध्यमवर्ग, सभी लड़खड़ा रहे थे। गांधी जी ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा अन्य रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा 'दरिद्रनारायण' की ओर ध्यान अवश्य दिया, किंतु बाधाओं और सीमाओं के कारण इस दिशा

में कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि न हो सकी। गांधी जी तथा उनके सहयोगी अभाव-मुक्त देश का स्वप्न देखते रहे। किंतु स्वप्न पूर्ण होने के लिये विदेशी सत्ता के बंधनों से मुक्त होना अनिवार्य था।

वास्तव में जिस राष्ट्रीयता का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था, वह निर्बल क्रोध और आग्रहपूर्ण प्रार्थनाओं के स्थान पर अनेक देशभक्तों द्वारा पालित पोषित होकर सक्रिय संघर्ष की प्रेरणा से प्रेरित हो उठी थी। वह संसार की एक महान् साम्राज्यवादी शक्ति के संघर्ष में आ चुकी थी। देश के कण कण में भारतवासियों को दिव्यता के दर्शन होने लगे। 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा' अब नारा मात्र न रहकर भारतीय जीवन की यथार्थता बन गया था। किसानों, मजदूरों, नवयुवकों, मध्यमवर्ग आदि में राष्ट्र के प्रति प्रेम धर्म का रूप धारण कर चुका था। गांधी जी और कांग्रेस के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप विघटनकारी सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करने के साथ साथ देश ने अखिल भारतीय राष्ट्रीय भावना व्यक्त की। अँगरेजों की दमननीति एवं भेदनीति भी उसे कमजोर न कर सकी। सेना के स्थान पर अब अहिंसा का अस्त्र धारण कर स्वयं जनता बलि के लिये आतुर हो उठी थी। भारत देश भौगोलिक इकाई मात्र न रहकर 'माता' के रूप में परिणत हो गया और चारो ओर 'बंदेमातरम्', 'इंकलाब जिंदाबाद' और 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' के स्वर निनादित होने लगे। सबको पराधीन भारतभूमि स्वर्गसदृश दृष्टिगोचर होने लगी। भारत के जन जन में ईश्वर का रूप साकार हो उठा। जनसेवा ही ईश्वरभक्ति समझी जाने लगी। भारत माँ की सेवा के लिये लोग शरीर, मन और आत्मा का संस्कार करने लगे। माँ के लिये उनमें भावुकतापूर्ण और अनुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण उद्दीप्त हुआ। बंदिनी 'माता' को 'कारावास' से 'मुक्त' करने के लिये मोहनदास कर्मचंद गांधी का जन्म उसी प्रकार हुआ माना गया जिस प्रकार कंस के कारागार में मोहन (कृष्ण) का अवतार हुआ था। 'अँगरेजी शासन' 'रावणत्व' का प्रतीक था। गांधी जी ने उसे 'शैतान का राज्य' कहा। स्वतंत्रता संग्राम का लक्ष्य 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय' (बृहदारण्यक) का आदर्श प्रस्तुत करता था।

किसी भी देश के सामाजिक धार्मिक जीवन का संबंध अंततोगत्वा वहाँ की शिक्षाप्रणाली और तज्जनित संस्कारों से रहता है। आधुनिक नवीन शिक्षा से देश लाभान्वित तो अवश्य हुआ, किंतु भारी मूल्य चुकाकर। अँगरेजी शिक्षा का मूल उद्देश्य देश का सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक (व्यापक अर्थ में) उत्थान करना या देश को साफ सुथरा बनाना नहीं था। देश में जो नवोत्थान-

कालीन नवीन चेतना उत्पन्न हुई वह एक तो पश्चिम के घातक प्रभाव से बचने की दृष्टि से आत्मरक्षामूलक थी, दूसरे यह चेतना युगाचरन्यायसंमत थी। अँगरेजों का मुख्य उद्देश्य प्रशासकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सरकारी कर्मचारी पैदा करना और एक ऐसा शिक्षित वर्ग पैदा करना था जो अपनी सांस्कृतिक भूमि से उखड़ गया हो और जो अँगरेजों की भाँति ही सोचने विचारने का अभ्यस्त हो गया हो। इस शिक्षा की जड़ें जनजीवन में नहीं थीं। पराधीन भारत ने राजा राममोहनराय से लेकर महात्मा गांधी तक जीवन के विविध क्षेत्रों में अनेक महापुरुषों को जन्म दिया, जिन्होंने देशोद्धार के लिये अपना जीवन ही उत्सर्ग कर दिया। किंतु नवीन शिक्षा के दोषों पर विजय प्राप्त कर ही वे ऐसा कर सके थे।

नवीन शिक्षा की पृष्ठभूमि सांस्कृतिक एवं जातीय न होने के कारण देश में सामान्यतः दूषित दृष्टिकोण उत्पन्न होना अनिवार्य था। इसीलिये गांधी जी ने राष्ट्रीय शिक्षा और आलोच्य काल के लगभग अंत में बुनियादी शिक्षा पर बल दिया। किंतु नवीन शिक्षा से देश को कोई लाभ ही नहीं हुआ, यह मानना भी कठमुल्लापन होगा। देश की एकता और समान विचारपद्धति, सुधारवादी भावना, मानवतावादी दृष्टिकोण, राष्ट्रीयता, लोकतंत्रात्मक विचार-पद्धति, वैज्ञानिकता, भारत से बाहर की दुनिया के साथ संपर्क आदि के पीछे नवीन शिक्षा का महत्व स्वीकार न करना वास्तविकता से मुँह मोड़ना होगा। यद्यपि अँगरेजी के कारण हिंदी भाषा का सम्यक् विकास अवरुद्ध हो गया, तो भी स्वयं साहित्य में विविध साहित्यिक आंदोलन एवं विधाओं के जन्म और आधुनिकता का अवतारणा की दृष्टि से नवीन शिक्षा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आधुनिक हिंदी साहित्य को नवीन शिक्षा से अलग काटकर देखना ही एक प्रकार से असंभव है। हाँ, बहुसंख्यक जनता के अशिक्षित रह जाने के कारण सांस्कृतिक पुनरुत्थान का संदेश घर घर न पहुँच सका और साथ ही साहित्यिक रचनाओं की अधिक खपत न होने के कारण हिंदी के साहित्यकारों को आर्थिक लाभ न हो सका। पश्चिमी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप व्यक्तिवादी दृष्टिकोण भी जन्मा तथा व्यक्ति और समाज में तनाव की स्थिति बने रहने के कारण साहित्यकारों का व्यक्तित्व टूटता और भग्न होता दृष्टिगोचर होने लगा।

नवीन शिक्षा के फलस्वरूप उत्पन्न विविध सुधारवादी आंदोलन के कारण समाज और धर्म को बदलने की प्रबल आकांक्षा और सक्रियता रहने पर भी परंपरा और रूढ़िप्रियता का इस समय बोलबाला बना रहा। यह तो नहीं कहा जा सकता कि जातिव्यवस्था की कट्टरता एकदम दूर हो गई थी, किंतु वह कुछ शिथिल होने लगी थी। अशिक्षित जनता तो अब भी जातिबंधन से

जकड़ी हुई थी। समाज जातियों उपजातियों में विभाजित था और ऊँच नीच, छुआछूत की भावना प्रचलित थी। अस्पृश्यता, जातिगत विवाहसंबंध, छुआ-छूत आदि जातिवाद की कट्टरता के ही विविध पक्ष थे। जातिवाद और प्रजातंत्र में कोई साम्य भी उपस्थित न हो सकता था। यद्यपि प्रबुद्ध वर्ग जातिव्यवस्था की अर्थिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या देते हुए यह कहने लगा था कि हिंदू धर्म धर्म के संकीर्ण अर्थ में धर्म नहीं है, वह तो जीवनपद्धति है, वनखंड है, जहाँ भाँति भाँति के वृक्ष और पुष्प खिलते हैं, तो भी जातिगत कट्टरता की जटिलताओं और दुरूहताओं से समाज पीड़ित था।

समाज में धर्म का जो भी रूप अवशिष्ट था उसका ईमानदारी के साथ पालन नहीं होता था। बौद्धिक जागरण हो जाने पर भी धर्मभीरुता, पुनर्जन्म, संसार की क्षणभंगुरता, माया, दान, व्रत, तीर्थस्नान, पूजा पाठ, कथा प्रवचन, उपासना, परलोक आदि में लोगों को विश्वास था। मठों मंदिरों की इस समय दुरवस्था हो गई थी और तरह तरह के भिखमंगे 'साधुओं' की संख्या में वृद्धि हुई। ढोंग और आडंबरप्रियता का बोलबाला था। पूजा पाठ और धार्मिक अंधविश्वास एवं छुआछूत ने समाज की प्रगति अवरुद्ध कर रखी थी। उपासना भावविहीन होकर कर्मकांड में परिणत हो गई। ज्ञान और दर्शन से उसका कोई संबंध न रहा। इसके कारण समाज ही नहीं, धर्म पर भी संकट आ उपस्थित हुआ था। राजनीतिक दृष्टि से अँगरेज कूटनीतिज्ञों ने सवर्ण हिंदुओं और हरिजनों तथा दलित वर्गों को अलग अलग कर देना चाहा। इस संबंध में आर्यसमाज और महात्मा गांधी के प्रयासों का कोई ठोस परिणाम दृष्टिगोचर न हो पाया। हिंदू मुस्लिम सांप्रदायिक समस्या भी आर्थिक असमानता के अतिरिक्त बहुत कुछ इस सामाजिक स्थिति के कारण भी थी। आर्यसमाज ने शुद्धि आंदोलन चलाया था, किंतु वह भी इसी कारण विफल हो गया। हिंदू धर्म में दीक्षित मुसलमानों को समाज पचा नहीं पाया। औद्योगीकरण और वैज्ञानिकता के अभाव में इन सब बातों का बना रहना स्वाभाविक था।

पुनरुत्थान की भावना ने यदि एक ओर प्राचीन गौरव की ओर ध्यान आकृष्ट किया तो दूसरी ओर समाज और धर्म की तत्कालीन दयनीय अवस्था की ओर भी। इस दृष्टि से नारी की दयनीय स्थिति देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किए बिना न रह सकी। भारतेंदु हरिश्चंद्र (१८५०-१८८५) ने 'नीलदेवी' का आदर्श हिंदी पाठकों के सामने रखा था। नारीजागरण भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान का प्रधान अंग था। गार्गी और मैत्रेयी के उदाहरण फिर देश के सामने रखे गए और कम से कम विचारक्षेत्र में स्त्रीशिक्षा, स्त्री के समानाधिकार, पर्दा निवारण, विधवा पुनर्विवाह, दहेज प्रथा की निंदा, बाल-वृद्ध-बहु-विवाह-निषेध

आदि बातें स्वीकार कर ली गई थीं। किंतु व्यावहारिक दृष्टि से ये सभी बातें आलोच्य काल के प्रारंभ में बनी रहीं। केवल कुछ उच्चवर्गीय स्त्रियाँ ही इन सुधारों को व्यावहारिक रूप में परिणत कर सकीं। आलोच्य काल के लगभग अंत में इन सुधारों को और व्यापकत्व प्राप्त हुआ। सौभाग्यवश भारतीय स्त्रियों को नवयुग के अधिकार प्राप्त करने के लिये वैसा आंदोलन नहीं छेड़ना पड़ा जैसा यूरोप में छिड़ा था। सांस्कृतिक नवोत्थान ने स्वयमेव उनका अधिकार उन्हें प्रदान किया। विविध राष्ट्रीय आंदोलनों ने इस पुनीत कार्य में सहायता की। असूर्यंपश्या भारतीय नारी देश की पुकार सुनकर घर की चहारदीवारी से बाहर निकली और पुलिस की लाठियों के प्रहार और गोलियों की बौछारों का सामना कर वीरांगना बन गई। उस समय पर्दा प्रथा, आभूषणप्रेम, अनेक कुरीतियाँ एवं कुप्रथाएँ आदि बातें शीघ्र ही तिरोहित होने लगीं। समाज ने उनका स्वागत किया और विधवा तथा अपहृत नारियों के लिये अनेक आश्रम स्थापित कर उनका जीवन सुखी बनाया। आर्थिक दृष्टि से आलोच्यकालीन नारी पूर्णतः स्वतंत्र न हो पाई थी। परतंत्र भारत में यह सभव भी न था। यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यद्यपि आलोच्यकालीन नारी के व्यक्तित्व का पूर्ण उन्मुक्त विकास न हो पाया था, तो भी उसका भावी मार्ग आलोकित हो उठा था। मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रसाद', प्रेमचंद और छायावादी कवियों की रचनाएँ इसके लिये प्रमाण हैं। राजनीतिक सामाजिक पुनरुद्धार के लिये ही नहीं, साहित्य के नवनिर्माण में भी अनेक महिला लेखिकाओं ने अपना सक्रिय सहयोग प्रदान किया। वास्तव में नए युग की नई नारी के व्यक्तित्वगठन की जड़ आलोच्य काल में जमी और इसी समय भारतीय परिवार और समाज में उसे आदरपूर्ण स्थान मिलने की भूमिका प्रस्तुत हुई।

ऊपर की अनेक बातों का संबंध भारतीय पारिवारिक व्यवस्था से था। आलोच्यकालीन समाज में संमिलित कुटुंबप्रथा बहुत कुछ सुरक्षित बनी अवश्य रही, किंतु नवशिक्षोत्पन्न मनोविज्ञान और आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसमें दरारें पड़ने लगी थीं। संमिलित कुटुंबप्रथा ने यदि एक ओर सामाजिक और वैयक्तिक विघटन होने से रोका तो दूसरी ओर अनेक निष्प्राण पारिवारिक और सामाजिक परंपराओं को बनाए रखा। प्राचीन पर्वों, त्योहारों और रीति रस्मों की शृंखला संमिलित कुटुंबप्रथा के अंतर्गत बराबर बनी रही। परिवार में विधवाओं, भगाई हुई बालाओं अथवा अन्य किसी प्रकार से भ्रष्ट युवतियों के लिये कोई स्थान न था। ऐसी स्त्रियाँ या तो आश्रमों में स्थान पाती थीं अथवा उन्हें वेश्यावृत्ति धारण कर लेनी पड़ती थी। नवोत्थान की भावना से प्रेरित होकर हिंदी के लेखकों और कवियों ने वेश्याओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाया और उनमें भी नारीत्व की आभा देखी।

धार्मिक दृष्टि से आलोच्यकालीन समाज में परंपरागत धर्म प्रचलित थे। स्थूल रूप से समाज बहुसंख्यक वैष्णवों और अल्पसंख्यक शैवों में बँटा हुआ था। वेदों, पुराणों, उपनिषदों, गीता, भागवत, रामायण आदि के प्रति अब भी आस्था बनी हुई थी और अवतारवाद, बहुदेववाद, तीर्थमाहात्म्य, व्रत, कर्मकांड, पंडों पुरोहितों का आधिपत्य, मूर्तिपूजा आदि का प्रचार था। अनेक पर्व और त्योहार मनाए जाते थे। किंतु आर्यसमाज आंदोलन के कारण समाज में एक ऐसा वर्ग भी जन्म धारण कर चुका था जो इन परंपरागत बातों में विश्वास नहीं करता था। वह विभिन्न वैदिक विधियों, यज्ञ आदि में विश्वास करता और अवतारवाद, तीर्थ, मूर्तिपूजा, विविध कर्मकांडों आदि की कड़ी आलोचना करता था। आधुनिक शिक्षा का प्रचार हो जाने के कारण या तो कुछ लोग इन बातों में बिलकुल ही विश्वास नहीं करते थे और पश्चिम से आए ज्ञान विज्ञान को ही सब कुछ समझते थे, अथवा भारतीय मनोवृत्ति बनाए रखनेवाले लोग इन बातों को वैज्ञानिक आधार प्रदान कर नवीन रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे। धर्म के परंपरागत रूप में ही विश्वास करनेवाले सनातनधर्मी कहे जाते थे। धार्मिक दृष्टि से अब एक और समस्या उत्पन्न हो गई थी और वह थी हिंदू धर्म से इतर धर्मों की। देश में केवल हिंदू धर्म ही नहीं था, इस्लाम, ईसाई, पारसी आदि धर्मावलंबी भी इस देश में विद्यमान थे। हिंदू धर्म के समर्थकों और इस्लाम एवं ईसाई धर्म के समर्थकों में प्रायः संघर्ष छिड़ जाया करता था। वैसे तो सांस्कृतिक दृष्टि से हिंदुओं और मुसलमानों में अंतर नहीं था, लेकिन मुसलमानों द्वारा चलाया गया तबलीग आंदोलन और आर्यसमाज द्वारा संचालित शुद्धि आंदोलन राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष के फलस्वरूप जन्म धारण कर सके थे। किंतु एक तो अपनी सांस्कृतिक परंपराओं के कारण हिंदू धर्म सहिष्णुता की शिक्षा देता था, दूसरे ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न कुचक्रों को रोकना राष्ट्रीय हित के लिये अनिवार्य था, क्योंकि हिंदू मुसलमानों के आपस के झगड़ों से साम्राज्यवादियों को लाभ होता। यही कारण है कि नवयुग के नेताओं ने हिंदू धर्म के बृहत् अक्षय भांडार में से ऐसे ग्रंथों पर बल दिया जो सुधारवादी दृष्टि से पौराणिकता का परिहार कर नवोदित राष्ट्रीयता के पोषक और सांप्रदायिक वैमनस्य दूर करनेवाले सिद्ध हो सकते थे। एक पराधीन और निष्क्रिय एवं आलसी देश को कर्मठ बनाने के लिये एसे ही ग्रंथों की आवश्यकता थी। ये ग्रंथ उपनिषद् और गीता थे। राजा राममोहनराय से लेकर महात्मा गांधी तक नवभारत के लगभग सभी निर्माताओं ने औपनिषदिक ज्ञान और व्यावहारिक अद्वैत पर बल दिया।

वास्तव में पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने और उसका मुकाबला करने के लिये पुनरुत्थानकालीन भावना के अंतर्गत प्राचीन गौरव, सुधारवादी आंदोलनों और नवीन चेतना का जन्म हुआ। सुधारवादी आंदोलनों का ध्येय राष्ट्रवादी था। इसीलिये आर्यसमाज आंदोलन अपनी ऐतिहासिक भूमिका संपूर्ण कर राष्ट्रीय आंदोलन में घुल मिल गया। गांधी, अरविंद, टैगोर, रमण महर्षि आदि ने धर्म के नैतिकता-आध्यात्मिकता-प्रधान रूप को मान्यता प्रदान की, न कि रूढ़ियों और कर्मकांडों से बोझिल रूप को। धर्म और दर्शन के आश्रित रहने पर भी भारतीय समाज एक ऐसे नए धर्म की खोज कर रहा था जिसमें नए युग की आशा आकांक्षाएँ प्रतिफलित हो सकती थीं। मध्ययुगीन पौराणिकता से वह मुक्त रहना चाहता था। सत्य की खोज, अनेकता में एकता, समन्वय और सहिष्णुता द्वारा समर्थित हिंदू धर्म के वास्तविक रूप के प्रति गौरव की भावना इस काल की विशेषता है।

दार्शनिक दृष्टि से ईश्वर, सृष्टि, जीव, प्रकृति आदि के संबंध में कोई नवीन चिंतन नहीं मिलता और जन्मजन्मांतरवाद या आवागमन, कर्मसिद्धांत, स्वर्ग, नरक आदि के संबंध में शताब्दियों से चले आ रहे दृष्टिकोण का प्राधान्य रहा। युग के अनुकूल अद्वैत दर्शन पर काफी विचारदोहन हुआ। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद और रामतीर्थ द्वारा प्रतिपादित अद्वैत विचारपद्धति को योगी अरविंद (घोष) और रमण महर्षि ने सुरक्षित बनाए रखा। इन क्षेत्रों में नवीनता के लिये कोई गुंजाइश दिखाई नहीं पड़ी। प्रत्युत काल के बोझ से इन दार्शनिक विचारपद्धतियों की गतिशीलता बहुत कुछ नष्ट हो चुकी थी। आलोच्यकालीन भारतीय समाज धर्म और दर्शन का वास्तविक स्वरूप भूलकर स्थान, समय और परिस्थितिसापेक्ष रूप पर मुग्ध था। इस्लाम और ईसाई धर्मों ने भी दर्शन क्षेत्रों में कोई सक्रियता प्रकट न की। वास्तव में प्राचीन और नवीन का उचित समन्वय न हो सकने के कारण जो सर्जनात्मक प्रक्रिया दृष्टिगोचर होनी चाहिए थी वह न हो सकी और विचित्र परस्पर विरोधी बातें जीवन में स्थान पाने लगीं। पाश्चात्य दर्शन के अंतर्गत बुद्धिवाद, रोमांटिक भावना, मानवतावाद, प्रकृतिवाद, भौतिकतावाद, विकासवाद, जीवविकास, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, उपयोगितावाद आदि का अध्ययन किया गया और चिंतन मनन तथा साहित्य के क्षेत्र में उनका थोड़ा बहुत प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा।

अस्तु, आलोच्य काल के सामाजिक जीवन में (१) प्राचीन गौरव की स्मृति और तज्जनित राष्ट्राभिमान, किंतु साथ ही पतन पर क्षोभ, (२) यूरोप के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने की चेष्टा, (३) विभिन्न धर्मावलंबियों में राजनीति और अँगरेजों की भेदनीति पर आधारित वैमनस्य और (४) स्वयं अपने समाज

और धर्म में सुधार और कट्टरपंथियों, साथ ही यूरोप का अनुकरण करनेवालों के साथ संघर्ष, ये सभी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। उनके पीछे सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना काम कर रही थी। आलोच्य काल में राष्ट्रीय परिस्थिति के कारण बुद्धिवादी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण और धार्मिक सहिष्णुता की भावना और अधिक बढ़ी। साहित्यकारों ने प्राचीन और नवीन जीवन से ऐतिहासिक और सामाजिक सामग्री का संचयन कर ऐसी रचनाएँ प्रस्तुत कीं जो समाज के सर्वांगीण उत्थान में सहायक सिद्ध हो सकती थीं। गांधी जी के क्रांतिकारी विचारों ने भी समाज को आत्ममंथन और विचारदोहन का अवसर प्रदान किया। गाँवों में राजनीतिक चेतना तो पहुँच चुकी थी, किंतु वहाँ समाज और धर्म में युगानुकूल परिवर्तन उपस्थित करने की भावना अभी पैदा नहीं हुई थी। सुधारवादी आंदोलन नगरों तक ही अधिक सीमित रहे। वैसे हिंदू धर्म की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई और अनेक प्रकार के विचार विनिमय हुए। अनुपयोगी और निरर्थक तत्वों से विहीन हिंदू धर्म को समाजसेवा और राष्ट्रहित के लिये उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया और ईश्वर का अस्तित्व मंदिर, मस्जिद गिरजाघर आदि में न देखकर दीन-हीन की कुटियों में, मनुष्य की सेवा में, खेतों खलिहानों में स्वीकार किया गया।

आलोच्यकालीन जीवन के विविध पक्षों का अध्ययन करने से यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि देश में यदि एक ओर संगठनात्मक और रचनात्मक शक्तियों का जन्म हो रहा था, तो दूसरी ओर बिखराव, आपसी मतभेद, फूट और कलह, सांप्रदायिक वैमनस्य और शिथिलता उत्पन्न करनेवाली शक्तियाँ भी अपना घृणित रूप चमकाए बिना न रहती थीं। राष्ट्रीय आंदोलन ने देश की अनेक दूषित परंपराओं पर पर्दा डाल रखा था, किंतु दूषित परंपराएँ थीं अवश्य। संघर्ष के साथ साथ निराशा भी थी। सौभाग्यवश देश का नेतृत्व समर्थ हाथों में था। महात्मा गांधी तथा उनके सहयोगियों ने नैतिक आदर्शों और चारित्रिक दृढ़ता, साहस और निर्भीकता का पाठ पढ़ाकर दूषित परंपराओं और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने की शक्ति को जन्म दिया जिससे मुर्दा जैसी कौम में जान आ गई। भारतवासियों ने भय छोड़कर अनर्थकारी शक्तियों का सामना करना सीखा और एक व्यापक जनचेतना उत्पन्न हुई। सत्य और अहिंसा के आधार पर देश ने निःशस्त्र क्रांति को जन्म देने की चेष्टा की। सत्याग्रही वीर पैदा हुए। राष्ट्र में एकता, आत्मसंमान, अनुशासन, सहिष्णुता, सेवाभाव, त्याग और बलिदान की भावना जन्म धारण किए बिना न रह सकी। आलोच्य काल बाह्य और आंतरिक दोनों प्रकार की दुर्बलताओं से जूझने का युग है।

भारतवासियों के लिये स्वराज्य का प्रश्न बौद्धिक अधिक न होकर बुभुक्षा

का प्रश्न अधिक था। देश एक ऐसी प्रबल संस्कृति से टक्कर ले रहा था जिसने प्राचीन और मध्ययुगीन आस्थाओं और धारणाओं को बड़े तीव्र और प्रबल वेग से झकझोर डाला था। राजनीतिक दृष्टि से परास्त होने पर भी भारतवासी सांस्कृतिक दृष्टि से परास्त न हुए थे। राजा राममोहनराय से महात्मा गांधी तक अनेक महापुरुषों ने देशवासियों को ऐसा आत्मिक संबल प्रदान किया जो मूलतः भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में होते हुए भी समन्वयात्मक शक्ति लिए हुए था और जिसने लड़खड़ाते हुए देश की रक्षा की। नवीन शिक्षा में दोष होते हुए भी उससे देशवासियों का बुद्धिवैभव प्रकाशित हुआ। उन्होंने विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय की ओर दृष्टिपात किया ताकि जड़ विज्ञानवादी पश्चिम की भयंकर अग्निशिखाओं से मानवता का त्राण हो सके।

(ख) साहित्यिक प्रतिक्रिया

चौमुखी चेतना के इस युग में साहित्य और कला का अछूता बना रहना असंभव था। नवोत्थान की भावना ने जीवन और संस्कृति के इन महत्वपूर्ण पार्श्वों को भी समृद्ध किया। चित्रकला के क्षेत्र में राजा रवि वर्मा (ट्रावन्कोर-त्रिवांकुर) की वर्णसंकर शैली के स्थान पर अवनींद्रनाथ ठाकुर द्वारा स्थापित राष्ट्रीय शैली के मूल में भारतीय सांस्कृतिक नवोत्थान की भावना निहित थी। इसी प्रकार विष्णुनारायण भातखंडे, विष्णुदिगंबर पलुस्कर, नारायणराव व्यास, फैयाज खाँ, बड़े गुलाम अली, अलाउद्दीन खाँ, ओंकारनाथ ठाकुर आदि ने शास्त्रीय संगीत का पुनरुद्धार किया। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के वाद्य-यंत्रों, तर्जों और धुनों की दृष्टि से संगीत ने पाश्चात्य प्रभाव भी स्वीकार किया। फिल्मी गानों में लोकप्रिय भाव और लोकधुनें ग्रहण की गई। साहित्य में छंद और भाषा का संगीतात्मकता से संबंध स्थापित करने का प्रयास किया गया। आलोच्यकालीन साहित्यिक एवं कलात्मक नवोत्थान के मूल में, जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति, प्राचीन शास्त्रीयता के प्रति अभिरुचि और पाश्चात्य प्रभाव के समन्वय की भावना थी। यह कार्य साधनासापेक्ष था।

हिंदी के आलोच्यकालीन साहित्यकारों में से अधिकांश निम्न मध्यवर्ग के थे और उन्होंने उच्च श्रेणी की आधुनिक शिक्षा भी प्राप्त न की थी। वे अनेक प्रकार की विसदृश परिस्थितियों में जीवनयापन कर रहे थे। एक तो हिंदीभाषी को राजनीतिक और सामाजिक जीवन में उचित स्थान प्राप्त नहीं था, दूसरे हिंदी का साहित्यकार भी सभी तरह से उपेक्षित था। उसकी सारी शक्ति चारो ओर की परिस्थितियों से जूझने में ही खर्च हो जाती थी। अपने देश में हिंदी के साहित्यकार की वही स्थिति थी, जो अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में पराधीन

और निर्धन भारत की थी। फलतः हिंदीसेवियों में नाना प्रकार की ग्रंथियों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। इतने पर भी वे निष्ठापूर्वक मातृभाषा की सेवा करते रहे। उनमें मातृभाषा के प्रति अटूट प्रेम था और वे उसकी सेवा के लिये बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिये प्रस्तुत रहते थे। अनेक प्रकार की सामाजिक और आर्थिक कठिनाइयाँ रहते हुए भी वे जीवन की ऊबड़ खाबड़ पगडंडी पर निरंतर आगे बढ़ते ही गए। उनमें सेवाभाव बराबर बना रहा। हिंदी भाषा और साहित्य के प्रति उनकी आस्था और विश्वास में कोई अंतर न पड़ा। अग्निपथ से समाजजीवन तै करते हुए वे मातृभाषा, समाज और राष्ट्र के प्रति अपना कर्तव्य भली भाँति समझते थे और मानवतावादी आदर्शों के प्रति जागरूक थे। दार्शनिक दृष्टि से आलोच्यकालीन साहित्यकारों ने यद्यपि प्रधानतः भारतीय उपनिषदों, वेदांत, वैष्णव भक्ति और कुछ शैवागमों और बौद्ध धर्म का समन्वय प्रस्तुत किया, तो भी उन्होंने हेगेल के आध्यात्मिक सर्वात्मवाद और आलोच्य काल के लगभग अंत में, मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव भी स्वीकार किया। सांस्कृतिक चेतना, मानवतावादी मूल्य, राष्ट्रीयता, लोकतांत्रिक विचारधारा एवं सामाजिक समता, बुद्धिवाद, नारी के प्रति उदात्त दृष्टिकोण, उपयोगितावाद, आदर्शवाद, विश्वबंधुत्व और निःस्वार्थ सेवा, रहस्यवाद आदि ने आलोच्यकालीन हिंदी साहित्य का क्षितिज व्यापक बनाया और साहित्यकारों ने अनेक प्रकार की-नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और दार्शनिक समस्याएँ सुलझाने का प्रयास किया। प्रथम महायुद्ध के बाद की राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों, रूसी राज्यक्रांति तथा महात्मा गांधी की विचारधारा और वैज्ञानिक प्रगति ने मध्ययुगीन दृष्टिकोण (जो दासत्व-जनित जड़िमा के कारण बहुत कुछ बना हुआ था) पर प्रहार किया और सामान्य जन के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर जीवन के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न किया। वे धरती को ही स्वर्ग बनाना चाहते थे।

एक संघर्षपूर्ण और गतिमय युग में साहित्यकारों का आविर्भाव होने के कारण साहित्यसंपदा का अनेकस्तरीय और विविधतासंपन्न होना स्वाभाविक था। कविता की सभी प्रवृत्तियों में हमें गतिशीलता दृष्टिगोचर होती है। अपनी सीमाओं के भीतर छटपटाते हुए भी कवियों ने नई दिशाएँ खोजीं। उपर्युक्त परिवेश को दृष्टिपथ में रखते हुए यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि आलोच्य काल हिंदी साहित्य का वैभव काल है। इस काल के कवियों ने भाषा और भाव दोनों क्षेत्रों में कलात्मक वैभव प्रदर्शित किया और गद्यलेखकों ने संघर्षसापेक्ष जीवंत शक्ति प्रकट की। व्यापक जागरण के युग में उनकी मानसिक और कलाचेतना संबंधी धारणाओं का निर्माण हुआ। गांधीवाद और छायावाद रहस्यवाद दोनों

के मूल में सूक्ष्म आंतरिक शक्ति, सांस्कृतिक अध्यात्म और भारतीय सर्वात्मवाद है जो वेदों और उपनिषदों में सनातन सत्य के रूप में निहित था। सर्वात्मवाद के अतिरिक्त, सार्वभौमिक अंतश्चेतना, अतींद्रियता, उपनिषदों के ब्रह्मवाद, आध्यात्मिक अभेदता, चेतन प्रकृति और सूक्ष्म अंतर्जगत् की अभिव्यक्ति और पश्चिम के व्यक्तिवाद के कारण उसका रूप और अधिक पुष्ट हुआ। किंतु छायावादी रहस्यवादी काव्यप्रवृत्ति के अतिरिक्त इस समय देशभक्तिपूर्ण काव्य की भी प्रचुर मात्रा में रचना हुई, यद्यपि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जैसे आधुनिक युग में रहनेवाले प्राचीन कवियों का भी अभाव नहीं था। राष्ट्रीयता की लहर ने अनेक कवियों को प्रभावित किया। कुछ ने तो विविध आंदोलनों में सक्रिय भाग लिया। जो सक्रिय भाग न ले सके, उनका मन राष्ट्रीय भावनाओं से आंदोलित होता रहा। मैथिलीशरण गुप्त, 'सनेही', जयशंकर 'प्रसाद', माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान आदि अनेक कवि राष्ट्रीयता के रंग में रँग गए। सांस्कृतिक पुनरुत्थान के साथ साथ राष्ट्रीय जागरण के चिह्न उनकी रचनाओं में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं; यहाँ तक कि धार्मिक, पौराणिक और ऐतिहासिक विषय ग्रहण करते हुए भी राष्ट्रधर्म उनका प्रतिपाद्य विषय बना। देश में उत्पन्न आत्मबल और आत्मविश्वास उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। स्वयं हिंदी भाषा राष्ट्रीयता का प्रतीक बन गई थी। उसमें भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता के अनुरूप मानवी दृष्टिकोण और उच्च आदर्शों की स्थापना हुई। आलोच्य काल के अंत में पददलितों के प्रति सहानुभूति, यथार्थवाद, 'मनुष्य की सहज स्वाभाविक प्रवृत्तियों का नग्न चित्रण, वर्गसंघर्ष, नारी की मुक्ति, मानवसापेक्ष प्रवृत्ति, अलंकारविहीन भाषाशैली आदि का चित्रण साम्यवाद के साहित्यिक मोर्चा प्रगतिवाद' के अंतर्गत हुआ। किंतु इतना निश्चित है कि परतंत्रता के अनुभव के साथ साथ आलोच्यकालीन काव्य में व्यक्ति के परिष्कार और कार्यशीलता की आकांक्षा है। एक ओर विवशता थी, तो दूसरी ओर नैतिक दायित्व की भावना थी। यह अंतर्द्वंद्व इस काल से पूर्व के साहित्य में नहीं था। आलोच्यकालीन कवि की रचनाएँ इस अंतर्द्वंद्व और ऊहापोह से ओतप्रोत हैं। विवेकानंद, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, गांधी, रवींद्रनाथ, अरविंद, रमण महर्षि आदि का सम्यक् प्रभाव हिंदी के कवियों की बौद्धिक चेतना को संबलित किए हुए था। एक ओर जड़िमा तथा अवसाद था, तो दूसरी ओर अभ्युत्थान और नवजागरण की चेतना। छायावादी रहस्यवादी और राष्ट्रीय प्रवृत्ति का द्योतन करनेवाले कवि काव्य के क्षेत्र में नए नए मूल्य स्थापित कर रहे थे और इसलिये उनका अत्यधिक महत्व है। ये नए मूल्य मानवी जीवन, प्रेम, स्त्री-पुरुष-संबंध आदि की दृष्टि से ही नहीं, प्रकृतिचित्रण की दृष्टि से भी स्थापित किए गए। उनमें

मूल्यगत विद्रोह की भावना प्रमुख थी। यह विद्रोह आंतरिक ही नहीं, बाह्य भी था। काव्यरूपों की दृष्टि से भी उन्होंने नवीन मार्ग ग्रहण किया। परंपरागत मूल्यगत उपलब्धियों पर आलोच्यकालीन कवियों ने सभी प्रकार से प्रश्नसूचक चिह्न लगा दिया और सार्वभौम मानवमूल्यों की खोज की। उन्होंने अपने को देश काल की सीमित परिधि से बाहर स्थापित करने की चेष्टा की। यह कविता सामयिकता, एकदेशीयता और रूढ़िबद्धता से मुक्ति दिलाती है और उसका मूल स्वर आधुनिक है। वह 'विश्वांबुनिधि' में 'अवगाहन' करने की प्रेरणा देती है। कवियों ने अपने ऐतिहासिक दायित्व का निर्वाह करने की चेष्टा की जो उनके परिवेश के अनुरूप ही था।

राष्ट्रीय और सामाजिक एवं धार्मिक चेतना के फलस्वरूप साहित्य, सौंदर्य और कला के क्षेत्र में विशुद्ध आनंदानुभूति के अतिरिक्त उपयोगितावादी दृष्टिकोण भी उत्पन्न हुआ और खड़ी बोली का सार्वदेशिक स्तर पर प्रयोग होने के कारण उसमें नवीन शब्दों और अभिव्यंजनाओं का समावेश हुआ। उसे अधिकाधिक व्याकरणसंमत, परिष्कृत और परिमार्जित रूप प्रदान करने और उपयुक्त अलंकारों द्वारा उसमें लालित्य और कलात्मकता उत्पन्न करने की चेष्टा की गई। भाषा में ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीकविधान, संगीतात्मकता, सुकुमारता, स्वानुभूति की विवृति, वक्रता आदि द्वारा कमनीयता का समावेश हुआ। कथ्य भी नवीनता लिए हुए रहने लगा। विशुद्ध रसानुभूति की दृष्टि से कविताएँ कम लिखी गई। भावों में परिवर्तन के साथ साथ छंद के बंधन भी इस काल में टूटे। अनुभूति की अभिव्यक्ति को ध्यान में रखते हुए छंदों के रचनाविधान में अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित हुए। नए युग में नए छंदों और नई भाषा का जन्म धारण करना स्वाभाविक ही था। अनुभूति की लय अब छंद का आधार बनी। जहाँ मध्ययुगीन जीवनपद्धति के प्रति विद्रोह हो रहा था वहीं छंदबंधन को अनावश्यक समझा गया और नए युग की नई माँगों के अनुसार उसकी रचनाप्रक्रिया में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यद्यपि ऐसे कवियों का अभाव नहीं था जो प्राचीन छंदों द्वारा नवीन भावों को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे, तो भी परंपरा से चली आ रही मात्रागणना में अंतर उपस्थित कर यति गति की कल्पना करनेवाले और भावों के उत्थान पतन, आवर्तन विवर्तन के अनुसार संकुचित प्रसरित, सरल तरल, ह्रस्व दीर्घ होनेवाले मुक्त छंद का प्रयोग करनेवाले कवियों की संख्या अनुदिन बढ़ रही थी और आलोच्य काल के अंत तक आते आते नवीन नियम बन गया था। सच तो यह है कि युग के अनुरूप हिंदी साहित्य का अंतर ही नहीं, बाह्य रूप भी बदला, उसमें कलात्मकता, संगीतात्मकता, सौंदर्य, लालित्य, कमनीयता, सुकु-

मारता आदि ऐसी अनेक विशेषताओं का जन्म हुआ जो पूर्ववर्ती काल में उपलब्ध नहीं होतीं। परिष्करण, पुनर्मूल्यांकन, क्रांतिकारी नवीनता आलोच्यकालीन साहित्य की विशेषताएँ हैं।

भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान का अंतिम चरण होने के कारण आलोच्यकालीन हिंदी साहित्य में असाधारण भावनाओं, कल्पनाओं, आशाओं आकांक्षाओं और आत्मिक उत्साह के स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों रूपों का अस्तित्व मिलता है। क्षोभ, निराशा, आंतरिक दुर्बलताओं के रहते हुए भी गांधी जी के नवयुग के नवसंदेश ने देश में नवजीवन का संचार कर उसे सभी प्रकार के संघर्षों से जूझना सिखाया। विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के महान् साहित्यिक व्यक्तित्व ने उसे अदम्य प्रेरणा प्रदान की। भाषा, भाव, शैली, छंद आदि के परिष्करण और परिमार्जन के लिये जिस परिवेश और परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता थी वह सुलभ हो गया। हिंदी के साहित्यकार ने जीवन और आत्मा के निगूढ़ रहस्यों को खोजने के लिये अभियान किया, आत्ममंथन और आलोड़न विलोड़न किया और एक देदीप्यमान लक्ष्य की ओर अडिग साहस के साथ 'इंकलाब जिंदाबाद' के नारों की तुमुल ध्वनि के बीच कदम आगे बढ़ाए।

तृतीय अध्याय

कवि और कृतियाँ : एक सर्वेक्षण

आधुनिक युग में नवीन भावचेतना के प्रसार के फलस्वरूप हिंदी कविता निरंतर उत्कर्ष की ओर अग्रसर रही है। आलोच्य युग में भी आर्यसमाजी सुधारचेतना, गांधीवादी जीवनदर्शन, राष्ट्रीय सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में पुनरुत्थान की भावना, पाश्चात्य जीवनपद्धति के प्रति आकर्षण के फलस्वरूप स्वच्छंदतावादी रोमानी मूल्यों का प्रभावप्रसार, सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओं के निरूपण में यथार्थवादी दृष्टि को अपनाने को प्रवृत्ति आदि ऐसी गतिवर्धक शक्तियाँ सिद्ध हुईं जिन्होंने सामाजिक जीवन को उद्वेलित करने के साथ ही तत्कालीन काव्य को भी नवीन दिशासंकेत प्रदान किए। यद्यपि द्विवेदीयुगीन काव्यप्रवृत्तियों का प्रभाव एकबारगी समाप्त नहीं हो गया तथापि सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति, उदात्त कल्पना, लाक्षणिक अभिव्यक्ति आदि के माध्यम से प्रचलित काव्यपद्धति को नए संदर्भ देने की चेष्टा अधिकाधिक कवियों में मुखर होने लगी। मानवतावादी उदार दृष्टि ने एक ओर उन्हें किसान, भिक्षुक आदि की समस्याओं और तज्जनित करुण अवसाद के चित्रण की प्रेरणा दी और दूसरी ओर विश्वप्रेम धार्मिक सहिष्णुता आदि से संबद्ध विचारों को पुष्ट होने का अवसर मिला। इस युग का काव्य राजनीतिक, आर्थिक दासता से मुक्ति प्राप्त कर एक नई व्यवस्था की स्थापना और मानवता के उद्धार के लिये आकुल दिखाई देता है : इसके लिये जहाँ उसमें भारत के अतीत इतिहास से प्रेरणा लेकर व्यापक राष्ट्रीय भावना को व्यक्त करने का उत्साह लक्षित होता है वहाँ कहीं कहीं विद्रोहभाव को भी बीज रूप में स्थान प्राप्त हुआ है। भक्तिभाव को दृष्टि से भो जहाँ कुछ कवियों ने पूर्ववर्ती युग की सीधी सादी धार्मिक उक्तियों और उपदेशप्रवृत्ति की परंपरा का निर्वाह किया वहाँ अव्यक्त के प्रति जिज्ञासा, सौंदर्यवादी दृष्टि और जीवन के करुण अवसाद के सामंजस्य से एक नई काव्यप्रवृत्ति भी उदित हुई जिसमें भक्तिकालीन रहस्यवादी कविताओं से अधिक कलात्मकता थी। इन छायावादी रहस्यवादी गीतों और प्रणयविषयक स्वच्छंदतावादी कविताओं में प्रकृति पर चेतना के आरोप की प्रवृत्ति मुख्य रूप में व्यक्त हुई जिससे प्रकृतिकाव्य में विशिष्ट सौंदर्यभावना और संवेदना का समावेश हुआ। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय सांस्कृतिक दृष्टि से पुनरुत्थान की प्रेरणा, वैयक्तिक चेतना, प्रणय, प्रकृतिश्री का साक्षात्कार और

रहस्यानुभूति इस युग की मुख्य काव्यप्रवृत्तियाँ हैं जिनके मूल में प्रायः स्वच्छंदतावाद से प्रेरित कल्पनात्मक मनोदृष्टि विद्यमान है। किंतु, स्वच्छंदतावाद को इस युग का सामान्य लक्षण मान लेना भूल होगी क्योंकि उपर्युक्त प्रवृत्तियों के अतिरिक्त काव्य में प्राचीन परिपाटी का भी समानांतर निर्वाह होता रहा। इसीलिये इस युग में रूढ़ और नूतन विचारधारा, शिल्प संबंधी नवजागरूकता और केवल परंपरा का निर्वाह—सभी एक साथ मिल जाते हैं। इस काल की काव्यकृतियों का समग्रतः विश्लेषण करने पर विषयवस्तु की दृष्टि से किसी विभाजक रेखा को खींचना कठिन होगा क्योंकि जहाँ छायावाद की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ श्रीधर पाठक, जयशंकर प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी, मुकुटधर पांडेय आदि की कविताओं में १९१८ ई० के पूर्व ही व्यक्त होने लगी थीं वहाँ ऐसे भी अनेक कवि थे जो या तो द्विवेदी युग की प्राचीर को लाँघने में असमर्थ रहे अथवा जिन्हें छायावाद की नवीन काव्यचेतना अपनी ओर आकृष्ट ही नहीं कर सकी। अतः विषयवस्तु के वर्गीकरण को मुख्य आधार न मानकर इस युग की काव्यसंपदा पर काव्यविधाओं के अंतर्गत विचार करना सुविधाजनक होगा। इस दृष्टि से तत्कालीन रचनाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

१. वर्णनात्मक प्रबंध,
२. महाकाव्य,
३ खंडकाव्य,
४. काव्यनाटक (नाट्यप्रबंध),
५. पर्यायबंध काव्य,
६. आख्यानक निबंधकाव्य,
७. आख्यानक गीति (पद्यकथाएँ),
८. प्रबंध मुक्तक,
९. मुक्तक काव्य : गीत, प्रगीत, पद्यात्मक मुक्तक,
१०. अन्य काव्यप्रवृत्तियाँ : अनूदित कृतियाँ, हास्यव्यंग्यात्मक कविताएँ, रीतिबद्ध कविता, बालकाव्य, चंपूकाव्य, प्रशस्तिकाव्य, समस्यापूर्तिकाव्य।

वर्णनात्मक प्रबंध

सामान्यतः प्रबंधकाव्य के अंतर्गत महाकाव्य और खंडकाव्य की गणना की जाती है, किंतु प्रस्तुत युग में कुछ ऐसी कृतियों की भी रचना की गई जिनमें महाकाव्य के अनुरूप प्रबंधगुण होने पर भी तदनुरूप शैली और भावव्यंजना का उत्कर्ष नहीं है। कथावस्तु का अनावश्यक विस्तार, वर्णन विवरण पर अत्यधिक बल के कारण काव्यतत्व का अभाव, शिल्प संबंधी सूक्ष्मताओं की उपेक्षा आदि

के फलस्वरूप इन कृतियों को महाकाव्य कहना उचित न होगा। इस वर्ग का प्रथम काव्य शहजाद सिंह 'निकुंभ' कृत 'विश्वामित्र' (१९२५) है जिसमें ऋषि विश्वामित्र के जीवनचरित् को तीन खंडों में चौंतीष शीर्षकों के अंतर्गत विस्तारपूर्वक निरूपित किया गया है। अतीत को घटनाओं की सामयिक प्रवृत्तियों से तुलना, विवरणबहुलता, शब्दार्थ देते हुए क्लिष्ट भाषा का प्रयोग आदि इस कृति की वस्तुव्यंजना में बाधक उपादान हैं। श्रीलाल खत्री द्वारा बाईस भागों में लिखित 'महाभारत' (१९२५) भी इसी प्रकार की रचना है जिसमें कथानक को भक्तिपरक सांस्कृतिक दृष्टि से नियोजित किया गया है। वस्तुसंघटन में प्रचारात्मक दृष्टि, उर्दू मयी व्यावहारिक भाषा, बीच बीच में गीतों का अनावश्यक समावेश आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनके कारण इसमें रचनासौष्ठव नहीं आ सका। सीतलसिंह गहरवार कृत 'श्री सीतारामचरितायन' (१९२५) भी इस प्रकार का ब्रजभाषाकाव्य है जिसमें रामकथा को सात कांडों में प्रस्तुत करते हुए प्रत्येक कांड को सर्गों में विभाजित किया गया है। इसमें रामकथा का किंचित् संक्षेपीकरण करते हुए विशेषतः सीता और राम के चरित्रचित्रण पर बल रहा है। यह कृति कवि के अपने क्षेत्र बिहार प्रदेश में तुलसी के 'रामचरितमानस' की भाँति लोकप्रिय रही है और भावुकता, सरसता, मौलिकता, भाषालालित्य आदि इसकी उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। इसी समय के लगभग गदाधरप्रसाद वैद्य ने आर्यसमाज के सिद्धांतों के प्रचारार्थ 'श्री सत्यसागर' (१९२६-१९२८ ई०) की रचना तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की शैली में अवधी भाषा में दोहा, चौपाई तथा कवित्त छंदों में की, किंतु इस कृति में कवित्व का स्तर सामान्य है।

इस युग के वर्णनात्मक प्रबंधकाव्यों में संतोखसिंह कृत 'श्री गुरु नानक प्रकाश' (पूर्वार्ध, १९३२-३४) बासठ अध्यायों में विभाजित बृहदाकार ग्रंथ है। इसकी रचना ब्रजभाषा में हुई है और कवि ने इसके उत्तरार्ध की रचना का भी संकल्प व्यक्त किया है। धर्मप्रचार की दृष्टि से रचित होने के कारण इसमें वर्णनात्मकता पर बल है और भावव्यंजना तथा कविकौशल का अभाव है। रामकथा से संबद्ध इस वर्ग का एक अन्य काव्य बिहारीलाल विश्वकर्मा का 'श्री कोशलेंद्र कौतुक' (१९३६) है जिसकी रचना तुलसी के 'रामचरितमानस' के अनुकरण पर ब्रजभाषा में हुई है। इसमें धार्मिक दृष्टिकोण की प्रमुखता है और प्रसंगोद्भावना में मौलिकता न होने पर भी यत्र तत्र संवादयोजना संबंधी वैशिष्ट्य और वस्तुसंयोजन की स्वच्छता द्रष्टव्य है। बसंतराम कृत 'श्री बसंत कृष्णायन' (१९३६) भी ब्रजभाषा की ऐसी ही रचना है जिसमें संपूर्ण कृष्णचरित् को १५६२ पृष्ठों में विस्तारपूर्वक निरूपित किया गया है। कवित्व और भावव्यंजना की दृष्टि से यह एक साधारण कृति है। इस शैली का अंतिम काव्य है—रूपनारायण पांडेय

'कविरत्न' द्वारा रचित 'श्रीकृष्णचरित या श्रीरुक्मिणीमंगल' (रचना—१९३७, प्रकाशन—१९५७)। इसमें कृष्णजन्म से लेकर रुक्मिणीपरिणय तक की कथा को अट्ठारह खंडों में कथावाचकों जैसी शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसकी रचना धार्मिक मनोवृत्ति से की गई है, फलतः इसमें काव्यकला का उत्कर्ष प्रकट नहीं हो सका।

महाकाव्य

इस युग का प्रथम महाकाव्य रामचरित उपाध्याय कृत 'रामचरित-चिंतामणि' (द्वितीय संस्करण, १९२९) है जिसमें रामकथा को समसामयिक परिवेश से प्रभावित रहते हुए पच्चीस सर्गों में निबद्ध किया गया है। घटनाक्रम का व्यवस्थित संयोजन, वातावरण का सजग चित्रण, ऋतुवर्णन, आदर्शनिर्धारण आदि इस कृति की मुख्य विशेषताएँ हैं। इस काल का दूसरा उल्लेखनीय महाकाव्य 'साकेत' (१९३१) है जिसमें गुप्त जी ने रामकथा को बारह सर्गों में विदग्धतापूर्वक प्रस्तुत किया है। इसकी रचना काव्य में उपेक्षित उर्मिला के चरित्रचित्रण के निमित्त हुई थी, फलतः इसमें कथासंयोजन का आधार पूर्ववर्ती काव्यों से सर्वथा भिन्न है। सरसता, भावव्यंजना में मौलिकता, पात्रों के सफल मनोविश्लेषण, शिल्प संबंधी नए नए प्रयोगों आदि की दृष्टि से गुप्त जी की रचनाओं में इसका अन्यतम स्थान है। पुरोहित प्रतापनारायण कविरत्न का 'नल नरेश' (१९३३) भी इस युग का उल्लेखनीय महाकाव्य है जसकी रचना 'महाभारत' के तत्संबद्ध कथानक के आधार पर उन्नीस सर्गों में की गई है। इसमें सामयिक प्रवृत्तियों को यथास्थान प्रतिफलित करते हुए सनातन सांस्कृतिक परंपराओं को आदर्शवादी ढंग से निरूपित किया गया है। इसकी काव्यशैली पर 'हरिऔध' और मैथिलीशरण दोनों का प्रभाव है। यद्यपि इसमें प्रायः क्लिष्ट शब्दावली का प्रयोग हुआ है तथापि भावुक दृष्टि और सरसता का अभाव नहीं है। गुरुभक्तसिंह 'भक्त' द्वारा मध्यकालीन इतिहास के कुछ प्रसंगों को लेकर रचित 'नूरजहाँ' (रचना १९३३, प्रकाशन १९३५) भी इस काल का श्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें नूरजहाँ के व्यक्तित्व और जीवन को निरूपित करने के अतिरिक्त तत्कालीन वातावरण का भी जागरूक चित्रण किया गया है। अट्ठारह सर्गों में लिखित यह कृति भावव्यंजना, मनोविश्लेषण, शैलीपरिपाक आदि की दृष्टि से सराहनीय है। इस युग की एक अन्य विशिष्ट रचना बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' कृत 'उर्मिला' (रचना—१९३०–३४, प्रकाशन १९५७) है जिसमें एक ओर द्विवेदीयुगीन नीतिवादी दृष्टि को स्थान प्राप्त हुआ है, दूसरी ओर वस्तुयोजना में स्वच्छंदतावादी तत्वों को ग्रहण किया गया है। आत्मीयतापूर्ण वस्तुसंयोजन, लक्ष्मण और उर्मिला के चरित्र की विशिष्ट अभिव्यक्ति और भावव्यंजना में समर्थ चित्रभाषा

का प्रयोग इसकी प्रमुख विशेषाताएँ हैं। बलदेवप्रसाद मिश्र का 'कोशलकिशोर' (१९३४) भी रामकथा से संबद्ध महाकाव्य है जिसमें पूर्ववर्ती रचनाओं से प्रेरणा लेने के अतिरिक्त सामयिक चिंतनपद्धति से भी लाभ उठाया गया है। इसीलिये इसमें केवल भक्तिपरक प्रसंगों को भावुकतामयी श्रद्धा के साथ ग्रहण करने की प्रवृत्ति ही नहीं है, अपितु घटनाओं के वैज्ञानिक औचित्य, पात्रों के सूक्ष्म मनोभावों और रचनाशिल्प के औदात्य की ओर भी ध्यान दिया गया है। 'साकेत' जैसी काव्यगरिमा न होने पर भी यह एक सराहनीय काव्यकृति है।

छायावाद युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण काव्य जयशंकर प्रसाद कृत 'कामायनी' (१९३५ ई०) है। इसमें चिंता, आशा, वासना, लज्जा आदि मनोदशाओं के चित्रण द्वारा जीवन को उसकी पूर्णता में ग्रहण किया गया है और मानवसृष्टि के आरंभ की ऐतिहासिक गाथा को मौलिक गति दी गई है। सूक्ष्म भावव्यंजना, इतिहास और कल्पना का उत्कृष्ट सामंजस्य, उदात्त चरित्र-चित्रण और स्वच्छ जीवनदर्शन इस कृति की ऐसी विशेषताएँ हैं जो इसे आधुनिक काल के पूर्ववर्ती महाकाव्यों से श्रेष्ठ सिद्ध करती हैं। इस युग का अंतिम महाकाव्य अनूप शर्मा का सिद्धार्थ' (१९३७) है जिसमें बुद्ध के पूरे जीवनचित्र को हरिऔध' जैसी शैली में अट्ठारह सर्गों में प्रस्तुत किया गया है। प्रबंधविधान की सहजता, संबद्ध घटनाक्रम की स्वच्छ प्रस्तुति, अतुकांत पद्धति और वर्णवृत्तों का प्रयोग इस कृति की सामान्य विशेषताएँ हैं। अयोध्या के राजकवि रामनाथ 'जोतिसी' के 'श्री रामचंद्रोदय काव्य' (१९३७ ई०) में रामवनगमन तक के कथानक को सोलह कलाओं में प्रस्तुत किया गया है। 'वानप्रस्थ धर्म', 'विशेष गृहधर्म', 'विधवा आपद्धर्म' आदि शीर्षकों के अंतर्गत नीति और भक्ति का आदर्शवादी प्रतिपादन इस कृति की विशेषता है, किंतु इसमें रसात्मक स्थलों का अभाव नहीं है। केशव जैसी संवादकला, छंद-वैविध्य और पादटिप्पणियों में शब्दार्थ देते हुए क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग इसकी अन्य प्रवृत्तियाँ हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षस्वरूप यह कहना उचित होगा कि पूर्ववर्ती काल की तुलना में प्रस्तुत युग में हिंदी महाकाव्य का कहीं अधिक व्यवस्थित विकास हुआ और इस क्षेत्र में कवियों की क्षमता भली भाँति व्यक्त हुई।

खंडकाव्य

आलोच्य युग में वर्णनात्मक प्रबंधों और महाकाव्यों की तुलना में खंडकाव्यों की अधिक परिमाण में रचना हुई। विषय की दृष्टि से इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक। प्रथम वर्ग के अंतर्गत पुराण, रामायण और महाभारत के विविध प्रसंगों को लेकर रचनाएँ प्रस्तुत की

गई, द्वितीय वर्ग में प्रायः मध्यकालीन इतिहास के संदर्भ में प्रमुख नारीचरित्रों पर खंडकाव्य प्रस्तुत किए गए और तृतीय वर्ग में कल्पित प्रणयकथाओं, देशभक्ति प्रभृति सामयिक सामाजिक प्रवृत्तियों और धर्म, साहित्य आदि के क्षेत्र में प्रसिद्ध व्यक्तियों को काव्यरचना का आधार बनाया गया ।

पौराणिक खंडकाव्य

पौराणिक प्रसंगों पर आधारित खंडकाव्यों की परंपरा में इस युग की प्रथम उपलब्ध कृति 'भंग में रंग' (१९२१) है जिसमें अंबिकादत्त त्रिपाठी ने सावित्री सत्यवान की कथा में निहित महिला आदर्श को सरल स्वच्छ भाषा में प्रस्तुत किया है। इस दिशा में उपलब्ध दूसरी रचना 'सुलोचना सती' (रचना १९२२, प्रकाशन १९३१) में 'विष्णु' कवि ने मेघनादवध पर उसकी पत्नी सुलोचना की प्रतिक्रियाओं का मार्मिक चित्रण किया है। 'हरिऔध' जी और गुप्त जी की रचनापद्धतियों से प्रभावित इस कृति में आठ सर्ग हैं और इसकी रचना अतुकांत शैली में हुई है। उपर्युक्त दोनों कृतियों में चरित्रचित्रण में आदर्शवादी स्वर की प्रमुखता थी, किंतु इनके बाद रचित ब्रजभाषाकाव्य 'ऊषा चरित्र अथवा हरिहर संग्राम' (१९२४) में देवीप्रसाद बर्णवाल ने प्रेमाख्यानक शैली का आश्रय लिया। इसमें श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के प्रति बाणासुर की पुत्री उषा के पूर्वानुराग आदि का आल्हा (वीर) छंद में सरस वर्णन हुआ है। इस कड़ी की दूसरी कृति शिवदास गुप्त 'कुसुम' कृत 'उषा' (१९२५) है जिसका कथानक 'श्रीमद्भागवत' पर आधृत है और पाँच सर्गों में विभाजित है। प्रसाद जी के 'महाराणा का महत्व' की भाँति इसकी रचना अमित्राक्षर अरिल्ल छंद में हुई है। इस युग के अन्य पौराणिक खंडकाव्यों में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'गंगावतरण' (१९२४-२७) विशेषतः उल्लेखनीय है। इसमें भगीरथ के तपस्याफल, गंगा के प्राकृतिक सौंदर्य आदि का स्वच्छ ब्रजभाषा में चित्रण हुआ है और संपूर्ण कथावृत्त को तेरह सर्गों में भली भाँति नियोजित किया गया है। प्रस्तुत वर्ग का एक अन्य प्रसिद्ध खंडकाव्य मैथिलीशरण गुप्त कृत 'शक्ति' (१९२७) है जिसमें देव-दानव-संग्राम का वर्णन किया गया है। वीर रस का ओजपूर्ण चित्रण इस कृति की अन्यतम विशेषता है। महिलाआदर्श से अनुप्राणित रचनाओं में उदितनारायण दास कृत 'सुकन्याचरित' (द्वितीय सं०, १९३१) भी उल्लेखनीय है। इसमें च्यवन ऋषि की पत्नी सुकन्या की पतिभक्ति का दो खंडों—पूर्व खंड और उत्तर खंड—में चित्रण हुआ है और शृंगारादि सभी मुख्य रसों को स्थान दिया गया है। इस प्रकार के चरितमूलक खंडकाव्यों में रामचंद्र शर्मा 'विद्यार्थी' कृत 'परमभक्त ध्रुव' (१९२८) और 'परमभक्त प्रह्लाद' (१९३६) भी द्रष्टव्य हैं जिनकी रचना क्रमशः छह और तेरह सर्गों में की गई है। इनमें से प्रथम कृति की रचना छप्पय

छंद में हुई है जो इस दिशा में अभिनव प्रयोग है। इन दोनों रचनाओं में कवि की दृष्टि मुख्यतः कथावस्तु के स्वच्छ नियोजन और चरितनायक की जीवनी तथा व्यक्तित्व के सरल भाषा में प्रस्तुतीकरण पर केंद्रित रही है। रामशरण गुप्त 'शरण' का 'पतिव्रतादर्श' (पूर्वार्ध १९२९, उत्तरार्ध १९३४) भी दो भागों में प्रकाशित इसी वर्ग की कृति है जिसमें दमयंती के चरित्र को भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप चित्रित किया गया है। इसमें पूर्वार्ध में दमयंती के विवाहपूर्व तक की कथा और उत्तरार्ध में विवाह, वियोग और पुनर्मिलन की कथा को सरस तथा मार्मिक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

पौराणिक प्रसंगों पर आधारित उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त इस युग में रामकथा के कुछ अंशों को लेकर भी खंडकाव्यों की रचना की गई। काशीप्रसाद दुबे कृत 'वियोगिनी सीता' (१९२४) इसी प्रकार की रचना है जिसमें वाल्मीकि आश्रम में सीतानिवास की कथा को चार सर्गों में प्रकट किया गया है। कालक्रम से इस वर्ग की दूसरी कृति श्यामनारायण पांडेय की 'त्रेता के दो वीर' (१९२८) है जिसमें लक्ष्मण और मेघनाद के युद्ध, लक्ष्मण की मूर्छा, राम के दुःख, लक्ष्मण के चरित्रगौरव आदि को सरल स्वच्छ भाषा में प्रस्तुत किया गया है। कुंजलाल 'रत्न' की ब्रजभाषाकृति 'चित्रकूट' (१९३१) भी इसी वर्ग का खंडकाव्य है जिसमें चित्रकूट में रामनिवास से संबद्ध वर्णनात्मक कथाप्रसंग के अतिरिक्त स्फुट प्रकृतिचित्रण पर भी बल रहा है। इसमें मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छंदों का प्रयोग है और छंदवैविध्य पर अनावश्यक रूप में अत्यधिक बल दिया गया है। शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' का ब्रजभाषा काव्य 'भरत भक्ति' (१९३२) भी इसी श्रेणी की रचना है। यद्यपि यह बाईस सर्गों में विभक्त है, तथापि इसमें न तो भरत का पूर्ण जीवनचित्र प्रस्तुत किया गया है और न ही शिल्प की दृष्टि से महाकाव्य जैसी गरिमा है, अतः इसे बृहत् खंडकाव्य कहना ही उचित होगा। भावुकतापूर्ण कवित्वप्रवाह के स्थान पर इसमें बहुज्ञता और वर्णनवैविध्य पर बल दिया गया है। इसी प्रकार अलंकारबहुलता, छंदवैविध्य, शब्दार्थ देते हुए क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग आदि भी ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनके कारण इसमें प्रबंधकौशल बाधित हुआ है। रामकथा से संबद्ध अन्य प्रसंगों में शबरी के चरित्र को लेकर वचनेश मिश्र ने 'शबरी' (१९३६) शीर्षक काव्य की सवैया छंद में दस सर्गों में रचना की है। इसमें राममिलन के संदर्भ में शबरी की जीवनकथा और मनोदशाओं का सरल, स्वच्छ और मधुर ब्रजभाषा में मार्मिक निरूपण किया गया है। संभवतः इसकी रचना अस्पृश्यता के प्रति सामयिक प्रतिक्रियाओं के प्रेरणास्वरूप हुई थी। गोविंददास 'विनीत' की 'प्रिया या प्रजा' (१९३७) भी इसी वर्ग की रचना है जिसमें राम द्वारा सीतात्याग से संबद्ध

कथानक को दो खंडों में क्रमशः दस और सात संक्षिप्त सर्गों में स्थान दिया गया है। इसमें सीता के आध्यात्मिक रूप के वर्णन पर अधिक बल दिया गया है, किंतु भरत, लक्ष्मण, मांडवी आदि पात्रों का चरित्रचित्रण भी द्रष्टव्य है। वैसे, इसकी भाषा क्लिष्ट है और रचनापद्धति अपरिपक्व।

महाभारत के कथाप्रसंगों के आधार पर भी इस युग में अनेक खंडकाव्यों की रचना की गई। इस दिशा में उपलब्ध प्रथम कृति कमलाप्रसाद वर्मा कृत 'अभिमन्यु का आत्मदान' (१९१८) है जिसमें सात संक्षिप्त सर्गों में वीररस और करुणरस की सामग्री को सरल भाषाशैली में प्रस्तुत किया गया है। इस वर्ग की दूसरी कृति शिवदास गुप्त 'कुसुम' की 'कीचकवध' (१९२१) है। इसमें पाँच सर्ग हैं और कवि ने मुख्यतः वीररस को स्थान देते हुए उपदेशवृत्ति, करुण प्रसंगों, वातावरणचित्रण आदि पर भी बल दिया है। छंदवैविध्य और सरल भाषा इस कृति की अन्य विशेषताएँ हैं। इसी शैली की एक अन्य रचना जगदीशनारायण तिवारी की 'दुर्योधनवध' (१९२६) है। इसकी रचना गुप्त जी के 'जयद्रथवध' (१९१०) से प्रभावित होकर चार सर्गों में की गई है। यह उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि विषयसंयोजन और रचनापद्धति दोनों की दृष्टि से इस काल के अनेक अन्य कवियों पर भी गुप्त जी का प्रत्यक्ष प्रभाव रहा है। खंडकाव्य के क्षेत्र में उन्हें द्विवेदी युग में ही प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी, किंतु प्रस्तुत काल में उनकी रचनाएँ कुछ विलंब से सामने आईं। महाभारत के कथांशों के आधार पर उन्होंने तीन खंडकाव्यों की रचना की है—सैरंध्री (१९२७), वनवैभव (१९०७), वकसंहार (१९२७)। इनमें क्रमशः कीचकवध के संदर्भ में द्रौपदी के चरित्र, पांडवों की वनवासकाल की अनुभूतियों और विप्रगृह में रहते समय कुंती द्वारा बकसंहार के उद्देश्य से भीम को भेजने का चित्रण हुआ है। वस्तुयोजना की प्रौढ़ता के साथ ही काव्यशिल्प की दृष्टि से कवि की सजगता भी इनमें उत्तरोत्तर प्रमाणित होती गई है। उपर्युक्त कृतियों की भाँति 'दिनकर' का 'प्रणभंग' (१९२९) भी उल्लेखनीय खंडकाव्य है जिसमें महाभारत युद्ध में श्रीकृष्ण द्वारा शस्त्रग्रहण के प्रसंग को तीन शीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किया गया है। इसमें पात्रों के मनोवेगों की अच्छी व्यंजना है और जो ओज 'दिनकर' की बाद की रचनाओं में व्यक्त हुआ उसका पूर्वाभास भी विद्यमान है। इसी काल के अन्य काव्य 'संधिसंदेश' (रचना १९२९-३०, प्रकाशन १९५३) में दामोदरसहाय सिंह 'कविकिंकर' ने श्रीकृष्ण द्वारा कौरवसभा में पांडवों का संधिसंदेश ले जाने और कौरवों द्वारा उसे स्वीकार न करने का चित्रण किया है। कृष्ण को शांतिदूत के रूप में प्रस्तुत करने के प्रसंग में इस काव्य पर महात्मा गांधी के सत्याग्रह

आंदोलन का सामयिक प्रभाव लक्षित होता है। इसकी रचना पाँच सर्गों में उद्बोधनात्मक शैली में की गई है और शब्दसौष्ठव, कथाशिल्प आदि का स्तर सराहनीय है। गुप्त जी के 'जयद्रथवध' से प्रभावित तत्कालीन रचनाओं में रामचंद्र शुक्ल 'सरस' के ब्रजभाषा काव्य 'अभिमन्युवध' (१९३२) का भी उल्लेख किया जा सकता है। युद्धवर्णन की ओजस्विता, भाषा की प्रांजलता और उद्बोधनात्मक शैली इसकी उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। रामसहाय शर्मा 'मराल' कृत 'अज्ञातवास' (१९३३) भी 'जयद्रथवध' की शैली और छंद-विधान से प्रभावित रचना है। इसमें वन में पांडवों के अज्ञातवास के समय की घटनाओं का पाँच सर्गों में स्वच्छ चित्रण है।

महाभारत से इतर श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व को लेकर भी इस युग में कुछ खंडकाव्यों की रचना की गई। इस दिशा में कालक्रम से प्रथम कृति श्यामलाल पाठक कृत 'कंसवध' (१९२१) है जिसमें सात सर्गों में संबद्ध कथा को सामान्य वर्णनात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। दूसरी कृति सीताराम सिंह की 'श्रीकृष्णविलास' (१९२४) है जिसमें श्रीकृष्ण की बाललीलाओं को रोचक कथात्मक शैली में निरूपित किया गया है, किंतु अभिव्यंजनाशिल्प की दृष्टि से इसका स्तर सामान्य ही है। विनायकराव भट्ट की ब्रजभाषाकृति 'श्री सुदामा-चरित्र' (१९३६) भी इसी कड़ी की रचना है। इसकी भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है, किंतु वस्तुनिर्वाह की दृष्टि से इसमें नरोत्तमदास के 'सुदामाचरित' जैसी सरसता नहीं आ पाई है।

ऐतिहासिक खंडकाव्य

आलोच्य युग में मध्ययुगीन इतिहास के विभिन्न प्रकरणों के आधार पर अनेक ऐतिहासिक खंडकाव्यों की रचना की गई। इस दिशा में प्रथम उपलब्ध कृति द्वारकाप्रसाद गुप्त 'रसिकेंद्र' कृत 'आत्मार्पण' (१९१९) है जिसमें औरंगजेब कालीन भारत का चित्रण करते हुए मेवाड़ के राणा राजसिंह और प्रभावती की कथा प्रस्तुत की गई है। नारीआदर्श से सबद्ध इस कृति में पाँच सर्ग हैं और इसकी रचना द्विवेदीयुगीन काव्यशिल्प की परंपरा में पीयूषवर्षक छंद में हुई है। इनका एक अन्य खंडकाव्य 'सती सारंधा' (१९२४) प्रेमचंद की 'रानी सारंधा' शीर्षक कहानी पर आधारित है और इसमें छत्रसाल के पिता चंपतराय और माता सारंधा के वीरोत्साह का सरल भाषा में चित्रण हुआ है। दूसरे उल्लेखनीय कवि दिवाकरप्रसाद शास्त्री हैं जिनका 'वसुमती' (१९११) शीर्षक अतुकांत खंडकाव्य उत्तर भारत के मुसलमानों में प्रचलित एक दंतकथा

पर आधारित अर्ध ऐतिहासिक रचना है। पाँच सर्गों में लिखित इस कृति में वातावरणचित्रण पर अधिक बल है और कहीं कहीं 'प्रियप्रवास' की रचना-पद्धति का प्रत्यक्ष अनुकरण किया गया है। इस धारा की अगली कृति गदाधरसिंह भृगुवंशी कृत 'हकीकतराय' (१९२३) है जो भाषा और वर्णनसौष्ठव की दृष्टि से सामान्य रचना है। दूसरी ओर, सुरेंद्रनाथ तिवारी के काव्य 'वीरांगना तारा' (१९२४) में नारीउद्बोधन के निमित्त पाँच सर्गों में सराहनीय कथायोजना की गई है। इसी प्रकार ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने 'सती पद्मिनी' (१९२५) में छह सर्गों में स्त्रीशिक्षा के निमित्त वीररसपूर्ण कथा प्रस्तुत की है। इसमें अलाउद्दीन से रक्षार्थ जौहर का आयोजन करनेवाली सती पद्मिनी की कथा को उत्कृष्ट काव्यशैली में प्रस्तुत किया गया है।

ऐतिहासिक वृत्त को लेकर खंडकाव्यों की रचना करनेवाले कवियों में मैथिलीशरण गुप्त का अन्यतम स्थान है। उनका 'विकट भट'(१९२८) मध्यकालीन राजपूती आन को चित्रित करनेवाला अतुकांत खंडकाव्य है जिसमें वीरदर्प को ओजस्वी शैली में व्यक्त किया गया है। उनकी एक अन्य प्रसिद्ध कृति 'सिद्धराज' (१९३६) है जिसकी रचना गुजरात के इतिहास के आधार पर कल्पना के समन्वयपूर्वक हुई है। इसमें मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के स्वच्छ और ओजपूर्ण चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। रसपरिपाक, चरित्रव्यंजना और अतुकांत पद्धति के निर्वाह की दृष्टि से यह एक सफल कृति है। रामकुमार वर्मा का 'चित्तौड़ की चिता' (१९२९) भी इस काल का उल्लेनीय खंडकाव्य है। इसमें राणा साँगा की मृत्यु के बाद रानी करुणावती पर गुजरात के बहादुरशाह के आक्रमण, रानी की पराजय, जौहर आदि का कहीं ओजपूर्ण और कहीं करुण शैली में वर्णन किया गया है। प्रस्तावना और उपसंहार के अतिरिक्त इसमें बारह सर्ग हैं और रचनाशिल्प की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट कृति है। उदयशंकर भट्ट की 'तक्षशिला' (१९३१) भी इस युग की बहुचर्चित कृति है। इसमें भारत की प्राचीन नगरी तक्षशिला के इतिहास की खोजपूर्ण छानबीन करते हुए यूनानियों के आक्रमणों, विभिन्न कालों में तक्षशिला की गरिमा, सांस्कृतिक उत्कर्ष आदि का चित्रण किया गया है। भावव्यंजना में समर्थ शब्दावली, छंद-विधान में स्वतंत्र दृष्टि, सात सर्गों में कथानक का सुनिबंधन आदि इस कृति की सहज विशेषताएँ हैं। इस काल के अन्य कवियों में शिवदयाल जायसवाल ने 'वीरगाथा' (१९३१) में 'परमाल रासो' के कीरतिसागर युद्ध अथवा भुजरियों की लड़ाई का चार खंडों में ब्रजभाषा से प्रभावित कन्नौजी बोली में ओजपूर्ण वर्णन किया है। अंबिकादत्त त्रिपाठी के संक्षिप्त खंडकाव्य 'कृष्णाकुमारी' (१९३१), उदयपुर नरेश भीमसिंह की पुत्री कृष्णाकुमारी की प्रसिद्ध ऐतिहासिक

कथा को सरल शैली में प्रस्तुत किया गया है। एक अन्य उल्लेखनीय रचना मुंशी अजमेरी कृत 'गोकुलदास' (१९३२) है। इस संक्षिप्त आदर्शवादी आख्यानकाव्य में राणा प्रताप के भाई शक्तिसिंह के पौत्र गोकुलदास से संबद्ध ऐतिहासिक वृत्त को अत्यंत स्वच्छ और ओजस्वी भाषा में व्यक्त किया गया है। अन्य रचनाओं में रघुनंदनप्रसाद 'अटल' की 'अरगल की रानी'(१९३२) वीररस की, एक सर्ग में रचित अतिसंक्षिप्त कृति है जिसमें यवन आक्रमणकारियों से युद्ध का ओजस्वी वर्णन हुआ है। शंभूदयाल सक्सेना ने 'अमरलता' (१९३३) में आठ सर्गों में कोड़मदे और सादूल की प्रसिद्ध राजस्थानी प्रेमकथा का चित्रण किया है जिसमें यथास्थान प्रेम, वीरता, करुणा आदि के प्रसंग हैं। भगवतीप्रसाद सिंह 'वीरेंद्र' ने 'महारानी पद्मिनी' (१९३४) में आठ सर्गों में गोरा बादल की वीरता, अलाउद्दीन की शासननीति, चित्तौड़ वैभव, जौहर आदि का भावानुकूल भाषा में छप्पय छंद में वर्णन किया है। भावुकता, वीररस के अनुकूल ओजगुण और अनुप्रासयुक्त पदावली इस कृति की विशेषताएँ हैं। सुधींद्रकृत 'जौहर' (रचना १९३५--३६, प्रकाशन १९४३) भी महारानी पद्मिनी के जौहर से संबद्ध वीररसात्मक रचना है। इसमें छह सर्ग हैं और काव्यकला की दृष्टि से यह कृति इस कथानक पर आधारित अन्य पूर्ववर्ती रचनाओं से श्रेष्ठ है। इसी वर्ग की एक अन्य कृति अनिरुद्ध पाठक तथा दामोदर पाठक की संयुक्त कृति 'पत्ता' (१९३६) है। इसमें पाँच सर्गों में चित्तौड़ के वीर पत्ता के जीवनचरित को ओजस्वी भाषा में व्यक्त किया गया है। इस वर्ग की अंतिम उपलब्ध कृति रामकरण द्विवेदी 'अज्ञात' कृत 'राखी' (१९३६) है। इसमें गुजरात के शासक बहादुरशाह द्वारा चित्तौड़ पर आक्रमण करने पर रानी करुणावती द्वारा हुमायूँ के पास राखी भेजने का प्रसंग वर्णित है। यह चार सर्गों की शौर्यप्रधान सामान्य रचना है जिसमें यथास्थान करुण प्रसंगों का भी समावेश है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत युग के ऐतिहासिक खंडकाव्यों में अधिकतर मध्यकालीन वीरों के पराक्रम, आन पर मर मिटने के संकल्प, अपने सीमित साधनों के बावजूद आक्रांता के विरुद्ध निर्भीक शौर्य की उमंग, शत्रुसंहार के संदर्भ में गर्व और गौरव की अनुभूति आदि का चित्रण हुआ है। करुण, भयानक, रौद्र आदि अन्य रसों की सामग्री इन्हीं भावदशाओं के अंतर्गत स्फुट रूप में व्यक्त हुई है।

सामाजिक खंडकाव्य

प्रस्तुत युग में समाज की विभिन्न प्रवृत्तियों में से निम्नलिखित को लक्ष्य करके खंडकाव्यों की रचना की गई—प्रणय और विरह, देशभक्ति, व्यक्तिविशेष का चरित्रगौरव। विवेचन की सुविधा के लिये इनमें से प्रत्येक पर इसी क्रम से विचार करना उचित होगा।

(अ) प्रणयमूलक खंडकाव्य : इस वर्ग के अधिकांश काव्यों की रचना छायावादी भावपद्धति से प्रभावित होकर की गई, फलतः इनमें सूक्ष्म मानसिक प्रतिक्रियाओं, प्रेम और सौंदर्यचित्रण में कल्पना के उपयोग, स्वच्छंदतावादी भावव्यंजना, सांकेतिक अभिव्यक्ति आदि का सहज समावेश रहा है। ये प्रवृत्तियाँ पौराणिक ऐतिहासिक खंडकाव्यों में इस रूप में प्राप्य नहीं थीं। इस विषय की प्रथम रचना सुमित्रानंदन पंत की 'ग्रंथि' (रचना—१९१०, प्रकाशन—१९२९) है जो प्राचीन परंपरा के अनुसार सर्गों में विभक्त न होने पर भी चार खंडों में प्रस्तुत की गई भावात्मक प्रणयकथा है। यह प्रगीतात्मक प्रबंधशैली में लिखित अतुकांत रचना है जिसमें प्रेम, सौंदर्य और वेदना का चित्रशैली में निरूपण हुआ है। इसकी रचना नायक की आत्मकथा के रूप में हुई है, फलतः इसमें कथातत्व की अपेक्षा मनोभावों की व्यंजना पर अधिक बल दिया गया है। किंतु, अलगूराय 'आनंद' का 'शांतिप्रताप' (१९२१) छायावादी प्रभाव से मुक्त खंडकाव्य है। इसका कथानक कल्पित है और प्रेम की तुलना में कर्तव्यपालन पर बल देने के फलस्वरूप उसमें प्रायः आदर्श का पुट विद्यमान है। तत्सम पदावली, गूढ़ रचनापद्धति, अतुकांत शैली और खड़ीबोली से यत्र तत्र प्रभावित ब्रजभाषा की यह कृति नौ सर्गों में लिखित है। यह उल्लेखनीय है कि प्रणय-चित्रण के संदर्भ में कुछ कवियों ने वियोगकाव्यों की भी रचना की है। जगन्नाथ मिश्र 'कमल' कृत 'वियोगकथा' (१९२६) इसी प्रकार का कल्पित खंडकाव्य है जिसकी रचना सात संक्षिप्त सर्गों में की गई है। विषयप्रतिपादन की दृष्टि से कवि पर 'हरिऔध', 'प्रसाद' आदि के प्रभाव को विभिन्न प्रसंगों में सहज ही लक्षित किया जा सकता है। स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण से लिखित रचनाओं में रामकुमार वर्मा का 'निशीथ' (१९३३) भी उल्लेखनीय खंडकाव्य है जिसमें मिलन और विरह की विभिन्न भावदशाओं को प्रणयकथा के माध्यम से बारह संक्षिप्त सर्गों में चित्रित किया गया है। रूपचित्रण, भावव्यंजना, कल्पना, प्रकृतिचित्रण, करुण प्रसंगों का समावेश आदि विशेषताओं का इस कृति में सहज प्रसार रहा है। नगेंद्र की 'वनबाला' (रचना—१९३३, प्रकाशन—१९३७) भी छह सर्गों में रचित इसी वर्ग की कृति है। इसमें छायावादी रचनापद्धति के अनुरूप एक कल्पित प्रेमकथा को स्थान प्राप्त हुआ है और भाववर्णन के लिये प्रकृतिचित्रण का विशेष रूप से आधार लिया गया है। द्विवेदीयुगीन पद्धति के अनुरूप प्रणय की तुलना में कर्तव्यपालन पर बल देना इस कृति का लक्ष्य नहीं है। इसी प्रकार शूर कवि के 'फलित स्वप्न' (१९३३) शीर्षक खंडकाव्य में भी एक कल्पित प्रेमकथा को प्रस्तुत किया गया है जिसमें आदर्श-विशेष की अभिव्यक्ति पर वैसा बल नहीं है। गोपालसिंह नेपाली का 'पंछी'

(१९३४) भी इस काल का प्रसिद्ध कल्पित खंडकाव्य है जिसमें वनरानी और वनराजा के नाम से एक पक्षीयुगल के प्रेम और विरह को दो खंडों में सरस और मार्मिक शैली में आख्यानबद्ध किया गया है। स्वभावतः इसमें प्रकृति के विभिन्न पक्षों की प्रस्तुति पर कवि का मुख्य बल रहा है अर्थात् भावव्यंजना के लिये प्राकृतिक पृष्ठभूमि अनिवार्य रही है। किंतु. कपिलदेवनारायण सिंह 'सुहृद' कृत 'प्रेममिलन' (१९३६) इससे भिन्न शैली की रचना है। इसमें प्रेम, कर्तव्यपालन, युद्ध आदि से संबद्ध एक कल्पित आदर्शवादी कथानक को पाँच सर्गों में प्रस्तुत किया गया है। फलतः इसमें भावुकता और करुणा की प्रमुखता है और यथास्थान ओजस्वी प्रसंगों को भी स्थान प्राप्त हुआ है। इस वर्ग की अंतिम रचना नारायणप्रसाद 'वृजन' कृत 'पवनदूत अथवा विरहिणी संदेश' (१९३८) है जिसमें एक ऐसी नायिका के विरह का चित्रण है जिसका पति विदेश में किसी अंग्रेज युवती से विवाह करके उसे भारत ले आया था और अलग रहता था। इस कल्पित कथानक का उद्देश्य केवल विरह की मार्मिकता को प्रकट करना नहीं है, अपितु कवि की प्रवृत्ति भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों के द्वंद्वचित्रण की ओर भी रही है। इसकी भाषा व्यावहारिक और सरल है तथा कहीं कहीं ब्रजभाषा के क्रियारूपों का प्रयोग भी हुआ है।

(आ) देशभक्तिपरक खंडकाव्य : इस युग में कुछ कवियों ने सामाजिक, राजनीतिक परिवेश का चित्रण करते हुए देशप्रेम संबंधी कथानकों के आधार पर भी खंडकाव्यों की रचना की। ऐसी कृतियों में देश की आर्थिक दुरवस्था, परतंत्रता से मुक्ति की कामना, नायक की राष्ट्रीय भावना, अस्पृश्यता जैसी सामाजिक समस्याओं के निवारण की आवश्यकता आदि का प्रतिपादन किया गया। कथानक के अनुरूप समाजसेवा और प्रकृतिचित्रण को भी देशसेवा का ही अंग माना गया। इस प्रकार की प्रथम रचना गोकुलचंद्र शर्मा कृत 'गांधी गौरव' (१९१९) है जिसमें गांधी जी के जन्म से लेकर उनके द्वारा तब तक की गई देशसेवा का दस सर्गों में तारतम्यपूर्वक चित्रण हुआ है। विषयवस्तु की स्वच्छ प्रस्तुति और भाषा की सहजता को इसमें सर्वत्र देखा जा सकता है। इसी प्रकार की उनकी एक अन्य रचना 'तपस्वी तिलक' (१९२२) है जिसमें लोकमान्य तिलक के जन्म से निर्वाण तक की कथा को आठ सर्गों में प्रबंधसौष्ठवयुक्त शैली में प्रस्तुत किया गया है। भाषासौरस्य, छंदवैविध्य, संपूर्ण कृति में अंत्यानुप्रास का निर्वाह होने पर भी उपसंहार में अतुकांतपद्धति का प्रयोग आदि से यह भी लक्षित होता है कि वस्तुवर्णन के अतिरिक्त कवि ने शिल्पविधान में भी जागरूकता प्रकट की है। रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' (१९२०) और 'स्वप्न' (१९२८) भी इसी श्रेणी के खंडकाव्य हैं जिनमें समाजसेवा और राष्ट्रोत्थान के उद्देश्य से कथाकल्पना की

गई है और प्रत्येक में पाँच सर्ग हैं। इनमें काव्यवस्तु की मूल भूमि एक जैसी है : इनकी रचना देशभक्ति की प्रेरणा से हुई है, इनमें देशप्रेम के संदर्भ में कथानायक के प्रकृतिप्रेम की विस्तृत चर्चा है और नायक अथवा किसी अन्य पात्र के चरित्र के माध्यम से सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूकता प्रकट की गई है। प्रणय, नीतिमूलक जीवनदर्शन, देशभक्ति की ओजपूर्ण भावना, देशवासियों की निर्धनता का करुणामूलक चित्रण आदि इन कृतियों की सामान्य विशेषताएँ हैं। वस्तुतः इस युग में समाज के निर्धन और पीड़ित वर्ग के प्रति मानववादी दृष्टि अपनाकर जिस सहानुभूतिपूर्ण काव्य की रचना की गई उसके मूल में समकालीन गांधी-वादी चिंतनपद्धति का प्रभाव था। सियारामशरण गुप्त द्वारा चार संक्षिप्त सर्गों में लिखित खंडकाव्य 'अनाथ' (१६२१) इसी प्रकार की कृति है। एक अन्य रचना 'आत्मोत्सर्ग' (१६३१) में उन्होंने हिंदू मुस्लिम वैमनस्य के त्याग का संदेश देने के निमित्त गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान की कथा प्रस्तुत की है। इसमें राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का सशक्त प्रतिपादन हुआ है। बुद्धिनाथ झा 'कैरव' द्वारा हरिजनोत्थान की प्रेरणा से लिखित उद्बोधनात्मक काव्य 'अछूत' (रचना—१६३२, प्रकाशन—१९३४) भी इसी प्रकार की कृति है। इसकी रचना अछूतों को हिंदू क्षेत्र से अलग करने की अंग्रेजों की घोषणा के विरोध में गांधी जी के आमरण अनशन की पृष्ठभूमि में हुई थी। इसका कथानक पूर्वार्ध और उत्तरार्ध—इन दो खंडों में विभाजित है और इसमें एक करुण मार्मिक कथा को सरल तथा व्यावहारिक भाषा में प्रस्तुत किया गया है। मातादीन भगेरिया कृत 'तरुण तपस्वी' (१९३५) भी इसी श्रेणी की रचना है जिसमें एक कल्पित कथानक के माध्यम से समाजसेवा पर बल देते हुए भाई बहिन के स्नेह का चित्रण किया गया है। पाँच सर्गों में लिखित इस काव्य में अधिकतर अतुकांत पद्धति का निर्वाह हुआ है और कहीं कहीं काव्यनाटक की शैली का भी अनुसरण है।

(इ) **चरितमूलक खंडकाव्य** : प्रस्तुत युग में धर्म, परिवार और साहित्य के क्षेत्रों में विशिष्टता प्रकट करनेवाले कुछ व्यक्तियों को लेकर चरितप्रधान खंड-काव्यों की भी रचना की गई। धार्मिक मनोवृत्तिवाले व्यक्तियों से संबद्ध प्रथम रचना 'धर्मगीतांजलि' (१६२२) में मुनि श्री न्यायविजय ने जैनाचार्य श्री विजय-धर्म सूरि के जन्म से निर्वाण तक के पूरे जीवनचरित को साधारण भाषाशैली में प्रस्तुत किया है। इसमें कवि की दृष्टि श्रद्धापूर्वक चरित्रवर्णन के अतिरिक्त जैनधर्म के प्रचार पर भी रही है और शीर्षक में 'गीतांजलि' शब्द आने पर भी इसमें गीत नहीं हैं। दूसरी कृति 'विरजानंद विजय' (१६२४) में विद्याभूषण 'विभु' ने ऋषि दयानंद के गुरु विरजानंद के जीवनचरित को श्रद्धासंवलित आदर्शवादी दृष्टि से

सात सर्गों में सामान्य भाषाशैली में प्रस्तुत किया है। तीसरी कृति रामदेवसिंह 'देवेंद्र' कृत 'राजर्षि ज्योति' (१९३५) है जिसमें राजर्षि उदयप्रतापसिंह जू देव द्वारा संसारत्याग का सात सर्गों में ब्रजभाषा में चित्रण हुआ है। भावव्यंजना के स्थान पर वर्णनविवरण की बहुलता को इसमें भी स्पष्टतः देखा जा सकता है। उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त इस युग में भगवतीलाल श्रीवास्तव 'पुष्प' ने 'अनंत का अतिथि' (१९३५) शीर्षक पारिवारिक खंडकाव्य की रचना की, जिसमें उनके पिता की रुग्णता मृत्यु, पुत्र को शिक्षा आदि का विस्तृत चित्रण है। इसमें करुण रस की प्रमुखता है और पितृभक्ति का आदर्श निरूपण है। साहित्य क्षेत्र की विभूतियों को लेकर इस काल में केवल 'निराला' ने 'तुलसीदास' (१९३८) शीर्षक खंडकाव्य की रचना की जो रचनापद्धति आदि की दृष्टि से अपने युग की अन्य कृतियों से भिन्न है। इसमें तुलसी के जीवन से संबद्ध कुछ प्रसंगों को कथात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। कवि ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक वातावरण का संकेतरूप में उल्लेख करते हुए तुलसी की भावभूमि, प्रणयमोह, रत्नावली के संदेश, तुलसी के अंतर्द्वंद्व आदि का ओजस्वी शैली में वर्णन किया है। प्रकृतिचित्रण, सूक्ष्म भावव्यंजना रूपकतत्व का निर्वाह, भाषाशैली की गंभीरता आदि इस रचना की अन्य प्रवृत्तियाँ हैं। जीवनीपरक खंडकाव्यों में कवित्व की प्रौढ़ता की दृष्टि से इसका अन्यतम स्थान है।

काव्यनाटक

छायावाद युग में काव्यक्षेत्र में जो शैलीविषयक उद्भावनाएँ की गईं उनमें 'काव्यनाटक', 'नाट्यप्रबंध', अथवा 'गीतिनाट्य' का विशेष महत्व है। रचनापद्धति की दृष्टि से ये तीनों एक दूसरे से मिलते जुलते काव्यरूप हैं। यद्यपि नाटक में काव्यतत्व के समावेश की प्रवृत्ति इसके पूर्व भी विद्यमान थी, तथापि इस वर्ग की रचनाओं में काव्य में नाटकीय तत्वों के समावेश की पद्धति अपनाई गई। कथानक की उपेक्षा न करने पर भी इनमें पात्रों की भूमिका मुख्य रहती है और प्रत्येक प्रसंग को पात्रविशेष के काव्यात्मक संवाद के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस शैली की प्रथम रचना मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' (१९२२) है। इसमें सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण पर विविध पात्रों की प्रतिक्रियाओं को अंकित किया गया है और यशोधरा के विरहवर्णन को प्रमुखता दी गई है। इसका कुछ अंश गद्यनाटक की शैली में लिखित है, अधिकांश भाग में प्रगीततत्व का निर्वाह है और वस्तुनियोजन में खंडकाव्य जैसी संक्षिप्तता अपनाई गई है, अतः इसे किसी अन्य काव्यविधा के अंतर्गत न रखकर नाट्यप्रबंध कहना ही उचित होगा। इस वर्ग की दूसरी कृति गुप्त जी की 'अनघ'

(१९२५) है जिसकी रचना गांधी जी के सिद्धांतों से प्रभावित रहकर की गई है। चरित्रचित्रण की विदग्धता और गीतिनाट्य जैसा शैलीलालित्य इस कृति की विशेषता है, किंतु इसमें भावुकता और रसदृष्टि का सहज प्रभाव नहीं मिलता। इस प्रकार की एक अन्य उल्लेखनीय कृति हरिकृष्ण 'प्रेमी' कृत 'स्वर्णविहान' (१९३०) है। इसकी रचना समकालीन समाज और राष्ट्र के संदर्भ में की गई है और कहीं कहीं स्वच्छंद प्रेम का चित्रण होने पर भी इसमें राष्ट्रीय सांस्कृतिक दृष्टि की प्रमुखता है। उदयशंकर भट्ट द्वारा गीतिनाट्य की शैली में लिखित 'मत्स्यगंधा' (१९३४), 'विश्वामित्र' (१९३५) और 'राधा' (१९३६) इस काव्यवर्ग की विशेषतः उल्लेखनीय रचनाएँ हैं जिनमें पुरुष और नारी के संबंधों का भावुकतापूर्वक विश्लेषण किया गया है। इनमें वातावरणचित्रण की तुलना में पात्रविशेष की भावुक मनोवृत्ति और अंतर्द्वंद्व के चित्रण की प्रमुखता है तथा नाटकत्व के स्थान पर कवित्वगुण की अधिक व्याप्ति है। 'निराला' के 'परिमल' (१९२९) में संकलित 'पंचवटी प्रसंग' भी इसी वर्ग की लघु रचना है। इसमें सीता के प्रकृतिप्रेम, राम के दार्शनिक विचारों, लक्ष्मण की भ्रातृभक्ति और शूर्पणखा के रूपगर्व का मनोरम चित्रण हुआ है। छायावादी भावविन्यास और शिल्पसौंदर्य इसकी अन्यतम विशेषताएँ हैं। इसकी रचना पाँच खंडों में केवल तेईस पृष्ठों में हुई है। किंतु काव्यनाटक जैसा विस्तृत कलेवर न होने पर भी इसे उसी दिशा में एक उत्तम प्रयास माना जाना चाहिए।

पर्यायबंध काव्य

इस युग में ऐसी अनेक कृतियों की रचना की गई जिनमें कथाविशेष का निर्वाह न होकर किसी भाव अथवा विचार को बंधपूर्वक निरूपित किया गया है। ऐसी कृतियों को 'पद्यप्रबंध', 'वर्णनात्मक लघु प्रबंध', 'पद्यकथा' आदि की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि इनमें कथातत्व का सर्वथा लोप है। एक ही विषय का क्रमबद्ध वर्णन करनेवाली ऐसी रचनाओं को ध्वन्यालोककार ने 'पर्यायबंध' कहा है।[1] आलोच्य युग में इस प्रकार की प्रथम उपलब्ध कृति ईश्वरीप्रसाद शर्मा की 'मातृवंदना' (१९१९) है जिसमें मातृभूमि को लक्षित करके सात खंडों में देशभक्तिपरक भावविचार व्यक्त किए गए हैं। इस वर्ग की दूसरी कृति झाबरमल्ल शर्मा की 'तिलक गाथा' (१९२०) है जिसमें तिलक के कार्यकलाप और उनकी मृत्यु पर राष्ट्र की प्रतिक्रिया का सैंतालीस छंदों में श्रद्धामूलक विवरण प्रस्तुत किया गया है। कन्हैयालाल जैन कृत 'भारत जागृति' (१९२३) भी इसी वर्ग की रचना है। इसमें भारत के प्राचीन गौरव, कृषकदशा, शिक्षाप्रणाली आदि पर

[1] देखिए 'हिंदी ध्वन्यालोक', संपादक : डा० नगेंद्र, प्रथम संस्करण, पृ० २५०।

सामयिक चिंतनक्रम को 'भारतभारती' की भाँति एक ही विचारबंध के अंतर्गत स्थान दिया गया है। अन्य कवियों में मुनि न्यायविजय ने 'धर्मगीतांजलि' (१९२३ ई०) में श्री विजयधर्म सूरि का काव्यबद्ध जीवनचरित प्रस्तुत किया है जिसकी शैली साधारण विवरणयुक्त है। इसी प्रकार गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने 'स्मृति' (१९२४ ई०) शीर्षक काव्य में कुमार देवेंद्रप्रसाद जैन के स्वर्गवास पर अपनी संवेदना को आख्यानरहित, किंतु परस्पर संबद्ध कविताओं में व्यक्त किया है। विद्याविभूषण 'विभु' के प्रकृतिकाव्य 'चित्रकूटचित्रण' (१९२४) में चित्रकूट के वृक्ष, निर्झर पुष्पादि का चार खंडों में आख्यानमुक्त वर्णन भी इसी काव्यरूप का उदाहरण है। इस कृति को श्रीधर पाठक कृत 'देहरादून' की प्रभावपरंपरा में स्थान दिया जा सकता है। इसमें विचारतत्व की अपेक्षा भावतत्व के समावेश की प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है। जयशंकर प्रसाद कृत 'आँसू' (१९२५) भी इसी वर्ग की गीतिरचना है जिसमें किसी वियोगमूलक प्रेमकथा की पृष्ठभूमि में जीवनव्यापी वेदना का यथार्थ चित्र अंकित किया गया है। अनुभूति की आंतरिकता, कवि के व्यक्तित्व का प्रतिफलन, गंभीर जीवनदर्शन और मार्मिक भावव्यंजना इस काव्य की सहज प्रवृत्तियाँ हैं। ब्रह्मदत्त शर्मा 'शिशु' की 'प्रेमवर्षा' (१९२६) भी इसी प्रकार की रचना है जिसमें मन के भावुक उद्गारों को आठ खंडचित्रों में अंकित किया गया है।

पर्यायबंध काव्य के अंतर्गत वर्णन-विवरण-परक कृतियों की रचना भी की गई है। गदाधरसिंह भृगुवंशी की 'भृगु बावनी' (१९२६) इसी प्रकार की कृति है जिसमें भृगुवंश की उत्पत्ति और विस्तार का ब्रजभाषा में बावन छंदों में विवरण प्रस्तुत किया गया है। कुछ कवियों ने भावमूलक विचारात्मक पर्यायबंध काव्यों की रचना की है। मातादीन चतुर्वेदी कृत 'जमींदार और किसान' (१९२७) गुप्त जी के 'किसान' शीर्षक काव्य की शैली में लिखित ऐसी ही रचना है जिसमें कृषकों की सामयिक दीन दशा, जमींदारों की निष्ठुरता और दोनों के कर्तव्यों का भली भाँति निरूपण किया गया है। इन्हीं का एक अन्य कृति 'अध्यापक और शिक्षा' (१९२८) में भी विषय संबंधी इतिवृत्त को १४६ छंदों में उपदेशात्मक शैली में कौशलपूर्वक नियोजित किया गया है। इस श्रेणी की रचनाओं में भावात्मक रागात्मक तत्वों का भी अभाव नहीं है। विश्वनाथप्रसाद कृत 'मोती के दाने' (१९३२) प्रसाद के 'आँसू' के अनुकरण पर लिखित ऐसी ही भावुकतापूर्ण रचना है। इसी प्रकार विश्वनाथसिंह कृत 'दुब्रवलिया की याद में' (१९३४) आठ अध्यायों में विभक्त इसी कोटि की मार्मिक कृति है जिसमें

एक निर्जन ग्राम दुबवलिया की करुण विनाशकथा को यथार्थपूर्ण दृश्यचित्रण की शैली में प्रस्तुत किया गया है। स्पष्टतः इसकी रचना श्रीधर पाठक कृत 'ऊजड़ ग्राम' से प्रभावित होकर की गई है। चरितमूलक पर्यायबंध काव्यों में गणेशप्रसाद मिश्र 'इंदु' कृत संक्षिप्त ब्रजभाषा काव्य 'प्रतापशतक' (१६३५ ई०) उल्लेखनीय है जिसमें महाराणा प्रताप के वीर चरित्र को दोहों में ओजपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया गया है। इस वर्ग की अंतिम उपलब्ध रचना नारायणदत्त बहुगुना कृत 'वेदना' (१६३७) है जिसमें प्रसाद के 'आँसू' के अनुकरण पर वेदना के प्रभावादि का १५० छंदों में निरूपण किया गया है। अंत में यह उल्लेखनीय है कि 'आँसू' जैसे एक दो काव्यों को छोड़कर इस वर्ग की अधिकांश कृतियाँ द्विवेदी युग की संदेशपरक विवरणात्मक शैली में लिखी गई हैं—यद्यपि इनमें भावुकतापूर्ण रागात्मक स्थल भी स्फुट रूप में उपलब्ध हो जाते हैं। विवरणबहुलता, प्रथम रचना होने के कारण कवि की शैली में अपरिपक्वता, कथासंदर्भों के अभाव में कल्पना के लालित्य का अभाव आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनके कारण इस युग के पर्यायबंध काव्यों में प्रायः रसदृष्टि का अजस्र समावेश नहीं हो सका—एकाध प्रकीर्ण रसात्मक प्रसंगों की बात दूसरी है। इस दिशा में 'आँसू', 'मोती के दाने' और 'वेदना' का ही अपवादस्वरूप उल्लेख किया जा सकता है।

आख्यानक निबंधकाव्य

इस काव्यरूप को खंडकाव्य और पर्यायबंध काव्य के बीच की कड़ी माना जाना चाहिए क्योंकि ऐसी रचनाओं में न तो उपयुक्त प्रबंधविधान होता है और न ही ये सर्वथा आख्यानविहीन होती हैं। दूसरे शब्दों में, इनमें स्फुट कथानक के अतिरिक्त किसी विशिष्ट विषय के निर्वाह पर भी बल रहता है। इसीलिये इन्हें 'पद्यप्रबंध, 'पद्यात्मक निबंध', 'वस्तुवर्णनात्मक प्रबंध' आदि की संज्ञा भी दी गई है। प्रस्तुत युग में इस विधा के अंतर्गत विभिन्नविषयक ग्रंथों की रचना की गई। इस प्रकार की प्रथम रचना रामचरित उपाध्याय कृत 'देवदूत' (१९१८) है जिसमें पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के अंतर्गत ६०–६० छंदों में 'भारत भारती' की भाँति नीतिपरक आदर्शवादी राष्ट्रीय दृष्टिकोण को वाणी दी गई है। इसमें एक देवदूत के भारतवर्ष में आने और यहाँ के सामाजिक तथा प्राकृतिक वातावरण से प्रभावित होने का चित्रण है। इन्हीं की एक अन्य रचना 'मुक्ति मंदिर' (१९३४) में महाभारत युद्ध के अवसर पर अर्जुन के मोह और श्रीकृष्ण के उपदेश का चार सर्गों में चित्रण हुआ है। सिद्धांत प्रतिपादन पर बल देने के कारण इसमें विचारात्मकता अधिक है, कथालालित्य कम। इस वर्ग की एक अन्य रचना गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत 'रसालवन'

(१६२०) है जिसमें एक पारिवारिक कथा के माध्यम से दो खंडों में यह प्रतिपादित किया गया है कि पुत्रवधू के प्रति सास का व्यवहार कैसा होना चाहिए। स्त्रीशिक्षा पर बल होने पर भी कवि ने इसमें प्रकृतिचित्रण, वातावरण की चित्रात्मक व्यंजना, स्निग्ध सरल भाषा आदि की ओर यथोचित ध्यान दिया है। प्रस्तुत शैली की एक अन्य रचना रघुनंदनलाल मिश्र कृत 'अभिमन्युवध' (१६१५) है जिसमें कवि की दृष्टि 'महाभारत' के तत्संबद्ध कथानक को प्रस्तुत करने पर ही नहीं रही है, अपितु कौरव-पांडव-संघर्ष को देश की वर्तमान अवनति के लिये कारणस्वरूप मानने पर भी उतना ही बल दिया गया है। स्पष्ट है कि इस वर्ग की रचनाओं में भावात्मकता अथवा आत्मतत्व को ही पर्याप्त न मानकर वस्तुतत्व और विचारात्मकता पर भी उतना ही बल रहता है। मंगलाप्रसाद गुप्त की 'कृष्णदर्शन' (१६१५) ऐसी ही कृति है जिसमें कृष्णजन्म से पूतनावध तक की लीलाओं को भक्ति-नीति-परक दृष्टि से दस संक्षिप्त सर्गों में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार मंगलाप्रसाद शर्मा ने 'वियोगिनी कमला' (१६२७) शीर्षक तेरह पृष्ठ के संक्षिप्त ब्रजभाषा काव्य में एक देशभक्त के निर्वासन और उसकी पत्नी की विरहकथा को प्रस्तुत करते समय सामयिक देशदशा के चित्रण पर अधिक बल दिया है। चारण कवि केसरीसिंह बारहठ कृत 'प्रतापचरित्र' (रचना—१६२७ प्रकाशन—१६३५) भी इसी वर्ग की कृति है जिसमें महाराणा प्रताप संबंधी ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा करते हुए वीर रस को प्रमुख स्थान दिया गया है। ब्रजभाषा के इस चरितकाव्य में प्रताप का पूरा जीवनचित्र प्रस्तुत किया गया है, किंतु इसमें कथानक के तारतम्य के स्थान पर विषयबाहुल्य पर अधिक दृष्टि रही है। इसकी भाषा ओजगुणयुक्त है तथा इसमें दोहा, सोरठा, सवैया, घनाक्षरी आदि विविध छंदों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार हरिशंकर शर्मा कृत 'शिवसंकल्प' (१६२८) ऋषि दयानंद की स्मृति में लिखित संक्षिप्त सामान्य कृति है जिसमें कथानक को स्फुट रूप में नियोजित करते हुए विशेषतः वातावरणचित्रण तथा सिद्धांतप्रतिपादन की प्रमुखता रही है। इस शैली की एक अन्य रचना 'देवेंद्र-मिलाप' (१६२८) में कवि छेदीलाल ने देवेंद्रप्रसाद नामक एक जैन धर्मावलंबी के जीवन के विविध पक्षों का चित्रण करते हुए प्रेमधर्म का नीतिपरक प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार का एक सामान्य भक्तिकाव्य रामप्रसाद शर्मा उपरीन कृत 'बाला जी माहात्म्य' (१६३०) है। यह पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में विभक्त है और इसमें श्री बाला जी की भक्ति से झाँसीनरेश नारायण राव आदि का निरोग होना वर्णित है। ऋषि दयानंद के जीवन की मुख्य घटनाओं और सिद्धांतों के वर्णनार्थ योगेंद्रपाल द्वारा रचित 'जगमगाते हीरे' (१६३२) भी इसी वर्ग की साधारण-स्तरीय रचना है। भक्ति और ज्ञान संबंधी ऐसी ही एक अन्य कृति स्वामी मित्रसैन

राममित्र कृत 'श्री राम राग' (१९३३) है। यह भक्तिकालीन काव्यग्रंथों की भाँति शुद्ध भक्तिभाव से रचित ब्रजभाषा काव्य है और इसमें रामकथा के मुख्य प्रसंगों के के आधार पर जीवनादर्शों का निरूपण किया गया है। रामकथा से संबद्ध एक अन्य संक्षिप्त रचना राय साँवलदास बहादुर कृत 'रामायण' (१९३३) है जिसमें मुख्य कथाप्रसंगों और संदेशनिर्धारण को समतुल्य महत्व दिया गया है। कुछ कवियों ने सामयिक सामाजिक स्थितिविशेष को लेकर भी इस वर्ग के काव्यों की रचना की है। शंभूदयाल सक्सेना की 'भिखारिन' (१९३४) इसी प्रकार की कृति है जिसमें भिखारिन, याचना, भिक्षा और आशीष, इन चार शीर्षकों के अंतर्गत एक भावुकतापूर्ण पद्यप्रबंध को स्थान दिया गया है।

इस युग के अन्य निबंधकाव्य चरितमूलक हैं जिनमें कथातत्व क्षीण है और परिवेश, क्रियाकलाप, अनुयायियों पर प्रभाव आदि का विवरण अधिक है। उदाहरणार्थ, यज्ञदत्त त्यागी ने 'दयानंद' (१९३७) में ऋषि दयानंद की वाणी के प्रचारार्थ उनके जीवनचरित को व्यावहारिक भाषाशैली में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार राजाराम श्रीवास्तव ने 'जवाहर का जौहर' (१९३७) में कथापक्ष पर अधिक बल न देते हुए जवाहरलाल नेहरू के क्रियाकलाप द्वारा उनका महत्व निरूपण किया है। इसकी रचना सुभद्राकुमारी चौहान की कविता 'झाँसी की रानी' की शैली में हुई है, फलतः इसके प्रत्येक छंद में 'सब कहते हैं वीर जवाहर नरनाहर मरदाना है' की टेक दी गई है। बारहठ जोगीदान की रचना 'त्यागमूर्ति श्री गणेशदास जी' (१९३७) भी ऐसी ही कृति है जिसमें कवि ने अपने गुरु स्वामी गणेशदास के जीवनचरित्र, गुरुपरंपरा आदि को श्रद्धापरक नीतिमूलक दृष्टि से बाईस संक्षिप्त सर्गों में प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त कृतियों के विश्लेषण के अनंतर निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि आख्यानक निबंधकाव्यों की रचना इस युग की विशिष्ट प्रवृत्ति थी। इसके लिये ऐतिहासिक वृत्त न अपनाकर भक्ति, नीति, चरित्रगौरव, सामयिक परिवेश आदि से संबद्ध पौराणिक अथवा सामाजिक प्रसंगों का आश्रय लिया गया। कथानक को तारतम्ययुक्त ललित शैली में प्रस्तुत करने की अपेक्षा इन कवियों का आग्रह उसके माध्यम से किसी विशेष जीवनदर्शन, सिद्धांत अथवा लक्ष्य को प्रकट करने पर रहा है। फलतः इनमें रसपरिपाक, वस्तुनियोजन और भाषालालित्य की ओर समुचित ध्यान न देकर प्रायः प्रचारदृष्टि अपनाई गई है। यही कारण है कि काल की सीमाओं को लाँघकर इनमें से कोई भी कृति स्थायी महत्व प्राप्त नहीं कर सकी।

आख्यानक गीति

द्विवेदी युग में प्रचलित काव्य रूपों में पद्यकथा का विशेष प्रचार था, जिसे

छायावाद युग में आख्यानक गीति का रूप प्राप्त हुआ क्योंकि आख्यान अथवा चरित्र के वस्तुनिष्ठ वर्णन की अपेक्षा अब कवियों का ध्यान भावसंवेदना, कल्पना के संस्पर्श, आत्मपरक शैली और सूक्ष्म अभिव्यंजना की ओर भी जाने लगा। यद्यपि पद्यकथाओं की परंपरा सर्वथा निःशेष नहीं हुई, तथापि गीतितत्व और प्रगीत के समायोजन को इस काल में अधिक महत्व दिया गया। कुछ कवियों ने पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा सामाजिक आख्यानों को लेकर केवल इसी विधा की कविताओं के संकलन प्रस्तुत किए और कुछ ने अन्यविषयक कविताओं के साथ दो चार आख्यानक गीतियों को भी स्थान दिया। इस वर्ग की प्रथम कृति गुलाबरत्न वाजपेयी 'गुलाब' की 'चित्रकाव्य' (रचना—१९२१, प्रकाशन—१९२८) है जिसमें कृष्ण, रंभा, दुष्यंत, भीष्म आदि पर सत्रह पौराणिक आख्यानक कविताएँ संकलित हैं और द्विवेदीयुगीन परिपाटी के अनुरूप प्रत्येक कविता के साथ एक एक चित्र भी दिया गया है। इस दिशा में दूसरी उल्लेखनीय रचना 'आर्द्रा' (१९२५-२७) है जिसमें सियारामशरण गुप्त की तेरह आख्यानक गीतियाँ हैं। इनकी रचना सामाजिक यथार्थ की पृष्ठभूमि में आदर्शवेष्टित रूप में की गई है और ये पौराणिक अथवा ऐतिहासिक संदर्भों से सर्वथा मुक्त हैं। इनकी एक अन्य रचना 'मृण्मयी' (१९३६) में भी सामाजिक यथार्थ को मार्मिक रूप में चित्रित करनेवाली ग्यारह आख्यानक गीतियाँ संकलित हैं। मैथिलीशरण गुप्त कृत 'गुरुकुल' (१९२८) भी इसी शैली की रचना है जिसमें सिक्खों के दस गुरुओं और बंदा बैरागी के संबंध में शौर्य और करुणा से ओतप्रोत आख्यानों को स्थान प्राप्त हुआ है। 'निराला' के 'परिमल' (१९२९) में संकलित 'महाराज शिवाजी का पत्र' में यद्यपि कथातत्व का प्रत्यक्ष रूप में समावेश नहीं है तथापि उसका सूक्ष्म रूप में निर्वाह अवश्य हुआ है। यह पत्रशैली में लिखित प्रगीतात्मक प्रलंब रचना है जिसमें उदात्त भावव्यंजना, उद्बोधन की प्रखरता और मुक्त छंद की सहजता द्रष्टव्य है। इसी काल में सुभद्राकुमारी चौहान कृत 'मुकुल' (१९३०) में 'झाँसी की रानी' शीर्षक वीरगीत का प्रकाशन हुआ जो लोकगीत की अनौपचारिक शैली में रचित होने के कारण अत्यंत लोकप्रिय रहा। रामकुमार वर्मा की 'रूपराशि' (१९३२) में संकलित 'शुजा' भी ऐतिहासिक आख्यानक गीति का अच्छा उदाहरण है। इसमें वातावरणचित्रण के संदर्भ में मानसिक भावों की व्यंजना को उपयुक्त महत्व दिया गया है। दूसरी ओर, पुरोहित प्रतापनारायण ने द्विवेदीयुगीन वर्णनात्मक पद्धति के अनुरूप 'काव्यकानन' (१९३२) में 'श्रीकृष्ण और सुदामा' तथा 'अतिरथी अभिमन्यु' शीर्षक पद्यकथाओं को स्थान दिया है।

आख्यानक कविताओं के संदर्भ में लहर' (१९३३) में संकलित 'शेरसिंह

का शस्त्रसमर्पण' और 'प्रलय की छाया' विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इनमें घटनाक्रम का वस्तुनिष्ठ शैली में वर्णन न कर पात्रविशेष की भावात्मक प्रतिक्रियाओं और अंतर्द्वंद्व के चित्रण की शैली अपनाई गई है। ऐसी गीतिकविताओं के साथ ही इस युग में पद्यबद्ध कथाओं की भी रचना होती रही। काशीप्रसाद श्रीवास्तव 'कुसुम' की 'भारतीय कृपाण' (१६१५) प्राचीन राष्ट्रीय गौरव को व्यक्त करनेवाली वीररस की ऐसी ही ओजपूर्ण कृति है जिसमें हरदौलसिंह बुंदेला, वीरमती, तारा आदि की वीरता को प्रकट करनेवाले पाँच ऐतिहासिक आख्यान संकलित हैं। 'निराला' की प्रसिद्ध कविता 'राम की शक्तिपूजा' (१६३६) भी प्रसिद्ध पौराणिक आख्यानक गीति है। भाषा की दृष्टि से क्लिष्ट होने पर भी ओजगुण, भावोन्मेष, उदात्त शैली और लयाधार की दृष्टि से इसे अप्रतिम मानना होगा। 'विजनवती' (१६१७) में इलाचंद्र जोशी ने भी आख्यानतत्व की अपेक्षा मनोदशाओं के चित्रण पर बल देनेवाली तीन कविताओं—दमयंती, शकुंतला, महाश्वेता को स्थान दिया है जिनमें छायावादी शिल्प को आग्रहपूर्वक ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार गोपालशरण सिंह की 'मानवी' (१६३८) में भी 'शकुंतला', 'ब्रजबाला' और 'अनारकली' शीर्षक कविताओं को पौराणिक ऐतिहासिक कथाप्रसंगों की पृष्ठभूमि में लिखा गया है। इनमें कवि की दृष्टि वर्णनपरकता के स्थान पर भावस्थितियों के प्रकटीकरण पर केंद्रित रही है।

प्रबंधमुक्तक

इस युग में कुछ ऐसी रचनाएँ भी सामने आईं जो मुक्तक शैली में लिखित होने पर भी प्रबंधगुण से समन्वित हैं। सामान्यतः इन्हें 'निबद्धमुक्तक' कहा जा सकता था, किंतु प्रबंधोचित कथाविस्तार को देखते हुए इन्हें 'प्रबंधमुक्तक' कहना उपयुक्त होगा। इस वर्ग की प्रथम रचना रामाधीनदास कृत 'रामायण दिग्विजय कवितावली' (१९१८) है जिसमें तुलसी की 'कवितावली' की भाँति संपूर्ण रामकथा को सात कांडों में प्रस्तुत किया गया है। इसकी रचना ब्रजभाषा में हुई है और कवित्वगुण की दृष्टि से यह एक सामान्य कृति है। इस प्रकार का दूसरा उल्लेखनीय काव्य 'रामचरितचंद्रिका' (१६१६) है जिसमें दशरथ, कौशल्या, राम, जानकी, लक्ष्मण आदि रामकथा संबंधी पच्चीस पात्रों का चरित्रवर्णन है। कथा के पूर्वापर क्रम का निर्वाह न होने पर भी इस कृति की पृष्ठभूमि में प्रबंधतत्व विद्यमान है, अतः इसे केवल मुक्तक काव्य की श्रेणी में रखना उचित न होगा। इस शैली की विशेषतः प्रसिद्ध रचना जगन्नाथदास 'रत्नाकर' कृत 'उद्धवशतक' (१६१८-१६) है। यद्यपि इसमें पूर्ववर्ती काल के दस बारह कवित्तों के समावेश की संभावना भी हो सकती है, तथापि कुल मिलाकर यह आलोच्य युग की ही कृति है। भावव्यंजना की उत्कृष्टता, अनुभूति

की मार्मिकता, प्रबंधगुण का अविच्छिन्न निर्वाह, व्रजभाषा का ललित प्रयोग आदि इस काव्य की अन्यतम विशेषताएँ हैं। अमृतलाल माथुर की व्रजभाषाकृति 'श्रीमद्रामरसामृत' (१९२४) भी इस शैली की उल्लेखनीय रचना है जिसे कवि ने 'अमृत सतसई' की संज्ञा भी दी है। यह रामकथा पर आधारित एकमात्र सतसई है जिसमें संपूर्ण कथा का सात कांडों में यथोचित निर्वाह हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'द्वापर' (१९३६) भी इस शैली की विशिष्ट कृति है। इसकी रचना 'श्रीमद्भागवत' के आधार पर सोलह प्रकरणों में हुई है और प्रत्येक प्रकरण में किसी एक पात्र के चरित्रवर्णन को प्रमुखता दी गई है। कृष्ण के जीवनचरित से इन पात्रों की संगति कुछ इस प्रकार जुड़ी हुई है कि इनके प्रबंधगुण को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रसंगोद्भावना संबंधी मौलिकता और शिल्पविषयक जागरूकता की दृष्टि से भी यह एक सराहनीय रचना है।

मुक्तक काव्य

इस युग में महाकाव्य, खंडकाव्य आदि उपयुक्त काव्यरूपों के क्षेत्र में कवियों ने जिस विपुल कृतित्व का परिचय दिया उसमें जितनी विदग्धता थी उतनी ही गतानुगतिकता भी। इसमें संदेह नहीं कि कुछ कवियों ने भावना, विचार और अभिव्यंजना की दृष्टि से नए दिशासंकेत प्रस्तुत किए किंतु ऐसे सभी कवि पहले मुक्तककार थे, बाद में प्रबंधकाव्यों के रचयिता। अभिप्राय यह कि छायावाद युग में जिन नवीन काव्यप्रवृत्तियों का उदय हुआ वे पहले मुक्तक काव्य में ही व्यक्त हुई थीं। यद्यपि प्राचीन काव्यपरंपरा भी समानांतर रूप में गतिशील रही, तथापि इसमें संदेह नहीं कि कथ्य और कथनशैली में नवीन भंगिमा के समावेश की जागरूकता निरंतर बढ़ रही थी। इस काल में देशप्रेम, भक्तिभाव, प्रकृतिसौंदर्य, सामाजिक परिवेश आदि को लेकर बहुसंख्यक कविताओं की रचना की गई जिनमें व्यापक वैविध्य मिलता है। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि स्फुट कविताओं की रचना किसी एक काल में नहीं हुआ करती। दिनों, महीनों और वर्षों के अंतराल से रचित कविताएँ जब किसी एक संकलन में प्रकाशित होती हैं तब उनमें गहरे और फीके दोनों तरह के रंग होते हैं। इस काल में भी गीत (शोकगीति, संबोधनगीति, पत्रगीति आदि), प्रगीत, पाठ्य मुक्तक, सतसई प्रभृति संख्याश्रित मुक्तक, सॉनेट, रूबाई आदि काव्यरूपों की विपुल परिमाण में रचना हुई। इस दिशा में योग देनेवाले सभी कवियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना संभव नहीं है, अतः 'हरिऔध', मैथिलीशरण, 'रत्नाकर', प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, 'निराला', पंत, सियारामशरण, महादेवी, 'दिनकर', उदयशंकर भट्ट, 'बच्चन', भगवतीचरण वर्मा, 'अज्ञेय',

नरेंद्र शर्मा, 'अंचल' प्रभृति मुख्य कवियों और अनेक अन्य कवियों की काव्य-प्रवृत्तियों का समन्वित मूल्यांकन उचित होगा। यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि इस युग में कुछ ऐसे कवितासंग्रह भी प्रकाशित हुए जिनकी सभी या अधिकांश कविताएँ १६१८ ई० के पूर्व की हैं। रामचरित उपाध्याय की 'राष्ट्रभारती' (१६२१) और राय कृष्णदास की 'भावुक' (१६२८) और 'ब्रजरज' (१६३६) इसी प्रकार की कृतियाँ हैं। स्वभावतः हमने ऐसी कविताओं को अपने विवेचन का आधार नहीं बनाया है। दूसरी ओर, १६३८ ई० के बाद भी ऐसे अनेक कवितासंकलन प्रकाशित हुए जिनमें आलोच्य युग की कविताएँ संकलित हैं। इस युग के मुक्तक काव्य की विवेचना के लिये उपलब्ध कविताओं का निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत समन्वित विश्लेषण उपयुक्त होगा—राष्ट्रीय सांस्कृतिक दृष्टि, भक्तिभाव और रहस्यवाद, नैतिकता और समाजचित्रण, वैयक्तिक चेतना, प्रेम और सौंदर्य, प्रकृतिचित्रण।

छायावादयुग में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना से समन्वित काव्यग्रंथों तथा स्फुट कविताओं की व्यापक परिमाण में रचना की गई जो तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक जागरूकता का अनिवार्य परिणाम था। सांप्रदायिक संकीर्णता और प्रादेशिकता की स्थूल सीमाओं से ऊपर उठकर इस युग के कवियों ने भारत के प्राचीन गौरव की पृष्ठभूमि में अखंड राष्ट्रीयता का मंत्र दिया जिससे जनमानस में देशभक्ति की तरंगें लहराने लगीं। शिवदास गुप्त 'कुसुम' की 'कुसुमकली' (१६२०) ऐसी ही कृति है जिसमें अन्यविषयक कविताओं के अतिरिक्त विशेषतः कांग्रेस, लाजपतराय, जलियाँवाला बाग आदि सामाजिक विषयों पर देशभक्तिपरक कविताओं को स्थान प्राप्त हुआ है। इस दिशा में दूसरी उल्लेखनीय रचना गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' द्वारा 'त्रिशूल' उपनाम से रचित 'राष्ट्रीय मंत्र' (१६२१) है जिसमें राष्ट्रीय गीत, सत्याग्रह, असहयोग, स्वतंत्रता आदि सात विषयों से संबद्ध कविताएँ संकलित हैं। गोकुलचंद्र शर्मा की 'पद्य-प्रदीप' (१६२१) भी इस शैली की उल्लेखनीय कृति है। इसमें स्वदेशवंदना, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रगीत आदि विषयों पर पुनरुत्थानमूलक जातीयता अथवा राष्ट्रीयतापरक कविताएँ संकलित हैं। बुद्धदेव विद्यालंकार ने 'बिखरे हुए फूल' (१६२२) में जातीय गौरव और गुरुकुल से संबद्ध कविताओं को स्थान देकर देश की सांस्कृतिक गरिमा को पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। बुधचंद्र पुरी की 'श्री कामधेनु दशा' (१६२३) भी ऐसी ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। इस संदर्भ में 'हरिऔध' की 'चोखे चौपदे' अथवा 'हरिऔध हजारा' (१६२४) और 'पद्यप्रमोद' (१६२८) शीर्षक रचनाओं का उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा। इनमें अन्यविषयक कविताओं के अतिरिक्त जातीयता

और देशप्रेम को व्यक्त करनेवाली कुछ कविताएँ भी संकलित हैं जिनमें विवरणबद्धता और उद्बोधन दोनों का एक साथ समावेश है। मैथिलीशरण गुप्त की 'स्वदेश संगीत' (१९२५) और 'हिंदू' (१९१७) भी इसी वर्ग की रचनाएँ हैं जिनमें सामयिक सामाजिक राजनीतिक विषयों, जातीय गौरव, प्राचीन और नवीन संस्कृतियों में समन्वय की कामना आदि को आदर्शवादी शैली में अंकित किया गया है, किंतु इतिवृत्तात्मक वर्णनपद्धति के फलस्वरूप इनमें उत्कट प्रभावव्यंजकता नहीं है। इनकी तुलना में रामनरेश त्रिपाठी ने 'मानसी' (१९२७) में देशभक्तिपरक कविताओं की कहीं अधिक मार्मिक शैली में रचना की है। वियोगी हरि की 'वीर सतसई' (१९२७) भी इसी शैली में रचित ब्रजभाषा कृति है जिसमें प्रसिद्ध वीरों, शस्त्रों, वीरभूमियों, जातीय गौरव आदि को प्रकट करनेवाले दोहे संकलित हैं। इनमें से अधिकांश में देशभक्ति का ओजपूर्ण प्रतिपादन हुआ है।

छायावादी कवियों में राष्ट्रीय सांस्कृतिक दृष्टि से काव्यरचना की ओर मुख्यतः प्रसाद और 'निराला' ने ध्यान दिया। प्रसाद ने 'स्कंदगुप्त' (१९२८) और 'चंद्रगुप्त' (१९३१) के कुछ गीतों और 'लहर' (१९३३) की 'शेरसिंह का शस्त्रसमर्पण' शीर्षक कविता में राष्ट्रीय भावनाओं का ओजस्वी प्रतिपादन किया है। ऐतिहासिक संदर्भों से युक्त होने के कारण इन काव्यप्रसंगों में सांस्कृतिक दृष्टि का भी सहज उन्मेष रहा है। 'परिमल' (१९२९) में संकलित 'निराला' की 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता भी इसी शैली में प्रणीत है। इसी समय की एक अन्य कृति केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' कृत 'ज्वाला' (१९२९) में भी ओजपूर्ण राष्ट्रीय गीत संकलित हैं। दूसरी ओर, बुद्धिनाथ झा 'कैरव' ने सामयिक प्रभाववश 'खादी लहरी' (१९२९) शीर्षक ब्रजभाषा काव्य में खादी-प्रचार पर बल देते हुए उसी को राष्ट्रीय दृष्टि के उन्मेष में सहायक माना है। इसी प्रकार वियोगी हरि की ब्रजभाषा कृति 'मंदिरप्रवेश' (१९३०) में अछूतों के मंदिरप्रवेश की समस्या का गेय पदों में संक्षिप्त, किंतु मार्मिक चित्रण हुआ है। महाबली सिंह के ब्रजभाषा काव्य 'गांधी गौरव' (१९३०) और महेशचंद्र प्रसाद द्वारा क्रमशः ब्रजभाषा और खड़ी बोली में लिखित 'स्वदेश सतसई' (१९३०) और 'कांग्रेस शतक' (१९३६) में भी गांधीवाद के प्रभाव को प्रत्यक्ष रूप में देखा जा सकता है। इनमें गांधी जी की महिमा, खद्दर, कांग्रेस, मातृभूमि, अस्पृश्यता आदि विषयों पर देशभक्तिपूर्ण विचारों का समावेश मिलता है। स्पष्ट है कि इस वर्ग की कृतियों में युगधर्म के निर्वाह पर बल रहा है और गांधीदर्शन को केवल बौद्धिक धरातल पर ग्रहण न करके उसके भावुकतापूर्ण

व्यावहारिक रूप की भी प्रतिष्ठा की गई है। किंतु, इनमें चिंतन की गरिमा और अनुभूति की रागात्मकता का वैसा स्पर्श नहीं मिलता जैसा सियारामशरण गुप्त की 'दूर्वादल' (१९१५-२४), 'पाथेय' और 'बापू' (१९३७) शीर्षक कृतियों में प्राप्य है। गुप्त जी ने गांधी जी के सिद्धांतों के अनुरूप अहिंसा, मानववाद, सांस्कृतिक जागरूकता आदि का कहीं विचारपरक और कहीं भावव्यंजक शैली में प्रायः प्रगीतपद्धति में निरूपण किया है।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा के कवियों में सुभद्राकुमारी चौहान का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। उन्होंने 'मुकुल' (१९३०) में 'झाँसी की रानी' प्रभृति विषयों पर सरल और ओजस्वी कविताओं की रचना की है जो तत्कालीन जन-मानस पर बहुत समय तक छाई रहीं। इस संदर्भ में माखनलाल चतुर्वेदी की ओजमूलक राष्ट्रीय कविताओं का उल्लेख भी आवश्यक है। यद्यपि प्रस्तुत अवधि में उनका कोई भी काव्यसंकलन प्रकाशित नहीं हुआ तथापि परवर्ती प्रकाशित रचनाओं—हिमकिरीटिनी (१९४२), हिमतरंगिनी (१९४८), माता (१९५१), समर्पण (१९५६), युगचरण (१९५६)—में कुल मिलाकर ऐसी शताधिक कविताओं को स्थान प्राप्त हुआ है जिनका रचनाकाल १९१८-१९३८ ई० है। उन्होंने यौवन की उमंग, स्वातंत्र्यसंघर्ष की उत्कट प्रेरणा, शीशदान आदि के चित्रण द्वारा राष्ट्रीय मनोवृत्ति को रागात्मक शैली में व्यक्त किया है। रूढ़िविद्रोह, वीरोत्साह और बलिदान की प्रेरणा का कुछ ऐसा ही स्वरूप जगन्नाथ-प्रसाद 'मिलिंद' कृत 'जीवनसंगीत' (रचना १९२२-३६, प्रकाशन १९४०) में व्यक्त हुआ है। अभिराम शर्मा और प्रणयेश शर्मा की संमिलित कृति 'मुक्त संगीत' (१९३१) में भी मुख्य रूप से इसी शैली की देशप्रेम संबंधी कविताओं को स्थान प्राप्त हुआ है। कुछ कवियों ने समकालीन राष्ट्रीय चेतना के स्थान पर जातीय गौरव को प्रकट करनेवाले प्राचीन वीररसात्मक संदर्भों, शिवाजी जैसे वीरों के स्तवन, जातीय त्यौहारों आदि पर उद्बोधनात्मक कविताओं की रचना करके प्रस्तुत काव्यधारा के विकास में योगदान किया है। पुरोहित प्रतापनारायण (काव्यकानन १९३२) और प्रणयेश शुक्ल (निशीथिनी १९३३) की कविताएँ इसी प्रकार की हैं। इसके विपरीत केवल समकालीन संदर्भों को ध्यान में रखकर भी काव्यरचना की गई। गांधी जी की ग्रामोदय और ग्रामस्वराज्य योजना के प्रभावस्वरूप दीनानाथ 'अशंक' द्वारा लिखित 'कृषिकौमुदी' (१९३३) ऐसी ही रचना है जिसमें कृषकों की सामाजिक स्थिति के उन्नयन के लिये उन्हें व्यावहारिक शिक्षा दी गई है। पुरुषार्थवती की 'अंतर्वेदना' (१९३३) में भी सामयिक राष्ट्रीय चेतना को प्रकट करनेवाली कुछ कविताएँ संकलित हैं जिनपर छायावादी रचनाशिल्प का प्रत्यक्ष प्रभाव है। प्राचीन शैली की रचनाओं में केशवदेव शास्त्री

कृत 'शिवाबाजि बावनी' (१९३४) उल्लेखनीय है। यह भूषण की 'शिवा बावनी' की पद्धति पर लिखित वीररसपूर्ण काव्य है जिसमें शिवाजी के घोड़े के युद्धस्थल में जाने, उसके आतंक, टापों आदि का ब्रजभाषा में बावन छंदों में वर्णन हुआ है। उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' के ब्रजभाषा काव्य 'ब्रजभारती' (१९३६), श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर' कृत 'रत्नदीप' (१९३६), पुरोहित प्रतापनारायण कृत 'मन के मोती' (१९३६) आदि में भी अन्यविषयक कविताओं के साथ देशभक्तिपरक, सामाजिक अथवा ऐतिहासिक कविताएँ संकलित हैं जिनमें वातावरण की ओजस्विता, त्याग, बलिदान की प्रेरणा आदि का समावेश है।

अंत में राष्ट्रीय काव्यधारा के विकास में योग देनेवाले दो प्रमुख कवियों—'नवीन' और 'दिनकर' का उल्लेख अपेक्षित है। 'नवीन' की 'कुंकुम' (१९३६) में अन्य विषयों की कविताओं के साथ ही १९३८ के पूर्व की अनेक राष्ट्रीय कविताएँ भी संकलित हैं। इनमें क्रांति की उग्र भावना अथवा विद्रोह के प्रलय-गर्जन को ओजस्वी वाणी में व्यक्त किया गया है। 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल पुथल मच जाए' आदि पंक्तियों की रचना इसी काल में की गई थी। इस अवधि में 'दिनकर' के भी दो काव्यसंकलन प्रकाशित हुए—रेणुका (१९३५) और हुंकार (१९३९)। इनमें तत्कालीन राजनीतिक संघर्ष, आर्थिक विषमताओं, विदेशी शासन की दमननीति आदि का चित्रण करते हुए विद्रोह का आह्वान किया गया है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इस युग में राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि में वीररसात्मक काव्य की स्फुट और सुनियोजित दोनों रूपों में व्यापक रचना हुई और कवियों ने प्राचीन सांस्कृतिक गौरव तथा उत्कट वीरत्व के आदर्शवादी चित्रण के साथ ही समकालीन देशदशा को यथार्थवादी शैली में भी निरूपित किया।

(आ) भक्तिभाव और रहस्यवाद

इस युग में आध्यात्मिक ढंग की कविताओं की रचना दो रूपों में की गई—कुछ कवियों ने पूर्ववर्ती काव्य में उपलब्ध पद्धति के अनुरूप भक्तिभाव को श्रद्धा-स्तुति-मूलक रूप में प्रकट किया और कुछ ने छायावादी रहस्यदर्शन को अपनाकर अपरोक्ष अनुभूति की सांकेतिक तथा रागात्मक अभिव्यक्ति की प्रणाली अपनाई। इन दोनों का समानांतर रूप में विकास हुआ और यह कहना ठीक न होगा कि कवियों ने इनमें से किसी एक के प्रति विशिष्ट अभिरुचि प्रकट की क्योंकि जहाँ रहस्यवाद की मधुरिमा ने अनेक कवियों को आकृष्ट किया वहाँ उसपर अस्पष्टता का आरोप लगानेवालों की भी कमी नहीं थी। भक्तिभावमयी कविताओं की परंपरागत ढंग से रचना करनेवालों में सर्वप्रथम मुकुटधर पांडेय का

नाम आता है जिनकी 'प्रार्थना' (सरस्वती, अप्रैल १९१९) और 'अधीरा आँखें' (श्री शारदा, फरवरी १९२१) शीर्षक कविताएँ इसी शैली में रचित हैं। बाँकेबिहारीलाल 'बाँके पिया' की 'श्री राधारमणविहारमाला' (१९२१) ब्रजभाषा की इसी कोटि की रचना है जिसमें राधाकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का माधुर्यभक्तिमूलक चित्रण है। भक्तिक्षेत्र में ब्रजभाषा में इनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं—'वाणीविनोद' (१९२६) में कृष्णभक्तिपरक दोहे हैं, 'कलंकभंजन लीला' (१९३४) में राधाकृष्ण और राम से संबद्ध तीन लीलाओं को कलियुग के पापनाश की प्रेरणा से चित्रित किया गया है और 'श्री ब्रज-माधुर्य-दर्पण' (१९३७) में ब्रजभूमि की महिमा, रासस्थलों, मंदिरों आदि का भक्तिभावयुक्त वर्णन-विवरण-परक चित्रण है। इन्हीं की भाँति ब्रजभाषा में भक्तिकाव्य की रचना करनेवाले एक अन्य कवि रामावतारदास रामायणी थे जिन्होंने 'रामसखी' उपनाम से काव्यरचना की है। इनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध होती हैं जिनका प्रकाशन १९२४ ई० में हुआ था—'श्री रामावतार भजन तरंगिणी', 'रामसखी शतक', 'आत्मबोध तरंगिणी'। इनमें रसिकतामयी रामभक्ति, नीति और वेदांतचर्चा को स्थान प्राप्त हुआ है। नंदलाल माथुर कृत शिवभक्तिपरक ब्रजभाषा काव्य 'शंकर शतक' (रचना—१९२४, प्रकाशन—१९३३) भी इसी वर्ग की रचना है। इसी प्रकार वियोगी हरि ने 'अनुराग वाटिका' (१९२६) में ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति संबंधी दोहों और पदों की रचना की है। प्रौढ़ कवित्व, सरस मधुर आत्मनिवेदन और भ्रमरगीत प्रसंग इसकी मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। ऐसी ही एक अन्य कृति छोटेलाल राय की 'भजन सांगीत रामायण' (१९२६) है जिसमें रामजन्म की कथा को ब्रजभाषा में वर्णन विवरणात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार की एक साधारण कृति 'मोहन की तूती' (१९२६) में साह मोहनराज ने राम, कृष्ण, गणेश आदि की स्तुति में काव्यरचना की है।

उपर्युक्त रचनाओं में भक्ति को धार्मिक मनोवृत्ति के अर्थ में ग्रहण करने की पद्धति अपनाई गई है, फलतः इनमें आत्माभिव्यक्तिमूलक रागात्मक प्रसंगों की अपेक्षा ईश्वरीय लीलाओं को भक्तिभाव से प्रकट करनेवाले स्थल अधिक हैं। इसी प्रकार रामनरेश त्रिपाठी (मानसी, १९२७) और 'हरिऔध' (पद्यप्रमोद, १९२८) ने भी कुछ स्फुट कविताओं में विश्वप्रपंच, ईश्वर की सर्वव्यापकता, भक्ति के महत्व आदि को प्रकट किया है। दामोदरसहाय सिंह 'कविकिंकर' ने भी 'सुधा सरोवर' (१९२८) में कृष्णभक्ति और राधाकृष्ण की लीलाओं का ब्रजभाषा में परंपरागत शैली में वर्णन किया है। स्वामी भोले बाबा कृत 'वेदांत छंदावली' (१९३०) और 'श्रुति की टेर' (१९३१) भी इसी

प्रकार की रचनाएँ हैं जिनमें वैदिक विचारधारा के अनुरूप अध्यात्मतत्व को सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इस दिशा में तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' की 'भक्त भारती' (१६३१) भी उल्लेखनीय है जिसमें ध्रुव, प्रह्लाद, गजेंद्र, शबरी, अंबरीष, अजामिल और कुंती की महिमा को श्रद्धापूर्वक व्यक्त किया गया है। कुछ कवियों का ध्यान गीता की महिमा को प्रकट करने की ओर भी गया। भगवतीलाल वर्मा 'पुष्प' की कृति 'हृदयहूक' (१६३१) में संकलित 'गीतास्मृति' शीर्षक कविता इसका उदाहरण है। दतिया के राजकवि काशीप्रसाद द्वारा रचित 'महावीर-मोहन-माला' (१६३२) भी इसी शैली की रचना है जिसमें मुख्य रूप से हनुमान की महिमा का वर्णन करते हुए स्फुट रूप में राम, कृष्ण आदि की स्तुति भी की गई है। हीरासिंह 'चंद्र' की 'ईश्वररहस्य' (१६३२) भी ऐसी ही कृति है जिसमें दार्शनिक चिंतन के स्थान पर भावुकता और श्रद्धा का स्वर मुख्य रहा है। चंद्रभूषण त्रिपाठी 'प्रमोद' की कृति आभा' (१९३३) में भी भक्तिभाव और आत्मज्ञान संबंधी कुछ कविताएँ संकलित हैं। इसी प्रकार गोपालशरण सिंह ने 'ज्योतिष्मती' (१६३८) में जीवन के करुण यथार्थ को भक्तिभाव में पर्यवसित करने का संदेश देने के निमित्त कुछ कविताओं और पदशैली में रचित गीतों को स्थान दिया है।

इस युग की भक्तिभावमयी काव्यधारा के उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी युग की भक्ति-नीति-मयी काव्यपद्धति इस युग में भी सजीव रही। किंतु, छायावादी काव्यपद्धति से प्रभावित कवियों ने इस क्षेत्र में अभिनव दृष्टि अपनाई। सृष्टि के प्रति जिज्ञासा, प्रकृति में ईश्वरीय चेतना की व्याप्ति, रागात्मक अनुभूति, विरह की मार्मिकता और सांकेतिक शब्दावली वे व्यावर्तक उपादान सिद्ध हुए जिनसे छायावादी कवियों ने रहस्यवाद की भावभूमि को स्वर देने का उपक्रम किया। 'पल्लव' की 'मौन निमंत्रण' (१६२३) जैसी कविताओं के माध्यम से पंत ने, 'पराग' (१६२४) की कुछ कविताओं द्वारा रूपनारायण पांडेय ने और 'नीहार' (१६२४–२८) के गीतों के माध्यम से महादेवी ने रहस्यानुभूति को पहली बार नए रूपरंग में मुखरित किया। इसके लिये उन्होंने प्रकृति में विश्वात्मा के साक्षात्कार की पद्धति अपनाई और अपनी भावनाओं में सौंदर्य, प्रेम तथा कल्पना का यथोचित आधार लिया। प्रसाद ने 'लहर' (१९३३) में और 'निराला' ने 'परिमल' (१६२६) तथा 'गीतिका' (१६३६) में इस शैली की कुछ स्फुट कविताओं का समावेश किया। दूसरी ओर, महादेवी ने 'रश्मि' (१९३२), 'नीरजा' (१६३४) और 'सांध्य गीत' (१६३६) में तथा रामकुमार वर्मा ने 'अंजलि' (१९३०), 'रूपराशि' (१६३२), 'चित्ररेखा' (१६३५) और 'चंद्रकिरण' (१९३६) में मुख्यतः

प्रकृतिपरक मधुर रहस्यवाद को वाणी दी। उनके काव्य में मुख्य रूप से निम्न-लिखित प्रवृत्तियाँ व्यक्त हुई हैं—प्रकृति के आत्मसाक्षात्कार द्वारा आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने की जिज्ञासा, अध्यात्मदर्शन संबंधी सूक्ष्म बौद्धिक जिज्ञासाओं की विभिन्न भंगिमाओं में अभिव्यक्ति, दार्शनिक चिंतन की मनोभूमि, आत्मसमर्पण की भावना, गीति शैली। इस काल के अन्य कवियों में मैथिलीशरण गुप्त ने 'झंकार' (१९२९) में रहस्यवादी पद्धति के अनेक गीतों का समावेश किया है, किंतु मर्यादाबद्ध दृष्टिकोण के कारण न तो उनमें आत्माभिव्यक्ति की वैसी तीव्रता है और न ही छायावादी शिल्प का वैसा उत्कर्ष। किंतु, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की रहस्यवादी कविताओं में इन प्रवृत्तियों का अभाव नहीं है।[1] हरिकृष्ण 'प्रेमी' की 'जादूगरनी' (१९३२) और 'अनंत के पथ पर' (१९३२) भी इसी शैली की रचनाएँ हैं जिनमें भावुकता तो है, किंतु शैली का उतना मार्दव नहीं। संभवतः इस काल के उत्तरवर्ती कवियों के लिये रहस्यवादी कविताएँ बहुत कुछ मनस्तोष का साधन बन गई थीं, उनमें अंतरंग साधना की अपेक्षा शैलीविशेष का अनुकरण करने की प्रवृत्ति अधिक थी। मृत्युंजय (प्रलाप, १९३५) और गंगाप्रसाद पांडेय (पर्णिका, १९३७) द्वारा महादेवी की शैली का प्रत्यक्ष अनुकरण इसका प्रमाण है।

(इ) नैतिकता और समाजचित्रण

द्विवेदी युग में काव्य में नैतिक मूल्यों के समावेश को अनिवार्यतः महत्व दिया जाता था, किंतु स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों के आगमन के फलस्वरूप कवियों की दृष्टि वस्तुपरक न रहकर भाव और कल्पना की ओर अधिकाधिक उन्मुख होने लगी। जीवनदर्शन को एक इतिवृत्तात्मक प्रक्रिया मात्र न मानकर उन्होंने प्रकृति और समाज में अविच्छिन्न संबंध स्थापित करने का यत्न किया और मानववादी मूल्यों की उदात्त भावभूमि पर स्थापना की। यद्यपि इस युग में चरित्रनिर्माण पर बल देनेवाली पिछले खेवे की रचनापरंपरा भी कुछ समय तक क्षीण रूप में विद्यमान रही, तथापि शीघ्र ही उसका स्थान वैयक्तिक चेतना से

[1] डा० लक्ष्मीनारायण दुबे ने 'बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : व्यक्ति एवं काव्य' में पृष्ठ ४५५-४६२ पर 'नवीन' जी द्वारा इस काल में लिखित २१७ कविताओं की सूची दी है जिनमें से अनेक कविताएँ परवर्ती प्रकाशित रचनाओं—कुंकुम, क्वासि, अपलक, हम विषपायी जनम के—में संकलित हैं।

अनुप्राणित मानववादी कविताओं ने ले लिया। इस दृष्टि से प्रथम उपलब्ध रचना बुद्धदेव विद्यालंकार की 'बिखरे हुए फूल' (१६२२) है जिसमें जीवन और जगत् को आर्यसमाजी दृष्टि से देखने का यत्न किया गया है। दयाशंकर मिश्र 'शंकर' कृत 'सदाचार सोपान' (१६२४) भी इसी शैली की आदर्शवादी रचना है जिसमें ब्रजभाषा में नीतिपरक दोहों की रचना की गई है। महाराज राघवदास कृत 'दोहावली' (१६२५) में भी इसी प्रकार के विभिन्नविषयक नीतिपरक दोहे हैं। साह मोहनराज ने भी 'मोहन की तूती' (१९२६) शीर्षक ब्रजभाषाकृति में संतवंदना संबंधी स्फुट छंदों की रचना करके इसी परंपरा का निर्वाह किया है। बाँकेबिहारी लाल 'बाँके पिया' की 'विवेक मंजरी' (१६२८) भी ब्रजभाषा की ऐसी ही नीतिपरक रचना है। 'हरिऔध' ने भी 'चोखे चौपदे' (१६२४) और 'पद्य प्रमोद' (१६२८) की कुछ कविताओं में जीवननिर्माण की प्रेरणा देनेवाले भावों और विचारों का समावेश किया है, किंतु इन दोनों कृतियों की शैली में अतर है। जहाँ प्रथम कृति में वस्तुवादी ढंग से विषयविश्लेषण की प्रवृत्ति मुख्य है वहाँ दूसरी में लाक्षणिकता और व्यंग्यप्रवृत्ति का आश्रय भी लिया गया है। पुरोहित प्रतापनारायण की 'काव्यकानन' (१६३२), रामेश्वर 'करुण' की 'करुण सतसई' (ब्रजभाषा १६३४), दुलारेलाल भार्गव द्वारा ब्रजभाषा में रचित 'दुलारे दोहावली' (१६३४), किशोरीदास वाजपेयी की ब्रजभाषाकृति 'तरंगिणी' (१६३६) और मैथिलीशरण गुप्त की 'मंगल घट' तथा 'गृहस्थगीता' (१६३७) भी इसी शैली की रचनाएँ हैं। इनमें नीतिमूलक उपदेशात्मक वृत्ति, धार्मिक संकीर्णता के नाश की आवश्यकता, सामयिक सामाजिक जागर्ति की प्रेरणा आदि का निरूपण किया गया है जिसके लिये भावुकता की अपेक्षा अधिकतर विचारविश्लेषण की पद्धति अपनाई गई है। इस काव्यपद्धति के समानांतर जिस दूसरी भावधारा का उदय और विकास हुआ उसके अंतर्गत केवल सामाजिक स्थितियों के विश्लेषण की प्रणाली नहीं अपनाई गई, अपितु भावमूलक अंतर्दर्शन का आश्रय लेकर व्यक्ति और समाज के संबंधों पर विश्वमानवता के परिप्रेक्ष्य में विचार किया गया। वैसे तो इसकी झलक प्रसाद की 'झरना' (१६१८) और रामनरेश त्रिपाठी की 'मानसी' (१६२७) जैसी रचनाओं में ही मिलने लगी थी, किंतु इसका परिपाक 'निराला' (अनामिका, १६२३) और पंत (गुंजन, १६३२) की रचनाओं में हुआ। युगचेतना की अभिव्यक्ति और मानववादी दृष्टिकोण से करुणा की व्याप्ति 'निराला' की अन्यतम विशेषताएँ हैं जिन्हें 'परिमल' और 'गीतिका' की कुछ रचनाओं में भी स्थान प्राप्त हुआ है। दूसरी ओर, पंत की कविताओं में मानव मन के सौंदर्य के उद्घाटन और लोक

मानवता के प्रसार की प्रबल चेतना दृष्टिगत होती है। इस प्रवृत्ति का परिपाक तो 'गुंजन' में हुआ है, किंतु पूर्ववर्ती रचनाओं—'वीणा' और 'पल्लव'—को भी इस दिशा में विकास की कड़ी मानना होगा। इस संदर्भ में 'युगांत' (१९३६) का उल्लेख भी आवश्यक है, क्योंकि इसमें कवि भाव और शिल्प की कोमल चेतना के स्थान पर यथार्थ के अधिक निकट रहा है। इसे छायावाद के अंत की सूचना देनेवाला काव्य माना गया है क्योंकि इसमें 'गुंजन' का जीवनदर्शन नए आयाम में व्यक्त हुआ है। इस काव्यप्रवृत्ति के विकास में योग देनेवाले अन्य कवियों में 'नवीन' और सियारामशरण गुप्त (पाथेय, १९३३) भी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने सामाजिक समस्याओं के निरूपण में रागात्मक अनुभूति को यथेष्ट महत्त्व दिया अर्थात् विचारतत्व की अभिव्यक्ति में वैयक्तिक प्रभावप्रतिक्रियाओं के प्रति उपेक्षा नहीं बरती। दूसरी ओर, उदयशंकर भट्ट (मानसी १९३५, विसर्जन १९३८) और 'अंचल' (मधूलिका, १९३८) की कविताओं में समाजचित्रण का आधार किंचित् भिन्न रहा है। जीवन का यथार्थ चित्रण, परिवेश की समस्याओं के प्रति जागरूकता, रूढ़िविद्रोह, समाजव्यापी वेदना की करुण अभिव्यक्ति, प्रकृति और जीवन का दार्शनिक विवेचन आदि इनकी कविताओं के प्रमुख विषय रहे हैं। कहना न होगा कि पंत के 'युगांत' की भाँति इनकी कविताओं में भी प्रगतिवाद का पूर्वाभास विद्यमान है। सामाजिक स्थितियों का निरूपण करनेवाली अंतिम उल्लेखनीय रचना गोपालशरण सिंह की 'मानवी' (१९३८) है। इसमें नारीजीवन की विविध अवस्थाओं और करुण अनुभूतियों को लेकर सत्रह कविताओं की रचना की गई है जिनमें नायिकाभेद जैसी रूढ़ परिपाटी के स्थान पर मनोविश्लेषणपद्धति को अपनाया गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस युग में जहाँ कुछ कवियों ने नैतिकता अथवा आचारदर्शन के प्रतिपादन को प्राथमिकता दी वहाँ अनेक कवि मानववाद, प्रकृति और जीवन के सामंजस्य, नारीजीवन की समस्याओं के भावुकतापूर्ण निरूपण, जीवन के यथार्थ की करुण अभिव्यक्ति आदि की ओर भी उन्मुख रहे।

(ई) वैयक्तिक चेतना

इस युग में वैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति के दो पक्ष निर्धारित किए जा सकते हैं—एक ओर वे कवि हैं जिन्होंने छायावादी पद्धति के अंतर्गत आत्माभिव्यक्तिमूलक कविताओं की रचना की और दूसरी ओर १९३२-३३ के आसपास से ऐसी काव्यप्रवृत्ति का उदय लक्षित होता है जिसमें छायावाद के अमूर्त सौंदर्यचित्रों, रोमानी कल्पना, तरल भावप्रवणता आदि से पर्याप्त भिन्न शैली की अनुभूतिपरक कविताएँ प्रस्तुत की गईं। पहले वर्ग के अंतर्गत प्रकृति

प्रणय, रहस्यात्मक अनुभूति और जीवन के करुण विषाद को लेकर प्रसाद, 'निराला' आदि छायावादी कवियों ने वैयक्तिक स्तर पर रागात्मक प्रतिक्रियाएँ प्रकट कीं, किंतु मानवीकरण के मोह, कल्पना की बहुलता और अभिव्यक्ति की अतिसांकेतिकता के फलस्वरूप इनमें अनुभूति की प्रखरता कहीं कहीं क्षीण हो गई है। ये प्रवृत्तियाँ पंत, महादेवी और रामकुमार वर्मा की कविताओं में तो लक्षित होती ही हैं, निम्नलिखित कवियों ने भी प्रायः छायावादी प्रभावसूत्र के अंतर्गत व्यक्तिवादी काव्य की रचना की है—रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' (सौरभ, १९२५), सत्यप्रकाश (प्रतिबिंब, १९२७), राय कृष्णदास (भावुक, १९२८), शांतिप्रिय द्विवेदी (नीरव, १९२९), अज्ञेय (भग्नदूत, १९३३), जनार्दन प्रसाद झा द्विज' (अनुभूति, रचनाकाल १९२४ १९३०, प्रकाशन १९३३), यमुनाप्रसाद चौधरी 'नीरज' (द्रुमदल, १९३६), नगेंद्र ('वनबाला' की स्फुट कविताएँ, १९३७), सूर्यदेवी दीक्षित 'उषा' (निर्झरिणी, १९३७)। इन्होंने सामाजिक यथार्थ के स्थूल रूप के प्रति विशेष आकर्षण न रखकर अपने परिवेश के प्रति अंतरंग भावात्मक प्रतिक्रियाओं को वाणी दी। प्रकृतिचेतना, रहस्यानुभूति और प्रणयभाव इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति में सहायक उपकरण रहे। किंतु सूक्ष्म कल्पना, रूपक, प्रतीक और लाक्षणिकता के फलस्वरूप ये कविताएँ प्रायः सुबोध नहीं थीं। फलस्वरूप इनके मध्य से उस काव्यसरणि का विकास हुआ जिसके अग्रणी कवि 'बच्चन' हैं। उन्होंने छायावादी भावों का निषेध न करने पर भी अमूर्त सौंदर्य के स्थान पर अनुभूति की प्रत्यक्षता और शैली की स्पष्टता पर बल दिया। व्यंजना का विरोध न होने पर भी उनकी रचनाओं में उसका वैसा महत्व नहीं रहा। 'प्रारंभिक रचनाएँ', 'तेरा हार' (१९३२), 'मधुशाला' (१९३५), 'मधुबाला' (१९३६), 'मधुकलश' (१९३७) और 'निशा निमंत्रण' (१९३७–३८) उनकी ऐसी ही रचनाएँ हैं। इनमें जीवनसंघर्ष, प्रणय, प्रकृति आदि के प्रति कवि की रागात्मक प्रतिक्रियाओं का प्रतिफलन है। इस प्रकार इनमें बहिर्मुखी और अंतर्मुखी दोनों प्रकार के चित्र हैं और आशा तथा निराशा, वेदना तथा द्वंद्व दोनों का संवेदनापूर्ण चित्रांकन किया गया है। आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया अथवा प्रकृत अनुभूति उनकी कविता की मूल शक्ति है, किंतु कहीं कहीं कल्पना की छटा भी सहज ही मोह लेती है। भगवतीचरण वर्मा की 'मधुकण' (१९३२) और 'प्रेमसंगीत' (१९३७) भी इसी काल की रचनाएँ हैं। इनमें प्रेम और भावुकता के अतिरिक्त विचारतत्व का समावेश भी है, फलतः जीवन की स्वस्थ अभिव्यक्ति के प्रति कवि की विशिष्ट सजगता लक्षित होती है। नरेंद्र शर्मा की 'शूल फूल'

(१९३३), 'प्रभात फेरी' (१९३८) और 'प्रवासी के गीत' (१९३८) में भी कवि की अनुभूति कल्पना और रागात्मकता के आलोक में व्यक्त हुई है। इनमें प्रणय की स्वच्छंदता और विरह की मार्मिकता का स्थान मुख्य रहा है, फलतः कवि के संवेदनशील व्यक्तित्व की झाँकी प्रायः सर्वत्र देखी जा सकती है। पद्मकांत मालवीय की कविताओं में भी आत्माभिव्यक्ति का स्वर प्रमुख रहा है। 'प्याला' (१९३३), 'आत्मविस्मृति या रुबाइयाते पद्म' (१९३३) और 'आत्मवेदना' (१९३३) में उन्होंने अनुभूति की विविधतामयी सजीवता, वेदना की तीव्रता, माधुर्य, व्यंजनावैशिष्ट्य आदि को भावुकतापूर्ण वाणी दी है। उदयशंकर भट्ट की 'राका' (१९३१), 'मानसी' (१९३५) और 'विसर्जन' (१९३६) में भी वेदना, अनुभूति और आत्माभिव्यक्ति का प्रसार रहा है, किंतु उन्होंने बौद्धिक विश्लेषण की पद्धति को कुछ अधिक अपनाया है जिससे उनकी कविताएँ उतनी सहज नहीं रही हैं। इस धारा के विकास में योग देनेवाले अन्य कवियों में सियारामशरण गुप्त कृत 'विषाद' (१९२५) में करुण रस की पंद्रह कविताएँ संकलित हैं जिनकी रचना पत्नी की मृत्यु के बाद व्यथित मन से की गई थी। दूसरी ओर 'दिनकर' का आत्माभिव्यक्तिमूलक ओजस्वी स्वर है जो 'रेणुका' (१९३५) और 'द्वंद्वगीत' (रचना—१९३२–३९, प्रकाशन १९३९) में व्यक्त हुआ है। अन्य कवियों में होमवती की 'उद्गार' (१९३६) और उपेंद्रनाथ 'अश्क' की 'प्रात प्रदीप' (१९३७) की प्रायः सभी कविताओं में जीवनव्यापी वेदना, करुणा और अनुभूति की मार्मिकता व्याप्त है। मनोरंजन की 'गुनगुन' (१९३७) भी इसी श्रेणी की रचना है जिसमें आत्मपरिचय, मधुर अनुभूति आदि का समावेश है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष अनुभूति पर बल देनेवाली वैयक्तिक काव्यधारा का विकास छायावाद की आत्माभिव्यक्तिमूलक कविताओं का सहज परिणाम था जिसका परवर्ती युग में और भी उत्कर्ष हुआ।

(उ) प्रेम और सौंदर्य

इस युग में प्रेममूलक कविताओं की रचना दो रूपों में की गई—कुछ कवियों ने भारतेंदु युग तक की परंपरा के अनुरूप शृंगारकाव्य की रचना की और कुछ ने स्वच्छंदतावादी रोमानी तत्वों के अनुसार प्रेम और सौंदर्यपरक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। प्रथम वर्ग की सभी रचनाएँ व्रजभाषा में लिखित हैं और उनमें प्रायः राधा-कृष्ण-प्रेम की पृष्ठभूमि में विभिन्न भावदशाओं को प्रकट किया गया है। ब्रह्मदत्त शर्मा 'शिशु' की 'निकुंजमिलन' (१९२७) ऐसी ही कृति है जिसमें राधा-कृष्ण-मिलन के प्रसंग को भावुकतापूर्वक चित्रित किया गया है। दामोदरसहाय सिंह 'कविकिंकर' ने भी 'सुधासरोवर' (१९२८) में गर्विता, मानिनी, आदि

नायिकाओं पर प्राचीन शैली में छंदरचना की है। 'रत्नाकर' की 'प्रकीर्ण पद्यावली' (१९३०–३२) में भी रूपचित्रण, राधा-कृष्ण-प्रेम आदि से संबद्ध कुछ स्फुट छंद संकलित हैं, भले ही उनमें 'उद्धवशतक' जैसी मार्मिकता नहीं है।[१] इन कवियों में कहीं कहीं रीतिकाल का प्रत्यक्ष प्रभाव भी लक्षित होता है। अंबिकाप्रसाद वर्मा 'दिव्य' की 'दिव्य दोहावली' (१९३६) में रूपचित्रण और विरहवर्णन में बिहारी की शैली के अनुकरण का प्रयास इसका उदाहरण है। इसी प्रकार किशोरीदास वाजपेयी ने भी 'तरंगिणी' (१९३६) में कुछ प्रेम संबंधी दोहों की रचना की है। नायक नायिका के रूपवर्णन और संयोग-वियोग-जनित मनोदशाओं के चित्रण की ओर इन कवियों ने यथेष्ट ध्यान दिया है, किंतु इसके लिये इन्होंने जिस वर्णनपद्धति को अपनाया है उसे खड़ी बोली में स्थान प्राप्त नहीं हुआ। बलदेवप्रसाद मिश्र की 'दीपदान' (१९३७) में संकलित 'मानमोचन' जैसी कविताओं का उल्लेख अपवादस्वरूप किया जा सकता है।

प्रेम और सौंदर्य संबंधी कविताओं की दूसरी धारा एक ओर छायावादी कवियों द्वारा पल्लवित हुई और दूसरी ओर 'बच्चन' प्रभृति वैयक्तिक कविता के रचयिताओं ने इसके विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। इस दिशा में प्रथम उल्लेखनीय रचनाएँ सुमित्रानंदन पंत कृत 'पल्लव' (१९२८) और 'गुंजन' (१९३२) हैं। इनमें प्रेम, सौंदर्य और वियोग की विभिन्न मनोदशाओं को व्यंजित करनेवाली अनेक सरस कविताएँ संकलित हैं। 'पल्लव' की 'आँसू', 'अनंग' आदि रचनाओं और 'गुंजन' की 'भावी पत्नी के प्रति' जैसी कविताओं को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रम के स्वच्छंद विकास, विरह की मार्मिकता और श्रृंगारिक रूपचित्रों को इन कृतियों में अन्यविषयक कविताओं की तुलना में कम महत्व प्राप्त नहीं हुआ है। 'निराला' की 'परिमल' (१९२९) और 'गीतिका' (१९३६) में भी इस शैली के अनेक मधुर गीत संकलित हैं। रूपचित्रण, भावुकतायुक्त स्वच्छंद प्रेम, मान मनुहार, विरहजनित आकुलता आदि को लेकर बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी अनेक कविताओं की रचना की जो 'कुंकुम', 'क्वासि', 'अपलक', 'हम विषपायी जनम के' आदि में संकलित हैं। इस काल के अन्य कवियों में सुभद्राकुमारी चौहान ने 'मुकुल' (१९३०) में प्रेम के सात्विक रूप को प्रकट किया। रूप यौवन के उद्दाम चित्र उनके यहाँ नहीं हैं। हरिकृष्ण 'प्रेमी' की 'आँखों में' (१९३०) विरहविकलता को चित्रित करनेवाली मर्मस्पर्शी रचना है। छायावाद से प्रभावित रहकर प्रणयकाव्य

[१] देखिए 'रत्नाकर', दूसरा भाग, द्वितीय सं०, पृष्ठ २०४–२३०।

की रचना करनेवाले कवियों में बालकृष्ण राव भी उल्लेखनीय हैं जिन्होंने 'कौमुदी' (१९३१) की अनेक कविताओं में आत्माभिव्यक्तिमूलक प्रेमव्यंजना को स्थान दिया है। माहेश्वरीसिंह 'महेश' कृत 'सुहाग' (१९३२) की अधिकांश कविताओं में भी प्रेमाभिव्यक्ति का प्रमुख स्थान है। पद्मकांत मालवीय की 'प्रेमपत्र' भी इसी काल की रचना है जिसमें कवि ने पत्नी की मृत्यु पर अपनी विरहदशा को 'मेघदूत' जैसी मार्मिक शैली में प्रस्तुत किया है। जयशंकर प्रसाद की 'लहर' (१९३३) और अज्ञेय की 'चिंता' (रचना १९३२–३६, प्रकाशन १९४१) भी इसी अवधि की रचनाएँ हैं। जहाँ प्रसाद ने अन्यविषयक कविताओं के साथ ही प्रेम, सौंदर्य और विरह से संबद्ध कुछ भाव-स्थितियों को मधुर अभिव्यक्ति प्रदान की वहाँ अज्ञेय ने 'चिंता' की कविताओं के माध्यम से 'पुरुष और स्त्री के दृष्टिकोण से मानवीय प्रेम के उद्भव, उत्थान, विकास, अंतर्द्वंद्व, ह्रास, अंतर्मंथन, पुनरुत्थान और चरम संतुलन की कहानी' प्रस्तुत की है।[1]

इस युग की अन्य कृतियों में चंद्रभूषण त्रिपाठी 'प्रमोद' कृत 'आभा' (१९३३) में भी प्रेमदशा, रूपचित्रण आदि का भावुकतापूर्ण उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार प्रणयेश शुक्ल की 'निशीथिनी' (१९३३) और 'कालिंदी' (१९३७) में भी प्रेमविषयक अनेक कविताएँ संकलित हैं। प्रेम और सौंदर्य के इन चित्रों को प्रायः वैयक्तिक चेतना के धरातल पर अंकित किया गया। रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' (शैवाल, १९३७), शेरजंग 'मृणाल' (लोरजा, १९३७), सूर्यदेवी दीक्षित 'उषा' (निर्झरिणी, १९३७) और रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' (मधूलिका, १९३८) ने प्रायः इसी शैली में स्फुट कविताओं की रचना की है। इनमें से श्रीमती 'उषा' ने प्रायः प्रेम के स्वच्छ सात्विक चित्र प्रस्तुत किए हैं और अन्य कवियों ने मधुरमादक रूपचित्रों, प्रकृति पर शृंगारचेतना का आरोप, विरहमार्ग की निराशामयी वेदना आदि को भी अपनी कविताओं का विषय बनाया है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि प्रस्तुत युग में कुछ कवियों ने प्रेम और सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिये चिरपरिचित रीतिकालीन पद्धति को स्वीकार किया तथापि इस भावधारा का मूल स्वर छायावाद से ही प्रभावित था। फलतः प्रकृतिक्षेत्र के प्रतीकों के आश्रय द्वारा रूपवैभव की मोहक कल्पना और प्रणयानुभूति की सूक्ष्म अभिव्यक्ति को ही विविध कवियों ने अपने अपने ढंग से स्वीकार किया है। स्वभावतः इस वर्ग की कविताओं में जहाँ स्वच्छ सात्विक

१ देखिए 'चिंता', भूमिका।

मनोवृत्तियाँ व्यक्त हुई हैं वहाँ कहीं कहीं व्यक्तिगत कुंठाएँ भी अपने लिये अभिव्यक्ति का द्वार टटोलती दीख पड़ती हैं।

(ऊ) प्रकृतिचित्रण

प्रस्तुत युग में भावनिरूपण के लिये प्रकृति को स्वतंत्र अथवा प्रासंगिक रूप में वाणी देने की ओर यथेष्ट ध्यान दिया गया। कुछ कवियों की प्रवृत्ति तो केवल प्रकृतिकाव्य की रचना की ओर ही रही। इस दृष्टि से प्रथम उल्लेखनीय रचना गुरुभक्त सिंह 'भक्त' कृत 'सरस सुमन' (१९२५) है। इसमें पवन, भानु, चपला, जुगनू, बसंती आदि शीर्षकों के अंतर्गत छायावादी रचनापद्धति के अनुरूप प्रकृति के कोमल और उग्र दोनों रूपों का चित्रण हुआ है, किंतु विशेष अभिव्यक्ति उसके मधुर रागात्मक रूप की ही हुई है। उनकी कुछ अन्य रचनाओं—'कुसुमकुंज' (१९२६), 'वंशीध्वनि' (१९३०) और 'वनश्री' (१९३२)—में भी प्राय: यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। कालक्रम से इस दिशा में दूसरी उपलब्ध रचना बाँकेबिहारी लाल 'बाँके पिया' कृत 'ऋतुप्रमोद' (१९२५) है। इसमें ऋतुवर्णन की पृष्ठभूमि में ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में कृष्ण के रूप, लीलादि का चित्रण हुआ है जो मध्ययुगीन कृष्णभक्ति काव्य की परिपाटी के अनुरूप है। इसी वर्ष की एक अन्य रचना मेधाव्रत कविरत्न की 'गिरिराज गौरव' (१९३२) है जिसमें विभिन्न कविताओं में हिमालय, काश्मीर, शिमला, नैनीताल आदि के प्राकृतिक सौंदर्य का निरूपण हुआ है। इसी प्रकार बालकराम शास्त्री 'बालक' ने 'प्रकृतिपूजा' (१९३३) शीर्षक कृति में प्रभात, संध्या, सरिता आदि के अतिरिक्त विभिन्न ऋतुओं का द्रुतविलंबित छंद में अतुकांत पद्धति पर आलंबनात्मक चित्रण किया है। इन कवियों की रचनाओं में भले ही गुरुभक्त सिंह 'भक्त' के प्रकृतिकाव्य जैसी विदग्धता न हो, किंतु इनसे युगीन प्रवृत्ति का बोध तो होता ही है।

इस युग में छायावाद के अंतर्गत भी प्रकृतिकाव्य की प्रचुर परिमाण में रचना हुई। प्रसाद ने 'लहर' में, 'निराला' ने 'परिमल' में और महादेवी ने 'नीहार' आदि कृतियों में प्रकृति के आलंबनपरक चित्रण की अपेक्षा उसपर चेतना का आरोप करके वातावरण और भावस्थितियों के स्पष्टीकरण की संभावनाओं पर अधिक ध्यान दिया। इस पद्धति का निर्वाह उन्होंने अधिकतर प्रेममूलक अथवा रहस्यवादी कविताओं में किया जिनमें कल्पना की मनोरमता और शिल्पमाधुरी के फलस्वरूप विशिष्ट भावसंवेदना लक्षित होती है। 'निराला' की 'संध्यासुंदरी', 'बादलराग', 'जुही की कली' आदि मानवीकरण शैली की कविताएँ इस दृष्टि से सर्वप्रसिद्ध हैं। किंतु इन कवियों की तुलना में सुमित्रानंदन पंत ने 'पल्लव', 'वीणा' और 'गुंजन' में प्रकृतिविषयक कविताओं को

अधिक स्थान दिया है। इनमें क्रमशः संकलित 'परिवर्तन', 'प्रथम रश्मि' और 'नौकाविहार' उनकी प्रसिद्ध प्रकृतिपरक कविताएँ हैं जिनमें प्रकृति को आलंबनदृष्टि, कल्पनात्मक पुनःसर्जन, अमूर्त शैली आदि में सूक्ष्म अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। प्रकृति की विविध दृश्यावलियों को भावुकता और कल्पना की संनिधि में प्रस्तुत करने की यह पद्धति कुछ अन्य कवियों में भी लक्षित होती है। गुलाबरत्न वाजपेयी की 'लतिका' (१९२९), शांतिप्रिय द्विवेदी की 'नीरव' (१९२९), उदयशंकर भट्ट की 'राका' (१९३१), नरेंद्र शर्मा की 'शूलफूल' (१९३३) और 'प्रभातफेरी' (१९३८), तारा पांडे की 'सीकर' (१९३४) और 'शुक पिक' (१९३७) और बालकृष्ण राव की 'आभास' (१९३५) इस दिशा में मुख्य उल्लेखनीय रचनाएँ हैं जिनमें अन्यविषयक कविताओं के अतिरिक्त चाँदनी रात, पावसघन, बसंत, प्रसून, चकोर आदि के विषय में अनेक स्फुट कविताएँ भी समाविष्ट हैं। इन सभी पर छायावाद का प्रत्यक्ष प्रभाव रहा है अर्थात् कल्पना, भावुकता आदि के समन्वयपूर्वक प्रकृतिश्री की व्यंजना इनकी विशिष्ट प्रवृत्ति थी। इसी प्रकार गोपालसिंह नेपाली ने भी 'उमंग' (१९३४) और 'रागिनी' (१९३५) की अनेक कविताओं में प्रकृति के आलंबनप्रधान सौंदर्यचित्र अंकित किए हैं। इलाचंद्र जोशी की 'विजनवती' (१९३७), आरसीप्रसाद सिंह की 'कलापी' (१९३८) और गिरिजाशंकर मिश्र 'गिरीश' की 'मंदार' (१९३८) भी इसी शैली की कृतियाँ हैं जिनमें भावुकता और रागात्मक कल्पना से युक्त सूक्ष्म प्रकृतिचित्रण की पद्धति अपनाई गई है। दूसरे शब्दों में, इनमें छायावादी रचनाशिल्प के अनुरूप प्रकृतिश्री का स्वच्छ और संवेदनामूलक चित्रण हुआ है। किंतु, व्यंजनाविशिष्ट प्रकृतिचित्रों के अतिरिक्त इनमें कहीं कहीं द्विवेदीयुगीन परिपाटी के अनुरूप वर्णन-विवरण-बहुल कविताओं को भी स्थान प्राप्त हुआ है। इन कवियों के अतिरिक्त प्रणयेश शुक्ल, मनोरंजन आदि अनेक अन्य कवियों ने भी प्रकृतिचित्रण की ओर आनुषंगिक रूप में ध्यान दिया है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में प्रकृतिकाव्य को प्रथम बार व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का श्रेय इसी युग को प्राप्त है।

अन्य काव्यप्रवृत्तियाँ

छायावाद युग में विभिन्न काव्यरूपों के क्रमविकास के उपर्युक्त विश्लेषण के अनंतर भी कुछ ऐसी काव्यप्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं जिनका पृथक् उल्लेख उचित होगा। अधिकांश कवियों द्वारा ग्रहण न की जाने के फलस्वरूप इन्हें मुख्य नहीं माना जा सकता, तथापि ये स्फुट रूप में ध्यान अवश्य आकृष्ट करती हैं। इनपर निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत विचार किया जा सकता है—अनूदित

कृतियाँ, हास्यव्यंग्यात्मक कविताएँ, रीतिबद्ध कविता, बालकाव्य, चंपूकाव्य, प्रशस्तिपरक काव्य, समस्यापूर्ति काव्य।

अनूदित कृतियाँ

इस युग में काव्यानुवाद की ओर व्यापक ध्यान दिया गया और यथावत् रूपांतरण, समश्लोकी अनुवाद तथा स्वतंत्र भावानुवाद के रूप में विभिन्न पद्धतियाँ अपनाई गईं। सामान्यतः संस्कृत और अंग्रेजी की कृतियों के अनुवाद पर बल दिया गया, किंतु कुछ कवियों ने बँगला, फारसी आदि अन्य भाषाओं की कृतियों को अनूदित करने की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया। विवेचन की सुविधा के लिये विभिन्न भाषाओं की कृतियों का पृथक् पृथक् विश्लेषण उचित होगा।

(क) **संस्कृत से अनूदित काव्य :** इस काल में संस्कृत काव्यों के अनुवाद की दो दिशाएँ निर्धारित की जा सकती हैं—धार्मिक नैतिक काव्य, ललित काव्य। प्रथम वर्ग के अंतर्गत जो कृतियाँ प्रस्तुत की गईं उन्हें अनुवाद कला और लालित्य की दृष्टि से उत्कृष्ट भले ही न कहा जाए, तत्कालीन प्रवृत्ति की बोधक तो वे हैं ही। रघुनंदनप्रसाद शुक्ल द्वारा 'श्रीभगवद्गीता' (१९२२) में गीता का धर्म-प्रचारार्थ सामान्य भाषाशैली में अनुवाद इसका उदाहरण है। इस प्रकार की दूसरी उपलब्ध रचना 'शिवलीलामृत' (१९२५) है जिसे वासुदेव हरलाल व्यास ने शैवोपासना के प्रचारार्थ दोहा चौपाई छंद में प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा में अनूदित किया। मथुराप्रसाद 'मथुरेश' द्वारा 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित कृष्णजन्म की कथा का 'श्यामायन, प्रथम खंड' (१९२६) में ब्रजभाषा में अविकल अनुवाद भी इसी श्रेणी की रचना है। इसी प्रसंग को गोविंद कवि ने 'श्रीमद्भागवत' के दशमस्कंध के पूर्वार्ध के आधार पर 'श्रीकृष्णजन्म' (१९२६) शीर्षक से खड़ी बोली में अनूदित किया। इस वर्ग की एक अन्य रचना 'मूल रामायण' (१९३४) है जिसे राधारमण शर्मा ने पचास छंदों में किंचित् स्वतंत्रतापूर्वक अनूदित किया है। इस धारा के अन्य अनुवादकों में मोहनलाल मिश्र ने 'मोहन गीता' (१९१६) में गीता का अवधी में तुलसी जैसी दोहा-चौपाई-पद्धति में अनुवाद किया है और सर्वसाधारण में गीताप्रचार के उद्देश्य से भाषा की सरलता पर बल दिया है। इसी प्रकार देवीदत्त शुक्ल कृत 'दुर्गा सप्तशती' (१९३८) आख्यानक निबंधकाव्य की शैली में अनूदित कृति है जिसमें भक्ति-भाव की प्रमुखता है। उपर्युक्त धार्मिक काव्यकृतियों के संदर्भ में नीतिमूलक आदर्शवादी कृतियों के अनुवाद की चर्चा अप्रासंगिक न होगी। इस दिशा में दीनानाथ 'अशंक' की दो रचनाएँ उपलब्ध होती हैं—'मणिरत्नमाला' (१९३१) और 'चारुचर्या' (१९३३)। ये क्रमशः शंकराचार्य कृत 'प्रश्नोत्तरी' और

क्षेमेंद्र कृत 'चारुचर्या' की छायानुवाद हैं और इनमें मैथिलीशरण गुप्त की रचना-शैली का अनुकरण करते हुए विभिन्न चरित्रपरिष्कारक उपदेशों को सरल भाषा में व्यक्त किया गया है।

संस्कृत से अनूदित रचनाओं का दूसरा वर्ग ललित काव्य से संबद्ध है। इस दिशा में प्रथम रचना रामयश सिंह द्वारा अनूदित 'भोजप्रबंध' है जिसके पूर्वार्ध का १९२२ ई० में और संपूर्ण कृति का १९३० ई० में प्रकाशन हुआ था। अनुवादशिल्प की दृष्टि से यह एक सरल स्वच्छ रचना है जिसमें मूल कृति के कुछ छंदों को शृंगारिक और असामयिक मानकर छोड़ दिया गया है। इस प्रकार द्विवेदीयुगीन आदर्शवादी परंपरा के प्रभाव को आलोच्य युग की अनूदित कृतियों में भी परिव्याप्त देखा जा सकता है। इसी शैली की एक अन्य रचना 'पद्यरत्नप्रभा (१९२३) में गिरिधर शर्मा नवरत्न ने पंडितराज जगन्नाथ कृत 'भामिनीविलास' के 'अन्योक्तिविलास' प्रकरण की शिक्षाप्रद अन्योक्तियों का सरस अनुवाद किया है। कालिदास की कृतियों के अनुवाद की ओर भी इस युग में यथेष्ट ध्यान दिया गया। केशवप्रसाद मिश्र द्वारा अनूदित 'मेघदूत' (१९२३) भाषा की स्वच्छता की दृष्टि से उल्लेखनीय रचना है। किंतु, भाषा की व्यावहारिकता और स्वच्छंद प्रवाह की ओर सभी कवियों का ध्यान समान रूप में नहीं गया—कुछ अनुवादकों की प्रवृत्ति संस्कृत पदावली के अनुसरण पर क्लिष्ट भाषा के प्रयोग की ओर ही रही। गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' द्वारा 'हिंदी माघ' (१९२८) में 'शिशुपालवध' के प्रथम और द्वितीय सर्गों का भाषांतर इसका उदाहरण है। शिवदत्त त्रिपाठी द्वारा मयूर कवि के सूर्यशतक' (१९३१) का 'छायानुगामी समश्लोकी भाषानुवाद' भी क्लिष्ट पदावली से युक्त है। शृंगारिक रचनाओं के अनुवाद की दृष्टि से इस काल में लालजी मिश्र ने पंडितराज जगन्नाथ कृत 'भामिनीविलास' को 'लालविलास' (१९३२) शीर्षक से अनूदित किया, किंतु भाषालालित्य की दृष्टि से यह एक सामान्य रचना है। कालिदास की रचनाओं के अनुवाद की दिशा में हृषीकेश चतुर्वेदी ने 'समश्लोकी मेघदूत' (१९३३) की ब्रजभाषा में और रामप्रसाद सारस्वत ने 'रघुवंश' (१९३५) की खड़ी बोली में रचना की। क्लिष्ट पदावली और शिथिल छंदविधान के कारण इन दोनों में ही अनुवादकों को सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। इस वर्ग की अंतिम कृति 'गंगालहरी' (१९३८) है जो पंडितराज जगन्नाथ की उक्त कृति का अक्षयवट मिश्र द्वारा किया गया सरल ब्रजभाषा अनुवाद है।

(ख) अंग्रेजी से अनूदित काव्य : इस युग में अंग्रेजी की कुछ काव्य-कृतियों के भी अनुवाद प्रस्तुत किए गए। कालक्रम से इस दिशा में प्रथम कृति रामचंद्र शुक्ल कृत 'बुद्धचरित' (१९२२) है जो एडविन आर्नल्ड के प्रसिद्ध

महाकाव्य 'लाइट आफ एशिया' का स्वतंत्र अनुवाद है। भक्तिपरक दृष्टिकोण, काव्य की सरसता के लिये यत्र तत्र परिवर्तन परिवर्धन और सरस स्वच्छ ब्रजभाषा इसकी उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। इसके उपरांत नगेंद्र ने गोल्डस्मिथ के 'द ट्रैवेलर' का 'भ्रांत पथिक' (१९३२) शीर्षक से अनुवाद किया जिसमें श्रीधर पाठक के 'श्रांत पथिक' के प्रत्यक्ष प्रभाव से मुक्त रहकर भाषानुवाद पद्धति अपनाई गई। दूसरी ओर, श्रीधर पाठक के 'एकांतवासी योगी' के अनुकरण पर गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' ने गोल्डस्मिथ के 'हर्मिट' का 'योगी' (१९३५) शीर्षक से अनुवाद किया। किंतु अनुवादकला की दृष्टि से उनका प्रयास सामान्य कोटि का है। इस दिशा में एक अन्य उल्लेखनीय रचना मिल्टन कृत 'कोमस' का रामनारायण मिश्र द्वारा 'कामुक' (१९३८) शीर्षक से किया गया अनुवाद है। इसमें काव्यनाटक की शैली अपनाई गई है और मुख्यतः खड़ी बोली का प्रयोग करते हुए कुछ प्रसंगों को ब्रजभाषा में भी अनूदित किया गया है।

(ग) **बँगला से अनूदित काव्य :** बँगला के काव्यानुवाद की दिशा में इस काल में विशेषतः मैथिलीशरण गुप्त ने योग दिया। इस दिशा में उनकी प्रथम कृति 'पलासी का युद्ध' (१९२०) नवीनचंद्र सेन के काव्य 'पलाशिर युद्ध' का यथावत् रूपांतरण है जिसमें भावसौरस्य और भाषा के स्वच्छ व्यावहारिक प्रयोग दोनों की ओर ध्यान दिया गया है। इसके उपरांत उन्होंने माइकेल मधुसूदन दत्त कृत 'वीरांगना' का 'वीरांगना' (१९२७) शीर्षक से भावानुवाद किया जिसमें कुछ पौराणिक अथवा ऐतिहासिक व्यक्तियों द्वारा लिखित ग्यारह पत्रों को कल्पना के माध्यम से काव्यशैली में प्रस्तुत किया गया है। इस दिशा में उनकी विशिष्ट उपलब्धि माइकेल मधुसूदन दत्त की कृति 'मेघनादवध काव्य' का 'मेघनादवध' (१९२७) शीर्षक से किया गया अनुवाद है। इसमें मूल कृति की सरलता और ओज की रक्षा में उन्हें प्रशंसनीय सफलता प्राप्त हुई है। यह कहना उचित होगा कि बँगला काव्य के अनुवाद की ओर परवर्ती कवियों का ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय उन्हीं को है। उनके अतिरिक्त इस दिशा में योग देनेवाले दूसरे कवि गिरिधर शर्मा नवरत्न हैं। उनकी 'गीतांजलि' (१९२४) रवींद्र की 'गीतांजलि' का प्रथम हिंदी अनुवाद है जिसमें १०३ कविताओं को गेय पदों में अनूदित किया गया है।

(घ) **अन्य भाषाओं की कृतियों के अनुवाद :** इस काल के कुछ कवियों का ध्यान रूसी, फ्रांसीसी और फारसी कृतियों के अनुवाद की ओर भी गया, किंतु प्रायः उन्होंने इनके रूपांतरण के लिये अंग्रेजी अनुवादों का ही आधार लिया। रघुनंदनप्रसाद शुक्ल का 'स्वतंत्रता पर वीर बलिदान' (१९२१)

शीर्षक खंडकाव्य इसी प्रकार की कृति है जिसकी रचना किसी रूसी कहानी के आधार पर बोलचाल की सरल भाषा में की गई है। इसी प्रकार विद्याभूषण 'विभु' ने फिरदौसी के फारसी ग्रंथ 'शाहनामा' के अंग्रेजी अनुवादों के आधार पर उसके एक खंड को 'सुहराब और रुस्तम' (१९२३) शीर्षक से आठ सर्गों में प्रस्तुत किया है। ओजस्वी और करुणामूलक प्रसंगों का यथावत् रूपांतरण और प्रसाद गुण का निर्वाह इस खंडकाव्य की मुख्य विशेषताएँ हैं। इसी काल में हरिशरण श्रीवास्तव 'मराल' ने फ्रेंच कवि पाल रिचार्ड की कृति के अंग्रेजी अनुवाद 'टु इंडिया, दि मेसेज आफ दि हिमालयाज' का 'हिमगिरि संदेश' (१९२५) शीर्षक से छायानुवाद किया। इसमें अनुवादक ने श्रीधर पाठक की अनुवादपद्धति का अनुसरण करने की चेष्टा की है, किंतु उनकी शैली में वैसा प्रवाह नहीं आ सका है। फारसी के प्रसिद्ध कवि उमर खय्याम की रुबाइयों ने भी इस युग के कवियों का ध्यान आकर्षित किया। इस दिशा में प्रथम कृति मैथिलीशरण गुप्त की 'रुबाइयात उमर खय्याम' (रचना १९२१-२९, प्रकाशन १९३१) है जिसमें उन्होंने राय कृष्णदास से मूल फारसी रुबाइयों के भाव सुनकर तदनुसार छंदरचना की है। इस प्रकार इसमें अनुवाद की अपेक्षा भाषांतर की प्रवृत्ति मुख्य है। रुबाइयों के चयन में भी उन्होंने अपनी काव्यप्रवृत्तियों के अनुरूप प्रेमविलास संबंधी रचनाओं की अपेक्षा नैतिक आध्यात्मिक तत्वों पर बल देनेवाली रुबाइयों को महत्व दिया है। सुमित्रानंदन पंत की 'मधुज्वाल' (रचना १९२९, प्रकाशन १९४६) भी इस दिशा में उल्लेखनीय कृति है। इसमें प्रेम और सौंदर्य संबंधी १५१ संक्षिप्त गीतिमुक्तक हैं। पंत जी ने उर्दू के कवि असगर साहब से मूल फारसी रुबाइयों के भाव सुनकर उनके आधार पर इन्हें अपनी शैली में प्रस्तुत किया है, अतः इस कृति को अनुवाद की अपेक्षा मौलिकतायुक्त रूपांतरण कहना अधिक उचित होगा। इन कवियों के अतिरिक्त खैयाम की रुबाइयों को अनूदित करनेवाले अन्य सभी कवियों ने फिट्जेराल्ड के अंग्रेजी अनुवाद का आधार लिया है। केशवप्रसाद पाठक की 'रुबाइयात उमर खय्याम' (१९३२) इसी प्रकार की रचना है जिसमें प्रत्येक पृष्ठ पर फिट्जेराल्ड का अनुवाद उद्धृत करते हुए उसका हिंदी रूपांतर दिया गया है। इसमें पचहत्तर रुबाइयाँ हैं और भाषा की स्वच्छता तथा मधुरता की दृष्टि से यह एक सफल अनुवाद है। इस क्रम में सर्वाधिक प्रसिद्धिप्राप्त रचना 'बच्चन' कृत 'खैयाम की मधुशाला' (रचना १९३३, प्रकाशन १९३५) है। इसमें भी फिट्जेराल्ड के अंग्रेजी अनुवाद के अनुसार खैयाम की पचहत्तर रुबाइयों को भावानुवादपद्धति से सरस अभिव्यक्ति प्रदान की गई है और प्रत्येक रुबाई के साथ अंग्रेजी रूपांतर को उद्धृत किया गया है। इसी प्रकार रघुवंशलाल गुप्त ने 'उमर

खैयाम की रुबाइयाँ' (१६३८) में खैयाम की बहत्तर रुबाइयों को फिट्जेराल्ड के अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने स्वतंत्र भावानुवाद की पद्धति अपनाकर अपनी शिल्प संबंधी अभिरुचि को प्राथमिकता दी है और कहीं कहीं फारसी की मूल रुबाइयों का भी अवलोकन किया है। इनके अतिरिक्त गिरिधर शर्मा नवरत्न, बलदेवप्रसाद मिश्र और गयाप्रसाद गुप्त ने भी १९३१-३३ की अवधि में उमर खैयाम की रुबाइयों के अनुवाद में रुचि ली थी। वास्तव में इस युग में खैयाम के काव्य के अनुवाद में ही सर्वाधिक रुचि ली गई। तथापि यह उल्लेखनीय है कि उर्दू कवि इकबाल वर्मा 'सेहर' ने शेख सादी कृत 'करीमा' का 'हिंदी करीमा' (१६३७) शीर्षक से अनुवाद किया जिसमें भक्ति और नीति संबंधी चरित्रसंस्कारक भावों को सरल उर्दूमयी भाषा में प्रस्तुत किया गया है तथा भावों के स्पष्टीकरण के लिये कहीं कहीं पादटिप्पणियों में व्याख्या भी दी गई है। अंत में सर्वांशेन दृष्टिपात करने पर इसमें संदेह नहीं रह जाता कि मौलिक रचनाओं की भाँति काव्यानुवाद की पद्धति भी इस काल की एक सशक्त विकासोन्मुखी प्रवृत्ति थी।

हास्य व्यंग्यात्मक कविताएँ

भारतेंदु युग में भारतेंदु और प्रतापनारायण मिश्र ने तथा द्विवेदी युग में बालमुकुंद गुप्त ने हास्यव्यंग्यात्मक कविता का जो स्रोत प्रवाहित किया था उसकी धारा छायावाद युग में भी विकासशील रही। इस युग के प्रमुख व्यंग्यकार हैं— ईश्वरीप्रसाद शर्मा, हरिऔध, 'उग्र', हरिशंकर शर्मा, बेढब बनारसी, बेधड़क बनारसी और कांतानाथ पांडेय 'चोंच'। किंतु, अनेक अन्य कवियों का योगदान भी ध्यान आकृष्ट करता है। ईश्वरीप्रसाद शर्मा की 'चना चबेना' (१९२४) इस दिशा में उपलब्ध प्रथम उल्लेखनीय कृति है जिसमें राजनीति, समाज, गृहस्थी, साहित्य आदि से संबद्ध सामयिक प्रवृत्तियों को लेकर पैंतालीस कविताओं की रचना की गई है। कवि की प्रतिपादन शैली शिष्ट और सुरुचिपूर्ण है, हास्यरस के नाम पर भोंडापन उसमें नहीं है। इस संकलन की अधिकांश कविताएँ खड़ी बोली में रचित हैं, किंतु 'कलियुगी कर्ण', 'सरस्वतीपूजा', 'लंठाशरीमाण' आदि कुछ कविताओं की रचना ब्रजभाषा में की गई है। शर्मा जी के समसामयिक व्यंग्यकारों में हरिऔध कृत 'चोखे चौपदे' (१९२४) शिक्षात्मक व्यंग्य काव्य का अच्छा उदाहरण है। इस काल में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का नाम भी उल्लेखनीय है। 'आज', 'भूत', 'मतवाला' आदि पत्रपत्रिकाओं में उनकी अनेक हास्यव्यंग्यात्मक कविताएँ प्रकाशित हुई थीं जिनमें सामयिक सामाजिक कुप्रथाओं के प्रति सशक्त व्यंग्य मिलता है। इसके साथ ही उन्होंने कुछ पैरोडियों (विडंबन काव्य) की भी रचना की थी। इस अवधि में हरिशंकर शर्मा का कोई स्वतंत्र कवितासंग्रह

तो प्रकाशित नहीं हुआ, तथापि 'चिड़ियाघर' और 'पिंजरापोल' शीर्षक गद्य-रचनाओं में संदर्भवश उनकी कुछ श्रेष्ठ हास्य व्यंग्यात्मक कविताओं को स्थान प्राप्त हुआ है। इनमें तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक परिस्थितियों को लेकर सजीव व्यंग्य किए गए हैं। बेढब बनारसी के व्यंग्य-विनोद-लेखन का आरंभ भी इसी काल में हुआ और समसामयिक पत्रिकाओं में उनकी अनेक कविताएँ प्रकाशित हुईं। उनकी व्यंग्योक्तियों में अकबर इलाहाबादी के व्यंग्यकाव्य के समान प्रखरता मिलती है। विषयवैविध्य के साथ ही भाषा की व्यावहारिकता और शब्दावली की समृद्धि उनकी उल्लेखनीय प्रवृत्तियाँ हैं।

आलोच्य युग के हास्य व्यंग्यकारों ने रचनाशैली की विविधता की ओर भी समुचित ध्यान दिया है। 'प्रेम' कवि कृत 'भालूराम द्यालूराम संवाद' (१९२९) संलाप शैली में रचित है। इसमें शास्त्रार्थ और धार्मिक वितंडावाद के प्रति आख्यान शैली में शिक्षात्मक व्यंग्य प्रस्तुत किया गया है। इसकी रचना सनातन धर्म और आर्यसमाज की विचारधारा के तत्कालीन संघर्ष के प्रति प्रतिक्रियास्वरूप की गई थी। इस वर्ग की एक अन्य कृति 'परिहासप्रमोद' (१९३०) में शिवरत्न शुक्ल ने खड़ीबोली, ब्रजभाषा और बैसवाड़ी बोली में शिक्षात्मक परिहास प्रस्तुत किया है। इसमें कविता और गद्य दोनों की स्फुट रचनाएँ हैं और अधिकतर समकालीन सामाजिक आचार विचार पर विदेशी प्रभाव को लेकर व्यंग्य किए गए हैं। इन्हीं की भाँति कांतानाथ पांडेय 'चोंच' ने भी खड़ी बोली, ब्रजभाषा और बैसवाड़ी बोली की कविताओं को 'चोंच चालीसा' (१९३२) में संकलित किया है। इसमें सामाजिक कुरीतियों और विदेशी अंधानुकरण पर तीक्ष्ण व्यंग्य हैं और कहीं कहीं अंग्रेजी शब्दों के विशिष्ट प्रयोग द्वारा हास्य सामग्री प्रस्तुत की गई है। 'महाकवि साँड़' और 'पानी पाँड़े' (१९३७) भी इनकी इसी शैली की कृतियाँ हैं जिनमें कविताओं के अतिरिक्त कुछ कहानियाँ भी संकलित हैं। इनमें कबीर, नरोत्तमदास आदि की रचनाओं पर कुछ पैरोडियाँ भी प्रस्तुत की गई हैं। इसी प्रकार की एक अन्य व्यंग्यात्मक कृति 'चटशाला' (१९३७) है जिसकी रचना किसी ने 'पोल प्रकाशक' के छद्म नाम से की थी। इसमें 'बच्चन' की 'मधुशाला' और 'मधुबाला' के विरोध में छियासठ शिक्षात्मक व्यंग्यकविताएँ संकलित हैं जिनमें व्यंग्य की अपेक्षा चरित्रनिर्माण पर अधिक बल दिया गया है। ज्वालाराम नागर 'विलक्षण' की 'छायापथ' भी इसी वर्ग की कृति है—इसमें छायावादी रचनापद्धति के प्रति तीक्ष्ण व्यंग्य किए गए हैं।

उपर्युक्त हास्य-व्यंग्य-रचनाओं के अतिरिक्त कुछ स्फुट काव्यसंकलनों में भी इस प्रकार की कविताओं को स्थान प्राप्त हुआ है। पुरोहित प्रतापनारायण कृत 'काव्यकानन' (१९३२) में संकलित 'कविकल्पना' ऐसी ही उत्तम कविता है

जिसमें उपमान संयोजन में कवियों की अनोखी उड़ान पर व्यंग्य किया गया है। कृष्णानंद पाठक की 'प्रपंच प्रकाश' (१६३३) भी इसी वर्ग की रचना है जिसमें उपदेशात्मकता की प्रमुखता होने पर भी कहीं कहीं व्यंग्य प्रवृत्ति लक्षित होती है। इसी प्रकार बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस' ने जिला सीतापुर की देहाती अवधी बोली में लिखित 'चकल्लस' (१६३३) की सामाजिक कविताओं में प्राय: हास्यव्यंग्य का पुट रखा है। किशोरीदास वाजपेयी की ब्रजभाषा रचना 'तरंगिणी' (१६३६) में भी सामयिक सामाजिक प्रवृत्तियों के प्रति तीक्ष्ण व्यंग्य करनेवाले कुछ दोहे संकलित हैं। पैरोडियों की दृष्टि से मनोरंजन कृत 'गुनगुन' (१६३७) के कुछ अंश द्रष्टव्य हैं। इसमें 'जयद्रथ वध', 'भारत भारती' आदि के कुछ छंदों पर सफल पैरोडियों की रचना की गई है। कुल मिलाकर यह कहना उचित होगा कि व्यंग्यकाव्य रचना इस युग की मुख्य प्रवृत्ति न होने पर भी अनेक कवियों द्वारा गृहीत अवश्य थी। इसके साथ ही तत्कालीन पत्रपत्रिकाओं में ऐसी अनेक कविताएँ प्रकाशित हुईं जिनके रचयिता बाद में प्रतिष्ठित व्यंग्यकार सिद्ध हुए। उदाहरणार्थ 'मदारी' और कुछ अन्य पत्रिकाओं में भैया जी बनारसी (मोहनलाल गुप्त) की अनेक तिलमिला देनेवाली व्यंग्य कविताएँ सुलभ हैं। इस युग के एक अन्य उदीयमान कवि बेधड़क बनारसी हैं जिनकी हास्य-व्यंग्य-कला का विकास तथा परिष्कार विशेषत: परवर्ती काल में हुआ।

रीतिबद्ध कविता

प्रस्तुत युग में रीतिकालीन आचार्यों की भाँति रीतिबद्ध ग्रंथरचना स्पष्टत: असामयिक प्रवृत्ति है, तथापि हरिऔध कृत 'रसकलस' (१६३१) इस शैली की महत्वपूर्ण कृति है। उन्होंने आरंभ में विषय से संबद्ध विस्तृत भूमिका देकर काव्यखंड के अंतर्गत नखशिख, नायिकाभेद, रस आदि का विस्तृत विवेचन किया है और गद्य में लक्षण देते हुए ब्रजभाषा काव्य में स्वरचित उदाहरण दिए हैं। उनके लक्षण संक्षिप्त हैं, किंतु उदाहरण एकाधिक और सुसंबद्ध हैं तथा सरस होने के साथ ही कवि के शास्त्रीय ज्ञान के अच्छे परिचायक हैं। नायिकाभेद के अंतर्गत उन्होंने परंपरानिर्वाह के अतिरिक्त परिवारप्रेमिका, जातिप्रेमिका, देशप्रेमिका, जन्मभूमिप्रेमिका, लोकसेविका आदि कुछ नए भेदों का भी निरूपण किया है जो उनकी उल्लेखनीय मौलिकता है। इसी प्रकार हास्यरस के अंतर्गत आलंबन उद्दीपनादि का परंपराबद्ध चित्रण न कर सामयिक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर 'सच्चे साधु', 'नामी नेता', 'साहब बहादुर' आदि हास्य-व्यंग्य-परक कविताओं की रचना की गई है। दूसरे शब्दों में रसविवेचन में उन्होंने आलंबन सामग्री की विविधता और परंपराभिन्न प्रयोगों पर निरंतर बल रखा है।

बालकाव्य

छायावाद युग में बच्चों और किशोरों के लिये सरस, मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद काव्य की रचना की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया गया। इस संदर्भ में 'शिशु', 'बालसखा', 'खिलौना', 'बालक', 'वानर', 'बालविनोद' आदि पत्रिकाओं का योगदान अविस्मरणीय है। इस युग में बालकाव्य की रचना करनेवाले कवियों में हरिऔध (बालविलास १९२५, बालविभव १९२८), रामनरेश त्रिपाठी, गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', सोहनलाल द्विवेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, श्रीनाथ सिंह, व्यथित हृदय, श्यामनारायण पांडेय, आरसीप्रसाद सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने ऐतिहासिक पौराणिक आख्यानों, लोककथाओं, परीकथाओं आदि पर आधारित सरल आख्यानक बालकविताओं के अतिरिक्त बालक के व्यक्तित्वविकास की दृष्टि से प्रकृति, नीति, भक्ति, देशप्रम आदि से संबद्ध अनेकानेक स्फुट कविताओं की रचना की। इस अवधि की सभी बालोपयोगी काव्यकृतियों का उल्लेख विषय का विस्तार मात्र होगा, अतः कुछ प्रमुख कृतियों का उल्लेख पर्याप्त होगा। इस दृष्टि से शिवदुलारे त्रिपाठी कृत 'नूतन छात्रशिक्षा' (१९१८) में विशेषतः नीतिपरक कविताएँ हैं, रूपनारायण पांडेय कृत 'बालशिक्षा' (१९१९) में भी विभिन्न छंदों में शिक्षाप्रद नैतिक विषयों पर कविताएँ हैं तथा रामलोचन शर्मा 'कंटक' कृत 'मोदक' (१९२६ ई०) और चंद्रबंधु कृत 'बालसुधार' (१९३५ ई०) भी नीतिपरक कविताओं के रोचक संकलन हैं। नीति की भाँति कुछ कवियों ने भक्तिपरक विषयों पर बालकविताओं की रचना की ओर भी ध्यान दिया—कामताप्रसाद वर्मा कृत 'बाल-विनय-माला' (द्वितीय सं०, १९३२) ऐसी ही उल्लेखनीय कृति है। कुछ कवियों ने पशुपक्षियों को लेकर भी स्फुट सरल कविताओं की रचना की जिनका मूल उद्देश्य मनोरंजन और शिक्षादान था। भूपनारायण दीक्षित कृत 'खिलवाड़' (१९२९) ऐसी ही कृति है। वैसे, किसी एक विषय को प्रमुखता देनेवाली कविताओं की तुलना में इस युग में विविधविषयक बालकविताओं के संकलन अधिक प्रकाश में आए। गणेशराम मिश्र कृत 'खेल के ताने' (१९११), सोहनलाल द्विवेदी कृत 'मोदक' (१९३२) और रामेश्वर 'करुण' कृत 'बाल गोपाल' (१९३६) ऐसी ही रचनाएँ है जिनमें ऋतुवर्णन, राष्ट्रीय जागरण, नैतिक मानदंडों आदि का सरल व्यावहारिक भाषा में प्रेरणाप्रद वर्णन हुआ है। कुछ कवियों की प्रवृत्ति पद्यबद्ध कथाओं के लेखन की ओर भी रही। देवीदत्त शुक्ल कृत 'बाल-कविता-माला' (१९१९) और 'बाल-कथा-मंजरी' (१९३१), सुदर्शनाचार्य कृत 'चुन्नू मुन्नू' (१९३२), लक्ष्मीदत्त चतुर्वेदी कृत 'भैंसासिंह' (१९३३) और देवीदयाल चतुर्वेदी कृत 'बिजली'

(१९३७) ऐसी ही कृतियाँ हैं जिनमें पुराण, इतिहास आदि के प्रसिद्ध पात्रों, वीरांगनाओं आदि की जीवनकथा को सरल संवादयुक्त अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। इस युग के अन्य बालकाव्य रचयिताओं में रामनरेश त्रिपाठी ने राष्ट्रीय चेतना और लोकजीवन का चित्रण करनेवाली अनेक कविताओं की रचना की जो तत्कालीन बालपत्रिकाओं में सुलभ हैं। विद्याभूषण 'विभु', स्वर्ण सहोदर, ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' आदि की कविताएँ भी पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं जिनमें अनुभूति की विविधता, पारिवारिक स्नेह, हास्यरस, अद्भुत तत्व आदि का समावेश है। खेल खिलौनों से संबद्ध कविताओं की रचना की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया गया। इसी प्रकार समूहगीतों की रचना भी एक उल्लेखनीय प्रवृत्ति है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस युग में रोचक, सरल और कौतूहलवर्धक बालसाहित्य की रचना की ओर व्यवस्थित रूप में ध्यान दिया गया।

चंपूकाव्य

इस युग में अनूप शर्मा ने 'फेरि मिलिबौ' (१९३८) शीर्षक चंपूकाव्य की रचना की जिसमें ब्रजभाषा गद्य और पद्य का स्वच्छ प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत श्रृंगारकाव्य में कुरुक्षेत्र में द्वारकावासी कृष्ण और रुक्मिणी के राधा से मिलन का भावात्मक शैली में ललित वर्णन हुआ है। आधुनिक कृष्णकाव्य में इस कृति को भावना और शिल्प दोनों की दृष्टि से समादर प्राप्त है। इसके अतिरिक्त आलोच्य युग में इस काव्यविधा के अंतर्गत अन्य किसी कवि की कृति उपलब्ध नहीं है।

प्रशस्तिकाव्य

इस अवधि में राजप्रशस्ति और कविप्रशस्ति की ओर भी सामान्य रूप में ध्यान दिया गया। यद्यपि इस समय राजाश्रित कवियों की रीतिकाल जैसी परंपरा नहीं थी, तथापि उसका सर्वथा लोप नहीं हुआ था। किसी रियासत के अधीश्वर को अपनी रचना समर्पित करने की परंपरा इस युग में प्रत्यक्षतः विद्यमान थी, किंतु किसी ऐसे व्यक्ति को लक्षित कर राजस्तुतिपरक काव्य की रचना की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। इस दिशा में दतिया के राजकवि काशीप्रसाद की संक्षिप्त ब्रजभाषा कृति 'गोविंदप्रकाश' (१९३२) ही उपलब्ध है जिसमें दतिया नरेश श्री गोविंदसिंह द्वारा शेर के शिकार का संक्षेप में वर्णन कर उनका गुणगान किया गया है। कविप्रशस्ति को लेकर इस प्रकार का कोई स्वतंत्र काव्य प्रकाशित नहीं हुआ, किंतु काव्यसंकलनों में ऐसी स्फुट कविताएँ प्रायः स्थान पाती रहीं। वियोगी हरि की 'वीर सतसई' (१९२७) में 'वीर कवि' शीर्षक के अंतर्गत शौर्यवर्णन करनेवाले कवियों की प्रशस्ति इसका उदाहरण है।

'कविकिंकर' की 'सुधासरोवर' (१९२८) में भी तुलसी और बिहारी पर प्रशस्तिपरक कविताओं का समावेश है। गुलाबरत्न वाजपेयी ने भी 'लतिका' (१९२९) में पूर्ववर्ती कवियों की स्मृति में कुछ कविताओं को स्थान दिया है। इसी प्रकार पुरोहित प्रतापनारायण ने 'काव्यकानन' (१९३२) में वाल्मीकि की महिमा को वाणी दी है। स्पष्ट है कि यह इस युग की प्रतिनिधि काव्यप्रवृत्ति नहीं है, किंतु इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

समस्यापूर्ति काव्य

द्विवेदी युग की भाँति इस युग में भी समस्यापूर्ति काव्य की परंपरा प्रचलित रही। कविसंमेलनों में समस्यापूर्ति का आयोजन समारोहपूर्वक होता था और कभी कभी ऐसे अवसरों पर पठित कविताओं के संकलन भी प्रकाशित किए जाते थे। इस दिशा में सर्वप्रथम उपलब्ध कृति गोपालदत्त पंत द्वारा संपादित 'कविता कुसुम' (१९२६) है जिसमें नागरीप्रचारिणी सभा, बुलंदशहर द्वारा तुलसीदिवस पर आयोजित संमेलन में पठित समस्यापूर्तियाँ संगृहीत हैं। इस अवसर पर 'बरसो घनश्याम इसी बन में', 'जय जानकीजीवन हरे' आदि विषयों पर समस्यापूर्तियाँ की गईं। दूसरी उपलब्ध कृति अवधबिहारी माथुर द्वारा संपादित 'कविकेलि' (१९२७) है जिसमें ग्वालियर में १९२७ ई० में आयोजित कविसंमेलन में पठित समस्यापूर्तियाँ संकलित हैं। इसमें समस्यापूरण के लिये निम्नलिखित विषयों का निर्धारण किया गया था—'राय रामचंद्र आए हैं', 'चित्रसारी में', 'प्रेम के पुजारी हैं', 'लूट लै गई'। इसी प्रकार की एक कृति द्वारकेश कविमंडल, काँकरोली की ओर से १९३१ ई० में आयोजित बारह अधिवेशनों में पठित समस्यापूर्तियों का संकलन 'कविता कुसुमाकर' (१९३२) है। इसमें समस्यापूर्ति के लिये संस्कृत के बीस और हिंदी के पच्चीस विषयों को ग्रहण किया गया है। आर्यकुमार सभा, लखनऊ द्वारा १९३२ में आयोजित कविसमेलन में पठित समस्यापूर्तियों और स्वतंत्र कविताओं का संकलन 'कविता निकुंज' (१९३३) भी इसी श्रेणी की रचना है। इसमें समस्यापूरण के लिये निर्धारित विषय थे : 'हमारे हैं', 'बरसाने में' और 'कल हैं'। उपर्युक्त समस्यापूर्ति संग्रहों में कवित्व के स्तर की दृष्टि से 'कविता कुसुमाकर' ही सराहनीय है। इन संग्रहों में प्रायः स्थानीय कवियों की रचनाएँ संकलित हैं जिनमें से कालांतर में किसी को भी काव्यक्षेत्र में महत्व प्राप्त नहीं हो पाया। वस्तुतः प्रतिष्ठित कवि इस ओर आकर्षित नहीं होते थे—इसीलिये 'कविता निकुंज' में जहाँ सामान्य कवियों की समस्यापूर्तियाँ हैं वहाँ 'निराला', सुमित्रानंदन पंत और 'अंचल' द्वारा पठित स्वतंत्र कविताएँ भी संकलित हैं। इससे यह निष्कर्ष प्राप्त करना असंगत न होगा कि प्रायः समस्यापूरण को मनोविनोद और चमत्कारप्रदर्शन के रूप में ही

ग्रहण किया जाता था। एक अन्य उल्लेखनीय प्रवृत्ति यह है कि समस्यापूर्ति काव्य की रचना ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में की गई। इस प्रकार के आयोजन जनता की काव्याभिरुचि का संवर्धन करने और नए कवियों को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। किंतु, इस अवधि में काव्यक्षेत्र में जिन स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा हुई थी, उनका समस्यापूर्ति संग्रहों में विषय और शैली किसी भी दृष्टि से प्रभाव लक्षित नहीं होता।

मूल्यांकन

इस युग के काव्यरूपों और काव्यशैलियों के विश्लेषण से इसमें संदेह नहीं रह जाता कि छायावाद की नवीन भावचेतना और शिल्पमाधुर्य के संपर्क में आकर भी अनेक कवि द्विवेदीयुगीन रचनापरंपरा के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके। यह प्रभाव विशेषतः आख्यानकाव्यों में व्यक्त हुआ जहाँ अधिकांश कवि 'हरिऔध' और मैथिलीशरण द्वारा प्रस्तुत किए गए मानदंडों में ही काव्यकला की आदर्श परिणति मानते रहे। मुक्तक काव्य के क्षेत्र में भी द्विवेदीयुगीन शैली का व्यापक प्रभाव लक्षित होता है। गौरीशंकर द्विवेदी, दामोदरसहाय सिंह, 'कविकिंकर', भगवतीलाल वर्मा 'पुष्प', पुरोहित प्रतापनारायण, गौरीशंकर झा, रसराज नागर आदि कवियों का उल्लेख इस दृष्टि से अप्रासंगिक न होगा। इन कवियों ने भक्तिभाव, सामाजिक चेतना की नीतिमूलक प्रतिपत्ति, जातीयतापरक राष्ट्रीय भावना आदि को प्रायः द्विवेदीयुगीन रचनाशिल्प के अंतर्गत प्रस्तुत किया है। सामान्यतः इन्हें छायावादी काव्य की अव्यक्त वेदना, स्वप्नकल्पना, दुरूह शैली आदि ग्राह्य नहीं थीं। यदि ये दो चार कविताओं में इस पद्धति के संस्पर्श से न भी बच सके हों तो भी इनकी कविता का मूल स्वर पिछले खेवे की कविता के अनुकूल ही रहा है। किंतु, इनकी गणना इस युग के प्रतिनिधि कवियों में नहीं की जा सकती। कारण स्पष्ट है—बदलते हुए साहित्यिक परिवेश और मौलिकता की साधना के प्रति ये कवि जागरूक नहीं थे। दूसरी ओर, प्रसाद आदि प्रमुख छायावादी कवियों की काव्यप्रवृत्तियों ने भी अनेक कवियों का ध्यान आकृष्ट किया। ऐसे कवियों ने कल्पना की प्रबलता, प्रकृति का मानवीकरण, वैयक्तिक चेतना की रागात्मक अभिव्यक्ति, वर्णनात्मकता की अपेक्षा भावव्यंजना पर बल, भाषा की सांकेतिकता आदि छायावादी प्रवृत्तियों को आग्रह के साथ स्वीकार किया। इस प्रभाव को कहीं सौंदर्यमूलक भावव्यंजना के क्षेत्र में ग्रहण किया गया और कहीं इसकी अभिव्यक्ति केवल शिल्पसंयोजना तक ही सीमित रही। प्राचीन और नवीन काव्यप्रवृत्तियों के इस सहविकास के कुछ परिणाम अनिवार्यतः सामने आए। उदाहरणार्थ, केवल पौराणिक ऐतिहासिक विषयों की ओर प्रवृत्त न

रहकर कविगण युगीन समस्याओं की ओर भी उन्मुख हुए जिससे मानववादी दृष्टि, सामाजिक चेतना और सौंदर्यभावना को एक ही मनोभूमि में देखना संभव हुआ। प्रबंधकाव्य और गीतिकाव्य का समनुरूप विकास भी इसी प्रभाव का सूचक है। खड़ी बोली के वेगपूर्ण प्रवाह में व्रजभाषा की धारा का लुप्त न होना और प्रचलित छंदों के अतिरिक्त रुबाई, सॉनेट, मुक्त छंद आदि का विकास भी इसी का परिणाम है। इसी प्रकार संस्कृत काव्य की तुलना में पाश्चात्य कृतियों के अनुवाद की ओर अधिकाधिक उन्मुख होना भी इसी प्रभावप्रक्रिया की देन है। सूक्ष्म विश्लेषण करने पर समानांतर विकास की सूचक ऐसी ही कुछ अन्य काव्यप्रवृत्तियों को निर्धारित करना भी कठिन न होगा।

उत्कर्षकालीन कविता : प्रवृत्तिविश्लेषण

उत्कर्षकाल में जहाँ हरिऔध, रत्नाकर, मैथिलीशरण प्रभृति कवियों ने मुख्य रूप से परंपरागत काव्यपद्धति का निर्वाह किया वहाँ छायावाद के प्रभाव-प्रसार के अंतर्गत अनेक कवि नवीन काव्यप्रवृत्तियों की ओर भी उन्मुख हुए। प्राचीन और नवीन परिपाटी की काव्यधाराओं के समानांतर विकास और उनके प्रवृत्तिगत अंतर के निर्धारण में कल्पना, वैयक्तिकता, काव्य की माध्यम भाषा, बिंबविधान की सूक्ष्मता, प्रबंधत्व से प्रगीत की ओर विशिष्ट प्रवृत्ति आदि अनेक तत्वों की मुख्य भूमिका रही। वैसे, इस युग की उल्लेखनीय काव्यप्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता, छायावादी काव्यधारा, प्रेमानुभूति संबंधी कविताएँ, हास्यव्यंग्यात्मक रचनाएँ, व्रजभाषाकाव्य, बालकाव्य, उर्दू काव्यधारा। उत्कर्षकालीन कवियों की प्रवृत्तिगत उपलब्धियों अनुपलब्धियों के मूल्यांकन के लिये क्रमशः इन्हीं को संदर्भस्वरूप ग्रहण करना होगा।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता

प्रस्तुत युग में राष्ट्रीय सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति की ओर व्यापक ध्यान दिया गया। द्विवेदी युग में 'भारत भारती' जैसी कृतियों में अतीत के गौरवगान, मातृभूमि महिमा, राष्ट्रध्वज वंदना आदि के रूप में राजनीतिक परिवेश का जैसा अभिधामूलक इतिवृत्तात्मक चित्रण प्रचलित था उसे यद्यपि कुछ कवियों ने इस कालखंड में भी तद्वत् ग्रहण किया, तथापि इस युग का वैशिष्ट्य देशभक्ति की गरिमापूर्ण व्यंजना, मध्ययुगीन इतिहास के अनुरूप ओज की अभिव्यक्ति, विश्वमानवता की कल्पना और शीशबलिदान की प्रेरणा में निहित है। इस संदर्भ में कवियों के सात्विक देशप्रेम और संवेदनशील मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति मुक्तक कविताओं, नाटकगत गीतों और आख्यानकाव्यों में समान रूप में हुई है। इसी प्रकार रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, अरविंद, गांधी और रवींद्र से प्रेरणा

लेकर अनेक कवियों ने देश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की काव्यात्मक अभिव्यक्ति में भी रुचि ली। इस दृष्टि से ये कवि मानवकरुणा और लोकमंगल की गरिमामयी अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त हुए और इन्होंने सूक्ष्म अनुभूति, कल्पना आदि के आधारपूर्वक द्विवेदीयुगीन जीवनमूल्यों का परिष्कार किया। इसीलिये इनकी रचनाओं में रूढ़ियों से मुक्त होने की आकांक्षा, सांप्रदायिक एकता, अस्पृश्यता निवारण, ग्रामशिल्प के महत्व की स्वीकृति, आत्मविश्वास की अनुभूति आदि को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। नारीजागरण की पृष्ठभूमि में पुराणप्रथित नारियों के प्रति नमन, इतिहासप्रसिद्ध वीरांगनाओं का चित्रण और नारीजीवन की विषमताओं का विश्लेषण भी इन कवियों को प्रिय रहा है। किंतु उच्च आदर्शों पर बल देते हुए भी इनका लक्ष्य केवल सामूहिक जनजागृति के लिये वातावरण प्रस्तुत करना नहीं था। फलस्वरूप तत्कालीन सामाजिक परिवेश का चित्रण करते समय इन्होंने एक ओर भविष्य के स्वर्णिम चित्रों की कल्पना की है और दूसरी ओर वैयक्तिक मूल्यों को भी ध्यान में रखा है।

छायावादी काव्यधारा

छायावाद प्रस्तुत कालखंड की अन्यतम काव्यप्रवृत्ति है जिसके अंतर्गत सूक्ष्मतरल कल्पना, नवीन सौंदर्यराग, रहस्यवादी साधना, बहुरंगी शिल्पयोजना आदि का अपूर्व समावेश है। पूर्ववर्ती कविता की तुलना में इस काव्यधारा में विषयवैविध्य और मौलिकता पर अधिक बल रहा, परिणामस्वरूप अधिकांश कवियों के काव्य में अनुभूति की व्यापकता और प्रखरता विद्यमान है। किंतु छायावादी कविता में 'अनुभूति' का अर्थ वस्तुपरकता नहीं है, अपितु उसमें भावुकता, वैयक्तिकता, संवेदनशीलता, मूल्यनिष्ठता आदि का अंतःप्रसार है। इस धारा के कवियों ने विषय का इतिवृत्तात्मक निरूपण न कर भावविश्लेषण में उन्मुक्त कल्पना को महत्व दिया। इसी प्रकार सौंदर्य के स्थूल चित्र अंकित करने के स्थान पर इन्होंने मनोविज्ञान के संदर्भ में अंतर्मुखी सौंदर्य का चित्रण किया। अर्थात् मांसल सौंदर्य की आलंकारिक अभिव्यक्ति के साथ इन्होंने मानव-आत्मा के सौंदर्यचित्रण की ओर भी ध्यान दिया। इन चित्रों में जहाँ पंत जैसे कवि कोमलता और माधुर्य के प्रति उन्मुख रहे वहाँ निराला के सौंदर्यचित्रों में ओज की दीप्ति भी विद्यमान है। सौंदर्य की रागात्मक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ये कवि प्रकृति के आलंबनात्मक चित्रण की ओर विशेषतः उन्मुख रहे। प्रकृति का मानवीकरण, विभिन्न प्रकृतितत्वों के प्रति रागदृष्टि और इस दिशा में उदात्त सौंदर्यकल्पना इसी का परिणाम है। यद्यपि कुछ कवियों ने प्रकृति के सरल चित्र भी प्रस्तुत किए, तथापि मूर्त प्रकृतिरूपों की अमूर्त भावों से तुलना अथवा अमूर्त भावों के स्पष्टीकरण के लिये प्रकृतिक्षेत्र से मूर्त उपमानों का विधान अनेक

कवियों को प्रिय रहा। फलस्वरूप इन्होंने चिरपरिचित नैसर्गिक दृश्यों को भी नवीन भूमिका प्रदान करने में सफलता प्राप्त की। प्रकृतिक्षेत्र में अव्यक्त ब्रह्म की सूक्ष्म अंतर्व्याप्ति का चित्रण भी अनेक कवियों ने किया है। वास्तव में भारत की चिरपरिचित दार्शनिक प्रभावपरंपरा में सर्ववाद, रहस्यसाधना, शैवागम के आनंदवाद आदि का प्रतिपादन छायावाद की सामान्य विशेषता है। इस संदर्भ में साधक की विरहानुभूति अथवा वेदना का चित्रण भी इस युग की उल्लेखनीय प्रवृत्ति है जिसकी अभिव्यक्ति विशेषतः महादेवी के काव्य में हुई। दूसरी ओर, निराला, पंत प्रभृति कवियों ने अंग्रेजी की रोमांटिक काव्यधारा से भी प्रत्यक्ष रूप में प्रभाव ग्रहण किया। पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप इन कवियों ने वैयक्तिक मूल्यों की अभिव्यक्ति, अंतर्मुखी प्रवृत्ति, सूक्ष्म रागात्मक सौंदर्यदृष्टि, अतींद्रियता, अनुभूतिपरिष्कार, अभिव्यक्ति की नवीन भंगिमाओं आदि को रुचिपूर्वक अपनाया। कीट्स, शेली आदि अंग्रेजी कवियों की स्वच्छंदतावादी कविताओं के प्रभावस्वरूप इन्होंने भावयोजना में रम्य और अद्भुत तत्वों के संयोग अथवा लालित्य और ओज के समनुरूप विधान की ओर भी ध्यान दिया। इस प्रकार छायावादी कवि एक ओर भारतीय काव्यदृष्टि के अनुरूप रस और ध्वनि के प्रति आस्थावान् रहे और दूसरी ओर उनपर पश्चिम की रोमानी काव्यप्रवृत्तियों का दीर्घ काल तक प्रभाव रहा।

भावविन्यास संबंधी विविधता और समृद्धि के साथ प्रस्तुत युग का कविकृतित्व काव्यरूप और काव्यशिल्प की दृष्टि से भी अपूर्व है। इस युग का कवि घटनाक्रम की विवरणात्मक प्रस्तुति तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु पूर्ववर्तियों की तुलना में उसने मानवचेतना की अभिव्यक्ति और भाषापरिष्कार की ओर कहीं अधिक ध्यान दिया। 'कामायनी' और 'तुलसीदास' इस दृष्टि से इस युग की सर्वोत्तम उपलब्धियाँ हैं। इसी प्रकार मुक्तक कविताओं में भी नवीन विषयों के संयोजन और शैलीपरिष्कार पर बल दिया गया। वैसे, इस युग की उल्लेखनीय उपलब्धि प्रगीतकाव्य है जिसमें कल्पना की रम्यता, वैयक्तिकता, भावात्मक तरलता, संगीतात्मकता और शोकगीति, पत्रगीति प्रभृति रचनाप्रकारों की विविधता को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। भाषापरिष्कार की दृष्टि से भी यह पूर्ण उत्कर्ष का युग था। छायावादी कवियों ने सूक्ष्म संश्लिष्ट चित्रयोजना, रंगवैभव, कोमल विराट् शब्दचित्रों में भावानुसार कल्पना अथवा आवेश के समाहार, विशेषण, समास, संधि आदि के प्रयोग द्वारा नवीन अर्थव्यंजना, वक्रता, लाक्षणिकता, प्रतीकविधान, ध्वन्यात्मकता आदि के द्वारा काव्यभाषा के रूप में खड़ी बोली का अद्भुत विकास परिष्कार किया। इसी प्रकार अलंकार को बाह्य शोभा का साधन मात्र न मानकर अनेक कवियों ने भावसमृद्धि में उसकी महत्वपूर्ण

भूमिका मानी। सौंदर्यदृष्टि की भिन्नता के अनुरूप अलंकारों की विविधता, नवीन उपमानों की सार्थकता, वक्रोक्तिजनित भंगिमा आदि के प्रति प्रसाद आदि कवियों में निश्चय ही जागरूक कविदृष्टि मिलती है। छंदसंयोजन के क्षेत्र में भी इस युग में अनेक मौलिक प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। सामान्यतः कवियों ने वर्ण, मात्रा, यति आदि के परंपरागत नियमों का निर्वाह करने पर भी उन्हें अपरिवर्तनीय नहीं माना। उदाहरणस्वरूप विभिन्न छंदों के शास्त्रोक्त नियमों के परस्पर समंजन द्वारा नवीन छंदों की रचना और उर्दू, अंग्रेजी तथा बँगला छंदों से प्रभाव ग्रहण कर नवीन छंदों की सृष्टि अथवा उनका यथावत् प्रयोग पंत, निराला प्रभृति कवियों की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ हैं। मुक्त छंद, अतुकांत पद्धति, लोकगीतों की शैली के अनुवर्तन आदि से भी कुछ कवियों के छंदविधान में वैशिष्ट्य का समावेश हुआ है। इसी प्रकार कोमल और विराट् भावचित्रों के अनुरूप नादसौंदर्य में विविधता लाकर भी कवियों ने छंदविधान कौशल का परिचय दिया है।

प्रेमानुभूति संबंधी कविताएँ

प्रस्तुत युग में प्रेम और सौंदर्य संबंधी कविताओं की रचना तीन वर्गों में हुई—एक ओर कुछ कवियों ने रूपचित्रण, प्रेमव्यंजना, संयोग-वियोग-जनित मनोदशादि की अभिव्यक्ति के लिये रीतिकालीन शृंगारकाव्य की परंपरा में दोहों और कवित्तों की रचना की, दूसरी ओर छायावादी कवियों ने 'पल्लव', 'परिमल', 'लहर' आदि कृतियों में सौंदर्य और प्रेम के सरस चित्र अंकित किए और तीसरी ओर बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, अंचल, नरेंद्र शर्मा आदि कवियों ने नवप्रवर्तित वैयक्तिक काव्यधारा के अंतर्गत प्रेमानुभूति संबंधी कविताओं की स्वतंत्र रूप में रचना की। इन तीनों में अनुभूति और अभिव्यक्ति की दृष्टि से पर्याप्त अंतर है—जहाँ ब्रजभाषाकवियों ने आलंबनादि की चेष्टाओं का परंपरागत पद्धति से स्फुट चित्रण किया वहाँ छायावादी कवियों ने प्रेमभाव की व्यंजना के लिये भाषाशैली की सांकेतिकता को महत्व दिया। इस संदर्भ में निराला और पंत पर अंग्रेजी की रोमानी काव्यधारा का भी प्रभाव रहा और प्रायः उन्होंने प्रकृति पर शृंगारचेतना के आरोपपूर्वक अपने भावों को प्रच्छन्न रूप में व्यक्त किया। किंतु, प्रेमानुभूति को विशिष्ट स्वर प्रदान करने पर भी छायावादी कवियों ने उसे एकमात्र अथवा प्रमुख काव्यप्रवृत्ति के रूप में ग्रहण नहीं किया। उनकी तुलना में वैयक्तिक काव्यधारा के कवि इस ओर अधिक उन्मुख रहे उनकी प्रेमकविताओं में उमर खैयाम की रुबाइयों, प्रेम और मस्ती के राग से आप्लावित उर्दू काव्यधारा और छायावादी प्रेमव्यंजना का संमिलित प्रभाव व्यक्त हुआ। अंत में प्रेमानुभूति संबंधी उपर्युक्त तीनों काव्यसरणियों के संबंध में यह कथन

उचित होगा कि इस युग में न तो रीतिकाल जैसी स्थूल भोगवादी दृष्टि अपनाई गई और न ही द्विवेदीयुगीन नैतिकता के अंकुश को स्वीकार किया गया, अपितु कवियों की दृष्टि प्रायः प्रेमतत्व के रागात्मक उन्नयन पर केंद्रित रही ।

हास्यव्यंग्यात्मक रचनाएँ

उत्कर्षकालीन काव्यप्रवृत्तियों में हास्यव्यंग्य का गौण स्थान रहा, तथापि कुछ कवियों ने केवल इसी शैली के कवितासंकलन प्रस्तुत किए और कुछ अन्य ने विविधविषयक कवितासंग्रहों में व्यंग्य कविताओं को भी स्थान दिया। इस धारा के कवियों ने अधिकतर समसामयिक समाज की दुर्बलताओं पर व्यंग्य किए हैं जो या तो विदेशी प्रवृत्तियों के अंधानुकरण आदि को लेकर व्यक्तिपरक हैं अथवा धार्मिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों, पारिवारिक स्थितियों आदि के संदर्भ में प्रवृत्ति-विश्लेषक हैं। कुछ कवियों ने तत्कालीन साहित्यिक राजनीतिक वातावरण के प्रति प्रतिक्रियास्वरूप स्फुट व्यंग्यरचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं, किंतु ऐसी कविताओं की संख्या अधिक नहीं है। सामान्यतः इस युग के व्यंग्यकारों की दृष्टि शिक्षात्मक व्यंग्यकविताओं की ओर रही है जिनमें विवरणबद्धता और अभिव्यंजना की स्थूलता की प्रमुखता है, किंतु कुछ कविताओं और परिवृत्तियों में समग्र रूप में अथवा अंशतः व्यंग्य का तीखापन भी विद्यमान है। इस काव्यधारा की एक अन्य प्रवृत्ति माध्यम भाषा की विविधता है। वैसे तो कवियों ने अधिकतर खड़ी बोली में कविताएँ लिखी हैं जिनमें प्रतिक्रियाविशेष पर बल देने के लिये यत्र तत्र अंग्रेजी शब्दों और काव्यपंक्तियों का भी प्रयोग हुआ है, किंतु कुछ कवियों ने ब्रजभाषा, अवधी और बैसवाड़ी में भी व्यंग्यकाव्य की रचना की है जो भाषागत वैशिष्ट्य के कारण अत्यंत मार्मिक बन पड़ा है।

ब्रजभाषा काव्य

आलोच्य युग में खड़ी बोली की तुलना में ब्रजभाषा की मंथर विकासयात्रा भी सहज ही ध्यान आकृष्ट कर लेती है। यद्यपि काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा और खड़ी बोली में से किसी एक की प्रतिष्ठा का द्विवेदीयुगीन द्वंद्व अब प्रायः समाप्त हो गया था और ब्रजभाषा की पुनर्स्थापना विगत की बात हो गई थी, तथापि ब्रजभाषा के प्रति अनुराग और श्रद्धा रखनेवाले कवियों और सहृदयों की कमी नहीं थी। वैसे भी, इस युग के ब्रजभाषाकवियों में हरिऔध, रत्नाकर, सनेही, वियोगी हरि, अनूप शर्मा, दुलारेलाल भार्गव, रामेश्वर 'करुण' आदि के कृतित्व को केवल परंपरावादी नहीं कहा जा सकता—इन्होंने भावव्यंजना और शिल्प दोनों की दृष्टि से किंचित् नवीनताओं के समावेश पर दृष्टि रखी है। इनकी काव्यकृतियाँ केवल पौराणिक और ऐतिहासिक वृत्तनिरूपण तक सीमित नहीं हैं,

अपितु इन्होंने समकालीन सामाजिक जागृति, राष्ट्रीय उद्बोधन, विश्वमानवता, मानवीकरणपरक प्रकृतिचित्रण आदि की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया है। वास्तव में उत्कर्ष काल के ब्रजभाषा कवियों ने भक्तिकाल और रीतिकाल के प्रभाववश जहाँ भक्ति-नीति-काव्य, रीतिकाव्य, शृंगारकाव्य, प्रशस्तिकाव्य, समस्यापूर्ति काव्य आदि की रचना की वहाँ खड़ी बोली की समकालीन काव्यप्रवृत्तियों को भी उदारतापूर्वक ग्रहण किया—यह दूसरी बात है कि इस शैली की कविताएँ परिमाण में कम हैं। काव्यरूपों की विविधता और ब्रजभाषा के भाषा संबंधी प्रतिमानों के निर्वाह की ओर भी इन कवियों का उपयुक्त ध्यान रहा है।

बालकाव्य

प्रस्तुत युग में बालकाव्य की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया गया। इस संदर्भ में जहाँ गिरीश, श्रीनाथ सिंह, व्यथित हृदय आदि ने मुख्य रूप से बालकों और किशोरों के लिये ही साहित्यरचना की वहाँ हरिऔध, रामनरेश त्रिपाठी, सोहनलाल द्विवेदी प्रभृति कवि अन्य काव्यप्रवृत्तियों के साथ इस ओर भी उन्मुख हुए। बालकविताओं की रचना दो रूपों में हुई— एक तो पौराणिक ऐतिहासिक आख्यानों और पशु-पक्षी-जगत् से संबद्ध कल्पित कथाओं को सरल शैली में प्रस्तुत किया गया और दूसरे, बालजगत् से संबद्ध विभिन्न विषयों पर आख्यानमुक्त संक्षिप्त कविताएँ लिखी गईं। विषयवैविध्य के अनुरूप इनमें रचनादृष्टि की विविधता को भी सहज ही लक्षित किया जा सकता है। वैसे, इनमें दो बातों पर अधिक बल रहा है—मनोरंजन और जीवनोपयोगी शिक्षा। मनोरंजनप्रधान कविताओं में हास्यरस, प्रकृतिसौंदर्य, पशुपक्षियों से संबद्ध कल्पनाओं, खेल खिलौनों से संबद्ध भावनाओं आदि को स्थान प्राप्त हुआ है और शिक्षात्मक कविताओं में भक्तिभाव, नैतिक मर्यादाओं, पारिवारिक संबंधों आदि के समुचित प्रस्फुटन पर बल रहा है। कुल मिलाकर यह कहना उचित होगा कि इस युग में बालकविताओं का उचित दिशा में विकास हुआ जिसे परवर्ती समृद्ध बालकाव्य के लिये अंकुरस्वरूप माना जा सकता है।

उर्दू काव्यधारा

छायावादयुगीन कविता की पृष्ठभूमि में तत्कालीन उर्दू कविता की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन भी उपयोगी होगा। उस समय के उर्दू कवियों में इकबाल का स्थान सर्वप्रमुख है। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक विषयों को लेकर स्फुट काव्यरचना करने पर भी विशेषत: या तो देशप्रेम की कविताएँ लिखीं अथवा भगवत्प्रेम की मस्ती को प्रकट करनेवाली कविताओं की रचना की जिनमें अंतर्मुखी प्रवृत्ति और दर्शनशास्त्र में कवि की अभिरुचि के स्पष्ट संकेत

विद्यमान हैं। अन्य कवियों में अख्तर शीरानी और जोश मलीहाबादी उस युग के प्रसिद्ध रोमानी कवि हैं। इन्होंने देश के अतीत गौरव, नीतिशिक्षण आदि को प्रकट करनेवाली समसामयिक प्रभावयुक्त कविताओं की रचना करने पर भी अधिकतर प्रेम और सौंदर्य के वैयक्तिकता से संपुष्ट मादक चित्र अंकित किए हैं। इस संदर्भ में प्रकृतिसौंदर्य के कल्पनात्मक चित्रांकन की ओर भी इनकी प्रवृत्ति रही है। हसरत की कविताओं में भी प्रेम और सौंदर्य का रागात्मक अंतर्भाव है जिसे कहीं कल्पना की मादकता और अन्यत्र वेदना की मार्मिकता द्वारा प्रवाहपूर्ण अभिव्यक्ति दी गई है। वैयक्तिक भावधारा का अंतर्विकास इस काल के अनेक अन्य कवियों में भी लक्षित होता है। उदाहरणस्वरूप फिराक गोरखपुरी की कविताओं में यह विशेषतः आत्मिक प्रेम अथवा आध्यात्मिक संवेदना के रूप में मुखरित है, तो शाद अजीमाबादी की कविताओं में इसकी अभिव्यक्ति निराशावाद के रूप में हुई है। इस युग के अन्य कवियों में सागर निजामी, दानिश और रविश सिद्दीकी उल्लेखनीय हैं जिन्होंने उपर्युक्त प्रवृत्तियों को समन्वित रूप में ग्रहण किया है, किंतु दानिश की कविताओं में समसामयिकता और सिद्दीकी की कविताओं में सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति पर अधिक बल रहा है। यह कथन अनुचित न होगा कि यद्यपि कथ्य और शिल्प की दृष्टि से हिंदी की छायावादी काव्यधारा और तत्कालीन उर्दू कविता के स्वरूप में तात्विक अंतर था, तथापि इनमें आदान प्रदान की संभावनाएँ भी साकार रूप लेती रही थीं।

उपर्युक्त प्रवृत्तिविश्लेषण के उपरांत इसमें संदेह नहीं रह जाता कि उत्कर्षकालीन कविता के विविध स्रोत थे और भाव तथा भाषा की दृष्टि से अनेक समान असमान प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं, किंतु इनका समन्वय करने पर सहृदय के मन पर प्रस्तुत युग के काव्योत्कर्ष का अमिट प्रभावचित्र अंकित होता है।

चतुर्थ अध्याय

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता आलोच्य काल की प्रमुख काव्यधारा है। इन कविताओं का मूलाधार है देशभक्ति। देशभक्ति अथवा राष्ट्रीयता मानव की तीव्रतम भावनाओं में से एक है। भौगोलिक तथा सांस्कृतिक एकता एवं आर्थिक तथा राजनीतिक आकांक्षाओं की समानता किसी जनसमुदाय को राष्ट्ररूप प्रदान करती हैं। सामूहिक जीवन, सामूहिक विकास तथा सामूहिक आत्मसंमान की भावना ही राष्ट्रीयता है। अपने राष्ट्र के प्रति व्यक्ति का तीव्रानुराग स्वाभाविक है। एकानुभूति तथा सामूहिक चेतनाजन्य इस भावना की तीव्रता और सघनता को विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। अतएव सभी कालों और सभी देशों में देशभक्तिपूर्ण कविताएँ लिखी जाती रही हैं।

हमारे देश में राष्ट्रीयता का स्वरूप सदा एक सा नहीं रहा है। वीरगाथा-कालीन राष्ट्रीय भावना अत्यंत संकुचित थी। उस समय छोटे छोटे मांडलिक राज्यों को ही राष्ट्र मानकर उनके प्रति अनुराग प्रकट किया गया है तथा चारणों द्वारा अपने अपने आश्रयदाताओं की अभ्यर्थना हुई है। जहाँ कहीं राष्ट्रीयता प्रादेशिकता से ऊपर उठी वहाँ भी उसका सांप्रदायिक अथवा धार्मिक रूप ही सामने आया। वह हिंदुत्व से आगे नहीं बढ़ सकी। महाराज पृथ्वीराज चौहान की अभ्यर्थना 'हिंदवांन रांन' रूप में ही की गई है, यथा—

(१) गही तेग चहुवान हिंदुवांन रानं।
(२) चढ़े राज द्रग्गह त्रिपति, सुमंत राज प्रथिराज,
अति अनंद आनंद हैं, हिंदवान सिरताज।

मध्यकाल के अंत तक राष्ट्रीयता का यही संकीर्ण स्वरूप बना रहा। भूषण ने भी शिवाजी की सराहना हिंदूपति के रूप में ही की है :

(क) तुरकान मलिन कुमुदिनी करी है हिंदुवान नलिनी खिलायो विविध विधान सों।
(ख) कामिनी कंत सों जामिनी चंद सों दामिनि पावस मेघ घटा सों।
कीरति दान सों सूरति ज्ञान सों प्रीति बड़ी सनमान महा सों॥
'भूषन' भूषन सों तरुनी नलिनी नव पूषनदेव प्रभा सों।
जाहिर चारिहु ओर जहानु लसै हिंदुवान खुमान सिवा सों॥

इस प्रकार रीतिकाल तक संपूर्ण भारतवर्ष को एक भौगोलिक इकाई मानकर राष्ट्रीयता का उन्मेष नहीं हुआ। वस्तुतः सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में ही पहली बार असंकीर्ण राष्ट्रीयता के दर्शन हुए। भारतेंदु तथा द्विवेदीयुगीन साहित्य में राष्ट्रीयता का यह असंकीर्ण रूप ही मिलता है। यद्यपि इन काल-खंडों की जनजागरण और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना भी मूलतः आर्य (हिंदू) जागरण और पुनरुत्थान की भावना ही है, तथापि उसमें मध्यकालीन सांप्रदायिकता नहीं है। फिर भी आज की उदार और मानवतावादी राष्ट्रीय भावना की प्रतिष्ठा उत्कर्ष काल के आरंभ में ही हो सकी। १९२० में भारत का राजनीतिक नेतृत्व गांधी जी के हाथ में आने पर राष्ट्रीयता का पुनः संस्कार हुआ। उनके प्रभाव से राष्ट्रीय भावना में सांस्कृतिक मूल्यों तथा नैतिक आदर्शों का समावेश हुआ। इस प्रकार आलोच्य काल के आरंभ में ही राष्ट्रीयता का सच्चा मानववादी रूप सामने आया।

मुख्य प्रवृत्तियाँ

देशभक्ति अथवा राष्ट्रीय भावना एक तीव्र और शक्तिशाली भावना होने पर भी सर्वथा मौलिक मनोवृत्ति नहीं है। आचार्य नगेंद्र ने एक स्थान पर लिखा है—'देशभक्ति में राग और उत्साह का मिश्रण है। उत्साह उसके राष्ट्रीय स्वरूप का आधार है और राग उसके मानवीय सांस्कृतिक रूप का।'[1]—यह उत्साह और राग ही पराधीनता की लौह शृंखला एवं अनिष्टकारी दमन के विरुद्ध संघर्ष की भावना, अतीत के गौरवगान, देश की वर्तमान दुर्दशा के परिहार के उपक्रम, स्वर्णिम भविष्य की कल्पना, मातृभूमि की वंदना आदि रूपों में अभिव्यक्त हुआ।

संघर्ष की भावना

गांधी जी के युगचेतना को आच्छादित करनेवाले व्यक्तित्व और चिंतन के प्रभावस्वरूप आलोच्य काल में सभी विषमताओं और विसदृशताओं का मूल कारण विदेशियों के विगर्हणीय शासन को माना गया अतः उसका उन्मूलन अर्थात् स्वराज्यप्राप्ति राष्ट्रीयता का ध्येय बना। अपने जन्मसिद्ध अधिकार—स्वराज्य—का अपहरण, स्वयं अपने ही घर में बंदी बनकर निरीह और निरुपाय जीवन-यापन, प्रगतिविरोधी और अपमानजनक विदेशी शासन असह्य हो गया।

[1] आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ २३।

मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों को इस विषैले वातावरण में घुटन का अनुभव हुआ। स्वाधीनता के लिये इनकी आत्मा तड़प उठी। इन्होंने भारतीयों को दासता का बोध कराया और पराधीनता के असहाय चित्र उपस्थित किए। इस प्रकार इन कवियों की क्षुब्ध वाणी ने देश के बृहत् जनसमुदाय को विदेशी शासन की पाषाणी कारा से मुक्ति पाने के लिये उत्साहित किया। विदेशी शासन के अन्याय, अत्याचारों और दमन का प्रभावी चित्रण और प्रबल विरोध इन कवियों ने किया है। मैथिलीशरण गुप्त और सुभद्राकुमारी चौहान ने स्पष्टतः पराधीन भारत माता को सीता के बंदिनी रूप में चित्रित किया :

भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में,
सिंधु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।

(साकेत, पृष्ठ २९७)

हो असहाय भटकते फिरते
बनवासी से आज सखी!
सीता लक्ष्मी हरी किसी ने
गई हमारी लाज सखी।

(मुकुल, पृष्ठ ९१)

माखनलाल चतुर्वेदी स्वच्छंद विहारिणी कोकिल से कारावास के अपने अवरुद्ध जीवन की तुलना करते हैं :

तुझे मिली हरियाली डाली,
मुझे नसीब कोठरी काली।
तेरा नभ भर में संचार,
मेरा दस फुट का संसार।
तेरे गीत कहावें वाह,
रोना भी है मुझे गुनाह!
देख विषमता तेरी मेरी,
बजा रही तिसपर रणभेरी!

(कैदी और कोकिला, हिमकिरीटिनी, पृ० १९)

कैसा तीखा और प्रभावोत्पादक वैषम्य है! और यह वैयक्तिक न होकर स्वाधीन और पराधीन जातियों की स्थिति का वैषम्य है।

निराला वीरप्रसू भारतमाता के लाड़ले राजकुमारों को 'कालचक्र' में दबे देखकर विकल हैं :

पशु नहीं, वीर, तुम,
समरशूर, क्रूर नहीं,
कालचक्र में हो दबे,
आज तुम राजकुँवर ! —समर सरताज !

(परिमल, पृष्ठ २०४)

अगली ही पंक्तियों में कवि 'कालचक्र' की इस गति को उलटने—पराधीनता के विरोध—का परामर्श देता है :

पर क्या है
सब माया है—माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधाविहीन बंध छंद ज्यों ।

(परिमल, पृष्ठ २०४)

रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार देश की सर्वतोमुखी दुर्गति का मात्र कारण है पराधीनता—

समझ लिया तत्काल पथिक ने कारण इस दुर्गति का ।
है सिद्धांत प्रजा की उन्नति के प्रतिकूल नृपति का ।।

(पथिक, पृष्ठ ४६)

अपने को 'सुसभ्य' और 'सुसंस्कृत' कहनेवाले अंग्रेजों की अमानवीय नीति पर दिनकर करारा व्यंग्य करते हैं :

सिर धुन धुन सभ्यता सुंदरी
रोती है बेबस निज रथ में,
हाय ! दनुज किस ओर मुझे ले
खींच रहे शोणित के पथ में ?

\+ +

दलित हुए निर्बल सबलों से
मिटे राष्ट्र उजड़े दरिद्र जन,
आह ! सभ्यता आज कर रही
असहायों का शोणित शोषण ।

शोषण और दमन की इस अतिशयता को सहन करने में असमर्थ देश का यौवन दिनकर के स्वरों में उबल पड़ा है :

रस्सों से कसे जवान पापप्रतिकार न जब कर पाते हैं,

\+ +

पौरुष को बेड़ी डाल पाप का अभय रास जब होता है

+ + + +

असि की नोकों से मुकुट जीत अपने सिर उसे सजाती हूँ;
ईश्वर का आसन छीन, कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूँ;
थरथर करते कानून, न्याय, इंगित पर जिन्हें नचाती हूँ;
भयभीत पातकी धर्मों से अपने पग मैं धुलवाती हूँ।
सिर झुका घमंडी सरकारें करतीं मेरा अर्चन पूजन।
झन झन झन झन झन झनन झनन।

(हुंकार, पृष्ठ ७३, ७५)

पद पद पर बंधन, अवरोध, अपमान, अत्याचार और दमन के परिणाम-स्वरूप देश का अधिक संवेदनशील वर्ग तो बौखला उठता है। पराकाष्ठा को पहुँची हुई बौखलाहट ही नवीन और दिनकर के स्वरों में फूट पड़ी है।

जागरण का संदेश तथा कर्तव्यपालन का आदेश :

संवत् १९६९ में प्रकाशित 'भारतभारती' में गुप्त जी ने लिखा था—'जग जायँ तेरी नोक से सोए हुए हैं भाव जो।' उत्कर्षकालीन कवियों ने भी शताब्दियों से सुषुप्त भारतवासियों को मोहनिद्रा से जगाने का प्रयत्न किया। विदेशी शासककृत अन्याय, अत्याचार, दमन और आतंक की अवस्थिति में भी इस युग का कवि हताश नहीं हुआ, न ही उसने देशवासियों को हतोत्साह होने दिया। नित नए लागू किए जानेवाले काले कानून तथा जलियानवाले बाग के हत्याकांड जैसी लोमहर्षक घटनाएँ भारतीयों को लक्ष्यभ्रष्ट नहीं कर सकीं। तत्कालीन कवियों ने उस आतंकपूर्ण स्थिति में जनता को विचलित न होने दिया। यद्यपि उनकी लेखनी पर भी नियंत्रण था (है कलम बँधी स्वच्छंद नहीं), फिर भी उन्होंने जनजागरण के गीत गाए, सोए हुओं को जगाया तथा उदासीनता त्याग कर्तव्यपालन के लिये प्रेरित किया। यह कार्य कहीं प्रत्यक्ष आदेश और उपदेश के रूप में हुआ तो कहीं आदर्श रूप में किसी प्रसंग के प्रस्तुतीकरण द्वारा :
माखनलाल चतुर्वेदी :

'मजबूत कलेजों को लेकर
इस न्याय दुर्ग पर चढ़ो, चलो,
माता के प्राण पुकार रहे,
संगठन करो, बस चढ़ो, चलो।'

(हिमकिरीटिनी, पृष्ठ ८१)

सोहनलाल द्विवेदी :

तैयार रहो मेरे वीरो, फिर टोली सजनेवाली है।
तैयार रहो मेरे शूरो, रणभेरी बजनेवाली है।
इस बार, बढ़ो समरांगण में, लेकर वह मिटने की ज्वाला,
सागरतट से आ स्वतंत्रता, पहना दे, तुमको जयमाला।
(भैरवी, पृष्ठ १२४)

रामनरेश त्रिपाठी :

दुखदायी शासन से अपनी सारी शक्ति हटा लो।
निज सुख दुख का अपने ऊपर सारा भार सँभालो।
अपना शासन आप करो तुम यही शांति है, सुख है।
पराधीनता से बढ़ जग में नहीं दूसरा दुख है।
× × × ×
जब तक जीवन है शरीर में तब तक धर्म न हारो।
(पथिक, पृष्ठ ५०)

नवीन :

जब जग विचलित होता दीखे, जब सब छोड़ें संग अहो,
जब दुनियादारों की होवे धीमी हृदयउमंग अहो,
जब कि पड़े जय जय की ध्वनि का कुछ कुछ फीका रंग अहो,
तब तुम, अरे युवक, मत डोलो, पथ पर डटे अभंग रहो,
निरुत्साह की, तिरस्कार की यदि तुमको भावना मिले,
तो उसको, हे अटल हिमाचल, सह जाओ तुम बिना हिले।
(हम विषपायी जनम के, पृष्ठ ४१६)

दिनकर :

धरकर चरण विजित शृंगों पर झंडा वही उड़ाते हैं,
अपनी ही उँगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं।
पड़ी समय से होड़, खींच मत तलवों से काँटे रुककर,
फूँक फूँक चलती न जवानी चोटों से बचकर, झुककर,
नींद कहाँ उनकी आँखों में जो धुन के मतवाले हैं,
गति की तृषा और बढ़ती पड़ते पद में जब छाले हैं।
(हुंकार, पृ० २७)

इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण अनायास ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल

चतुर्वेदी, सोहनलाल द्विवेदी, निराला, दिनकर प्रभृति कवियों ने जनसमूह में एक नवचेतना का संचार किया तथा स्वकर्तव्य के प्रति सचेत किया।

कष्टसहन और बलिदान की भावना

राष्ट्रीय कविता में विदेशी सत्ता के विरोध की भावना प्रमुख रही है। कवियों ने देशवासियों को दमनचक्र के विरुद्ध संघर्ष के लिये उकसाया है। किंतु यह विरोध और संघर्ष सर्वथा अहिंसात्मक है। तत्कालीन स्वतंत्रता आंदोलन गांधी जी के नेतृत्व में प्रवर्तित हुआ था और वे सत्य और अहिसा के विख्यात पुजारी थे। अतः उत्कर्षकालीन राष्ट्रीय काव्य त्याग और बलिदान की भावनाओं से आपूर्ण है। वस्तुतः इस युग की वीरभावना मध्ययुगीन वीरभावना के सर्वथा विपरीत है। शत्रुवध के शौर्य के स्थान पर इस युग की कविता में सत्य और अहिंसा का, न्यायसंमत कर्म और शीशदान की महिमा का गान हुआ है। सुभद्राकुमारी चौहान भारतमाता के वीर सुपुत्रों को पाप से असहयोग और बलिदान का संदेश देती हैं :

विजयिनी माँ के वीर सुपुत्र पाप से असहयोग लें ठान।
गुँजा डालें स्वराज्य की तान और सब हो जावें बलिदान ॥
जरा ये लेखनियाँ उठ पड़ें मातृभू को गौरव से मढ़ें।
करोड़ों क्रांतिकारिणी मूर्ति पलों में निर्भयता से गढ़ें।
और सब हो जावें बलिदान।

(मुकुल, पृष्ठ १०६)

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' स्वातंत्र्यसंग्राम के सैनिकों को चेतावनी देते हैं कि विजय सदा से त्याग और बलिदान माँगती रही है। जो जीवन की संपूर्ण आशाएँ और आकांक्षाएँ, यहाँ तक कि यौवन भी समर्पित करने को प्रस्तुत है वही शताब्दियों की दासता के बंधनों को काटने में समर्थ हो सकता है :

है बलिवेदी, सखे, प्रज्वलित माँग रही ईंधन क्षण क्षण,
आओ युवक, लगा दो तो तुम अपने यौवन का ईंधन,
भस्मसात् हो जाने दो ये प्रबल उमंगें जीवन की,
अरे सुलगने दो बलिवेदी, चढ़ने दो बलि यौवन की।

(हम विषपायी जनम के, पृष्ठ ४१६)

माखनलाल चतुर्वेदी तो शूली को 'ईसा की शोभा' मानते हैं :

तू सेवक है, सेवाव्रत है,
तेरा जरा कुसूर नहीं,
'शूली—वह ईसा की शोभा'
वह विजयी दिन दूर नहीं।

(हिमकिरीटिनी, पृष्ठ ६३)

कष्ट और दमन का भी वे स्वागत ही करते हैं तिरस्कार नहीं। जो जयध्वनि और पुष्पहार के लिये ही लालायित रहते हैं वे स्वाधीनताप्राप्ति में क्या सहायता करेंगे ? इसके विपरीत जो व्यक्ति फूलमालाओं के स्थान पर अधिक कष्टसहन की अभ्यर्थना करता है, वही सच्चा सेनानी है। (माता, पृष्ठ ११९)।

दिनकर, सियारामशरण गुप्त तथा वियोगी हरि ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किए हैं :

अपनी गर्दन रेत रेत असि की तीखी धारों पर
राजहंस बलिदान चढ़ाते माँ की हुंकारों पर।

(हुंकार, पृष्ठ ४६)

किस अविनीत अनय के भृगु से पाकर पदप्रहार,
पाया तुमने अपने उर पर मणिचिह्नालंकार ?
किस निर्दय के क्रूर पाश में बँध स्वेच्छा के साथ,
अरिगृह में भी महावीर, तुम रहे समुन्नत माथ ?

(पाथेय, पृष्ठ १२३)

चाहौ जो स्वाधीनता, सुनौ मंत्र मन लाय।
बलिबेदी पै निज करनि, निज सिर देहु चढ़ाय ॥

(वीर सतसई, पृष्ठ १२)

इस प्रकार इन कवियों ने कष्टसहन और बलिदान के प्रति आस्था प्रकट की है। उत्कर्षकालीन राष्ट्रीय कविता में बड़े मनोयोग से शीशदान के माहात्म्य का बखान हुआ है। प्रहार करने की नहीं, प्रहार सहने की शक्ति की संस्तुति हुई है। और यह निश्चय ही गांधीवाद का प्रभाव था।

क्रांति का स्वर

गांधी के सिद्धांतों से अत्यधिक प्रभावित होने पर भी तत्कालीन कवियों की विचारधारा का उनसे एकांत साम्य नहीं था। कवि भी एक स्वतंत्र विचारक होता है। और किन्हीं भी दो विचारकों के चिंतन में वैषम्य का सर्वथा अभाव असंभव ही है, अतएव गांधी जी के अनुरूप बलिदान, निश्शस्त्र असहयोग आदि की बात करते करते कहीं कहीं इनके काव्य में क्रांति और शस्त्रप्रयोग आदि का भी उल्लेख हुआ है, यथा—

मैथिलीशरण गुप्त :

राज्य के नहीं, धर्म के अर्थ,
उठेंगे, तब ये शस्त्र समर्थ।

(वनवैभव, पृष्ठ १८)

नवीन :

कवि, कुछ ऐसी तान सुनावो जिससे उथल पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आए एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि त्राहि स्वर नभ में छाए,
नाश और सत्यानाश का धुआँधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाए; भस्मसात् भूधर हो जाए,
पाप पुण्य सद् सद् भावों की धूल उड़ उठे दाएँ बाएँ,
नभ का वक्षस्थल फट जाए, तारे टूक टूक हो जाएँ,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनावो जिससे उथल पुथल मच जाए,

(हम विषपायी जनम के, पृ० ४२९)

दिनकर :

मेरे मस्तक के छत्र मुकुट वसु कालसर्पिणी के शत फन,
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर चंदन,
आँजा करती हूँ चिता धूम का दृग में अंध तिमिर अंजन,
संहारलपट का चीर पहन नाचा करती मैं छूम छनन,
झन झन झन झन झन झनन झनन।

किंतु यह राष्ट्रीय कविता का प्रमुख स्वर नहीं है। प्रमुखता तो त्याग, कष्टसहन, बलिदान की भावना की ही है।

अतीत का गौरवगान

कोई भी देश अथवा जाति अपने अतीत का विस्मरण कर उन्नति नहीं कर सकती। अपना अतीत प्रेरणा और प्रोत्साहन का अक्षय स्रोत हुआ करता है। और फिर भारत का प्राचीन काल तो अत्यंत गौरवमय और महिमामंडित रहा है। वह सब देशों का सिरमौर और अभिनंद्य था। गुप्त जी ने घोषणा की थी—

संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है।

(भारत भारती, पृष्ठ ४)

निश्चय ही भारतवर्ष का अतीतकालीन आध्यात्मिक; नैतिक और भौतिक उत्कर्ष अद्भुत और अभूतपूर्व था। आज इस देश की चाहे जो दशा हो गई है किंतु उसका प्राचीन अत्यंत उज्वल और समृद्ध था। भारतीयों ने ज्ञान विज्ञान, धर्म दर्शन, साहित्य, नीति मर्यादा, सत्य अहिंसा, करुणा औदार्य, बल

विक्रम, कला कौशल आदि सभी क्षेत्रों में आश्चर्यजनक प्रगति की थी। देश विदेश के अनेक मनीषियों ने उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। ऐसे भव्य अतीत का स्मरण और गुणगान नितांत आवश्यक और हितकर है। गांधी ने सत्य और अहिंसा के प्राचीन सिद्धांत को ही अपनी राजनीति का आधार बनाया। दयानंद और विवेकानंद ने अपनी सिद्ध वाणी द्वारा प्राचीन के प्रति गौरवभावना जगाई। शताब्दियों से पराजित और परतंत्र भारतीयों ने अपने आलोकमय समृद्ध अतीत की ओर देखा तथा गर्व और गौरव का अनुभव किया। पराधीनता निगड़ित भारतीयों के मन से हीन भावना का निराकरण कर गौरवभावना की प्रतिष्ठा करने में उन कवियों का बहुत बड़ा हाथ है जिन्होंने अपनी सशक्त लेखनी से गौरवमंडित अतीत की झाँकियाँ प्रस्तुत कीं। इन कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, निराला, सियारामशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, उदयशंकर भट्ट और दिनकर चिरस्मरणीय रहेंगे।

गुप्त जी के अनुसार यह देश भूलोक का गौरव तथा पुण्य लीलास्थली है। ज्ञान का प्रथम स्फुरण तथा सभ्यता का विकास यहीं पर हुआ था। वेदों के अलौकिक ज्ञान ने जगतीतल को ऊर्ध्वगमन की प्रेरणा दी :

करके जगती का आह्वान
गाया अनुपम वैदिक गान
देकर सबको प्रथम प्रकाश
किया सभ्यता का सुविकाश।

(हिंदू, पृ० ६४)

आज सभ्य और उन्नत कहे जानेवाले देशों ने सर्वप्रथम भारत से ही दीक्षा ग्रहण की थी। समस्त भूमंडल पर आर्यों का डंका बजता था। प्रसाद जी ने 'अरी वरुणा की शांत कछार' कविता में यहाँ की परिषदों में होनेवाले गंभीर दार्शनिक चिंतन का निरूपण किया है। मानवजीवन में हृदय और मस्तिष्क के सापेक्षिक महत्व के निर्धारण में ये परिषदें प्रयत्नशील थीं :

तुम्हारे कुंजों में तल्लीन, दर्शनों के होते थे वाद
देवताओं के प्रादुर्भाव, स्वर्ग के स्वप्नों के संवाद।
स्निग्ध तरु की छाया में बैठ, परिषदें करती थीं सुविचार—
भाग कितना लेगा मस्तिष्क, हृदय का कितना है अधिकार?

(लहर, पृ० १२)

यहाँ धर्म की उज्वल धारा प्रवाहित थी जो निरंतर संसार के पापों का नाश करने में तत्पर थी। उदयशंकर भट्ट के शब्दों में —

शुद्ध ज्ञान की तरंगिणी
सी शुभ्र धर्म धारा अभिराम
सभी जगत के कूट तटों को
छिन्न भिन्न करती अविराम।

(तक्षशिला, पृ० १-२)

यह देश तत्वज्ञानी और क्रांतदर्शी ऋषियों का देश रहा है। जैमिनी, पतंजलि, गौतम, कणाद जैसे नूतन दार्शनिक पद्धतियों के उद्भावक मनीषियों ने यहीं जन्म लिया था। राम तथा कृष्ण से दिव्य गुणसंपन्न महामानवों की लीला-भूमि भी भारतवर्ष ही थी। भीष्म, अर्जुन और भीम जैसे दृढ़व्रत नरपुंगव यहीं अवतरित हुए थे। ऐसे महान् पूर्वजों के पुण्यकृत्यों को स्मरण कर कोई भी देशवासी हीनता से ग्रस्त कैसे रह सकता है? 'खंडहर के प्रति' कविता में निराला उन्हीं को स्मरण करते हैं :

'आर्त भारत! जनक हूँ मैं
जैमिनि-पतंजलि-व्यास ऋषियों का,
मेरी ही गोद पर शैशव विनोद कर
तेरा है बढ़ाया मान
राम-कृष्ण-भीमार्जुन-भीष्म-नरदेवों ने

(अनामिका, पृ० ३०)

इस अवतरण में उल्लिखित जैमिनि, पतंजलि और व्यास अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिये प्रसिद्ध हैं तो राम और कृष्ण लोकसंग्रही महामानव के रूप में। भीष्म, अर्जुन और भीम की प्रसिद्धि का कारण उत्कट शौर्य है। प्राचीन भारत का नैतिक उत्कर्ष भी दर्शनीय है। वस्तुतः नैतिक मूल्यों के अभाव में किसी भी दिशा में की गई प्रगति व्यर्थ है। मर्यादापुरुषोत्तम राम का व्यक्तित्व तो मानो नैतिक गुणों का समाहार ही है—

विजये! तूने तो देखा वह विजयी श्रीराम सखी!
धर्मभीरु सात्विक निश्छलमन वह करुणा का धाम सखी!

(मुकुल, पृ० ६०)

हरिश्चंद्र की सत्यप्रियता, प्रह्लाद की अडिगता तथा गीता की निष्काम कर्मप्रेरणा प्राचीन भारत की नीतिनिष्ठा की ही द्योतक हैं। 'बापू' में सियारामशरण गुप्त लिखते हैं—

प्राप्त इसे दूर के अतल से
सत्य हरिश्चंद्र की अटलता,

लब्ध इसे ताराग्रह मंडल से
श्री प्रह्लाद की अनंत भक्ति समुज्वलता,
क्रुद्ध कुरुक्षेत्र के समर में
साधा है अकाम ज्ञानकर्म योग इसने
पुण्यदत्त पांचजन्य स्वर में
जीवन का पाया है अमरयोग इसने

(बापू, पृष्ठ ५७)

राजा और प्रजा में प्रेमपूर्ण संबंध था। प्रजा राजा में अनुरक्त थी तो राजा भी सदैव उसके हितसाधन में तत्पर था—

थी अनुरक्त प्रजा राजा में नृपति प्रजा साधन में
था सार्थक अद्वैतवाद अविकल गति से जीवन में

(तक्षशिला, पृष्ठ ३३)

नृपगण न्यायमूर्ति थे। विजातीय भी उनसे न्याय पाते थे—

जैन फिर भी थे आर्य इतर विजाति भी,
नाते से प्रजा के, न्याय पाते उस राजा से।

(सिद्धराज, पृष्ठ १११)

और स्वयं प्रजा के सदस्यों में पारस्परिक स्नेह, सद्भाव और सहयोग की भावना थी। एक की वृद्धि देखकर दूसरा प्रसन्न ही होता था न कि ईर्ष्यादग्ध—

एक तरु के विविध सुमनों से खिले,
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले।

(साकेत, पृष्ठ २२)

अतीतकालीन शौर्य पराक्रम के भी अनेक चित्र तत्कालीन काव्य में उपलब्ध हैं :

सुभद्राकुमारी चौहान :

कह दे अतीत अब मौन त्याग,
लंके, तुझमें क्यों लगी आग ?
ऐ कुरुक्षेत्र ! अब जाग, जाग,
बतला अपने अनुभव अनंत,
वीरों का कैसा हो वसंत ?
हल्दीघाटी के शिलाखंड
ऐ दुर्ग ! सिंहगढ़ के प्रचंड,
राणा नाना का कर घमंड,

दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलंत,
वीरों का कैसा हो वसंत ?

(मुकुल, पृ० १२७)

दिनकर :

तुझे याद है चढ़े पदों पर
कितने जयसुमनों के हार ?
कितनी बार समुद्रगुप्त ने
धोई है तुझमें तलवार ?
विजयी चंद्रगुप्त के पद पर
सेल्यूकस की वह मनुहार,
तुझे याद है देवि ! मगध का
वह विराट् उज्वल शृंगार ?

(रेणुका, पृष्ठ २५)

जयशंकर प्रसाद :

कहेगी शतद्रु शत संगरों की साक्षिणी
सिक्ख थे सजीव
स्वत्व रक्षा में प्रबुद्ध थे।
जीना जानते थे।

(लहर, पृष्ठ ५३)

रामकुमार वर्मा :

कभी थे राजपूत अति न्यून, किंतु था प्रिय स्वदेश अभिमान,
नारियों ने भी ली असि तान, चढ़ाए रण में आत्मप्रसून।

(चित्तौड़ की चिता, पृष्ठ ९)

कलाशिल्प की भी उस युग में पर्याप्त उन्नति हुई थी। साकेत नगरी की भव्यता देखते ही बनती है :

देख लो, साकेत नगरी है यही,
स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।
केतुपट अंचल सदृश हैं उड़ रहे;
कनककलशों पर अमरदृग जुड़ रहे।
सोहती हैं विविध शालाएँ बड़ी,
छत उठाए भित्तियाँ चित्रित खड़ीं।

कर रहे नृपसौध गगनस्पर्श हैं
शिल्पकौशल के परम आदर्श हैं।

(साकेत, पृष्ठ १३–१४)

वर्तमान दुर्दशा

भारतवर्ष का अतीत जहाँ अत्यंत उज्वल और समृद्ध था वहाँ वर्तमान सर्वथा गौरवहीन तथा दुःखग्रस्त है। देशदुर्दशा के मुख्यतः दो रूप हैं—एक राजनीतिक दुर्दशा, दूसरी सामाजिक दुर्दशा। राजनीतिक दुर्दशा अर्थात् पराधीनता और तज्जन्य क्लेशों पर पहले लिखा जा चुका है। यहाँ सामाजिक दुर्दशा पर विचार किया जाएगा। तत्कालीन समाज में फैली हुई अनेक विषमताओं की ओर भी उत्कर्षकालीन कवि की दृष्टि गई। मैथिलीशरण गुप्त, नवीन, निराला, सियारामशरण गुप्त, दिनकर प्रभृति कविपुंगवों ने अशिक्षा अथवा कुशिक्षा, विधवा के क्लेश, रूढ़िवादिता, अस्पृश्यता, नैतिक पतन, अन्याय और सांप्रदायिकता आदि के हृदयद्रावक चित्र उपस्थित किए, यथा—

मैथिलीशरण गुप्त

रूढ़ि बिना जड़ की वह बेल
चूस रही जीवनरस खेल
करो कर सको यदि तुम त्राण
जायँ न निगमागम के प्राण।

(हिंदू, पृष्ठ ३०१-२)

वियोगी हरि :

अपनावत अजहूँ न जे अपनेहि अंग अछूत
क्यों करि ह्वै हैं छूत वै करि कारी करतूत॥

(वीर सतसई; पृष्ठ ७८)

निराला :

वह इष्ट देव के मंदिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर काल तांडव की स्मृतिरेखा सी
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन—
दुःखित भारत की ही विधवा है।

(परिमल, पृष्ठ १२६)

दिनकर :

ऋणशोधन के लिये दूध घी बेच बेच धन जोड़ेंगे,
बूँद बूँद बेचेंगे, अपने लिये नहीं कुछ छोड़ेंगे।
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलाएगी,
मैं फाड़ूँगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पावेगी।
इतने पर भी धनपतियों की उनपर होगी मार,
तब मैं बरसूँगी बन बेबस के आँसू सुकुमार।
फटेगा भू का हृदय कठोर,
चलो कवि वनफूलों की ओर।

(हुंकार, पृष्ठ ३४)

इन कविताओं में राष्ट्रीयता के एक प्रमुख अंग—समाजसुधार—को अभिव्यक्ति मिली है। सामाजिक वैषम्य और अन्याय के निराकरण के बिना राजनीतिक स्वाधीनता भी सार्थक और स्थायी नहीं हो सकती।

स्वर्णिम भविष्य की कामना

प्रायः सभी राष्ट्रीय कवियों ने अपनी कविताओं में स्वर्णिम भविष्य की कामना की है। वर्तमान का दुर्दशाग्रस्त चित्रण करके ही ये मौन नहीं हो गए वरन् इन्होंने सुंदर और सुखद भविष्य का निर्माण भी किया है। अतीत गौरव और वर्तमान अगौरव का बखान यदि भविष्य के लिये स्वस्थ प्रेरणा न दे तो वाग्विलास मात्र ही है। वस्तुतः इन कवियों ने वर्तमान के निराशापूर्ण और अंधकारमय चित्रण की क्षतिपूर्ति भविष्य की आशापूर्ण और आलोकमय कल्पना द्वारा की है। एक में यदि ध्वंस का उत्साह है तो दूसरे में निर्माण का। कवियों ने कल्पना की कि वह कितना सुंदर और सुख-शांति-पूर्ण समय होगा जब पराधीनता के बंधन कट जाएँगे। देश के जल, थल और आकाश सब पर अपना अधिकार होगा। शासक अपने होंगे, नियम और कानून भी अपने बनाए हुए होंगे—'होगा सब और बस अपना ही अपना।' निराला का दृढ़ विश्वास है कि पराधीन मन को क्षुब्ध करनेवाले विचारों का नाश अवश्यंभावी है तथा भारत फिर महिमामंडित होगा, फिर से उसका भाल आलोकित हो उठेगा—

जितने विचार आज
मारते तरंग हैं
साम्राज्यवादियों की भोगवासनाओं में
नष्ट होंगे चिरकाल के लिये।

आएगी भाल पर
भारत की गई ज्योति,
हिंदुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से
दासता के पाश कट जाएँगे।

(परिमल, पृष्ठ २१२)

सुभद्राकुमारी चौहान प्यारे देश की स्वतंत्रता से प्रमुदित हैं। स्वातन्त्र्यलाभ के कारण आशारूपी शुष्क लताएँ हरी भरी हो गई हैं—

आ स्वतंत्र प्यारे स्वदेश आ
स्वागत करती हूँ तेरा।
तुझे देखकर आज हो रहा
दूना प्रमुदित मन मेरा

× × ×

आशा की सूखी लतिकाएँ
तुझको पा, फिर लहराईं,
अत्याचारी की कृतियों को
निर्भयता से दरसाईं॥

(मुकुल, पृष्ठ ११६)

गुप्त जी के अनुसार पराधीनता पाश से मुक्त हो जाने पर भारतवर्ष फिर से 'आर्यभूमि' बन जाएगा। एक बार फिर यह देश संस्कृतियों का संगमस्थल बनेगा तथा संपूर्ण विश्व के लिये तीर्थतुल्य श्रद्धास्पद पद का अधिकारी बनेगा—

आर्यभूमि अंत में रहेगी कार्यभूमि ही,
आकर मिलेंगी यहीं संस्कृतियाँ सबकी,
होगा एक विश्वतीर्थ भारत ही भूमि का।

(सिद्धराज, पृष्ठ १३६)

पंत द्वारा कल्पित आदर्श समाज का स्वप्न भी अवलोकनीय है—

रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आराधित,
श्रेणिवर्ग में मानव नहीं विभाजित!
धन बल से हो जहाँ न जन-श्रम-शोषण,
पूरित भवजीवन के निखिल प्रयोजन!

(युगवाणी, पृष्ठ ६)

मातृभूमि वंदना

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

जननी और जन्मभूमि के प्रति अतिशय अनुराग जीवन का सहज सत्य है।

जिस भौगोलिक इकाई में हम जन्म पाते हैं, जिसका अन्न, जल और वायु सेवन कर हमारा पोषण होता है, जिसके रजकण में खेल खेलकर हम बड़े होते हैं उस मातृभूमि के प्रति श्रद्धापूर्ण ममत्व स्वाभाविक ही है। आचार्य शुक्ल ने 'लोभ और प्रीति' निबंध में लिखा है—"यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा; सबको वह चाहभरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में आँसू बहाएगा।" फिर भारतवर्ष की भौगोलिक विराटता, प्राकृतिक सुषमा, अमृतमय जल, पवित्र अन्न और स्वर्णिम धूलिकण तो देवताओं को भी लालायित करते रहे हैं। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है यदि गुप्त जी इस दिव्य भूमि के रजकण को सबके माथे का श्रृंगार मानते हैं—

राम, कृष्ण, जिन, बुद्ध आदि के रखते हैं आदर्श अपार।
रज भी है इस पुण्यभूमि की सबके माथे का श्रृंगार॥

(स्वदेश संगीत, पृष्ठ ७८)

कितनी सघन रागात्मकता है मातृभूमि के प्रति! प्रसाद जी के अनेक गीतों में मातृभूमि के प्रति उनके हृदय का घनीभूत प्रेम और श्रद्धापूर्ण ममत्व प्रकट हुआ है, यथा—

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

× × ×

हेमकुंभ ले उषा सबेरे भरती ढुलकाती सुख मेरे।
मदिर ऊँघते रहते जब जगकर रजनी भर तारा॥

(चंद्रगुप्त, पृष्ठ ८१)

और निराला ने तो भारतभूमि को देवीरूप में ही प्रतिष्ठित कर दिया है—

भारति, जय विजय करे,
कनक - शस्य-कमल धरे।
लंका पदतल शतदल,
गर्जितोर्मि सागरजल
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु अर्थ भरे।

× × ×

मुकुट शुभ्र हिमतुषार,
प्राण प्रणव ओंकार,

ध्वनित दिशाएँ उदार,
शतमुख शतरव मुखरे।

(गीतिका; पृष्ठ ६८)

मातृभूमि ही नहीं, उसके अंगभूत गंगा, हिमालय, आदि का वर्णन भी राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता में बड़े मनोयोग से हुआ है। साकेत में जनकसुता के माध्यम से कवि की अपनी आत्मा ही गंगा का स्तवन करती है—

जय गंगे, आनंद तरंगे कलरवे,
अमलअंचले, पुण्यजले, दिवसंभवे।
सरस रहे यह भरतभूमि तुमसे सदा,
हम सबकी तुम एक चलाचल संपदा।

(साकेत, पृष्ठ १०३)

दिनकर 'जननी' के हिमकिरीट हिमालय के प्रति असीम ममत्व प्रकट करते हैं—

साकार, दिव्य, गौरव विराट
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल
मेरी जननी के हिमकिरीट!
मेरे भारत के दिव्य भाल!
मेरे नगपति! मेरे विशाल!

(रेणुका, पृष्ठ ४)

मातृभूमि के प्रति यह रागात्मकता ही तो उसकी भौगोलिक सीमाओं की रक्षा के लिये देशवासियों को संनद्ध करती है।

मानववादी दृष्टि

आलोच्य काल की राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता सर्वथा असंकीर्ण तथा अत्यंत उदार है। पराधीनतापाश से स्वदेशमुक्ति इसका मुख्य लक्ष्य होने पर भी यह वैमनस्यपूर्ण तथा अंतरराष्ट्रीयता विरोधी नहीं है। अधिकांश राष्ट्रीय कवियों ने भारत के कल्याण को विश्वकल्याण के रूप में देखा है तथा भारतवासियों की प्रगति की कल्पना मानव मात्र की प्रगति के रूप में की है। नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त तथा पंत आदि में यह स्वर अधिक स्पष्ट और मुखर है—

नवीन :

देश विदेश संकुचित जन का, है अनुचित संकुचित विचार,
है मनीषियों का स्वदेश वह, जहाँ सत्य शिव का विस्तार।

हैं जग के नागरिक सभी हम, सब जग भर यह अपना है,
सीमित देश - विदेश - कल्पना मिथ्या भ्रम का सपना है।
देश काल का अतिक्रमण कर बनना है हमको विजयी,
फिर क्यों खींचें हम अपनी यह सीमारेखा नई नई?

(ऊर्मिला, पृष्ठ ५५८)

पंत :

क्यों न एक हों मानव मानव सभी परस्पर
मानवता निर्माण करें जग में लोकोत्तर?
जीवन का प्रासाद उठे भू पर गौरवमय,
मानव का साम्राज्य बने,—मानव हित निश्चय!
जीवन की क्षणधूलि रह सके जहाँ सुरक्षित
रक्त मांस की इच्छाएँ जन की हों पूरित!
मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें; मानव ईश्वर!
और कौन सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर?

(आधुनिक कवि पंत, पृष्ठ ७६)

सियारामशरण गुप्त :

निगल रही है इस जगती को
लौहयंत्रिणी दानवता,
पड़ी धूल में है बेचारी,
आज विश्व की मानवता।
दान अभयता का दे तूने
उसे उठाया नीचे से
फिर से झलक उठी है उसमें
जाग्रत जीवन की नवता।

(पाथेय, पृष्ठ १०७)

काव्यरूप की दृष्टि से राष्ट्रीय भावना मुख्यतः दो रूपों—प्रबंध काव्य और प्रगीत—में प्रकट हुई है। इसपर भी पृथक् पृथक् विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा।

प्रबंध काव्य

साकेत :

उत्कर्षकाल में लिखे गए प्रबंध काव्यों में राष्ट्रीय सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वोच्च स्थान साकेत का है। यद्यपि साकेत की रचना का मुख्य उद्देश्य उपेक्षिता उर्मिला

का उद्धार रहा है, फिर भी गुप्त जी ने अपनी हृद्गत राष्ट्रीय भावना को व्यक्त करने के अनेक अवसर निकाल लिए हैं। वस्तुतः साकेतकार ने तो राम-रावण-युद्ध को ही दो संस्कृतियों के युद्ध के रूप में उपस्थित किया है तथा सीता को बंदिनी भारतमाता के रूप में चित्रित किया है—

भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में,
सिंधु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।

साकेत की ऐतिहासिक पौराणिक कथा के द्वारा गुप्त जी ने बड़े मनोयोग से अतीत का गौरवगान किया है। साकेत में गुप्त जी ने भारत के समृद्ध अतीत को अयोध्या के माध्यम से प्रस्तुत किया है —

है अयोध्या अवनि की अमरावती,
इंद्र हैं दशरथ विदित वीरव्रती,
वैजयंत विशाल उनके धाम हैं,
और नंदन वन बने आराम हैं।

पौरजनों का पारस्परिक स्नेह सद्भाव भी उल्लेखनीय है—

एक तरु के विविध सुमनों से खिले,
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले।

यथास्थान स्पष्टतः देश के प्रति अनुराग की व्यंजना भी की है। वनगमन के अवसर पर राम जन्मभूमि को संबोधन कर निम्नलिखित उद्गार प्रकट करते हैं—

जन्मभूमि, ले प्रणति और प्रस्थान दे,
हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे।
तेरे कीर्तिस्तंभ, सौध, मंदिर यथा—
रहें हमारे शीर्ष समुन्नत सर्वथा।

देश की प्रकृति के अनेक मनोरम चित्र भी हृद्गत राष्ट्रीय भावना के ही द्योतक हैं। उदाहरणार्थ हिमालय, गंगा आदि के चित्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं। किंतु गुप्त जी की राष्ट्रीयता संकुचित राष्ट्रीयता नहीं है। साकेत के राम केवल भारतवर्ष को ही नहीं, समस्त भूतल को ही स्वर्ग बनाना चाहते हैं—

भव में नव वैभव, प्राप्त कराने आया,
× × ×
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

ऊर्मिला :

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' विरचित 'ऊर्मिला' का उद्देश्य भी लक्ष्मण-

पत्नी ऊर्मिला के उज्वल चरित्र का प्रस्तुतीकरण रहा है फिर भी यथास्थान राष्ट्रीय सांस्कृतिक भावना को वाणी मिली है। सीता तथा ऊर्मिला के शैशव-कालीन वार्तालाप में भी कवि राष्ट्रीय गौरवसंपन्न कथाओं का समावेश कर देता है। सीता ऊर्मिला को कथा सुनाती हैं कि एक अनार्य राजा ने गांधार की राजकुमारी को प्राप्त करने के लिये गांधार प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। गांधार के राजा तथा राजकुमार बंदी हो जाते हैं। तब राजकुमारी राष्ट्ररक्षा के लिये तत्पर है—

आर्यों की बेटी हूँ, माँ, मैं इस खल को समझूँगी।
हूँ गांधार देश की बाला, देखूँगी इस शठ को,
ठोकर मार चूर्ण कर दूँगी इसके कच्चे घट को।
यह कृतघ्न निज दर्पमृत्तिका का कच्चा घट लाकर—
आर्यों की मेदिनीशिला से टकराता है आकर?
विश्व देख ले आज कि किसको आर्यसुता कहते हैं,
यह भी देखे विश्व कि किसको अग्निहुता कहते हैं।

इस प्रकार कवि ने आर्य ललना का एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया जो कायरों में भी उत्साह का संचार करने में समर्थ है।

गांधारप्रदेश पर अनार्यों के आक्रमण को नवीन जी ने भारत पर ही विदेशियों के आक्रमण और आधिपत्य के रूप में देखा है। अतएव इस दुर्गति से माँ को मुक्ति दिलाने के व्याज से भारत को ही अंग्रेजी शासन से मुक्ति दिलाने की प्रेरणा देते हैं:

स्वर्गादपि गरीयसी प्यारी, जन्मभूमि का पल्ला—
खींचा है दुष्टों ने, बोला है स्वदेश पर हल्ला,
कौन हृदय है जो कि न उबले निज समाज की क्षति में?
कौन आँख है देख सके जो माँ को इस दुर्गति में?

ऊर्मिला में भारत के महिमामंडित अतीत का भी गौरवगान है, यथा—

पर चलने के पूर्व यहाँ से कर ले तू वंदन, अभिराम—
इस सरयू सरिता का, जिसकी बालू में खेले हैं राम,
रघु ने जहाँ तपस्या करके,
आर्यधर्म पाला जी भर के,
जहाँ दिलीप सुधन्वा विचरे,
राजदंड शुभ कर में धरके;
आर्य सभ्यता के प्रकाश का एक अंश जिन कूलों से—
फैला वहीं चढ़ा दे अंजलि तू आँखों के फूलों से।

नवीन जी के अनुसार राष्ट्रीयता अंतरराष्ट्रीयता की अविरोधी ही होनी चाहिए। एक स्थान पर उन्होंने राम से कहलाया है—

राष्ट्रधर्म कैसे हो सकता
जनगण का ऐकांतिक धर्म ?
पक्षसमर्थन सदा राष्ट्र का,
हो सकता है निपट अधर्म ।

कामायनी :

उत्कर्षकालीन महाकाव्यों में कामायनी का अन्यतम स्थान है। कामायनी में आदि मानव द्वारा नूतन मानवी सृष्टि के विकास और हृदय की शाश्वत मनोवृत्तियों का विश्लेषण हुआ है। यद्यपि प्रस्तुत काव्य में राष्ट्रीयता का प्रतिपादन नहीं हुआ है, फिर भी समसामयिक भावना से प्रसाद जी सर्वथा अछूते नहीं रहे। श्रद्धा के द्वारा उन्होंने जागरण एवं कर्तव्यपालन का संदेश दिया है। वह जड़ में स्फूर्ति उत्पन्न करनेवाली, मनु को कर्म की प्रेरणा देनेवाली तथा 'तप नहीं केवल जीवन सत्य' का उपदेश देकर कर्तव्य की ओर अग्रसर करनेवाली है। कर्तव्यपालन के अतिरिक्त प्रसाद जी ने लोकमंगल एवं विश्वप्रेम का संदेश दिया है। वस्तुतः प्रसाद अंतरराष्ट्रीयता की अविरोधी असंकीर्ण राष्ट्रीयता के ही पोषक हैं। अतएव 'विजयिनी मानवता हो जाय' की घोषणा करते हैं।

नूरजहाँ :

गुरुभक्तसिंह 'भक्त' के 'नूरजहाँ' में इतिहासप्रसिद्ध मुगल साम्राज्ञी नूरजहाँ की जीवनगाथा आलिखित है। जहाँगीर और नूरजहाँ के माध्यम से अतीत की झलक मिल जाती है। देश की प्राकृतिक शोभा तथा सुखी ग्राम्य जीवन के चित्र सुंदर बन पड़े हैं। दो एक स्थलों सर प्रत्यक्षतः राष्ट्रीयतापूर्ण उद्‌गार प्रकट हुए हैं :

जहाँ हमारा जन्म हुआ है वहीं हमारा स्वर्गस्थान।

(नूरजहाँ, पृष्ठ ५)

इस भू की मिट्टी पानी से यह काया है बनी हुई,
दुख सुख के कितने आँसू से पावन रज है सनी हुई।

(नूरजहाँ, पृ० ५)

रामचरितचिंतामणि, रामचंद्रोदय काव्य तथा सिद्धार्थ :

इन तीनों महाकाव्यों के कथानक परंपरागत, ऐतिहासिक पौराणिक हैं। अतएव अतीत का गौरवगान हुआ है। किंतु किसी नूतन दृष्टि के अभाव

में परंपरागत आख्यानों का पुनराख्यान मात्र है। अतीत गौरव के अतिरिक्त मातृभूमि की वंदना एवं प्रशंसा तथा प्रकृतिचित्रण के रूप में ही इनमें यत्किंचित् राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति हुई है, यथा—

(क) सुभग सुंदर भारत धन्य है, न धरणी इसके सम अन्य है।
जगतताप विनाशन के लिये, प्रभु यहीं अवतीर्ण हुए सदा। (सिद्धार्थ)

(ख) राज करते थे अवधपुरी में अमरपति से सुखी।
एक नर भी स्वप्न में भी था नहीं कोई दुखी।
(रामचरितचिंतामणि)

उत्कर्षकाल में उपर्युक्त बृहत् प्रबंध काव्यों (महाकाव्यों) के साथ ही अनेक राष्ट्रीय भावनासंपन्न खंडकाव्यों का भी निर्माण हुआ। आगे उनमें से प्रमुख रचनाओं पर पृथक् पृथक् विचार किया जाएगा।

सिद्धराज :

मैथिलीशरण गुप्त विरचित 'सिद्धराज' का कथानक मध्यकालीन इतिहास से गृहीत है। इसमें महाराजा जयसिंह के अनुपम शौर्य, पराक्रम, मातृभक्ति तथा औदार्य की प्रस्तुति के द्वारा अतीत का गौरवगान हुआ है। आदर्श राजा जयसिंह के गुणों के अतिरिक्त मालव के निवासियों की देशभक्ति का बखान हुआ है। मालवनिवासी राष्ट्र के संमान की रक्षा के निमित्त कोई भी बलिदान करने को उद्यत हैं तथा राष्ट्र के लिये उत्सर्ग करनेवालों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं—

किंतु धन्य हैं वे नरनारी धन्य, जिनके
पुत्र, पति, भाई और बंधु बढ़ बढ़के
वीर गति पावें रख मान मातृभूमि का
(सिद्धराज)

वीरवर जगद्देव अपनी सेना के युद्ध में पराजित हो जाने पर भी अपनी जन्मभूमि की श्रेष्ठता और स्वतंत्रता की घोषणा करते हैं :

अब भी स्वतंत्र है अवंती निज शक्ति से ;
मेरी यह जन्मभूमि जननी जगत में,
मेरे प्राण रहते रहेगी महारानी ही
किंकरी न होगी किसी नरपाल की।
पंचतत्व मेरी पुण्यभूमि के हैं मुझमें
कहला रहे हैं यही मुझसे पुकार के—
हम परतंत्र नहीं सर्वथा स्वतंत्र हैं।
(सिद्धराज)

पथिक तथा स्वप्न :

उत्कर्षकालीन खंडकाव्यकारों में स्वर्गीय रामनरेश त्रिपाठी को बहुत ख्याति मिली। इनके 'पथिक' की सुधी आलोचकों और सहृदय पाठकों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। इनका 'स्वप्न' भी अत्यंत लोकप्रिय काव्य है। 'पथिक' और 'स्वप्न'—दोनों ही काव्यों में काल्पनिक कथा के माध्यम से देश की समसामयिक सामाजिक राजनीतिक दुर्दशा तथा उससे त्राण पाने के लिये जनता को उद्बुद्ध किया गया है। 'पथिक' एक ऐसे व्यक्ति की कथा है जो जनजीवन के वैषम्यों को देखकर खिन्न हो उठता है और राजतंत्र को उसका मूल कारण निर्धारित कर राष्ट्रसेवा में जुट जाता है, प्रजा को अपने अधिकारों का बोध कराता है तथा राष्ट्रसेवा के मार्ग पर चलता हुआ ही सपरिवार अपनी बलि दे देता है। इस प्रकार 'पथिक' में लेखक ने राजतंत्र को ही सब बुराइयों की जड़ बताया तथा आत्म-बलिदान की प्रेरणा दी। 'स्वप्न' में बसंत नामक एक ऐसे युवक का अंतर्द्वंद्व है जो एक ओर विलासिता तथा दूसरी ओर देशदुर्दशा के बोध से उत्पन्न राष्ट्रसेवा-रूप कर्तव्य में से किसको अपनाए, इस बात का निश्चय करने में असमर्थ है। अंततः अपनी पत्नी सुमना की सत्प्रेरणा से बसंत राष्ट्रसेवा का चयन करता है और युद्धक्षेत्र में जाकर शत्रु को पराजित करता है। फलस्वरूप प्रशंसा और देशवासियों के आदर का पात्र बनता है। सुमना की प्रेरणा बसंत के लिये ही नहीं वस्तुतः संपूर्ण देशवासियों के लिये है। 'पथिक' और 'स्वप्न' से देशभक्तिपूर्ण कुछ स्थल उद्धृत हैं :

(अ) एक घड़ी की परवशता भी कोटि नरक के सम है।
पल भर की भी स्वतंत्रता सौ स्वर्गों से उत्तम है।
जब तक जग में मान तुम्हारा तब तक जीवन धारो।
जब तक जीवन है शरीर में तब तक धर्म न हारो। (पथिक)

(आ) यह प्रत्येक देशवासी का सत्कर्तव्य अटल है।
करे देशसेवा में अर्पण उसमें जितना बल है।
किंतु न बदले में जनता से मान सुभीता चाहे।
स्वार्थभाव को छोड़ उसे है उचित स्वधर्म निबाहे। (पथिक)

(इ) वे न जानते थे भूतल पर
जीवित रहना पराधीन बन,
न्याय और स्वातंत्र्य जगत में
उनके थे दो ही जीवनधन।

सुन नृप की घोषणा शत्रु की
प्रबल शक्ति का पाकर परिचय,
किया उन्होंने शीघ्र शत्रु को
उचित दंड देने का निश्चय। (स्वप्न)

(ई) राष्ट्रधर्म पालन को सबसे
श्रेष्ठ मान जग से विराग कर,
खोल दिया था जन्मभूमि की
सेवा का पथ देह त्याग कर। (स्वप्न)

तुलसीदास :

निरालाकृत 'तुलसीदास' एक श्रेष्ठ अंतर्मुखी खंडकाव्य है। रत्नावली द्वारा की गई तुलसीदास की भर्त्सना विषयक प्रसिद्ध जनश्रुति का आधार ग्रहण कर निराला ने एक अभिनव काव्यसृष्टि की है।

'तुलसीदास' के कथानक को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग में भारत के सांस्कृतिक ह्रास के चित्रण तथा ऐसे समय में—'युवकों में प्रमुख रत्नचेतन, समधीत शास्त्र काव्यालोचन'—तुलसीदास के जीवन में पदार्पण का उल्लेख है। दूसरे भाग में मित्रों सहित तुलसीदास के चित्रकूट भ्रमण का वृत्तांत है। तीसरे भाग में तुलसी की अनुपस्थिति में रत्नावली का नैहर जाना, उनका श्वसुरालय पहुँचना तथा रत्नावलीकृत भर्त्सना और तज्जन्य वैराग्य वर्णित है। 'तुलसीदास' में युगीन समस्याओं और सांस्कृतिक पराभव की भी प्रस्तुति हुई है—

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मंडल। (तुलसीदास)

विदेशी संस्कृति में अनुरक्ति के माध्यम से आधुनिक युग की फैशनपरस्ती और पाश्चात्य भक्ति का ही चित्रण हुआ है—

सोचता कहाँ रे, किधर कूल
बहता तरंग का प्रमुद फूल ?
यों इस प्रवाह में देश मूल खो बहता;
'छल छल छल' कहता यद्यपि जल
वह मंत्रमुग्ध सुनता 'कल कल';
निष्क्रिय; शोभाप्रिय कूलोपल ज्यों रहता। (तुलसीदास)

उससे अप्रभावित रहकर ही प्रगति और उत्थान संभव है। 'तुलसीदास' का कवि यही संदेश देना चाहता है।

आत्मोत्सर्ग :

सियारामशरणकृत 'आत्मोत्सर्ग' में प्रसिद्ध देशभक्त गणेशशंकर विद्यार्थी के आत्मबलिदान की घटना को आबद्ध किया गया है। १९३१ ई० में होनेवाले कानपुर के हिंदू मुस्लिम दंगे को रोकने के प्रयास में विद्यार्थी जी का बलिदान हुआ था। 'आत्मोत्सर्ग' में सांप्रदायिक विद्वेष के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक स्थिति का भी अच्छा चित्रण हुआ है। प्रस्तुत काव्य में सियारामशरण धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता का प्रतिपादन करते हैं—

अब मत माँगो, अपने हाथों
अरे बहुत तुमने भोगा;
हिंदू मुसलमान दोनों का
यह संयुक्त राष्ट्र होगा।' (आत्मोत्सर्ग)

प्रगीत

उत्कर्ष काल में राष्ट्रीय सांस्कृतिक भावना की अभिव्यक्ति के लिये प्रगीत भी मुख्य विधा रही है। इस कालखंड की कविता में अपने देश की श्रेष्ठता का प्रतिपादन, पूर्वजों का गौरवगान तथा प्राचीनों की उदात्त वीरता का बखान अनेक प्रगीतों में बड़ी श्रद्धा, भक्ति और तन्मयता से हुआ है। कितने विश्वास के साथ प्रसाद आत्मगौरव का वर्णन करते हैं—

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरकहार।
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नष्ट अखिल संसृति हो उठी अशोक।
(स्कंदगुप्त, पृष्ठ १४४)

यहाँ व्यक्तित्व के अभाव की शंका हो सकती है—किंतु ये पंक्तियाँ कवि के हृदयरस से सिक्त हैं, उसकी अपनी दृष्टि से दृष्ट हैं और अपने अनुराग से सराबोर हैं। जलियाँवाले बाग के दुर्दांत कांड से द्रवित कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहान की हृद्गत करुणा उमड़ पड़ी है—

कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा खाकर।
कलियाँ उनके लिये गिराना थोड़ी लाकर॥

आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए हैं।
अपने प्रिय परिवार देश से भिन्न हुए हैं।

(मुकुल, पृष्ठ ८१)

'पुष्प की अभिलाषा' कविता में माखनलाल चतुर्वेदी का घनीभूत देशप्रेम ही प्रकट हुआ है—

चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ,
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ,
मुझे तोड़ लेना वनमाली !
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक।

(युगचरण, पृष्ठ ३१)

जीवन में और कोई आकांक्षा नहीं, बड़े से बड़ा आकर्षण और प्रलोभन त्याग केवल मातृभूमि के वीर सिपाहियों के चरणस्पर्श की अभिलाषा है। देशप्रेम का कैसा सात्विक और सघन स्वरूप है। अतीत के सुख सुहाग, समृद्धि और ऐश्वर्य से दीन हीन वर्तमान की तुलना कर दिनकर की आत्मा चीत्कार कर उठी है—

तूने सुख सुहाग देखा है,
उदय और फिर अस्त, सखी !
देख आज निज युवराजों को
भिक्षाटन में व्यस्त सखी !
एक एक कर गिरे मुकुट,
विकसित वन भस्मीभूत हुआ,
तेरे संमुख महासिंधु
सूखा सैकत उद्भूत हुआ।

(रेणुका, पृष्ठ २६)

नवीन के स्वरों में तो देश का क्षुब्ध यौवन पराधीनतापाश को काटने के लिये तत्पर हो गया है—

ओ भिखमंगे, अरे पराजित, ओ मजलूम, अरे चिरदोहित,
तू अखंड भंडार शक्ति का, जाग अरे निद्रा संमोहित,

प्राणों को तड़पानेवाली हुंकारों से जल थल भर दे,
अनाचार के अंबारों में अपना ज्वलित फलीता धर दे।
(हम विषपायी जनम के, पृष्ठ ४९५)

कवि की हृद्‌गत क्षोभज्वाला के स्फुलिंग ही उपर्युक्त अवतरण में प्रकट हुए हैं। मैथिलीशरण गुप्त देश की धूलि को परम पावन, 'माथे का शृंगार' मानते हैं—

राम, कृष्ण, जिन, बुद्ध आदि के रखते हैं आदर्श अपार।
रज भी है इस पुण्य भूमि की सबके माथे का शृंगार।[1]

मैं समझता हूँ, यह रागात्मकता की पराकाष्ठा है। प्रसाद, निराला, पंत, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान तथा सियारामशरण गुप्त इस युग के प्रमुख राष्ट्रीय प्रगीतकार हैं। इनके प्रसिद्ध राष्ट्रीय प्रगीतों की प्रथम पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं:

प्रसाद—

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
हिमाद्रि तुंग शृंग से·······
हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
देश की दुर्दशा निहारोगे।

निराला—

जागो फिर एक बार।
क्या यह वही देश है ?
भारति जय विजय करे।
नर जीवन के स्वार्थ सकल बलि हों तेरे चरणों पर माँ।

पंत—

ज्योति देश, जय भारत देश।
भारत माता ग्रामवासिनी।

माखनलाल चतुर्वेदी—

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
जो कष्टों से घबराऊँ तो मुझमें कायर में भेद कहाँ ?
प्रिय न्याय तुम्हारा कैसा, अन्याय तुम्हारा कैसा ?

[1] स्वदेश संगीत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७८।

सुभद्राकुमारी चौहान—

वीरों का कैसा हो वसंत !
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी।
आ स्वतंत्र प्यारे स्वदेश आ स्वागत करती हूँ तेरा।

सियारामशरण गुप्त —

प्रार्थना है आज जन जन की।
देश अरे मेरे देश, तेरी उच्चता में दृढ़ है नगेश।

प्रतिनिधि कवि

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता के विकास में प्रसाद, पंत, निराला का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। किंतु उनका परिचय छायावाद के प्रतिनिधि कवियों के रूप में अन्यत्र दिया गया है। यहाँ इस धारा के अन्य महत्त्वपूर्ण कवियों का परिचय ही दिया जाएगा।

सियारामशरण गुप्त

चिरगाँव, जिला झाँसी के वैश्य परिवार में सन् १८९५ ई० में इनका जन्म हुआ था। ये राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के अनुज थे। यौवन के आरंभ से ही ये भयंकर श्वास रोग से पीड़ित रहे। कई संतानों तथा पत्नी के असामयिक निधन ने इनके जीवन को करुणा और व्यथा से भर दिया था। सियारामशरण की स्कूली शिक्षा प्राइमरी से आगे नहीं हो सकी। संस्कृत, बँगला तथा अंग्रेजी का अभ्यास इन्होंने घर पर ही किया था। इनका तपःपूत व्यक्तित्व सादगी, सरलता, नम्रता और आत्मीयता की प्रतिमूर्ति था। ये सदैव खादी का व्यवहार करते थे।

सियारामशरण गुप्त की प्रथम रचना सन् १९१० में 'इंदु' में प्रकाशित हुई। फिर इनकी अनेक रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। सर्वप्रथम पुस्तक 'मौर्यविजय' सन् १९१४ में छपी। इनका काव्य अनुभूति और आस्था का काव्य है। युद्ध और संघर्ष के इस युग में भी ये प्रेम, करुणा, सद्भाव और शांति का ही संदेश देते हैं। गांधी और विनोबा भावे से ये बहुत प्रभावित हैं। अन्यान्य कवियों ने जहाँ गांधीवाद के बाह्य पक्ष को अपने काव्य का विषय बनाया है वहाँ सियारामशरण ने उसके अंतर्दर्शन को ग्रहण किया है। अतएव इनके काव्य में आंदोलनों की हलचल न मिलकर करुणा, मैत्री, सत्य और अहिंसा की सात्विकता का प्रसार है। अपने देश पर इनको सदा गर्व रहा है। उसके भौतिक तथा आत्मिक उत्कर्ष के चित्रण के निमित्त ही इन्होंने अतीत पर दृष्टिपात किया है। 'मौर्यविजय' में चंद्रगुप्त की विजय का वर्णन है तो 'नकुल' में युधिष्ठिर के आंतरिक

सौंदर्य का उद्घाटन हुआ है। किंतु इनकी यह राष्ट्रीय भावना संकुचित एवं अनुदार नहीं है। ये मानव मात्र के अभय और कल्याण की कामना ही करते हैं :

प्रार्थना है आज जन जन की,
जन की न होके यह जनता की जय हो।
निखिल भुवन की
पीड़ित मनुष्यता जहाँ भी अभय हो।
　×　　　　　×　　　　　×
जय हो सदैव प्रभो, भारत की जय हो।

(जयहिंद)

सियारामशरण की काव्यकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—'मौर्यविजय', 'अनाथ', 'दूर्वादल', 'विषाद', 'आर्द्रा', 'आत्मोत्सर्ग', 'पाथेय', 'मृण्मयी', 'बापू', 'उन्मुक्त', 'दैनिकी', 'नकुल', 'नोआखली', 'जयहिंद' तथा 'गोपिका'।

सियारामशरण बहुमुखी साहित्यकार हैं। कविता के अतिरिक्त इन्होंने उपन्यास, कहानियाँ तथा निबंध भी लिखे हैं। 'गोद', 'अंतिम आकांक्षा' तथा 'नारी' इनके तीन उपन्यास हैं। कविता के समान ही इनके उपन्यास भी गांधी दर्शन से प्रभावित हैं। 'झूठ सच' सियारामशरण के संस्मरणात्मक, भावात्मक तथा विचारात्मक उच्च कोटि के निबंधों का संग्रह है। इसमें कवि प्रौढ़ गद्यलेखक के रूप में हमारे सामने आते हैं। इनकी कहानियाँ 'मानुषी' में संगृहीत हैं। कविता और उपन्यासों के समान ही कहानियों में भी गांधी दर्शन की विवृति मिलती है। इन्होंने 'पुण्यपर्व' नामक एक नाटक की रचना भी की है। 'गीतासंवाद' के नाम से इन्होंने गीता का समश्लोकी अनुवाद किया है।

इनकी भाषा प्रसाद-गुण-संपन्न तथा संस्कृत के सरल एवं सुपाच्य शब्दों से युक्त है। अधिकांशतः इन्होंने मुक्त छंद का प्रयोग किया है जिसपर इनका अद्भुत अधिकार है।

२९ मार्च, सन् १९६३ को इनका निधन हुआ।

माखनलाल चतुर्वेदी

माखनलाल चतुर्वेदी आधुनिककालीन राष्ट्रीय भावनासंपन्न काव्य के शीर्षस्थ कवि हैं। इनका जन्म मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले के बावई ग्राम में ४ अप्रैल, सन् १८८९ को हुआ। इनके पिता श्री नंदलाल चतुर्वेदी इसी ग्राम में एक अध्यापक थे। फलतः इनकी प्रारंभिक शिक्षा दीक्षा बावई में ही हुई। मिडिल की परीक्षा के लिये इन्हें जबलपुर भेजा गया। उन्हीं दिनों इनका

परिचय वहाँ के कुछ तरुण क्रांतिकारियों से हुआ। कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के अवसर पर चतुर्वेदी जी लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के संपर्क में आए और इन्होंने कांग्रेस में भाग लेना प्रारंभ कर दिया।

चतुर्वेदी परिवार पर राधावल्लभ संप्रदाय का बहुत प्रभाव था अतः वैष्णव पदों का गायन इस परिवार में एक परंपरा बन गई थी। बचपन में माखनलाल चतुर्वेदी को इनकी बुआ ने कई वैष्णव पद कंठस्थ कराए थे जिसके फलस्वरूप इनके मन में वैष्णव संस्कारों की सुदृढ़ नींव जम गई। ये संस्कार आगे चलकर इनके कृतित्व को किसी न किसी रूप में प्रभावित करते रहे हैं।

युवावस्था में ही इनपर सैयद अली 'मीर', स्वामी रामतीर्थ एवं पं० माधवराव सप्रे—इन तीन महापुरुषों का प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप इनके व्यक्तित्व का निर्माण काव्य, आध्यात्मिकता एवं देशभक्ति—इन तीन उपकरणों के संयोग से हुआ। पं० माधवराव सप्रे को तो चतुर्वेदी जी जीवन भर अपने राजनीतिक गुरु के रूप में स्वीकार करते रहे।

सन् १९१३ में इन्होंने 'प्रभा' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। सन् १९१५ में इन्हें कुछ कारणों से 'प्रभा' का प्रकाशन स्थगित कर देना पड़ा, तब गणेशशंकर विद्यार्थी ने इन्हें 'प्रताप' के संपादन के लिये कानपुर बुला लिया। इस पत्र में श्री चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से अपनी कविताएँ प्रकाशित कराते रहे। विद्यार्थी जी के संपर्क में आने पर इनकी राष्ट्रीय भावनाओं को एक सुनिश्चित आकार प्राप्त होता चला गया। सन् १९२० में पं० माधवराव सप्रे के संचालन में जबलपुर से प्रकाशित होनेवाले पत्र 'कर्मवीर' का इन्होंने संपादनभार सँभाला। सप्रे जी के देहांत के पश्चात् इन्होंने इसी पत्र को खंडवा से प्रकाशित किया और तभी से 'कर्मवीर' इनकी आत्माभिव्यक्ति का प्रमुख साधन बन गया।

वैसे तो चतुर्वेदी जी का जीवन एक अध्यापक के रूप में आरंभ हुआ था किंतु पत्रकारिता के साथ साथ राजनीति में भाग लेते हुए ही इनके जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत हुआ। ये सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता थे। इनका राजनीतिक जीवन यद्यपि क्रांतिकारी दल के एक सदस्य के रूप में प्रारंभ हुआ था, तथापि गांधी जी के प्रभाव से इन्होंने शनैः शनैः 'अहिंसा' के महत्व को समझा और उसे सिद्धांत तथा व्यवहार में ग्रहण किया। अपने राजनीतिक जीवन में ये सन् १९२०, '२३ और '३० में कई बार जेल भी गए। जेल में रहते हुए इन्होंने अपनी कई महत्वपूर्ण रचनाओं का निर्माण भी किया।

चतुर्वेदी जी की कविता का मूल स्वर राष्ट्रीय भावना है। इनके अपने

मतानुसार वास्तविक साहित्य वही होता है, जिसके दर्पण में राष्ट्र झाँक उठता है। वस्तुतः इनकी राष्ट्रीयता को संक्षेप में 'बलिदानवादी राष्ट्रीयता' कहा जा सकता है। 'पुष्प की अभिलाषा' नामक कविता में पुष्प की यह आकांक्षा कि उसे मातृभूमि पर शीश चढ़ाने के लिये जानेवाले सिपाहियों के पथ पर फेंक दिया जाए, कवि की अपनी अभिलाषा ही है।

राष्ट्रीय कविताओं के अतिरिक्त चतुर्वेदी जी के प्रारंभिक काव्य में मध्ययुगीन भक्तों का सा स्वर भी सुनाई पड़ता है। इनकी ऐसी रहस्यमयी कविताओं में निर्गुण सगुण भावना का मिश्रण है और कहीं कहीं गीतांजलि का प्रभाव भी स्पष्ट है। इनके काव्य का एक अन्य मुख्य विषय प्रेम है। प्रेम के अमर गायक के रूप में चतुर्वेदी जी की अपनी एक नवीन दिशा है। इनका प्रेम त्यागमूलक है जिसका आधार है उत्सर्ग।

चतुर्वेदी जी के प्रमुख कवितासंग्रह हैं—हिमकिरीटिनी, हिमतरंगिनी, माता, युगचरण, समर्पण, वेणु लो गूँजे धरा आदि। चतुर्वेदी जी कवि के अतिरिक्त नाटककार, निबंधकार एवं कहानीकार के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। 'कृष्णार्जुन युद्ध' इनका प्रसिद्ध नाटक है। साहित्यदेवता और अमीर इरादे : गरीब इरादे इनके निबंधसंग्रह तथा कला का अनुवाद कहानीसंग्रह हैं।

सन् १९४३ में इन्हें हिंदी साहित्य संमेलन के हरिद्वार अधिवेशन का सभापति निर्वाचित किया गया। इसी वर्ष इन्हें 'देव पुरस्कार' प्रदान किया गया। सन् १९४७ में इन्हें 'साहित्यवाचस्पति' की उपाधि देकर संमानित किया गया। इनके काव्यसंकलन 'हिमतरंगिनी' पर साहित्य अकादमी ने पाँच सहस्र रुपए का पुरस्कार दिया। सन् १९५९ में सागर विश्वविद्यालय ने इनकी साहित्यिक सेवाओं का संमान करते हुए इन्हें डी० लिट्० की आनरेरी डिग्री प्रदान की। २६ जनवरी, १९६३ को भारत सरकार ने इन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि से संमानित किया।

३० जनवरी, सन् १९६८ को इनका निधन हुआ।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

८ दिसंबर, सन् १८९७ को ग्वालियर राज्य के भयाना नामक गाँव में इनका जन्म हुआ। पिता श्री जमुनादास वैष्णव भक्त किंतु दरिद्र ब्राह्मण थे। ११ वर्ष तक बालक 'नवीन' की शिक्षा का कोई प्रबंध न हो सका। ११ वर्ष की अवस्था में ये शाजापुर के स्कूल में भरती हुए। वहाँ से मिडिल पास कर उज्जैन चले गए और वहाँ माधव विद्यालय में दाखिल हो गए। सन् १९१६ में कांग्रेस अधिवेशन देखने के लिये ये लखनऊ गए। वहाँ संयोगवश माखनलाल

चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त एवं गणेशशंकर विद्यार्थी से इनकी भेंट हुई। यह भेंट इनके जीवन में बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

सन् १९१७ में हाई स्कूल परीक्षा पास करने के पश्चात् ये कॉलिज शिक्षा के लिये कानपुर चले गए। वहाँ विद्यार्थी जी ने इन्हें कॉलिज में दाखिल कराया तथा निर्वाह के लिये एक ट्यूशन का प्रबंध भी करा दिया। सन् १९२० में जब कि ये बी० ए० अंतिम वर्ष के छात्र थे इन्होंने गांधी जी के आह्वान पर कॉलिज छोड़ दिया। १९२१ में सत्याग्रह आंदोलन में भाग लेने पर इन्हें पहली बार डेढ़ वर्ष की सजा हुई। उसके बाद तो कई बार इन्होंने जेल यात्रा की। सब मिलाकर ये छह बार जेल गए और लगभग नौ वर्ष कारावास की सजा भोगी। १९२१ से लेकर अंत तक नवीन जी राजनीति में सक्रिय भाग लेते रहे। ये उत्तर प्रदेश के वरिष्ठ राजनीतिक तथा कानपुर क्षेत्र के अग्रणी नेता थे।

स्वतंत्रताप्राप्ति पर १९४७ में ये संविधान परिषद् के सदस्य मनोनीत हुए। १९५२ से १९५७ तक ये लोकसभा के तथा ५७ से मृत्यु पर्यंत राज्यसभा के सदस्य रहे। १९५५ में नियुक्त राष्ट्रभाषा आयोग के भी ये वरिष्ठ सदस्य थे।

नवीन जी लंबे, तगड़े तथा सुंदर शरीरसंपत्ति के स्वामी थे। श्री भवानी-प्रसाद मिश्र इस विषय में लिखते हैं--'छह फुट लंबा व्यायाम से सधाया तपाया बलिष्ठ शरीर, विशाल वक्षस्थल, वृषस्कंध, दीर्घबाहु, कुछ लाली लिए हुए चिट्टा रंग, उन्नत भाल, नुकीली नासिका, बड़ी और पैनी आँखें, खिंचे हुए होंठ और तेजयुक्त प्रभावशाली मुखमंडल। नवीन जी को कई बार तो देखते ही बनता था। पौरुषेय सौंदर्य के वे मानो आदर्श थे।[1]

ये स्वभाव से अत्यंत उदार, पर-दुःख-कातर निरभिमान तथा निश्छल व्यक्ति थे। मित्रों और निस्सहाय लोगों के लिये ये सब कुछ न्यौछावर करने के लिये सदैव तत्पर थे। इनकी मस्ती और फक्कड़पन भी अद्भुत था। जो कुछ देर के लिये भी इनके संपर्क में आया वह आजीवन इन्हें भुला नहीं सका--ऐसा आकर्षण था इस 'फकीर बादशाह' का।

नवीन जी का लेखनकार्य सन् १९१६-१७ से ही आरंभ हो गया था। १९१८ में इनकी प्रथम कहानी 'संतू' सरस्वती में छपी थी। इनकी कविताएँ 'प्रताप' और 'प्रभा' में बराबर छपती रहीं। १९३० तक 'नवीन' जी कवि रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। किंतु प्रकाशन की ओर से ये उदासीन रहे और इनकी

[1] आज के लोकप्रिय हिंदी कवि : बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', परिचय, पृष्ठ ५।

रचनाएँ यत्र तत्र बिखरी पड़ी रहीं। इनका पहला कवितासंग्रह 'कुंकुम' १९३९ में प्रकाशित हुआ। 'ऊर्मिला' काव्य १९३४ में पूर्ण हो गया था—किंतु प्रकाशित हुआ १९५७ में। 'कुंकुम' और 'ऊर्मिला' के अतिरिक्त नवीनकृत 'अपलक', 'रश्मिरेखा', 'क्वासि', 'विनोबास्तवन' तथा 'हम विषपायी जनम के' काव्य और प्रकाशित हुए हैं।

नवीन जी की कविता का मूल स्वर है प्रेम और राष्ट्रीयता। प्रेम के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—का सुष्ठु चित्रण इनके काव्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। द्विवेदीकालीन नैतिकता के अंकुश की अवहेलना कर नवीन जी ने लिखा था—

कूजे दो कूजे में बुझनेवाली मेरी प्यास नहीं,
बार बार, ला ला कहने का समय नहीं अभ्यास नहीं।

इनकी प्रेमभावपूर्ण कविताएँ अपनी निश्छल हार्दिकता तथा आवेग के कारण सहृदयों के हृदय को छू लेने में समर्थ हैं। राष्ट्रीयता भी नवीन जी का स्वानुभूत विषय था। पराधीनता के विरुद्ध संघर्ष की भावना, अतीत का गौरवगान वर्तमान दुरवस्था का क्षोभपूर्ण चित्रण, स्वर्णिम भविष्य की कल्पना इनके काव्य में अनेक स्थलों पर उपलब्ध है। हृदयसंप्रेरित होने के कारण नवीन की राष्ट्रीय कविताओं में पाठकों के हृदय में प्राण फूँक देने की क्षमता है। कभी कभी तो ये विप्लव और क्रांति का नारा लगाने लगते हैं—'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाए' आदि।

कवि के अतिरिक्त नवीन जी प्रसिद्ध पत्रकार भी थे। कानपुर पहुँचने पर ये आरंभ से ही गणेशशंकर विद्यार्थी के प्रसिद्ध पत्र 'प्रताप' के काम में सहायता करते थे। १९३१ में विद्यार्थी जी के देहावसान के उपरांत इन्होंने 'प्रताप' का संपादन भी किया। कुछ समय तक 'प्रभा' के संपादक भी रहे। इन पत्रों की संपादकीय टिप्पणियाँ और ओजस्वी लेख नवीन जी के शक्तिशाली गद्यकार रूप के परिचायक हैं। साहित्यिक और सामाजिक सेवाओं के कारण १९६० में इन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि प्रदान की गई।

लंबी बीमारी के पश्चात् २९ अप्रैल, १९६० को इनका देहांत हो गया।

सुभद्राकुमारी चौहान

आधुनिककालीन हिंदी लेखिकाओं में सुभद्रा जी को अन्यतम स्थान प्राप्त है। पद्य और गद्य—दोनों ही क्षेत्रों में इनका कृतित्व महत्वपूर्ण है। इनका जन्म सन् १९०५ में प्रयाग के निहालपुर गाँव में (जो अब उसका एक मुहल्ला बन

गया है) के एक क्षत्रिय परिवार में नागपंचमी के दिन हुआ था। प्रयाग के ही क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज में इन्होंने शिक्षा ग्रहण की। १५ वर्ष की आयु में इनका विवाह अध्ययनप्रिय एवं देशभक्त ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान से हो गया। विवाह के बाद कुछ समय तक तो इनके अध्ययन का क्रम चलता रहा किंतु सन् १९२१ के लगभग देश में राष्ट्रीय असहयोग आंदोलन के जोर पकड़ने पर इन्होंने अपनी पढ़ाई छोड़ दी और देश के राजनीतिक कार्यों में अधिक सक्रिय भाग लेने लगीं। इसी चक्कर में इन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा। राजनीति की ओर इतना झुकाव होते हुए भी साहित्यरचना की ओर से ये विमुख नहीं हुईं—जेल में बैठकर भी इन्होंने कई कहानियाँ और कविताएँ लिखीं और इस प्रकार देश और साहित्य दोनों के प्रति अपने दायित्व को एक साथ निभाती रहीं। सन् १९४८ में १५ फरवरी को वसंत पंचमी के दिन एक मुर्गी के बच्चे की प्राणरक्षा के प्रयत्न में हुई कार दुर्घटना में ये अकालमृत्यु को प्राप्त हुईं।

श्रीमती चौहान ने यद्यपि कुछ सामाजिक निबंध भी लिखे हैं किंतु कविता और कहानी—इन दो क्षेत्रों में ही इनकी रचनाएँ अधिक हैं। आरंभ में ये केवल कविताएँ ही लिखा करती थीं जो 'त्रिधारा' और 'मुकुल' में संकलित हैं किंतु सन् १९३० में 'मुकुल' के प्रकाशन के बाद इनका झुकाव कहानी लेखन की ओर अधिक हो गया और इनके तीन कहानी संग्रह—'बिखरे मोती', 'उन्मादिनी' और 'सीधे सादे चित्र' क्रमशः सन् १९३२, १९३४ और १९४७ में प्रकाशित हुए। 'मुकुल' और 'बिखरे मोती' पर इन्हें अलग अलग सेकसरिया पुरस्कार भी मिले।

काव्य और कहानी—दोनों ही प्रकार की रचनाओं में राष्ट्रप्रेम, देशभक्ति, समाजसेवा और परिवारस्नेह का ही स्वर प्रधान है। इनकी अधिकांश कहानियों में सामाजिक और पारिवारिक समस्याओं को उठाकर उनके विविध पक्षों का बड़ी गंभीरता से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उनका कलापक्ष भी पर्याप्त समृद्ध है। अपनी कविताओं में इन्होंने सामाजिक समस्याओं का स्पर्श नहीं किया, उनमें इनके राष्ट्रप्रेम और व्यक्तिगत पारिवारिक जीवन की ही झाँकी अधिक दिखाई देती है। इनकी राष्ट्रीय कविताओं में 'असहयोग', 'सेनानी का स्वागत', 'विदा', 'जलियाँवाला बाग', 'वीरों का कैसा हो वसंत', 'झाँसी की रानी', 'मातृमंदिर' और 'स्वदेश के प्रति' आदि कविताएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन कविताओं से हमें भारत की अतीत संस्कृति और तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। देशप्रेम की भावनाओं को उद्दीप्त करने की इनमें अद्भुत क्षमता थी, विशेषतः 'झाँसी की रानी' कविता तो अपनी इस विशेषता के कारण इतनी लोकप्रिय हो गई थी कि आबालवृद्ध—सभी उसे पूर्ण रूप से कंठस्थ करने के लिये आतुर रहते थे। उसकी 'बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी; खूब

लड़ी मर्दानी, वह तो झाँसीवाली रानी थी।'--यह पंक्ति तो साहित्यिक वर्ग ही नहीं वरन् साधारण जनता का भी कंठहार बन गई थी। व्यक्तिगत अनुभवों पर ही आधारित होने के कारण इन कविताओं की सजीवता और मार्मिकता भी दर्शनीय है। इनकी दूसरी प्रकार की कविताएँ वे हैं जिनकी रचना इन्होंने अपने गार्हस्थिक जीवन से प्रेरणा लेकर की है। उनमें से कुछ तो पतिरूप प्रियतम को संबोधित करते हुए लिखी गई हैं और कुछ अपनी संतान के प्रति। इनमें से प्रथम कोटि की कविताओं में 'चलते समय', 'समर्पण', 'ठुकरा दो या प्यार करो', 'स्मृतियाँ' और 'प्रियतम से' आदि की परिगणना की जाएगी। इनमें सुभद्रा जी की प्रेमानुभूतियों का सरल सहज किंतु मादकतापूर्ण मनोरम रूप दिखाइ देता है जिनसे इनके भावुक हृदय का परिचय मिलता है। दूसरी कोटि की रचनाओं में 'मेरा नया बचपन', 'बालिका का परिचय' और 'इसका रोना' आदि उल्लेख्य हैं। इन कविताओं की 'पाया मैंने बचपन फिर से, बचपन बेटी बन आया' और 'तुम कहते हो मुझको इसका रोना नहीं सुहाता है, मैं कहती हूँ इस रोने से अनुपम सुख छा जाता है।'—आदि पंक्तियाँ कवयित्री के सहज वात्सल्यमय हृदय की सजीव अभिव्यक्ति में सर्वथा सक्षम हैं। इनके अतिरिक्त 'राखी' और 'राखी की चुनौती' कविताओं में बहन भाई के निश्छल पवित्र स्नेहसंबध को दर्शाया गया है। 'फूल के प्रति', मुरझाया फूल', और 'शिशिर समीर' आदि इन्होंने कुछ प्रकृति-परक कविताएँ भी लिखी ह किंतु इनमें ये अधिक सफल नहीं हैं क्योंकि इनका मन प्रकृति की अपेक्षा जीवन की अन्य अनुभूतियों में अधिक रमता था। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि अपने राष्ट्रप्रेमी व्यक्तित्व के कारण इन्हें राष्ट्रीय कविताओं में ही सर्वाधिक सफलता मिली है--उन्हें सहज ही हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि माना जा सकता है।

विषय के उपरांत शैली की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि कवयित्री ने जीवन के सरल साधारण पक्षों की सहज अनुभूतियों को वैसी ही सरल और सहज भाषा में व्यक्त किया है। उनमें प्रयत्नसाध्य कृत्रिमता कहीं नहीं है--इसीलिये सजीवता, मार्मिकता और प्रभावक्षमता बहुत है। अपनी हृदयगत भावुकता के कारण इनकी कविताओं में भावमयी रंगीन मनोरम कल्पनाओं का भी अभाव नहीं जिन्हें इनकी भाषा की चित्रात्मक शक्ति के सहारे बहुत सजीव ढंग से मूर्त रूप प्राप्त हुआ है। इनकी 'ठुकरा दो या प्यार करो' कविता भाव और कला के सौंदय के समन्वित रूप का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। निष्कर्षतः इन्हें श्रेष्ठ कोटि की कवयित्री मानना ही उचित होगा।

गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

पृथ्वीराज चौहान के वंशज ठाकुर कालिकाप्रसाद सिंह के यहाँ इनका

जन्म ७ अगस्त, सन् १८९३ को हुआ। इन्होंने बी० ए०, एल-एल० बी० तक विधिवत् शिक्षा पाई। अनेक रियासतों के दीवान पद पर कार्य किया तथा आजमगढ़ नगरपालिका के कार्याधिकारी रहे। अब अवकाश ग्रहण कर चुके हैं। काव्यानुराग इन्होंने अपने पिता से रिक्थरूप में प्राप्त किया है।

'नूरजहाँ' तथा 'विक्रमादित्य' भक्त जी की अक्षय कीर्ति का आधार हैं। ये दोनों काव्यग्रंथ महाकाव्य स्वीकार किए जाते हैं। भक्त जी ने इनके निर्माण में व्यापक अध्ययन, गंभीर मनन, शोध और कविप्रतिभा का परिचय दिया है। वस्तुतः इन प्रबंधों में तत्कालीन इतिहास पुनर्जीवित हो उठा है।

भक्त जी जीवन भर राजकीय सेवा में रहे। अतः राष्ट्रीय संग्राम में सक्रिय भाग न ले सके। किंतु 'नूरजहाँ' तथा 'विक्रमादित्य' में भारत के स्वर्णिम अतीत के भव्य चित्र अंकित कर इन्होंने अपनी हृदयस्थ राष्ट्रीय भावना का परिचय दिया है। प्राचीन तथा मुगलकालीन भारत के चित्र इन्होंने एक सी तन्मयता से प्रस्तुत किए हैं।

उपर्युक्त प्रबंध काव्यों के अतिरिक्त इनकी स्फुट कविताओं के चार संग्रह और प्रकाशित हुए हैं—'सरस सुमन', 'कुसुमकुंज' 'वंशीध्वनि' तथा 'वनश्री'। इन कविताओं में ग्रामीण शोभा, ग्राम्य जीवन, लता पुष्प, पशु पक्षी आदि का बड़ी आत्मीयता और मनोयोगपूर्वक चित्रण हुआ है। भक्त जी की भाषा में अपूर्व लालित्य और प्रवाह है। मुहावरों के सुंदर प्रयोग ने उसे और भी चारुत्व प्रदान किया है।

पंचम अध्याय

छायावाद

(१) पूर्ववृत्त : परिभाषा और प्रवृत्तियाँ

(२) प्रमुख कवि : अन्य कवि

(३) दार्शनिक आधार

(४) काव्यशिल्प

(५) पाश्चात्य प्रभाव

१

पूर्ववृत्त : परिभाषा और प्रवृत्तियाँ

छायावाद हिंदी की उस स्वच्छंद काव्यधारा का उत्तरविकास है जिसका उदय बीसवीं सदी के आरंभ में हुआ था। किंतु तत्कालीन विवादों के कारण छायावाद का पूर्ववृत्त कुछ उलझ गया है। आचार्य शुक्ल का यह कथन निर्विवाद है कि रीतिकाल की रूढ़ियों को तोड़कर 'स्वच्छंदता का आभास पहले पहल पं० श्रीधर पाठक ने ही दिया' और 'सब बातों का विचार करने पर पं० श्रीधर पाठक ही सच्चे स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) के प्रवर्तक ठहरते हैं।' किंतु इस स्वच्छंदतावाद के स्वाभाविक विकास की जो रूपरेखा आचार्य शुक्ल ने प्रस्तुत की है, वह परवर्ती विचारक्रम में मान्य न हो सकी। आचार्य शुक्ल के अनुसार श्रीधर पाठक के बाद 'सच्ची और स्वाभाविक स्वच्छंदता का मार्ग हमारे काव्यक्षेत्र के बीच चल न पाया' क्योंकि एक ओर उसी समय पिछले संस्कृतकाव्य के संस्कारों के साथ पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्यक्षेत्र में आए—जिससे इतिवृत्तात्मक (मैटर ऑफ फैक्ट) पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लगने लगा, और दूसरी ओर, 'रवींद्र बाबू की गीतांजलि की धूम उठ जाने के कारण नवीनता प्रदर्शन के इच्छुक नए कवियों में से कुछ लोग तो बंग भाषा की रहस्यात्मक कविताओं की रूपरेखा लाने में लगे, कुछ लोग पाश्चात्य काव्यपद्धति को 'विश्वसाहित्य' का लक्षण समझ उसके अनुकरण में तत्पर हुए।' इन बाधाओं के कारण इने गिने नए कवि ही स्वच्छंदता के स्वाभाविक पथ पर चले' जिनमें प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी आदि प्रमुख छायावादी कवियों की गणना करने के स्थान पर आचार्य शुक्ल ने रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पांडेय, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, गुरुभक्तसिंह 'भक्त', उदयशंकर भट्ट प्रभृति कवियों को मान्यता दी और इस प्रकार की 'सच्ची नैसर्गिक स्वच्छंदता के लिये स्वच्छंदतावाद संज्ञा प्रदान की। इस प्रकार 'रोमांटिसिज्म' के लिये हिंदी में 'स्वच्छंदतावाद' शब्द आ जाने के बाद छायावादी काव्य को आरंभिक स्वच्छंद काव्यधारा से ही नहीं, बल्कि उसकी परवर्ती परंपरा से भी विच्छिन्न करके देखने की परिपाटी चल पड़ी। संयोग से इसी बीच हिंदी की रहस्यात्मक कविताओं की चर्चा के प्रसंग में अंग्रेजी के 'मिस्टिसिज्म' शब्द का उल्लेख किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि आरंभ

के बहुत दिनों तक छायावादी कविताओं के लिये 'रहस्यवाद' संज्ञा का भी प्रयोग होता रहा। किंतु जैसा कि आचार्य शुक्ल की स्वच्छंदतावादी कवियों की आलोचना से स्पष्ट है, उनके सच्चे स्वच्छंदतावाद में और बातों के अलावा 'रहस्यपूर्ण संकेत' का भी समावेश है, इसलिये केवल रावींद्रिक प्रभाव के अनुमान के कारण छायावाद स्वच्छंदतावादी काव्यपरंपरा से बाहर नहीं माना जा सकता। तात्कालिक विवादों का कोलाहल शांत हो जाने के बाद अब यह तथ्य भली भाँति स्पष्ट होकर सामने आ गया है कि छायावाद हिंदी की अपनी रोमांटिक अथवा स्वच्छंद काव्यधारा की ही विकसित अवस्था है, जिसका प्रथम चरण श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पांडेय प्रभृति कवियों की रचनाओं में प्रकट हुआ और दूसरे चरण में काव्य को प्रौढ़तम उत्कर्ष तक पहुँचाने का श्रेय प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी वर्मा जैसे कृती कवियों को है।

छायावाद का प्रवर्तन किस कवि की किस रचना से माना जाय यह विवाद आज भी निःशेष नहीं हुआ है। सुमित्रानंदन पंत ने अपने ग्रंथ 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में विस्तारपूर्वक इस प्रश्न पर प्रकाश डाला है। प्रसाद को छायावाद का प्रवर्तक मानने के पक्ष में 'भावना की दृष्टि से आदर' व्यक्त करते हुए भी 'तथ्यविश्लेषण की दृष्टि से' उन्होंने इस मान्यता को उचित नहीं ठहराया। जो तथ्यविवरण उन्होंने प्रस्तुत किया उसका सार यही है कि छायावादी, प्रवृत्ति से युक्त प्रसाद जी की कविताएँ 'झरना' के दूसरे संस्करण में पहली बार १९२७ में ही प्रकट हुईं। १९१८ में प्रकाशित 'झरना' के प्रथम संस्करण की २४ कविताओं में 'कोई ऐसी विशिष्टता नहीं थी जिसपर ध्यान जाता।' उनके काननकुसुम, प्रेमपथिक आदि काव्य सन् १९२३ के बाद ही प्रकाश में आए, और विशेषतः काननकुसुम में द्विवेदीयुग के ढर्रे की ही रचनाएँ थीं। पंत जी का दावा है कि 'मेरी प्रायः सभी 'पल्लव' में प्रकाशित प्रमुख रचनाएँ दो वर्ष पूर्व से अर्थात् सन् '२१ के मध्य से सरस्वती में प्रकाशित होने लगी थीं।' इसके अतिरिक्त उनकी पहली लंबी रचना 'स्वप्न' सन् '२० की सरस्वती में प्रकाशित हो चुकी थी। वीणा नामक प्रगीत संकलन सन् १८–१९ में और ग्रंथि सन् १९ में लिखी जा चुकी थी। जहाँ तक लिखे जाने का प्रश्न है, निराला जी का कहना था कि 'जूही की कली' तो उन्होंने सन् '१६ में ही लिख डाली थी। यद्यपि 'जूही की कली' का कथ्य रीतिकालीन सा है तथापि अप्रस्तुतविधान, चित्रमयी भाषा और लाक्षणिक वैचित्र्य एवं छंदमुक्ति आदि सभी दृष्टियों से यह कविता हिंदी काव्य में एक स्पष्ट मोड़ की सूचक है। पंत जी ने अपने साक्ष्य में आचार्य शुक्ल का निम्न उद्धरण प्रस्तुत किया है। 'झरना' के विषय में आचार्य शुक्ल ने कहा था : 'झरना' के द्वितीय संस्करण में छायावाद कही जानेवाली विशेषताएँ स्पष्ट रूप में

दिखाई पड़ीं। इससे पहले 'पल्लव' बड़ी धूमधाम से निकल चुका था, जिसमें रहस्य भावना तो कहीं कहीं, पर अप्रस्तुत विधान, चित्रमयी भाषा और लाक्षणिक वैचित्र्य आदि विशेषताएँ अत्यंत प्रचुर परिमाण में सर्वत्र दिखाई पड़ी थीं।

यदि 'झरना' से पहले की प्रकाशित कविताओं में छायावाद के शोध का प्रश्न है तो सन् '२२ में प्रकाशित 'अनामिका' की उपेक्षा कैसे की जा सकती है और यदि कविवचन को प्रमाण माना जाए तो 'वीणा' और 'ग्रंथि' से पहले 'जूही की कली' लिखी जा चुकी थी। इसके अतिरिक्त भी एक ओर पंत की फुटकर रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हो रही थीं तो दूसरी ओर निराला का फुटकर काव्य 'मतवाला' और 'समन्वय' आदि पत्रिकाओं में। शायद 'सरस्वती' में स्थान पा जाने के कारण पंत जी ने उस समय के विद्वत्समाज का ध्यान अधिक आकर्षित किया और इसीलिये वह भी सच ही है कि छायावाद की कटु आलोचनाओं का भार सबसे अधिक उन्हीं के सुकुमार व्यक्तित्व को झेलना पड़ा। आचार्य शुक्ल को उनका काव्य इसलिये अधिक रास आया कि वे अभिव्यंजना-के टेढ़े मेढ़े रास्ते छोड़कर शुद्ध स्वाभाविक मार्ग पर चलनेवाली कविता को लोक-मानस के अधिक निकट मानते थे। अन्य कवियों की रहस्यभावना में जहाँ उन्हें सांप्रदायिकता की गंध आने लगी थी, वहाँ पंत जी की रहस्यभावना उन्हें स्वाभाविक प्रतीत होती थी, और इस दृष्टि से उन्हें वे शुद्ध स्वच्छंदतावाद के सबसे निकट जान पड़ते थे : 'पल्लव' के भीतर 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'परिवर्तन' और 'बादल' आदि रचनाएँ देखने से पता चलता है कि यदि 'छायावाद' के नाम से एक 'वाद' न चल गया होता तो पंत जी स्वच्छंदता के शुद्ध स्वाभाविक मार्ग पर ही चलते। उन्हें प्रकृति की ओर सीधे आकर्षित होनेवाला, उसके खुले और चिरंतन रूपों के बीच खुलनेवाला हृदय प्राप्त था।'

'पल्लव' में संकलित रहस्यमूलक रचनाओं 'स्वप्न' और 'मौन निमंत्रण' की चर्चा करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा था कि 'पंत जी की रहस्यभावना स्वाभाविक है, सांप्रदायिक नहीं। ऐसी रहस्यभावना इस रहस्यमय जगत् के नाना रूपों को देख प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन में कभी कभी उठा करती है। व्यक्त जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के भीतर किसी अज्ञात चेतन सत्ता का अनुभव सा करता हुआ कवि इसे केवल अतृप्त जिज्ञासा के रूप में प्रकट करता है।'

यदि प्रकृति की ओर आकर्षित होनेवाला, उसके खुले और चिरंतन रूपों के बीच खुलनेवाला हृदय छायावादी हो सकता है तो इस काव्यधारा के प्रवर्तन का श्रेय श्रीधर पाठक को है और यदि असांप्रदायिक रहस्यभावना की दृष्टि से देखा जाय तो रवींद्रनाथ की 'गीतांजलि' की सबसे पहली प्रतिध्वनि

हिंदी कविता में मुकुटधर पांडेय के काव्य में सुनाई पड़ती है। वस्तुतः छायावाद न केवल रहस्यभावना है और न केवल प्रकृतिप्रेम। वह इससे अधिक एक विशेष सौंदर्यदृष्टि का उन्मेष है। रहस्योन्मुखता, प्रकृतिप्रेम आदि उसकी अभिव्यक्ति की विविध सरणियाँ हैं। इस समग्र दृष्टि का उन्मेष प्रसाद की आरंभिक रचनाओं में ही मिलने लगा था। 'कामायनी' 'प्रेमपथिक' की ही चरम परिणति है।

छायावाद का प्रवर्तन किस कवि की किस कविता से हुआ, ठीक उस बिंदु का निर्देश करना कठिन है। वस्तुतः कविवर सुमित्रानंदन पंत ने छायावाद के आरंभ के विषय में जो बात विनयवश कही है वही इस समस्या के मूल में सत्य है : 'मेरे विचार से छायावाद की प्रेरणा छायावाद के प्रमुख कवियों को उस युग की चेतना से स्वतंत्र रूप से मिली है। ऐसा नहीं हुआ कि किसी एक कवि ने पहले उस धारा का प्रवर्तन किया हो और दूसरों ने उसका अनुगमन कर उसके विकास में सहायता दी है।' यह बात इसलिये और भी सही है कि किन्हीं सामान्य मिलनबिंदुओं के रहते भी छायावाद के कवियों में विभिन्नता और वैविध्य भी कम नहीं है। 'तारसप्तक' के कवियों के समान ही यदि उन्होंने योजनाबद्ध रूप में घोषणा की होती तो यह कहना कठिन नहीं था कि उनमें असमानता बहुत है।

परिभाषा

छायावादी काव्य को एक सामान्य परिभाषा में बाँधना जोखिम का काम है क्योंकि छायावाद व्यक्तिकेंद्रित काव्य था और उसके प्रत्येक कवि के व्यक्ति-वैशिष्ट्य और निजी विलक्षणता पर विशेष बल दिया गया था। यह कार्य चाहे जितना खतरे का हो, फिर भी समस्त छायावादी कवियों में प्राप्त सामान्यता को रेखांकित करना आवश्यक है क्योंकि कुछ तो ऐसा था ही जो बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के अंत में हिंदी काव्य में घटित हुआ। भले ही 'छायावाद' शब्द से उस घटना का पूरा बोध न होता हो—इसलिये हम उस शब्द के बिना ही काम चलाना चाहें किंतु यह शब्द जिस घटना का बोधक है उसकी परिभाषा के दायित्व से नहीं बचा जा सकता।

एक समय ऐसी ही कठिनाई अंग्रेजी की रोमांटिक काव्यधारा के संदर्भ में भी महसूस की गई थी। 'ऑक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इंगलिश लिटरेचर' का रोमांटिक काल संबंधी खंड इसका प्रमाण है जिसमें यह स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों के बीच सामान्यताओं का निर्देश करना असंभव है। फिर भी आलोचक इस स्थिति से संतुष्ट नहीं हैं और युग की सामान्य

प्रवृत्तियों के निरूपण के लिये प्रयत्नशील हैं। रोमांटिक कवि शेली का यह कथन उनके लिये आदर्श है :

'किसी विशेष कालखंड के सभी लेखकों के बीच अनिवार्यतः एक समानता होती है जो उनकी अपनी इच्छाशक्ति पर निर्भर नहीं रहती। वे उस सामान्य प्रभाव की अधीनता से बच नहीं सकते जो उनकी सामयिक परिस्थितियों के असंख्य संपुंजनों से उत्पन्न होता है; यद्यपि एक सीमा तक प्रत्येक कवि स्वयं उस प्रभाव का विधाता होता है जिससे उसकी सत्ता परिव्याप्त रहती है।' लगभग इसी प्रकार की बात हिंदी में कवि सुमित्रानंदन पंत ने भी कही कि 'चारों दिशाओं से स्वतंत्र रूप से नई काव्यचेतना की धाराएँ बहकर छायावाद के युगचरितमानस में संचित हुईं।'

छायावाद की परिभाषाएँ दो दृष्टियों से की गई हैं: व्युत्पत्तिपरक और प्रवृत्तिपरक।

'छायावाद' शब्द की व्युत्त्तिपरक व्याख्या का एक निश्चित इतिहास है। आरंभ में 'छायावाद' की खिल्ली उड़ाने के लिये यह नाम तथाकथित सीमाओं के वाचकरूप में दिया गया। बाद में उपहास को चुनौती के रूप में स्वीकार करते हुए विद्वानों ने इस शब्द की अत्यंत गंभीर व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या प्रस्तुत कर इसे छायावादी काव्यप्रवृत्ति से जोड़ दिया। इस प्रकार आरंभ में जो शब्द उपहास-परक था वही लक्षणबोधक हो गया।

सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित कुछ कार्टूनों और लेखों में 'छायावाद' शब्द का प्रयोग इस काव्य की अस्पष्टता, धूमिलता आदि के लिये किया गया। बाद में रामचंद्र शुक्ल ने इस शब्द का संबंध 'पुराने ईसाई संतों के छायाभास (फांताज्माता) से जोड़कर इसे ऐतिहासिक व्युत्पत्ति का आधार प्रदान कर दिया। उनका कहना था कि 'पुराने ईसाई संतों के छायाभास तथा यूरोपीय काव्यक्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थीं।'

आचार्य शुक्ल ने एक ओर तो छायावाद को मध्ययुगीन रहस्यभावना का नूतन संस्करण कहा : 'कबीरदास किस प्रकार हमारे यहाँ के ज्ञानवाद और सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद को लेकर चले यह हम पहले दिखा आए हैं। उसी भावात्मक रहस्यपरंपरा का यह नूतन भावभंगी और लाक्षणिकता के साथ आविर्भाव है'; और दूसरी ओर छायावाद को वेदांत के प्रतिबिंबवाद का नया नामकरण माना : 'जो 'छायावाद' नाम प्रचलित है वह वेदांत के पुराने 'प्रतिबिंबवाद' का है। यह 'प्रतिबिंबवाद' सूफियों के यहाँ से होता हुआ योरप में

गया जहाँ कुछ दिनों पीछे 'प्रतीकवाद' से संश्लिष्ट होकर धीरे धीरे बंग साहित्य के एक कोने में आ निकला और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिये 'छायावाद' कहा जाने लगा। यह काव्यगत 'रहस्यवाद' के लिये गृहीत दार्शनिक सिद्धांत का द्योतक शब्द है।

आचार्य शुक्ल अपने युग के प्रतिनिधि आलोचक थे। उनकी आशंसा समकालीन कवियों के लिये प्रमाणपत्र थी और आलोचना चुनौती। उनकी स्थापनाओं की उपेक्षा सहज संभव न थी। शुक्ल जी ने यद्यपि 'छायावाद' शब्द का संबंध वेदांत के प्रतिबिंबवाद से जोड़ते हुए उसे दार्शनिकता प्रदान की तथापि 'छायावाद' की रहस्योन्मुखी प्रवृत्ति को इस काव्यधारा की स्वकीय निधि न कहकर परागत प्रवृत्ति माना। संभवतः इसी कारण जयशंकर प्रसाद ने संस्कृत काव्यशास्त्र की समृद्ध सरणियों से इस शब्द का समर्थन जुटाया और यह सिद्ध किया कि इस शब्द का प्रयोग अभिव्यंजना की विशिष्ट भंगिमा और अर्थगरिमा के लिये वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सिद्धांतों में पहले भी होता रहा है। समसामयिक काव्य के संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग नवीन रूप में परंपरा का पुनराविष्कार मात्र है। प्रसाद जी ने व्युत्पत्यर्थ से संगति बैठाते हुए काव्यप्रवृत्ति का निरूपण करने के लिये 'छायावाद' शब्द का औचित्य ही सिद्ध नहीं किया बल्कि उपहास के रूप में पूर्वप्रयुक्त शब्द को परंपरा से जोड़कर उसे शास्त्रसंमत होने का गौरव भी प्रदान किया। साथ ही आचार्य शुक्ल की भाँति उसे दार्शनिक अवधारणाओं का वाचक न मानकर काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं से जोड़ दिया, जो संभवतः उनकी समझ में अधिक प्रासंगिक था।

जयशंकर प्रसाद के अनुसार प्राचीन काव्यशास्त्र में छाया शब्द का प्रयोग अनुभूति और अभिव्यक्ति की जिस विशेष भंगिमा के लिये किया गया, कुंतक ने उसे 'वक्रता की उद्भासिनी' कहा और 'ध्वनिकार ने इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुंदरता से किया।' यह आंतर अर्थवैचित्र्य काव्य में उसी प्रकार वर्तमान रहता है जिस प्रकार मोती के भीतर आब या पानी। मोती के बीच इस लावण्य को, प्राचीनों के साक्ष्य पर, प्रसाद जी ने 'छाया की जैसी तरलता' कहा।

हिंदी में भी जब 'बाह्य उपाधि से हटकर आंतर हेतु की ओर कविकर्म प्रेरित हुआ' तो उसने अभिव्यंजना की नई भंगिमाओं की अपेक्षा की। कवि प्रसाद के अनुसार 'इस छाया और कांति में सर्जन के लिये कुंतक शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता को आवश्यक मानते थे। 'यह रम्यच्छायांतरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबंध तक में होती है।' और ध्वनि के रूप में यह प्रबंध और वाक्य से लेकर पद और वर्ण तक दीप्त होती थी।

इस संबंध में प्रसाद जी का निष्कर्ष है : 'छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीकविधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आंतर स्पर्श करके भावसमर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कांतिमयी होती है।' वह काव्य जो केवल बाह्य सौंदर्य का वर्णन न करके एक विशेष भंगिमा और वक्रता से आंतर सौंदर्य का उद्घाटन करे वही आंतरस्पर्शी रम्यच्छाया का अभिव्यंजक काव्य छायावाद है।

किंतु सुमित्रानंदन पंत ने छायावाद का पुनर्मूल्यांकन करते हुए न केवल इस नाम को भ्रामक बताया बल्कि प्रसाद की उपर्युक्त व्याख्या को भी बुद्धिविलास ही माना। उनके शब्दों में 'वास्तव में, प्रारंभ में ही उस संचरण के लिये एक त्रुटिपूर्ण तथा भ्रामक नाम स्वीकार कर पीछे उसके समर्थन के प्रायः सभी मूल्यवान प्रयत्न उसके सारभूत तत्व को और भी उलझाते रहे और उसके पास पहुँचने के बदले उससे और भी दूर होते रहे।' ऐसी स्थिति में पंत जी इसके अतिरिक्त और कह भी क्या सकते थे कि 'प्रसाद जी ने, उस नाम के लिये अपनी स्वीकृति देकर उसकी अपने ढंग से व्याख्या भी कर दी। इस प्रकार भीतर से मोती के पानी की तरह आंतरस्पर्श करके भावसमर्पण करनेवाली कांतिमयी छाया ही काव्यवस्तु तथा कलाबोध बनकर नवीन युग के रहस्यवाद, स्वच्छंदतावाद, अथवा अभिव्यंजनावाद के रूप में विज्ञों का आशीर्वाद तथा दयादाक्षिण्यभरा संरक्षण पाने लगी।' पंत जी छायावाद को 'इतिहास के पृष्ठों पर बलपूर्वक अंकित' शब्द मानते हैं अतः इस प्रकार की व्युत्पत्तिपरक व्याख्याएँ उनके लिये बौद्धिक अतिचार के अतिरिक्त क्या हो सकती हैं?

'छायावाद' की दूसरे प्रकार की परिभाषाएँ प्रायः विषयवस्तु, विचारसरणी अथवा अभिव्यंजनाशैली से संबद्ध एक या अधिक प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए प्रस्तुत की गई हैं। ऐसी परिभाषाएँ या तो पक्षविशेष पर अधिक बल देने के कारण एकांगी हो गई हैं अथवा सर्वांग समेटने के फेर में परिभाषा के स्थान पर विस्तृत व्याख्या बन गई हैं।

छायावाद की पहली सुसंबद्ध व्याख्या आचार्य रामचंद्र शुक्ल की है। 'छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में ग्रहण करते हुए उन्होंने काव्यवस्तु की दृष्टि से उसका एक अर्थ रहस्यवाद लिया जिसका संबंध 'काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है।' अर्थात् छायावाद अनंत और

अज्ञात प्रियतम के प्रति चित्रमयी प्रेमव्यंजना है। छायावाद में 'मिस्टिसिज्म' या रहस्यात्मकता ढूँढ़ने की प्रवृत्ति आचार्य शुक्ल से पहले से प्रचलित थी। पं० मुकुटधर पांडेय १९२० में श्री शारदा में प्रकाशित अपनी छायावाद विषयक लेखमाला में बँगला साहित्य में प्रचलित रहस्यवादी रंग की रचनाओं और हिंदी छायावाद के बीच तारतम्य निरूपित कर चुके थे। बाद में छायावाद के संदर्भ में रहस्यवाद के प्रश्न को लेकर यद्यपि सबसे अधिक आलोचना आचार्य शुक्ल की ही हुई तथापि इसकी जिम्मेदारी अकेले आचार्य पर न थी। पं० मुकुटधर पांडेय 'छायावाद' की 'धर्मभावुकता और आध्यात्मिकता' की निर्भ्रांत स्थापना पहले ही कर चुके थे: 'यहाँ छायावादिता से आत्मिकता तथा धर्मभावुकता का मेल होता है। यथार्थ में उसके जीवन के ये दो मुख्य अवलंब हैं। अतएव छायावाद के कवि इन दोनों क्षेत्रों की सीमा से बहुत कम बाहर निकल सकते हैं। वे प्रायः 'अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो' तथा 'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपम्' के गूढ़ातिगूढ़ रहस्य में ही मग्न रहते हैं।' तथा 'हिंदी में 'आध्यात्मिक साहित्य' का एकदम अभाव न होने पर भी वह कदाचित् पर्याप्त नहीं। छायावाद से उसकी अभिवृद्धि अवश्यंभावी है'। उनके अनुसार छायावादी कविता 'मनबुद्धि के परे एक अज्ञात प्रदेश में ले जाती है।' इसके अतिरिक्त भी पं० मुकुटधर पांडेय ने स्थान स्थान पर छायावाद की विलक्षण अभिव्यंजना, भाषा के असामान्य प्रयोग, अस्पष्टता आदि गुणों का संकेत किया है।

जयशंकर प्रसाद ने भी छायावाद की विचारपद्धति को रहस्यवाद ही माना और उसकी व्याख्या शक्ति के रहस्यवाद के रूप में कर दी। शुक्ल जी जिसे मध्ययुगीन संतों के सांप्रदायिक रहस्यवाद का आधुनिक संस्करण मानते थे, प्रसाद ने उसे सौंदर्यलहरी में वर्णित शक्ति के रहस्यवाद से जोड़ दिया, 'विश्वसुंदरी प्रकृति में चेतनता का आरोप संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौंदर्यलहरी के 'शरीरं त्वं शम्भो' का अनुकरण मात्र है। वर्तमान हिंदी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा 'अहं' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुंदर प्रयत्न है।' स्वभावतः यह व्याख्या प्रसाद की अपनी रचनाओं के दर्शन की व्याख्या है, जिसके प्रति उन्हें आरंभ से ही विशेष मोह था।

छायावाद में आध्यात्मिकता खोजने की प्रवृत्ति एक बार आरंभ हुई तो कुछ दूर तक चलती चली गई। नंददुलारे वाजपेयी ने कहा, 'मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। शुक्ल जी की व्याख्या में जो

अनंत और अज्ञात आलंबन था, वाजपेयी जी की परिभाषा में वह व्यक्त और परिसीमित हो गया। उन्होंने न केवल छायावाद के 'व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिकता के भान को मध्ययुगीन धर्मप्रेरित रहस्यवाद से भिन्न माना, बल्कि छायावाद को विशिष्ट सौंदर्यदृष्टि मानते हुए उसे रहस्यवाद से अलग करके देखने का आग्रह किया। प्रसाद जी ने भी इसे 'रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना' कहा था किंतु नंददुलारे वाजपेयी ने छायावाद और रहस्यवाद की सौंदर्यदृष्टि में भेद करते हुए कहा : 'इस प्रकार प्रसाद जी ने व्यष्टि सौंदर्यदृष्टि (छायावाद) और समष्टि सौंदर्यदृष्टि (रहस्यवाद) में कोई स्पष्ट अंतर नहीं किया। किंतु मैं इस अंतर का विशेष रूप से आग्रह करता हूँ क्योंकि इसने दो विशेष पृथक् पृथक् काव्यशैलियों की सृष्टि की है। व्यष्टि सौंदर्यबोध एक सार्वजनीन अनुभूति है। यह सहज ही हृदयस्पर्शी है, यह सक्रिय और स्वावलंबिनी काव्यचेतना की जन्मदात्री है। इसे मैं प्राकृतिक अध्यात्म कह सकता हूँ। समष्टि सौंदर्यबोध उच्चतर अनुभूति है। फिर भी यह प्रत्येक क्षण रूढ़ होने की संभावना रखती है। इसमें इंद्रियानुभूति की सहज प्रगति या विकास के लिये स्थान नहीं है। यह कदम कदम पर धर्म के कटघरे में बंद होने की अभिरुचि रखती है।

वाजपेयी जी छायावाद में रहस्यवाद का प्रयोग अत्यंत व्यापक अर्थ में स्वीकार करते थे। 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में आचार्य रामचंद्र शुक्ल पर लिखे गए निबंधों में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि अंग्रेजी की रोमांटिक कविता में रहस्यवादी प्रवृत्ति अत्यंत उदार अर्थ और व्यापक रूप में देखी जाती थी। वहाँ प्रकृतिप्रेम, उसमें आध्यात्मिक सत्ता के भान आदि को रहस्यवृत्ति के अंतर्गत ही मान लिया गया था। उन कवियों के लिये सत्य और सौंदर्य अभिन्न हो गए थे। यह रहस्यवृत्ति सांप्रदायिक या धार्मिक न थी। वाजपेयी जी ने छायावाद की आध्यात्मिकता की एक नवीन व्याख्या करते हुए उसे मध्यकालीन भक्तिकाव्य से भिन्न बताया : 'उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। ...भारतीय परंपरागत आध्यात्मिक दर्शन की नवप्रतिष्ठा का वर्तमान अनिश्चित परिस्थितियों में यह एक सक्रिय प्रयत्न है।...आधुनिक परिवर्तनशील समाजव्यवस्था और विचारजगत् में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की, नवीन परिस्थिति के अनुरूप स्थापना करता है।' छायावाद ने न केवल एक नई सांस्कृतिक आध्यात्मिकता दी बल्कि वह मध्ययुगीन धर्मसाधना से अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की घोषणा इसलिये भी कर सका कि 'वह किसी क्रमागत सांप्रदायिकता या साधनापरिपाटी का अनुगमन नहीं करता।' छायावाद की आध्यात्मिकता का निजीपन यही है कि

वह न किन्हीं सीमानिर्देशों से आबद्ध रहती है और न ही भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबंध स्वीकार करती है।

शुक्ल जी ने छायावाद में सांप्रदायिक रहस्यवाद की बात कहकर बाद के आलोचकों को इस शब्दमात्र के प्रति इतना आशंकित कर दिया कि वे छायावाद में प्राकृतिक रहस्यभावना को स्वीकार करके भी रहस्यवाद से उसका भेदनिरूपण करते रहे। रहस्यानुभूति आध्यात्मिक होते हुए भी लौकिक हो सकती है। अतः छायावाद रहस्योन्मुख होते हुए भी इसी लौकिक जीवनधरातल की आध्यात्मिक अनुभूति है—यह न कहकर छायावाद और रहस्यवाद के बीच भेद करके चलने की प्रवृत्ति ही अधिक लोकप्रिय हुई।

छायावाद के मर्मी आलोचक शांतिप्रिय द्विवेदी ने दोनों में अंतर करते हुए कहा 'छायावाद में यदि एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है अथवा आत्मा का आत्मा के साथ संनिवेश है तो रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा के साथ। एक में लौकिक अभिव्यक्ति है, तो दूसरे में अलौकिक।'

बाद में आलोचकों को रहस्यवाद शब्द के निषेध की आवश्यकता ही इसलिये प्रतीत हुई क्योंकि शुक्ल जी ने इसे धर्मसंवलित मध्ययुगीन अर्थ में प्रयुक्त किया था। शांतिप्रिय द्विवेदी ने शब्द तो स्वीकार किया पर एक संशोधन के साथ : 'वर्तमान युग में भावना द्वारा जिस रहस्यवाद की सृष्टि हो रही है, वह भी एक निगूढ़, निर्विकार परम चेतन की ओर लक्ष्य तो रखती है, किंतु यह धर्ममूलक नहीं, कला (सौंदर्य) मूलक है।' वह 'रहस्यवाद की अनुभूति, जिसकी उपलब्धि योगी को साधना द्वारा और कवि को भावना द्वारा होती है।'

छायावाद की जिस अलौकिकता का खंडन नंददुलारे वाजपेयी और शांतिप्रिय द्विवेदी ने किया उसकी प्रतिष्ठा कवित्वमय शैली में महादेवी वर्मा १९३६ में कर चुकी थीं। महादेवी की व्याख्या से अलौकिक अंश को निकालकर शेष उपर्युक्त विद्वानों ने शब्दभेद से स्वीकार कर लिया। महादेवी ने रहस्यानुभूति की व्याख्या इस प्रकार की थी : 'जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसे तारतम्य को खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर असीम चेतन और दूसरा उसके असीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व को लेकर जाग उठा।...इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद नाम दिया गया।'

छायावाद की गीतसृष्टि में बसे 'नए रहस्यवाद' को महादेवी ने इस प्रकार

समझाया, 'उसने परा विद्या से अपार्थिवता ली, वेदांत के अद्वैत की छाया मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दांपत्य भावसूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेहसंबंध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को आलंबन दे सका, पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।' स्पष्ट ही महादेवी की यह व्याख्या अधिक से अधिक उनकी अपनी कविताओं तक ही सीमित है। साथ ही इन गीतों में निहित अपार्थिवता और अलौकिकता भी प्रश्नातीत नहीं है। इसीलिये परवर्ती आलोचकों में यह रहस्यवादिता सदा संदेह की दृष्टि से देखी गई।

डा० नगेंद्र ने कहा कि 'छायावाद की रहस्योक्तियाँ एक प्रकार की जिज्ञासाएँ हैं, जो छायावाद के उत्तरार्ध में आध्यात्मिक दर्शन के द्वारा और भी पुष्ट हो गई हैं। परंतु वे धार्मिक साधना पर आश्रित नहीं हैं। उनका आधार कहीं भावना, कहीं दर्शनचिंतन और आरंभ में कहीं कहीं मन की छलना भी है।'

अज्ञेय ने छायावाद की इस प्रवृत्ति को 'भावों को आध्यात्मिकता के आवरण में व्यक्त करने की प्रेरणा' कहा और स्वयं सुमित्रानंदन पंत ने रहस्यवाद के प्रश्न मात्र को छायावाद के संदर्भ में अनुचित माना—'मेरे विचार में उस युग की पुष्कल बहुमुखी काव्यसृष्टि को सामने रखते हुए छायावाद पर रहस्यवादी दृष्टि से विचार करना मात्र अतिरंजना है और युग की मुख्य काव्यप्रवृत्ति पर एक गलत मानदंड का प्रयोग करना है। मध्ययुगीन संतों की तरह छायावादी कवि आत्मब्रह्म और आत्मपरिष्कार की खोज में न जाकर विश्वात्मा तथा विश्वजीवन की खोज की ओर अग्रसर हुए।'

पंत जी का यह कहना एकदम सही है कि छायावाद बहुमुखी काव्यसृष्टि है और उसका केंद्रीय भाव रहस्यवाद नहीं है। परंतु रहस्योन्मुखी वृत्ति छायावाद की विशेषताओं में से एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति अवश्य है।

छायावाद की दूसरी महत्वपूर्ण और सर्वाधिक प्रचलित परिभाषा में उसे स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह कहा गया है। इस परिभाषा को सूत्रबद्ध कर सर्वसुलभ बनाने का श्रेय डा० नगेंद्र को है। अपनी पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत' (१९३८) में उन्होंने कहा था स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है। स्थूल शब्द बड़ा व्यापक है, इसकी परिधि में सभी प्रकार के बाह्य रूपरंग, रूढ़ि आदि संनिहित हैं और इसके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का विद्रोह, नैतिक रूढ़ियों के प्रति

मानसिक स्वातंत्र्य का विद्रोह और काव्य में बंधनों के प्रति स्वच्छंद कल्पना का विद्रोह।'

बाद में 'आधुनिक हिंदी काव्य की प्रवृत्तियाँ (१९५१) में संकलित 'छायावाद' शीर्षक निबंध में यह परिभाषा किंचित् संशोधन के साथ इस रूप में सामने आई 'जिन परिस्थितियों ने हमारे दर्शन और कर्म को अहिंसा की ओर प्रेरित किया, उन्हीं ने भाव (सौंदर्य) वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।' स्पष्टतः दूसरे वक्तव्य में 'विद्रोह' 'आग्रह' हो गया जिसे गांधीवादी अहिंसा का प्रभाव समझा जा सकता है।

द्विवेदी युग की कविता को स्थूल रूप का काव्य कहकर, उसके विरुद्ध छायावाद को सूक्ष्म चेतना के काव्य के रूप में खड़ा करके दर्शन की दृष्टि से उसे गांधीवाद से जोड़कर देखने की प्रवृत्ति पं० शांतिप्रिय द्विवेदी में भी दिखाई पड़ी थी। उनके अनुसार 'छायावाद का अभ्युदयकाल सन् '३० के राष्ट्रीय आंदोलन का समय है। ऐसे समय नवीन हिंदी कविता (छायावाद) में राष्ट्रीय भावों के बजाय अदृश्य सूक्ष्म भावनाओं का दर्शन मिलना विरोधाभास सा लगता है। किंतु छायावाद में जो एक पुरातन दार्शनिकता है वह सन् '२० के राष्ट्रीय आंदोलन के पार्थिव प्रयत्नों में भी एक भक्तिकालीन दार्शनिक चेतना थी—गांधीवाद के रूप में। ऐसे समय में जब कि गांधीवाद की भाँति छायावाद भी एक सूक्ष्म चेतना लेकर चला था, द्विवेदी युग का साहित्य वस्तुजगत् को लेकर ही प्रकट हुआ था, फलतः राष्ट्रीय आंदोलन के स्थूल रूप का रेखांकन उसके लिये स्वाभाविक था।'

स्थूल की प्रतिक्रिया में सूक्ष्म के विद्रोह की बात महादेवी वर्मा ने भी अपने छायावाद संबंधी लेख में सविस्तार कही है: 'स्थूल सौंदर्य की निर्जीव आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परंपरागत नियमशृंखलाओं से ऊबे हुए व्यक्तियों को फिर उन्हीं रेखाओं में बँधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका रूढ़िगत आदर्श भाया। उन्हें नवीन नवीन रूपरेखाओं में सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति की आवश्यकता थी, जो छायावाद में पूर्ण हुई।' महादेवी जी इस संबंध में अत्यंत सतर्क रहीं कि सूक्ष्म का अर्थ यथार्थविरोधी या अवास्तविक न लगाया जाए। अतः जब 'सूक्ष्म के संबंध का कोलाहल सूक्ष्म से भी परिमाण में अधिक हो गया' तो उन्हें स्थूल विषयक अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत हुई: 'छायावाद की सौंदर्यदृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है, यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है।...उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिए, क्योंकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौंदर्यसत्ता की

प्रतिक्रिया थी अप्रत्यक्ष सूक्ष्म के प्रति उपेक्षित यथार्थ की नहीं, जो आज की वस्तु है।' महादेवी को इस स्पष्टीकरण की अनिवार्यता इसलिये महसूस हुई कि इस परिभाषा में आए 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' शब्द निश्चितार्थक नहीं हैं। ये शब्द न केवल व्याख्यासापेक्ष हैं और इनकी एक से अधिक व्याख्याएँ संभव हैं बल्कि प्रायः ये परस्पर विरोधी रूप में ग्रहण किए जाते हैं, जबकि महादेवी के अनुसार स्थूल और सूक्ष्म परस्पर पूरक हैं, इसलिये जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतना भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता। अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की भावना कर सकता है, वही उसका स्थूल और सूक्ष्म है और यदि इनका ठीक संतुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव हो मिलेगा।' अधिक प्रचलित शब्दावली में स्थूल यथार्थ है और सूक्ष्म आदर्श। इस प्रकार स्थूल की तुलना में सूक्ष्म के आग्रह से आरंभ करके महादेवी अंततः दोनों के बीच विवेकसंमत संतुलन की बात करने लगीं।

जब छायावाद को स्थूल के प्रति विद्रोह कहा गया तो स्वभावतः स्थूल शब्द से प्रायः वास्तविकता, यथार्थ, या मांसलता का अर्थ ग्रहण किया गया और इसीलिये प्रगतिवादी आलोचक डा० रामविलास शर्मा ने एक ओर निराला की प्रसिद्ध कविता 'नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे खेली होली' आदि की मांसलता को सूक्ष्मता के विरुद्ध प्रस्तुत किया और दूसरी ओर कहा कि छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामंती साम्राज्यवादी बंधनों के प्रति विद्रोह रहा है।' अर्थात् वे छायावाद को अमांसल, अतींद्रिय, अवास्तविक और यथार्थविरोधी काव्य न मानकर सामंती मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह का, स्वातंत्र्य का काव्य मानते थे।

सुमित्रानंदन पंत ने भी इस परिभाषा में 'तथ्य के एक अंश' को निहित स्वीकार, करके भी छायावाद को अधिक से अधिक स्थूल का सूक्ष्म में रूपांतर कहा। 'पर इससे भी छायावाद के अर्थ का पूर्णतः समाधान नहीं होता। वास्तव में छायावाद स्थूल के प्रति विद्रोह न कर, न उसका संस्कार या रूपांतर ही कर नए मूल्य की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न करता है।' छायावाद की मूल दृष्टि विद्रोही न होकर स्थापनाधर्मी थी और इस प्रकार उसमें केवल निषेध न होकर विधान भी था। वह कोरी प्रतिक्रिया न होकर स्वतःस्फूर्त क्रिया थी। 'इस प्रकार स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह से अधिक आग्रह छायावाद में नवीन जीवनसौंदर्य के मूल्य तथा भावसंपद् की स्थापना के ही प्रति रहा है, वैसे भी पिछली और

नई वास्तविकता के लिये स्थूल और सूक्ष्म का उपयोग अर्थव्यंजकता की दृष्टि से संगत नहीं प्रतीत होता ।'

छायावाद को शैली की एक पद्धति मात्र मानने का पहला आभास सुकविकिंकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के मई, १९२७ की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'आजकल के हिंदी कवि और कविता' शीर्षक निबंध में मिलता है। छायावाद की कविताओं में उन्हें मिस्टिसिज्म अर्थात् आध्यात्मिक रहस्य नहीं दिखाई पड़ा। 'जहाँ तक छायावाद का संबंध है, उसके बारे में उन्होंने यह कहा कि 'छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कविता कहनी चाहिए।' इस प्रकार 'अन्योक्तिपद्धति' को ही उन्होंने छायावाद स्वीकार किया।

इस मान्यता से शुक्ल जी जैसे उद्भट आचार्य भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। छायावाद को काव्यशैलीविशेष मानते हुए उन्होंने जहाँ 'प्रतीक' पद्धति या चित्रभाषा शैली' को छायावाद की विशेषता स्वीकार किया वहीं आचार्य द्विवेदी के स्वर में स्वर मिलाकर यह भी कहा कि 'अतः अन्योक्तिपद्धति का आलंबन भी छायावाद का एक विशेष लक्षण हुआ।' शुक्ल जी के विचार में काव्य का 'प्रधान लक्ष्य काव्यशैली की ओर था, वस्तुविधान की ओर नहीं।' विषयवस्तु के धरातल पर रहस्यवाद से संबंध न रखनेवाली कविताएँ भी छायावाद ही कही जाने लगीं। क्योंकि छायावाद शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही न रहकर काव्यशैली के संबंध में भी प्रतीकवाद के अर्थ में होने लगा। अर्थात् छायावाद का अनिवार्य लक्षण रहस्यवाद न रहकर प्रतीकवाद ही हुआ। 'छायावाद का सामान्य अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।

आज यह स्थापना पूर्णतः अमान्य सिद्ध हो चुकी है। अतः इस प्रश्न को लेकर विशेष विवाद उठाने की आवश्यकता नहीं रही। बीच बीच में दबे स्वरों में यह तो कहा गया कि छायावाद में अधिक ध्यान उसके बाह्यपक्ष की ओर रहा, 'छायावादी कवि सुंदर शब्दसंचय द्वारा अपनी रचना में आकर्षण, सजावट एवं संगीत उत्पन्न करना चाहता है, अनुभूति को व्यक्त करना उसका मुख्य ध्येय नहीं है' (डा० देवराज), परंतु इस मान्यता को समर्थन नहीं मिल सका कि छायावाद केवल काव्य की शैली मात्र है। इसलिये सुमित्रानंदन पंत ने जहाँ छायावाद की अन्य प्रचलित परिभाषाओं पर विस्तार से विचार किया है, वहाँ इस प्रसंग को इतना ही कहकर चलता कर दिया कि 'छायावाद को लाक्षणिक प्रयोगों, अमूर्त उपमानों या अप्रस्तुत विधानों का मात्र चित्रभाषामयी शैली मानना भी

केवल उसके बाह्य कलेवर पर दृष्टिपात करना अथवा उसके कलाबोध की प्रक्रिया के बारे में निर्णय देकर ही संतोष कर लेना है।'

प्रवृत्तियाँ

छायावाद की कतिपय प्रचलित परिभाषाओं की समीक्षा से स्पष्ट है कि प्रत्येक परिभाषा यथासंभव एक न एक पक्ष को आलोकित करते हुए भी समग्र छायावादी काव्य को घेरने में असमर्थ है। यह इस बात का प्रमाण है कि छायावाद प्रस्तुत परिभाषाओं से कहीं अधिक व्यापक काव्यप्रवृत्ति है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता एक और परिभाषा जोड़ने की नहीं, बल्कि छायावादी काव्य की विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों के क्रमबद्ध विवरण की है।

विचारक्रम में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि छायावाद काव्यशैली-विशेष नहीं, बल्कि कुछ अधिक है। शुक्लोत्तर आलोचक एक अरसे से इस 'कुछ' को परिभाषित करने का प्रयास करते आ रहे हैं। नंददुलारे वाजपेयी ने 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में कहा कि 'इस छायावाद को हम पंडित रामचंद्र शुक्ल के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक भावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की नियोजना है।' इससे एक भ्रम का निरसन तो हुआ किंतु यथोचित व्याख्या के अभाव में 'नूतन सांस्कृतिक भावना' तथा 'स्वतंत्र दर्शन की नियोजना' जैसे शब्द छायावाद की केंद्रीय चेतना को स्पष्ट करने में असमर्थ रहे। डा० देवराज ने भी 'छायावाद का पतन' में शुक्ल जी की 'सांस्कृतिक दृष्टि की परिसीमा' की ओर संकेत करते हुए कहा कि 'वे यह नहीं देख सके कि छायावाद अपनी सब कमियों के बावजूद आधुनिक मनोवृत्ति का प्रतीक है। किंतु यहाँ भी 'आधुनिक मनोवृत्ति' व्याख्यासापेक्ष है। यह विचारसरणी कुछ और आगे बढ़ी जब 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में श्री सुमित्रानंदन पंत ने यह कहा कि 'छायावाद केवल अभिव्यंजनापरक ही नहीं नवीन मूल्यपरक काव्य है।' पंत जी ने इस पुस्तक में इस बात पर बार बार बल दिया है कि छायावाद 'मूल्यकेंद्रिक' काव्य है। उन्होंने यथाशक्ति अपने ढंग से उन मूल्यों का निर्देश भी किया है किंतु छायावाद के केंद्रीय मूल्य का निर्धारण वहाँ भी नहीं हो सका।

स्वातंत्र्य : इस दृष्टि से छायावाद के प्रथम आलोचक श्री मुकुटधर पांडेय का 'कविस्वातंत्र्य' शीर्षक निबंध संभवत: सबसे अधिक संकेतपूर्ण है। 'कविस्वातंत्र्य' से संकेत ग्रहण करके यह कहा जा सकता है कि व्यापक अर्थ में 'स्वातंत्र्य' ही छायावाद का केंद्रीय मूल्य है जिससे छायावादी काव्य के जीवन और काव्यसंबंधी

सभी मूल्य निस्सृत होते हैं। इसकी पुष्टि तत्कालीन राष्ट्रीय संदर्भ से भी होती है। पंत जी भी शब्दभेद से यही बात कहते हैं जब वे 'छायावाद पुनर्मूल्यांकन' में मध्ययुगीन धार्मिक मुक्तिसाधना से आधुनिक मुक्तिभावना को अलगाते हुए लिखते हैं कि 'छायावादी कवियों के सामने आत्ममुक्ति की धारणा तुच्छ होकर, भावमुक्ति, मानवमुक्ति, विश्वमुक्ति तथा लोकमुक्ति की संभावना अनेक मूल्यों, विचारों तथा भावनाओं में रूप धरकर, उनकी वाणी द्वारा स्वप्नमूर्त होने का प्रयत्न कर रही थी।' इस प्रकार छायावादी काव्य अपने ऐतिहासिक संदर्भ और राष्ट्रीय परिवेश के अनुरूप बहुमुखी स्वातंत्र्य अथवा मुक्ति की आकांक्षा की अभिव्यक्ति था। निराला के प्रसिद्ध गीत 'वीणा वादिनि वरदे' का 'प्रिय स्वतंत्र रव' और 'बादल राग' शीर्षक कविताश्रृंखला में विप्लवी 'निर्बंध बादल' का प्रतीक इसी मुक्तिकामना के जीवंत उदाहरण हैं।

वैयक्तिकता : स्वतंत्रता की पहली अभिव्यक्ति व्यक्ति की मानसिक और सामाजिक स्वतंत्रता में होती है। छायावाद को व्यक्तिवाद की कविता कहकर उसके आलोचकों ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है किंतु जैसा कि 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में पंत जी ने कहा है, 'छायावादी काव्य व्यक्तिनिष्ठ न होकर मूल्यनिष्ठ रहा है, उसमें व्यक्ति मूल्य का प्रतिनिधि रहा है।' क्योंकि 'बोध की दृष्टि से छायावादी कवि का व्यक्ति नए मूल्य का प्रतीक, नए मूल्य का अंश था।' छायावादी कवि का व्यक्ति जिस नए मूल्य का प्रतीक था वह मध्ययुगीन सामंती रूढ़ियों से मुक्त होकर व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास का प्रयास था। संयुक्त परिवार, जाति और धर्म की नींव पर मध्ययुग में समाज की जो व्यवस्था खड़ी थी वह संवेदनशील व्यक्ति के लिये अत्यधिक अवरोधक सिद्ध हुई। ऐसे वातावरण में अपनी वैयक्तिकता की माँग स्वतंत्रता का ही एक रूप माना जायगा। छायावाद इसी अर्थ में विद्रोह का काव्य है कि उसमें व्यक्ति अपने रूढ़िबद्ध समाज से मुक्ति चाहता है। छायावादी प्रगीतों में इतने व्यापक स्तर पर जो 'मैं' शैली का प्रयोग हुआ है वह केवल शैली नहीं, वरन् व्यक्तित्व के आग्रह का प्रतिफलन है। 'आत्मकथा' इसी प्रवृत्ति का दूसरा आयाम है। यह आकस्मिक नहीं है कि छायावादी कवियों में से अधिकांश ने किसी न किसी रूप में आत्मकथात्मक कविताएँ लिखी हैं। आत्मसंयम के प्रतीक प्रसाद जी की 'आत्मकथा' शीर्षक कविता तो विख्यात है ही, निराला ने भी 'सरोजस्मृति' तथा 'वनबेला' में अपने जीवन के मार्मिक प्रसंगों का चित्रण करके उसी वैयक्तिकता का आग्रह व्यक्त किया है। छायावादी कविता का अतिप्रिय प्रतीक 'निर्झर' व्यक्ति की उद्दाम मुक्तिकामना की ओर संकेत करता है तो 'पथिक' का प्रतीक घर छोड़कर वन वन भटकनेवाले

व्यक्ति की व्याकुल बेचैन मनस्थिति को सूचित करता है। वैयक्तिकता के आग्रह के साथ ही छायावादी कविता में व्यक्ति के आत्मप्रसार की आकांक्षा भी व्यक्त हुई है जिसकी झलक 'कामायनी' के मनु के इस आत्मकथन में लक्षित की जा सकती है : 'वन गुहाकुंज, मरुअंचल में हूँ खोज रहा अपना विकास।' आत्मोपलब्धि के लिये 'अबाध गति मरुत सदृश' संचरण करनेवाला मनु छायावाद के गत्वर व्यक्तित्ववाले आधुनिक व्यक्तिमानव का ही एक प्रतिरूप है।

विषयिनिष्ठता :

वैयक्तिकता के कारण छायावादी काव्य में विषय के स्थान पर विषयी की प्रधानता हुई। छायावाद को द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया कहने का यही अर्थ है कि उसमें वस्तुनिष्ठता के स्थान पर व्यक्तिनिष्ठता तथा विषय-निष्ठता की जगह विषयिनिष्ठता का आग्रह था। छायावाद को स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह कहने का भी एक अभिप्राय यही है। इसी विषयिनिष्ठता के कारण छायावाद की 'छाया' के विरोध में 'प्रकाशवाद' के नाम से एक विनोदपूर्ण वाद प्रस्तुत किया गया था। छायावाद में विषयिनिष्ठता की प्रमुखता को लक्ष्य करके ही 'पुष्करिणी' की भूमिका में श्री सच्चिदानंद वात्स्यायन ने कहा कि 'विषयीप्रधान दृष्टि ही छायावादी काव्य की प्राणशक्ति है।' इसकी व्याख्या करते हुए आगे उन्होंने कहा कि 'छायावादी कवि की व्याकुलता नाना रूपों में प्रकट हुई। किंतु उनमें सामान्य बात यह थी कि विषयी की प्रधानता थी, सभी रूपों की मूल प्रेरणा वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति थी। वह वैयक्तिकता चाहे कल्पना की हो, चाहे चिंतना की, चाहे अनुभूति की और चाहे स्वयं आध्यात्मिक व्याकुलता की हो।' इस विषयिनिष्ठता का स्पष्ट प्रतिफलन छायावाद के प्रकृतिचित्रण में देखा जा सकता है, जिसमें जड़ प्रकृति पर चेतनता के आरोप की ही नहीं, बल्कि मानवीकरण की व्यापक प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। छायावादी काव्य में प्रत्येक वस्तु का चित्रण गहरे भावसंवलित रूप में हुआ है, यहाँ तक तक कि मनु, श्रद्धा, इड़ा जैसे पौराणिक व्यक्तिचरित्र भी मनोविकारों के रूप में चित्रित किए गए हैं।

अनुभूति की प्रतिष्ठा :

विषयी की प्रधानता के कारण छायावाद में अनुभूति के महत्व की प्रतिष्ठा हुई। प्रसाद जी ने कविता की परिभाषा ही 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' के रूप में की और छायावाद की अन्य विशेषताओं के बीच 'स्वानुभूति की विवृति'

पर विशेष बल दिया। महादेवी जी जब गीत को 'व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख दुःखात्मक अनुभूति के शब्दरूप' में परिभाषित करती हैं तो एक तरह से कविता में अनुभूति के महत्व को ही रेखांकित करती हैं। इसके अतिरिक्त पंत जी का 'आह से उपजा होगा गान' तो प्रसिद्ध है ही। यहाँ तक कि 'छाया' की अनेक उपमाओं में से एक उपमा 'भावुकता' भी है। हिंदी कविता को छायावाद की यह महत्वपूर्ण देन है कि उसने कविता में कोरे वस्तुवर्णन के स्थान पर अनुभूति का महत्व प्रतिष्ठित किया; यह दूसरी बात है कि इस प्रयास में छायावाद कभी कभी भावोच्छ्वास और कोरी भावुकता की रसवर्जिनी सीमा तक चला गया।

कल्पनाशीलता :

वैयक्तिकता का एक पहलू अनुभूति है तो दूसरा कल्पनाशीलता है और यह निर्विवाद है कि छायावाद में कल्पना की उड़ान अभूतपूर्व थी। निराला ने कविता को 'कल्पना के कानन की रानी' कहा और प्रसाद ने 'कल्पना' की प्रशंसा में पूरी एक कविता की रचना की जिसमें कल्पना को 'मनुज-जीवन-प्रान' कहा गया है। पंत जी ने 'पल्लव' की कविताओं को 'कल्पना के ये पल्लव बाल' कहा और काव्य में कल्पना को यहाँ तक महत्व दिया कि 'कोई भी गंभीर, व्यापक तथा महत्वपूर्ण अनुभूति काल्पनिक होती है।' (छायावाद : पुनर्मूल्यांकन) जैसा कि प्रायः आलोचकों ने परिलक्षित किया है, छायावाद में कल्पना की अंतर्दृष्टिदायिनी और सृष्टिविधायिनी, दोनों शक्तियों का प्रचुर उपयोग हुआ। छायावादी कवि के लिये कल्पना उसकी मानसिक स्वतंत्रता का प्रतीक थी, कल्पना के पंखों के सहारे ही वह अपने आसपास के संकीर्ण वातावरण से निकलकर मुक्त आकाश में विचरण करने की क्षमता प्राप्त करता था और उसी के सहारे मनोवांछित स्वप्नलोक का निर्माण भी कर लेता था। कल्पना के अतिरेक के कारण ही कुछ आलोचकों ने छायावाद को 'वायवी' कहा और कुछ ने 'वास्तविकता पर बलात्कार।' अतः इतना तो निश्चित है कि कल्पनाशक्ति ने छायावाद के स्वच्छंदतावाद नाम को सार्थक किया।

वेदना की विवृति :

वैयक्तिक स्वतंत्रता की अनिवार्य परिणति वेदना में होती है, इसलिये छायावाद में 'उच्छ्वास' और 'आँसू' की अधिकता आश्चर्यजनक नहीं है। 'आँसू' शीर्षक कविता पंत ने ही नहीं, प्रसाद ने भी लिखी और महादेवी का तो सारा ही काव्य जैसे आँसुओं से गीला है। पंत की दृष्टि में यदि 'उमड़कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान' तो प्रसाद में भी घनीभूत पीड़ा

'दुर्दिन में आँसू बनकर चुपचाप बरसने आई' और महादेवी तो स्पष्ट स्वीकार करती हैं कि 'वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास।' और तो और, विद्रोही निराला भी नितांत वेदनाशून्य नहीं। 'दुःख ही जीवन की कथा रही।' यह आत्मस्वीकृति निराला की ही है। ऐसी स्थिति में यदि छायावाद के आलोचकों ने वेदनावाद का आरोप लगाया तो कुछ अनुचित नहीं। पंत जी ने 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में इसका अत्यंत युक्तिसंगत स्पष्टीकरण किया है : 'बहुत सारी वेदना की अनुभूति उस युग के भावप्रवण मन में इसलिये भी थी कि वह उन शृंखला की कड़ियों के प्रति जाग्रत था जो समस्त देश तथा समाज की चेतना को अपने दुर्निवार, निर्मम, नृशंस लौह बंधनों में जकड़े हुए थीं और जिन्हें तोड़ने के लिये प्रबुद्ध सामूहिक कर्म तथा संयुक्त सामाजिक संघर्ष करना आवश्यक तथा अनिवार्य था। नए युग के भाव-मुक्ति-कामी मन के उड़ान भरनेवाले, पिंजरबद्ध व्यक्ति असमर्थपंख उन जीवनशून्य ठंढे सींकचों के संपर्क के कठोर आघात से लहूलुहान होकर कराहती हुई वेदना के स्वरों में गा उठे थे।' वेदना को छायावादी कवियों ने पीड़ा के अतिरिक्त अनुभूति, संवेदना तथा बोध के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है—जैसे 'वेदना के ही सुरीले हाथ से बना यह विश्व' इत्यादि। किंतु छायावादी काव्यधारा के क्रमिक विकास को देखते हुए कहा जा सकता है कि वेदना की जो प्रधानता आरंभिक अवस्था में थी वह उत्तरकाल में क्रमशः कम होती गई। प्रसाद ने यदि दुःखवाद का सर्वथा निषेध करके अंततः आनंदवाद की प्रतिष्ठा की तो पंत 'गुंजन' में सुख दुःख के बीच संतुलन खोजते पाए गए। यामा के अंतिम याम तक जाते जाते महादेवी की 'नीरजा' के आँसू सूख चले और निराला की 'राम की शक्तिपूजा' का अंत 'होगी जय होगी जय हे पुरुषोत्तम नवीन' से हुआ।

प्रेमानुभूति :

आचार्य शुक्ल ने छायावाद की प्रवृत्ति को 'अधिकतर प्रेमगीतात्मक' कहा है और यह तथ्य है कि छायावाद में जीवन के अन्य क्रियाव्यापारों एवं समस्याओं को समाविष्ट करते हुए भी प्रेम को सर्वोपरि स्थान दिया गया। द्विवेदीयुगीन शुद्धतावादी काव्य को देखते हुए निस्संदेह यह प्रेमाधिक्य विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करता है, किंतु संपूर्ण काव्यपरंपरा के क्रम में छायावाद की यह प्रवृत्ति अतिरंजित नहीं कही जा सकती, क्योंकि कविता में प्रेम को प्रायः सर्वत्र और सदैव प्रधानता प्राप्त हुई है। किंतु छायावाद के संदर्भ में प्रेमानुभूति की अधिकता से कहीं महत्वपूर्ण प्रेम के प्रति छायावादी कवियों का दृष्टिकोण है। आलोचकों ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि छायावाद का प्रेम प्रायः अशरीरी है और उसमें रीतिकालीन भोगवादी दृष्टि के स्थान पर मानसिक रागात्मकता की प्रतिष्ठा की गई है। वैसे रीतिकालीन शृंगारिकता के विरुद्ध द्विवेदीयुगीन काव्य

में भी प्रतिक्रिया हुई थी किंतु नैतिक शुद्धतावादी दृष्टि के कारण द्विवेदीयुगीन काव्य जहाँ शृंगार के सर्वथा बहिष्कार की सीमा तक चला गया, छायावाद ने वैसा कट्टर शुद्धतावादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया। छायावाद ने शुद्धतावाद के स्थान पर आदर्शवाद का आश्रय लेकर प्रेम का उन्नयन किया, इस प्रकार छायावाद की रागात्मकता में मध्ययुगीन विलासचेष्टा की जगह आधुनिक पावनता है। प्रेम को उसके मध्ययुगीन अनुषंगों से मुक्त करना छायावाद की स्वातंत्र्य भावना का ही अंग है। छायावादी कवियों ने वैयक्तिक प्रेम की अनेक मनोदशाओं के सूक्ष्म चित्रण के अतिरिक्त प्रेम नामक भाव को उदात्त रूप देकर उसे स्वतंत्र रूप से काव्य का विषय बना दिया और इस प्रकार छायावाद में प्रेम एक गंभीर जीवनदर्शन के रूप में प्रकट हुआ।

सौंदर्यबोध :

पंत जी के अनुसार 'छायावाद में नए मूल्य ने अपनी सबसे अधिक सशक्त अभिव्यक्ति सौंदर्यबोध में पाई इसलिये सौंदर्यबोध उस युग के काव्य की सबसे मौलिक तथा प्रमुख देन रही।' छायावादी कवियों की दृष्टि निर्विवाद रूप से सौंदर्यवादी थी। यही नहीं कि छायावादी कवियों की दृष्टि अखिल विश्व के सौंदर्यचयन की ओर थी, बल्कि जीवन को भी वे सुंदर बनाने के अभिलाषी थे। कलावाद के जिस प्रभाव की चर्चा छायावाद के संदर्भ में प्रायः की गई है, वह और किसी रूप में हो न हो, सौंदयवाद के रूप में अवश्य प्रतिफलित हुई है। सत्यं, शिवं, सुंदरं में से छायावाद की दृष्टि सुंदर पर ही विशेष जमी, यहाँ तक कि वहाँ सत्यं और शिवं भी सुंदरं के रूप में ही गृहीत हुए। इस पथ पर अग्रसर होते हुए छायावादी कवि क्रमशः प्रकृतिसौंदर्य से चलकर मानवसौंदर्य तक पहुँचे। पंत के शब्दों में 'सुंदर है विहग सुमन सुंदर, मानव तुम सबसे सुंदरतम।' किंतु सौंदर्य के विषय में भी छायावादी दृष्टि विशिष्ट थी। यहाँ एक ओर सौंदर्य 'कनक किरण के अंतराल में लुक छिपकर चलता' दिखाई पड़ता है तो दूसरी ओर वह 'चेतना का उज्वल वरदान' है। इस प्रकार छायावाद की सौंदर्यदृष्टि में जहाँ एक ओर स्वप्नलोक का सा कुहासा है वहाँ दूसरी ओर चेतना की उज्वलता। छायावादी कवियों ने सौंदर्य को उदात्तता, भव्यता, दिव्यता आदि गुणों से मंडित करके उसे काव्य में एक नए मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया।

प्रकृति की ओर प्रत्यावर्तन :

हिंदी काव्यपरंपरा में प्रकृति को जो स्थान छायावाद में मिला, वह अभूतपूर्व है। भक्त कवियों को अपने भगवान् से अवकाश न था तो रीतिकालीन कवि भी सहेटस्थल से आगे न जा सका। आधुनिक युग में भारतेंदु तथा उनके मंडल के कवियों का

मन आचार्य शुक्ल के शब्दों में प्रकृति की अपेक्षा 'दस तरह के लोगों में उठने बैठने में अधिक रमता था।' आरंभिक स्वच्छंदतावादी कवि निस्संदेह प्रकृति की ओर आकृष्ट हुए किंतु अनुभूति की यथोचित गहराई और कल्पना की अपेक्षित क्षमता के अभाव में वहाँ भी प्रकृति के चित्र साधारणता के स्तर से उँचे न उठ सके। छायावादी कवियों ने जैसे उषा, संध्या, रात्रि और चाँदनी को भी नई अंतर्दृष्टि से देखा, इसीलिये पंत की 'प्रथम रश्मि', निराला की 'संध्या सुंदरी', प्रसाद की 'मदिर माधव यामिनी' और पंत की 'चाँदनी' हिंदी में छायावाद से पहले दुर्लभ है। प्रकृति के चिरपरिचित दृश्यों में नवीन सौंदर्य का उद्घाटन करने के अतिरिक्त छायावादी कवियों ने वन्य प्रकृति के कुछ सुदूर दृश्यों की ओर भी दृष्टि दौड़ाई। पंत के पर्वतीय चित्र और प्रसाद की 'कामायनी' में चित्रित प्रलयकालीन समुद्र के विराट् दृश्यचित्र हिंदी काव्य की अमूल्य निधियाँ हैं। प्रकृति के खंडचित्रों के अतिरिक्त छायावाद ने संभवतः पहली बार एक विराट् सत्ता के रूप में प्रकृति की अवधारणा की और प्राकृतिक वस्तुओं के स्थान पर समग्र प्रकृति को काव्य का विषय बनाया। इसके अतिरिक्त छायावाद में प्राचीन सांस्कृतिक अनुषंगों से युक्त तामरस, शिरीष, शेफाली, यूथिका आदि फूलों के भावचित्रों के द्वारा प्रकृतिचित्रण को एक सांस्कृतिक आयाम देने का भी प्रयास किया गया। छायावादी कवियों के प्रकृतिप्रेम को लक्ष्य कर कभी कभी उनपर पलायनवाद का भी आरोप लगाया गया। किंतु उस प्रकृतिप्रेम के मूल में सभ्यता से उत्पन्न सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति और नैसर्गिक जीवन की आकांक्षा ही अधिक थी, पलायन कम। 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे' जैसी कविताएँ जगन्मात्र से पलायन नहीं बल्कि 'कोलाहल की अवनी' से त्राण पाने की अभिलाषा है। कुल मिलाकर हिंदी का छायावाद अन्य रोमांटिक आंदोलनों के समान प्रकृति की आदिम गोद में लौटने की ओर उन्मुख नहीं बल्कि मानव जीवन को प्रकृति के सौंदर्य से मंडित करने की मानवीय आकांक्षा है।

राष्ट्रीय भावना :

छायावादी कवियों पर बहुत दिनों तक यह आरोप लगाया जाता रहा कि जिस समय देश अपनी स्वाधीनता के संग्राम में संलग्न था, ये कवि राष्ट्रीय प्रश्नों से विरत होकर क्षितिज के पार ताक झाँक करतेर हे। किंतु प्रसाद की 'हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार' तथा 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' प्रभृति गीत, निराला के 'भारति जय विजय करे', 'महाराजा शिवाजी के नाम पत्र' तथा 'जागो फिर एक बार' जैसे ओजस्वी जागरणगीत इस आरोप का स्वयं निरसन कर देते हैं। वस्तुतः स्वातंत्र्य जब छायावाद का केंद्रीय मूल्य था तो उसकी अभिव्यक्ति वैयक्तिक स्वतंत्रता से

बढ़कर राष्ट्रीय स्वतंत्रता के रूप में स्वभावतः हुई किंतु छायावाद की राष्ट्रीय भावना केवल राष्ट्रगीतों तक ही सीमित न थी बल्कि छायावाद की सूक्ष्म सांकेतिक प्रकृति के अनुरूप अन्य कविताओं में भी व्यक्त हुई। उदाहरण के लिये निराला के 'तुलसीदास' में देश को पराधीनता से मुक्त करने का संकल्प है और 'राम की शक्तिपूजा' के पौराणिक प्रतीक भी देश के उद्धार के लिये नैतिक शक्ति की साधना व्यजित करते हैं।

लोकमंगल एवं मानव करुणा :

छायावादी कवियों को स्वातंत्र्यभावना समाज की विषमताओं के विरुद्ध लोकमंगल और मानवकरुणा के रूप में भी व्यक्त हुई। सामान्यतः यह भावना न्यूनाधिक सभी छायावादी कवियों में पाई जाती है किंतु उसकी सर्वाधिक प्रमुखता निराला के काव्य में ही मिल पाई है। निराला की करुणामयी दृष्टि 'भिक्षुक' और 'विधवा' पर ही नहीं गई, बल्कि 'बादल राग' में उन्होंने 'जीर्णबाहु शीर्णशरीर अधीर कृषक के क्षुब्ध तोष' को भी वाणी दी तथा शोषश्वास, मूलभाष प्रहार पाते दलित मानव समुदाय' के अधिकारों को भी प्रस्तुत किया। इस प्रकार छायावादी काव्य में, स्वल्प ही सही, किंतु मानवकरुणा और लोकमंगल से युक्त सामाजिक चेतना भी परिलक्षित होती है।

विश्वमानवतावाद :

राष्ट्रीय स्वाधीनता के संग्राम से संबद्ध होते हुए भी छायावाद अंध राष्ट्रवाद का शिकार नहीं हुआ, बल्कि रवींद्रनाथ ठाकुर के विश्वमानवतावाद से प्रेरणा प्राप्त करके काव्य में विश्वदृष्टि को अभिव्यक्त करता रहा। पंत जी ने 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में बार बार इस बात पर बल दिया है कि छायावाद विश्वदृष्टि से अनुप्राणित था और यही उसकी आधुनिकता थी। प्रसाद की 'कामायनी' अखिल मानवभावों का सत्य विश्व के हृदयपटल पर अंकित करने की कामना रखती है और निराला ने 'सम्राट् अष्टम एडवर्ड के प्रति' कविता लिखकर यह प्रमाणित कर दिया कि छायावादी कवि की दृष्टि देश, वर्ण, धर्म आदि की समस्त दीवारों को तोड़कर मानवीय संबंधों के नाते किसी भी व्यक्ति के प्रति सहानुभूति रखने को प्रस्तुत है—निराला के लिये तो :

'मानव मानव से नहीं भिन्न
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा
वह नहीं क्लिन्न,
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का वह निष्कलंक।

मध्ययुगीन काव्य से छायावाद इसी अर्थ में व्यापक और विराट् है कि उसमें आधुनिक युग की विश्वदृष्टि है।

सांस्कृतिक गरिमा

प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करते हुए भी छायावाद ने समकालीन पुनर्जागरण भावना के अनुरूप अपनी सांस्कृतिक परंपरा के पुनरुत्थान की ओर भी ध्यान दिया। किंतु छायावाद की सांस्कृतिक चेतना, पूर्ववर्ती द्विवेदी युग से अधिक परिमार्जित एवं सूक्ष्म थी। निराला की 'यमुना के प्रति', 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा' तथा प्रसाद की 'कामायनी' से स्पष्ट है कि पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथानकों को ग्रहण करते हुए भी छायावादी कवियों ने पूर्ववर्ती कवियों की स्थूल दृष्टि का परित्याग कर अधिक भावमूलक सृष्टि की। कालिदास का 'मेघदूत' द्विवेदी युग के कवियों ने पढ़ा किंतु जैसा कि श्री स० ही० वात्स्यायन ने लिखा है : 'छायावादी कवि ने कहानी मानो पढ़ी ही नहीं, कालिदास नामक ऐंद्रजालिक द्वारा सशरीर आँखों के सामने ला खड़ी की गई प्रकृति की अनिर्वचनीय मूर्ति को वह अपलक देखता रह गया। यहाँ भी नए परिचय का प्रश्न नहीं था, नई दृष्टि का ही प्रश्न था। इसीलिये कालिदास के 'पुनराविष्कार' की बात कही गई।' इस प्रकार छायावाद की स्वातंत्र्य भावना ने परंपरा की रूढ़ियों से अपने आपको मुक्त कर नए सिरे से परंपरा का पुनराविष्कार किया और फिर आधुनिक संदर्भ में उसका पुनः सर्जन किया जिससे छायावाद के आधुनिक बोध को एक नया सांस्कृतिक आयाम मिल गया।

भाषाव्यंजना :

छायावाद के जिस अभिव्यंजनाकौशल को उसकी सबसे बड़ी देन और उपलब्धि माना जाता है वह वस्तुतः छायावाद के केंद्रीय मूल्य स्वातंत्र्य का प्रथम साधन है। 'छायावाद के संमुख पहला प्रश्न अपने काव्य के अनुकूल भाषा का, नई संवेदना के नए मुहावरे का था। इस समस्या का उसने धैर्य और साहस के साथ सामना किया'। द्विवेदी युग में खड़ी बोली के परिमार्जन और परिष्कार का कार्य संपन्न हो चुका था और वह काव्यरचना के उपयुक्त हो चली थी, किंतु उसमें निहित काव्यात्मक संभावनाओं को पहचानकर संस्कार देने का कार्य शेष था और कहना न होगा कि छायावादी कवियों के हाथों यह कार्य संपन्न हुआ, साथ ही काव्यभाषा में व्यंजकता की वृद्धि हुई। मुकुटधर पांडेय ने छायावाद की विशेषताओं का बखान करते हुए लिखा था कि उसका एक मोटा लक्ष्य यह है कि उसमें शब्द और अर्थ का सामंजस्य बहुत कम रहता है। कहीं कहीं तो इन दोनों का परस्पर कुछ भी संबंध नहीं रहता। लिखा कुछ और ही गया है, पर मतलब कुछ और ही निकलता है। उसमें ऐसा कुछ जादू भरा है—अतएव यदि यह कहा जाय कि ऐसी रचनाओं में शब्द अपने स्वाभाविक मूल्य को खोकर सांकेतिक चिह्न मात्र

हुआ करते हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी। तात्पर्य यह कि छायावाद के शब्द प्रतीक होते हैं और वे जादू का सा असर पैदा करते हैं। इसके लिये कवि शब्द को प्रचलित अर्थ से अलग करके नए अर्थ से युक्त करता है। यह तथ्य है कि जो शब्द काव्य में पहले कभी साथ साथ न देखे गए थे वे छायावाद में पहली बार नियोजित हुए—और इस प्रकार नियोजित हुए कि उनसे एक नया अर्थ ध्वनित होने लगा। इसी को दूसरे शब्दों में शब्द और अर्थ को नए संबंधों में आबद्ध होना कहते हैं। उदाहरण के लिये 'तुतला उपक्रम', 'तुमुल तम', 'नील झंकार', 'मूर्छित आतप'। शास्त्रीय भाषा में जिसे विशेषणविपर्यय अलंकार के रूप में अति सरलीकृत ढंग से समझाया जाता है वह रचनाप्रक्रिया की दृष्टि से वस्तुतः भाषागत सर्जनात्मक स्वतंत्रता का सूचक है और कहना न होगा कि छायावादी कवियों ने इस दिशा में अभूतपूर्व साहस का परिचय दिया। इस दृष्टि से पंत जी का यह कथन सर्वथा संगत है कि 'शब्दों से नए अर्थ, अर्थों से नई चेतना, चेतना से नया कलाबोध और कलाबोध से नई सौंदर्यभंगिमा हृदय को स्पर्श कर नए रस का संचार करने लगी।'

इसके अतिरिक्त छायावाद ने भाषा की अभिव्यंजनाक्षमता बढ़ाने के लिये बिंबविधान का आश्रय लिया जिसे शुक्ल जी ने 'लाक्षणिक मूर्तिमत्ता' तथा पंत जी ने 'चित्रभाषा' के नाम से अभिहित किया है। बिंबरचना में छायावादी कवियों का सबसे बड़ा साधन सृष्टिविधायिनी कल्पना थी।

छंदरचना के क्षेत्र में छायावाद ने द्विवेदीयुगीन अनेक विकल्पों के बीच से खड़ीबोली हिंदी की प्रकृति के अनुरूप प्रगीतों के लिये कतिपय छंदों को परिनिष्ठित रूप दिया तथा कविता में संगीतमयता की वृद्धि की। इसके अतिरिक्त छायावाद को हिंदी में मुक्त छंद के प्रवर्तन का भी श्रेय है जिसके पुरस्कर्ता मुख्य रूप से निराला हैं।

कुल मिलाकर सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में 'उस युग का नवीन काव्य-संचरण जो कि एक नए जीवनमूल्य की खोज में था वह अपने प्रथम उत्थान में हमें अपनी आदर्शोन्मुखी अभिव्यंजना शैली के अंतर्गत उदात्त कल्पनावैभव, मौलिक सौंदर्यबोध, अंतर्मुखी प्रतीक-बिंब-विधान, वस्तुजगत् का भावोन्मुखी सूक्ष्मीकरण तथा भावसंवेदनों का वस्तून्मुखी स्थूलीकरण, प्रकृतिचित्रण तथा लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा शब्दशक्ति की संप्रेषणीयता संबंधी स्मृति तथा नवीन छंदों की उन्मुक्त स्वर-लय-झंकृति आदि अनेक रमणीय रसात्मक तत्वों को लेकर अभूतपूर्व काव्यऐश्वर्य के साथ अवतरित हुआ।'

२

प्रमुख कवि : अन्य कवि

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ हिंदी कविता में प्रच्छन्न रूप से समाविष्ट होने लगी थीं, जिन्होंने १९१५ ई० के आसपास प्रकट होकर एक व्यापक पैमाने पर छायावादी काव्यांदोलन का स्वरूप धारण कर लिया। इस काव्यांदोलन में इतनी त्वरा, सांस्कृतिक सार्थकता और कलात्मक शोभा थी कि पाँच वर्षों के बाद ही, अर्थात् १९२० ई० के आते आते छायावाद हिंदी साहित्य के इतिहास का एक स्वीकृत समादृत अंश बन गया। और, अब छायावाद युग, जो लगभग १९१८–१९ ई० से १९३७–३८ ई० तक फैला रहा, हिंदी साहित्येतिहास में भक्तियुग के बाद दूसरा गौरवपूर्ण स्थान रखता है। विश्लेषण की दृष्टि से १९१६ ई० से १९१८ ई० के बीच छायावाद युग का उत्थान प्रारंभ हुआ और १९२४–२५ ई० के आसपास वह अपने उत्कर्षबिंदु पर पहुँच गया। पहले आलोचक छायावाद को केवल अभिव्यंजनापरक काव्य समझते थे, किंतु अब इसे पूर्वाग्रहहीन आलोचक अभिव्यंजनापरक होने के साथ ही 'नवीन मूल्यपरक काव्य' समझते हैं और छायावाद के प्रमुख कवियों का आज हिंदी काव्य के इतिहास में अप्रतिम महत्व है।

प्रसाद

प्रसाद (जन्म काल : ३० जनवरी, १८९० ई० और मृत्युकाल : १४ नवंबर, १९३७ ई०) कवि होने के साथ ही एक गंभीर विचारक और विद्वान् थे। प्रसाद की काव्यरचना का प्रारंभ उस प्रौढ़ि का पूर्वाभास नहीं देता जो 'कामायनी' में मिलती है। इन्होंने 'कलाधर' उपनाम से ब्रजभाषा में काव्यरचना प्रारंभ की थी, फिर खड़ी बोली में अत्यंत विवरणात्मक कविताएँ लिखी थीं और तब उस लक्षणाश्रित मसृण शैली को अर्जित किया था, जिसमें कामायनी एवं प्रौढ़िकाल की अन्य कविताएँ लिखी गईं। इस प्रकार छायावादी कवियों के बीच प्रसाद ने काव्यविकास को जो दूरी तय की, वह प्रशंसनीय है। छायावाद के अन्य प्रमुख कवियों को, शायद इतनी बड़ी दूरी तय करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

प्रसाद जी का रचनाकाल लगभग छब्बीस वर्षों का रहा। इस अवधि

(१९०९ ई० से १९३५ ई० तक) का आरंभिक अंश द्विवेदी युग में पड़ता है और इसका शेषांश छायावाद युग में। इसलिये प्रसाद की प्रारंभिक रचनाओं और प्रौढ़िप्रकर्ष पर पहुँची हुई रचनाओं में क्रमशः द्विवेदीयुगीन प्रवृत्तियाँ और छायावादी प्रवृत्तियाँ प्रखर मुखर हैं। यों प्रसाद जी की काव्यसाधना का अधिकांश छायावादी प्रवृत्ति से ओतप्रोत है। इतना ही नहीं, 'झरना के प्रथम संस्करण के प्रकाशकीय निवेदन में यह दावा किया गया है कि 'जिस शैली की कविता को हिंदी साहित्य में आज दिन 'छायावाद' का नाम मिल रहा है, उसका प्रारंभ प्रस्तुत संग्रह द्वारा ही हुआ था।'

प्रसाद के काव्यविकास को समझने के लिये इनकी काव्यकृतियों का विवरण कालक्रम की दृष्टि से इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—उर्वशी (१९०९ ई०), वनमिलन (१९०९ ई०), प्रेमराज्य (१९०९ ई०), अयोध्या का उद्धार (१९१० ई०), शोकोच्छ्वास (१९१० ई०), बभ्रुवाहन (१९११ ई०) काननकुसुम[1] (१९१३ ई०), प्रेमपथिक[2] (१९१३ ई०), करुणालय (१९१३ ई०), महाराणा का महत्व (१९१४ ई०), झरना (१९१८ ई०), दूसरा संस्करण (१९२७ ई०), आँसू (१९२५ ई०), लहर (१९३३ ई०) और कामायनी (१९३५ ई०)।

'चित्राधार'[3] की गद्य-पद्य-मयी रचनाएँ और 'काननकुसुम' में संकलित

१ लगभग तीन बार संशोधित परिवर्तित होने के बाद 'काननकुसुम' वर्तमान रूप में प्रकाशित हुआ है। 'काननकुसुम' के प्रथम संस्करण में प्रकाशनकाल का उल्लेख नहीं है। इसके तृतीय संस्करण (१९२९ ई०) के विवरण से यह पता चलता है कि इसका प्रथम संस्करण १९१३ ई० में हुआ था और इसमें १९१३ ई० तक रचित प्रसाद की ब्रज तथा खड़ी बोली की सभी कविताएँ संगृहीत थीं। तीसरे संस्करण में 'काननकुसुम' के अंतर्गत केवल खड़ी बोली की कविताएँ रखी गई हैं और ब्रजभाषा में रचित कविताएँ अलग से 'चित्राधार' में संकलित कर दी गई हैं। इस प्रकार 'काननकुसुम' का वर्तमान रूप प्रसाद की आरंभिक खड़ी बोली काव्यरचना की झाँकी प्रस्तुत करता है।

२ 'प्रेमपथिक' खड़ी बोली में प्रकाशित होने से लगभग आठ वर्ष पहले ब्रजभाषा में लिखा गया था।

३ 'चित्राधार' में दो चंपू, तीन आख्यानक काव्य, दो नाट्य, दो कथाएँ, तीन प्रबंध 'पराग' के अंतर्गत बाईस कविताएँ और 'मकरंदबिंदु' के अंतर्गत तेईस कवित्त, तीन सवैया तथा चौदह पद संमिलित हैं। कुल मिलाकर 'चित्राधार' में वर्णनात्मक और भावात्मक दो प्रकार की रचनाएँ संकलित हैं। इस प्रसंग में यह भी

कविताएँ पुरानेपन से पांडु और परंपरा की अविरल छाप से मलिन हैं। इनकी आरंभिक कविताओं की मंथर और छायावादी कलासौष्ठव से रहित भाषाशैली का नमूना इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

वह सघन कुंज, सुखपुंज भ्रमर की आली,
कुछ और दृश्य है, सुषमा नई निराली।
बैठी है बसन मलीन पहन इक बाला,
पुरइन पत्रों के बीच कमल की माला।

प्रसाद की काव्यकला में छायावादी उत्कर्ष का प्रारंभ 'झरना'[1] की कविताओं से हुआ। सच पूछा जाय तो 'झरना' में इनके काव्यप्रवाह की दिशा ही बदल गई। अतः यह कहा जा सकता है कि 'झरना' इनका वह पहला काव्यसंग्रह है, जिसमें हम छायावादी कविताशैली का 'प्रारंभिक परिचय' पा सकते हैं। इस संग्रह में छायावादी मसृण भाषाशैली की पूर्व झलक प्रस्तुत करनेवाली अनेक पंक्तियाँ मिलती हैं। जैसे—'कामना के नूपुर की झनकार',[2] 'धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश',[3] 'आशा का परिहास...स्मृति का उपहास',[4] 'विह्वल सी दीन वेदना'[5] 'गुलाल सी अभिलाषाओं की धूल'[6] इत्यादि।

लक्ष्य करने योग्य है कि 'पराग' के अंतर्गत संकलित सभी कविताएँ ब्रजभाषा में लिखी हुई हैं और मुख्यतः प्रकृति अथवा भक्ति से संबद्ध हैं। 'चित्राधार' में संगृहीत 'पराग' और 'मकरंद' शीर्षक खंड इसे प्रमाणित करते हैं कि प्रारंभ में प्रसाद जी की मुक्तक रचनाओं की ओर गहरी प्रवृत्ति थी।

१ 'झरना' का प्रथम संकरण १९१८ ई० में हुआ था। तब इसमें कुल पचीस कविताएँ थीं। इसका परिवर्धित संस्करण १९२७ ई० में प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में प्रथम संस्करण की तीन कविताएँ निकाल दी गईं और 'काननकुसुम' की बारह कविताएँ तथा १९१८ ई० से १९२७ ई० तक की अवधि में लिखित इक्कीस कविताएँ इसमें जोड़ दी गईं। इस प्रकार 'झरना' प्रसाद के काव्य-विकास की एक महत्वपूर्ण मार्गशिला है।

२ झरना, सातवाँ संस्करण, पृष्ठ १७।

३ उपरिवत्, पृ० २८।

४ उपरिवत्, पृ० ३३।

५ उपरिवत्, पृ० ३३।

६ उपरिवत्, पृ० ७०।

इतना ही नहीं, 'झरना' की अनेक पंक्तियाँ छायावादी काव्यशैली, भाव एवं भाषा की दृष्टि से मनोहारी हैं। उदाहरणार्थ, 'विषाद' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ छायावादी वेदनावाद का द्वार उन्मुक्त करती-सी प्रतीत होती हैं —

किसी हृदय का यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का विश्रांत चरण है।[1]

इसी तरह कवि ने 'हृदय का सौंदर्य' शीर्षक कविता में अंतर्जगत् (छायावादी काव्यसिद्धांत और छायावादी जीवनदर्शन की मूल मान्यता से संबद्ध अंतर्जगत्) के अंतरंग सौंदर्य की मानसिकता का बखान इन शब्दों में किया है—

बना लो अपना हृदय प्रशांत,
तनिक तब देखो वह सौंदर्य;
चंद्रिका से उज्ज्वल आलोक,
मल्लिका सा मोहन मृदुहास।
अरुण हो सकल विश्व अनुराग,
करुण हो निर्दय मानव चित्त,
उठे मधु लहरी मानस में
कूल पर मलयज का हो वास।[2]

यों 'झरना' में भी ब्रजभाषा का बचा खुचा संस्कार यदा कदा प्रकट हो गया है। जैसे, 'चुप रहे जीवन धन मुसक्याय।'[3]

प्रसाद के काव्यविकास में 'झरना' के अलावा 'चित्राधार', 'कानन कुसुम', 'महाराणा का महत्व', 'प्रेमपथिक',[4] 'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी' का अपनी

१ उपरिवत्, पृ० ३१।

२ झरना, प्रसाद, सातवाँ संस्करण, पृ० ६६।

३ उपरिवत्, पृ० ४८।

४ 'प्रेमपथिक' प्रसाद जी का पहला प्रेमकाव्य है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रकाशन से लगभग आठ वर्ष पूर्व 'प्रेमपथिक' ब्रजभाषा में रचा गया था। बाद में इसे ही परिष्कृत और परिवर्धित कर तुकांतविहीन छंदपद्धति में खड़ी बोली हिंदी का आधुनिक रूप दे दिया गया। कल्पनाविधान के प्रबंधात्मक विनियोग, औपनिषदिक चिंताधारा के प्रभाव और शैवागमों के आलोक में किए गए चिंतन मनन की अभिव्यक्ति के कारण 'प्रेमपथिक' 'कामायनी' जैसी किसी

अपनी जगह पर उल्लेखनीय महत्व है। 'आँसू' का प्रथम प्रकाशन १९२५ ई० में हुआ था। इस संस्करण में 'आँसू' के अंतर्गत कुल १२६ छंद थे। परिवर्धित संस्करण में लगभग ६४ छंद जोड़ दिए गए। इस परिवर्धन का फल यह हुआ कि पहले 'आँसू' विरह और स्मृतिदंश का एक करुण काव्य भर था, किंतु, अब वह अंतर्जगत् की रोमांचपूर्ण रहस्यानुभूतियों से भी रंजित हो गया। ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से 'आँसू' छायावादी वेदनाप्रवाह की पहली तुंग तरंग है। किंतु सुमित्रानंदन पंत की धारणा 'आँसू' के अनुकूल नहीं है। इनकी दृष्टि में 'आँसू' छायावाद युग की एक निर्बल सृष्टि है। इन्होंने 'आज की कविता और मैं' शीर्षक निबंध में लिखा है, 'प्रसाद जी की कामायनी छायावाद के प्रथम चरण की सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि रचना है, उनका आँसू छायावादी युग की एक निर्बल सृष्टि।' इस प्रकार कई आलोचकों के अनुसार प्रसाद की काव्यकृतियों में 'झरना' (द्वितीय संस्करण) छायावादी काव्यशैली का अपेक्षाकृत अधिक प्रतिनिधि संकलन है।

तदनंतर 'लहर' में प्रसाद की गीतिकला का समर्थ विकास लक्षित होता है। इसकी विषयसूची में 'क्रम' के अंतर्गत २९ गीतियाँ निर्दिष्ट हैं तथा 'और कविताएँ' के अंतर्गत चार वर्णनात्मक कविताएँ हैं। कुल मिलाकर ये स्फुट कविताएँ तत्कालीन संदर्भ में 'हिंदी की आधुनिक कविताशैली' का सफल प्रतिनिधित्व करती हैं। इस संग्रह में, आचार्य शुक्ल के अनुसार, 'लहर से कवि का अभिप्राय उस आनंद की लहर से है, जो मनुष्य के मानस में उठा करती है और उसके जीवन को सरस करती है।'[१]

प्रसाद की अंतिम और सर्वोत्कृष्ट काव्यकृति 'कामायनी' इनके प्रौढ़िप्रकर्ष की द्योतक है। 'चित्राधार' और 'काननकुसुम' से प्रारंभ कर 'कामायनी' तक

उत्कृष्ट महाकाव्यात्मक कृति की अवतारणा को पूर्वांशित करता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रसाद जी किशोरकाल से ही शैव साहित्य की ओर आकृष्ट थे, क्योंकि इनका परिवार शिव का उपासक था। इनके कुटुंबियों का कहना है कि इनका जन्म शिव की कृपा से ही हुआ था। इनके माता पिता ने पुत्रजन्म के लिये शिव से प्रार्थना की थी। चूँकि वैद्यनाथधाम (झारखंड) के शिव की आराधना के फलस्वरूप इनका जन्म हुआ और इनका नामकरण संस्कार वैद्यनाथधाम (झारखंड) में ही हुआ, इसलिये इनका पहला नाम 'झारखंडी' था। किशोरकाल तक प्रसाद 'झारखंडी' कहकर ही पुकारे जाते थे।

१ हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, द्वितीय संस्करण, पृ० ६७२।

पहुँचना काव्यविकास की एक ऐसी यात्रा है जो सुखद होने के साथ ही श्रमसाध्य और प्रतिभासापेक्ष है। 'कामायनी' का अधिकरण बहिर्जगत् न होकर अंतर्जगत् है—कवि का अंतर्जगत् व्यक्ति का अंतर्जगत् और मानव जाति का अंतर्जगत्। इस प्रकार प्रसाद ने 'कामायनी' को अपने चिंतन, मनन और कल्पनाविधान से 'गूढ़ार्थ' बना दिया है, जब कि 'कामायनी' का परंपरास्वीकृत साहित्यिक अर्थ बहुत ही सामान्य है—कामकला या प्रेमकला। किंतु, प्रसाद की कला ने कई प्रकार के प्रतीकसंदर्भों की अवतारणा कर 'कामायनी' को सार्थकता के विभिन्न आयामों से समृद्ध कर दिया है। सचमुच, प्रसाद ने शैवागमों में वर्णित आनंदवाद, समरसता और प्रत्यभिज्ञा की शैव धारणाओं को अपने युग के संदर्भ में पिरोकर ऐसी 'कामायनी' रच दी, जो मानवता की शाश्वत मंगलाशा को मूर्तिमान् करनेवाली अग्रेसर कृति बन गई। इसलिये 'कामायनी' अनेक दृष्टियों से एक विवादास्पद कृति होकर भी आधुनिक हिंदी कविता की सबसे महान् उपलब्धि है। इसकी अनन्वय विशेषता यह है कि इसकी संपूर्ण कथावस्तु तत्वतः मानवचेतना के भीतर घटित होती है; उसका आधिभौतिक या ऐहिक आधार छिलका भर है। इसलिये अपनी अविरल आंतरिकता के कारण 'कामायनी' संपूर्ण मानवता के विकास की अंतरंग गाथा बन गई है और सतत विकासशील मानवचेतना का भावात्मक महाकाव्य भी। यह दूसरी बात है कि कथावस्तु के अंतर्मुख विकास के कारण 'कामायनी' में कार्यव्यापार का अभाव है। किंतु, कार्यव्यापार का यह अभाव तो 'कामायनी' की अंतःप्रकृति में ही निहित है। भला जिस महाकाव्य के प्रायः सभी सर्गों (चिंता, आशा, श्रद्धा, काम,[१] वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनंद)[२] का नामकरण मानव मन की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया हो, उसमें बहिर्जगत् से संबद्ध कितनी घटनाओं और क्रियाव्यापारों का संनिवेश किया जा सकता है ?

[१] काम के तीन प्रधान रूप हैं—आध्यात्मिक, सर्जनात्मक और वासनात्मक। सर्जनात्मक काम को शैवागमों में 'कामकला' कहा गया है। इसी 'कामकला' को प्रसाद ने 'प्रेमकला' कहा है।

[२] 'कामायनी' के सर्गों के नामकरण में भी प्रसाद ने काफी मीनमेख और विचार विमर्श के बाद अंतिम निर्णय लिया था। पहले कवि ने काम सर्ग का नाम यज्ञ, इड़ा सर्ग का नाम इला, संघर्ष सर्ग का नाम युद्ध और निर्वेद सर्ग का नाम स्वीकृति रखा था। निश्चय ही बाद में दिए गए सर्गशीर्षक अपेक्षाकृत अधिक सार्थक हैं।

'कामायनी' प्रसाद की काव्यसाधना का शिखर है और इनके श्रम तथा प्रौढ़िप्रकर्ष का सूचक है। इसकी रचना के पीछे साधना का सातत्य और चिंतन की व्युत्पन्नता है। इसकी रचना में प्रसाद ने पूरे सात वर्ष लगाए थे। प्राप्त सूचनाओं के अनुसार 'कामायनी' का 'चिंता' सर्ग १६२८ ई० के अक्टूबर महीने में 'सुधा' में छपा था और पूरी 'कामायनी' १६३५ ई० में छपी। इस प्रकार सात वर्षों के निरंतर चिंतन और लेखन के बाद 'कामायनी' पूरी हुई। इस बीच 'कामना' या 'एक घूँट' जैसी रचनाएँ आईं, तो मात्र इस प्रयास में कि 'कामायनी' की विषयवस्तु तथा शिल्पविधि और भी मँज सके—सुगढ़ और शिल्पित हो सके। इस प्रकार 'कामायनी' अभ्यास और व्युत्पन्नता के साथ रची गई एक प्रातिभ काव्यकृति है।

'कामायनी' के संबंध में लोकायतनकार पंत ने भी विचारणीय बातें कही हैं। एक ओर इन्होंने 'कामायनी' के दर्शनपक्ष, तांत्रिक त्रिकोण और मन की शैवाद्वैत साधना पर विचार करते हुए लिखा है कि 'मानव मन की प्रवृत्तियों का संघर्ष, उत्थान, पतन तथा उन्नयन ही कामायनी का दर्शनपीठ है। तर्कबुद्धि इड़ा तथा श्रद्धा का समन्वय ही उसका निःश्रेयसभरा संदेश है?' किंतु, दूसरी ओर 'कामायनी' के व्यक्तिवादी आरोहणमूलक जीवनदर्शन और 'कामायनी' में न्यस्त 'आनंदवाद की उच्च एकांत व्यक्तिमुखी भूमि' के प्रति इनका आक्षेप यह है कि '···इड़ा श्रद्धा का सामंजस्य पर्याप्त नहीं है। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोकजीवन की ओर नहीं लौट आए। आने पर भी शायद वहाँ कुछ नहीं कर सकते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिरपुरातन, पिष्टपेषित निदान है।······यहीं पर कामायनी कला-प्रयोगों में आधुनिक होने पर भी······वास्तव में जीवन के नवीन यथार्थ तथा चैतन्य को अभिव्यक्ति नहीं दे सकी।' आशय यह है कि 'कामायनी' में चेतना की गति केवल आरोहपूर्ण है, अतः वैयक्तिक कल्याण या वैयक्तिक मोक्ष की निर्देशिका है। इसीलिये पंत ने 'लोकायतन' में चेतना की गति को अवरोह और समदिक् संचरण से अन्वित कर लोकमंगल और सामूहिक मोक्ष का आह्वान किया है। इन्होंने 'पूर्वस्मृति' के प्रारंभिक निवेदन में लिखा है—

कैसे कह दूँ इड़ालुब्ध युग मनु से
श्रद्धा सँग वह करे मेरु-नग-रोहण,
आत्मबोध की निष्क्रिय समरस स्थिति को
जन भूपथ पर करना सक्रिय विचरण !
आज सर्पमुख से मणि छीन, अधोमुख
अवचेतन पथ करो, चेतने ज्योतित,

चित्रकूट से नीचे धराकुहर में
उतर, अचेतन तिमिर जहाँ चिरनिद्रित !

शायद, प्रसाद और पंत के जीवनदर्शन के उपरिनिर्दिष्ट अंतर का ही यह प्रभाव है कि 'कामायनी' का आरोहप्रधान काव्य जहाँ हिमगिरि के उत्तुंग शिखर से प्रारंभ होता है, वहाँ सामूहिक मोक्ष के आकांक्षी 'लोकायतन' की कथा 'उटजगुहा' से प्रारंभ होती है—

उटजगुहा में कौन वहाँ अंतःस्मित।
स्वर्गशिखा सी भेद रही पर्वततम।

'कामायनी' के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को स्पष्टतर करते हुए पंत ने 'लोकायतन' के 'मधुस्पर्श' शीर्षक खंड में लिखा है—

आओ, श्रद्धा संग बैठें
युग मनु प्रसाद, पथ सहचर,
यह प्रेम गोत्रजा जो अब
चलती शिखरों से भू पर !
समरस जड़ चेतन के तट
प्लावित करती जीवनगति
लौटा लाया मानव को,
यह सखे, त्रिपुर की परिणति ![1]

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्रसाद की श्रद्धा, जिसे कई विचारकों ने 'विदेह चित्तवृत्ति' के रूप में स्वीकार किया है, शिखरों पर चलनेवाली थी, जब कि पंत की श्रद्धा भू पर चलनेवाली है। अतः यह अधिक लोकसंपृक्त, वस्तुनिष्ठ और मिट्टी की सोंधी गंध से युक्त है। दूसरी ओर प्रसाद का 'मनु' जहाँ व्यक्तिमुक्ति में सीमित रहकर शिखरों के स्वर्णोदय को स्वयं ही भोगता रह जाता है,

[1] 'लोकायतन' की रचना से पूर्व पंत ने 'वाणी' शीर्षक कविता में भी 'कामायनी' के ऊर्ध्वमुख आरोहणमूलक दर्शन का खंडन किया था। 'वाणी' शीर्षक कविता में उक्त आशय को व्यक्त करनेवाली पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

अतल हरित पावक जल सागर,
भरो चेतना रस की गागर,
श्रद्धा की स्वर्णिम लपटों को
दहने दो, दहने दो !

शिखरों के उस स्वर्णोदय को लोकमंगल के लिये भू पर नहीं ला सकता है, वहाँ पंत के 'लोकायतन' का अभीप्सित मानव कैलाशकूट की चरमसिद्धि को जन-जीवन में ले आना चाहता है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'कामायनी' में 'आत्मबल' की प्रतिष्ठा है और 'लोकायतन' में 'लोकबल' की। इसलिये 'कामायनी' में जहाँ मनःसंगठन को रेखांकित किया गया है, वहाँ 'लोकायतन' में लोकसंगठन और मनःसंगठन, दोनों के संतुलित विकास को महत्व दिया गया है। इसका फल यह हुआ है कि प्रसाद 'कामायनी' में वैयक्तिक मोक्ष की उपलब्धि पर ही रुक गए हैं, जब कि पंत ने 'लोकायतन' में सामूहिक मोक्ष की परिकल्पना की है और केवल कैलासशिखर (ऊर्ध्वलोक) को ही आनंद का अधिकरण न मानकर प्रत्यक्ष जगत् या लोकजीवन को भी ऐहिकामुष्मिक सुख का आगार माना है। इस तरह कामायनीकार और लोकायतनकार के दृष्टिकोण में ध्यातव्य अंतर है। लोकायतनकार ने आनंद या मोक्ष की उपलब्धि के लिये वैराग्य के रुद्रदाह को नहीं, 'प्रीतिशिखा' की स्थापना को आवश्यक माना है। इसी प्रीतिशिखा की स्थापना को पंत ने 'पौ फटने के पहिले' में 'प्रेमा का संचरण' कहा है। उपर्युक्त विश्लेषण से 'कामायनी' और 'लोकायतन' के जीवनदर्शन का अलंघ्य अंतर प्रकट है।

दार्शनिक विश्लेषण की दृष्टि से 'कामायनी' का आधारभूत दर्शन त्रिक्दर्शन है, जिसे षडर्धशास्त्र भी कहा जाता है। इस दर्शन को त्रिक्दर्शन कहने के कई कारण हैं। पहला कारण यह है कि इस दर्शन ने ९२ आगमों को मान्यता देते हुए भी कुल तीन आगमों—सिद्ध, नामक और मालिनी—को ही प्रमुखता दी है। दूसरा कारण यह है कि दार्शनिक प्रणाली में तीन प्रकार की त्रयी को स्वीकार किया गया है—पर, अपर और परापर। तदनंतर, इस दार्शनिक प्रणाली में ज्ञान के तीन पक्षों का विश्लेषण किया गया है, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—अभेद, भेदाभेद और भेद। इस तरह सर्वत्र तीन या त्रयी की प्रधानता के कारण उक्त दर्शन को त्रिक्दर्शन कहा जाता है। त्रिक्-दर्शन में अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष को प्रमुख शक्तियों के रूप में स्वीकार किया

यह न ऊर्ध्वमुख शिखरारोहण,
निस्तल निश्चेतन मनमंथन,
धरागर्त तम में निज पदतल
गहने दो, गहने दो !
(वाणी, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३२)

गया है। अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष को षडर्धशास्त्र या त्रिकदर्शन में क्रमशः चित, इच्छा और ज्ञान भी कहा जाता है। प्रसाद ने 'कामायनी' में प्रायः पिछले तीन नामों को ही स्वीकार किया है, किंतु कहीं कहीं शक्तिपंचक (चिति, आनंद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया) के विवरणक्रम में इन्होंने 'चित' की जगह पर 'मन' का प्रयोग कर दिया है। जैसे—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडंबना है जीवन की।[१]

त्रिकदर्शन में, जो शैव दर्शन का एक विशिष्ट प्रकार है, 'अज्ञान' को 'मल' कहा गया है, जो जीवों का 'बंध हेतु' है। इस 'मल' के कई प्रकार माने गए हैं। जैसे—आणव मल, कार्म मल और मायीय मल। जीवात्मा इन्हीं तीन प्रकार के मलों से आच्छन्न रहती है। इन मलों में आणव मल सबसे बड़ा बंधहेतु माना गया है। आणव मल स्वातंत्र्य शक्ति के अनुचित अभ्युदय से पैदा होता है और यही मल कार्म मल के आविर्भाव का कारण बनता है। 'कामायनी' का मनु वहीं 'आणव मल' से ग्रस्त हो गया है, जहाँ उसमें 'मैं' की भावना ने वैयक्तिक अहंता भाव पैदा कर दिया है—

मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में।
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में।[२]

इसी 'मैं' की भावना ने 'कामायनी' के मनु को अज्ञान से तत्काल आच्छन्न कर दिया है। 'आणव मल' के बाद 'कार्ममल' पैदा होता है, जो ठगिनी माया के संदर्भ में भ्रांत कर्म करने की प्रेरणा देता है। कार्म मल से आच्छन्न होकर ही कर्म सर्ग में मनु सोचते हैं—

कर्मयज्ञ से जीवन के सपनों का स्वर्ग मिलेगा।
इसी विपिन में मानस की आशा का कुसुम खिलेगा॥[३]

[१] कामायनी, प्रसाद, अष्टम संस्करण, पृष्ठ २७२।

[२] कामायनी, अष्ठम संस्करण, आशा सर्ग, पृष्ठ २७।

[३] कामायनी, अष्टम संस्करण, पृष्ठ ११३।

इसी कार्म मल के साथ जब कर्मसंस्कार संयुक्त हो जाता है, तब 'मायीय मल' उत्पन्न होता है। संपूर्ण 'स्वप्न' सर्ग इसका प्रमाण है।

काश्मीरी शैवदर्शन के अनुसार मुक्ति या मोक्ष के चार मार्ग हैं—अनुपाय, शांभव, शाक्त और आणव। शाक्त और आणव को क्रमशः ज्ञानोपाय और क्रियोपाय भी कहते हैं। इसी तरह अनुपाय और शांभव को अभिनवगुप्त ने क्रमशः आनंदोपाय और इच्छोपाय कहा है। इस तरह हम आणवोपाय को क्रियोपाय, शाक्तोपाय को ज्ञानोपाय, शांभव मार्ग को इच्छोपाय और अनुपाय मार्ग को आनंदोपाय कह सकते हैं। इन्हीं मार्गों या उपायों के द्वारा मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है। 'कामायनी' में हमें इन सभी मार्गों या उपायों—क्रिया, ज्ञान, इच्छा और आनंद का एकत्र समन्वय मिलता है।

'कामायनी' की उक्त दार्शनिक व्याख्या के विपरीत कई आलोचकों, जैसे मुक्तिबोध ने उसकी वर्गसंघर्षमूलक सामाजिक व्याख्या की है और मनु को मानव के आद्य अनुभवों का नहीं, उस वर्ग का 'टाइप चरित्र' माना है, 'जिसकी शासनसत्ता, ऐश्वर्य छिन गया हो।' निश्चय ही ऐसा उद्घोष एक अतिवादी दृष्टिकोण है। वस्तुनिष्ठ या प्रगतिशील दृष्टि से इतना भर कहना ठीक है कि कामायनी में इच्छा और ज्ञान को महत्व दिया गया है, किंतु, 'कामायनी में 'क्रिया' या 'कर्म' को उचित प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी है या कि कामायनी' कर्म-प्रतिष्ठा से रहित जीवनदर्शन का व्याख्यान करती है। दूसरी बात यह है कि छायावादी अभिव्यंजनाकौशल एवं दार्शनिक शब्दावली की व्यूहरचना के कारण 'कामायनी' का अभिप्राय अथवा विवक्षा किंचित् दुर्बोध हो गई है। संभवतः प्रसाद ने स्वयं भी इस दुर्बोधता को महसूस किया था और इन्होंने 'इरावती' के प्रणयन के द्वारा 'कामायनी' के जीवनदर्शन, विशेषकर आनंदवाद की पुनर्व्याख्या का प्रयास प्रारंभ किया था, जो काल की क्रूरता के कारण अपूर्ण ही रह गया। किंतु, इन दो सीमाओं के कारण जो आलोचक 'कामायनी' में किसी निर्दिष्ट, सुनिश्चित प्रभाव का अभाव पाते हैं या 'कामायनी' को प्रतिक्रियावादी काव्य घोषित करते हैं, वे नितांत भ्रांत हैं। इसी तरह 'कामायनी' के विषय में यह धारणा भी एकांगी प्रतीत होती है कि 'कामायनी' न मनोवैज्ञानिक है, न मानवीय चिति की विकासगाथा है और न रूपकात्मक, बल्कि इसकी कथा ऐतिहासिक रूप में ही ग्राह्य है। इस धारणा को स्वीकार कर लेने पर कामायनी की कथावस्तु का उत्पाद्य लावण्य ही दृष्टिपथ से ओझल हो जायगा। 'कामायनी' की कथा को केवल ऐतिहासिक रूप में ग्रहण करना इसलिये भी अनुचित है कि इसकी कथावस्तु इतिहासाश्रय कथा की दृष्टि से न 'परक्रिया इतिहास' है और न 'पुराकल्प इतिहास' ही। फिर 'कामायनी' के तीन प्रमुख पात्र (मनु, श्रद्धा और इड़ा) तथा

दो गौण पात्र (आकुलि और किलात) कोई सुस्पष्ट या शृंखलाबद्ध ऐतिहासिक चरित्र नहीं रखते। इतना ही नहीं, प्रबंधत्व की दृष्टि से 'कामायनी' का कथानक भी शिथिल है। अतः 'कामायनी' की कथावस्तु को मुख्यतः ऐतिहासिक रूप में स्वीकार करना या यह कहना कि 'कामायनी' का रचनाविधान प्रतीकात्मक से अधिक ऐतिहासिक है, युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। 'कामायनी' के कथा-नायक मनु 'ऐतिहासिक मनु' हैं, यह मूल बात ही अत्यंत विवादास्पद है। भारतीय वाङ्मय में मनु के तीन रूप मिलते हैं—वैदिक, पौराणिक और ऐतिहासिक। प्रसाद ने भी 'कामायनी' के आमुख में इसे स्वीकार किया है—'आर्य साहित्य में मानवों के आदिपुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराणों और इतिहासों तक में बिखरा हुआ मिलता है।' किंतु, मेरी दृष्टि में कामायनी का मनु इन तीनों रूपों से विलक्षण है। 'कामायनी' के मनु की सार्थकता इतनी ही है कि वह 'मानवों का आदिपुरुष' है। मनु के अन्य पक्ष नितांत विवादास्पद हैं। पहला टंटा तो नाम और संख्या का है। मनु के कई नाम मिलते हैं—स्वायंभुव मनु, प्रजापति मनु, वैवस्वत मनु, भानु मनु, प्राचेतस मनु, स्वारोचिष मनु, चाक्षुष मनु और सौवर्ण मनु[1]। साधारणतः यह माना जाता है कि कुल मिलाकर सात मनु हुए हैं। इसलिये यह प्रश्न खड़ा होता है कि इन सात मनुओं में 'कामायनी' के मनु कौन हैं? 'कामायनी' के मनु आदि स्वायंभुव मनु हैं या वह वैवस्वत मनु, जो 'कल्प' के चतुर्दश अंश अर्थात् मन्वंतर में हुए? मत्स्य[2] की कथा से संश्लिष्ट रहने के कारण 'कामायनी' के मनु 'वैवस्वत मनु' ही प्रतीत होते हैं। कारण, वैवस्वत[3] मनु के साथ मत्स्यावतार की कथा कई जगह मिलती है। महाभारत के 'वनपर्व'[4] में भी ऐसी ही कथा आई है। प्रसाद ने

[1] 'मत्स्यपुराण' में चौदह मनुओं के नाम मिलते हैं। भारतीय वाङ्मय में मनु का उल्लेख अनेकत्र मिलता है। जैसे—ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, मनुस्मृति, मार्कंडेयपुराण, विष्णुपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, कर्मपुराण, ब्रह्मवैवर्त, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण, स्कंदपुराण इत्यादि। इलोपाख्यान भी प्रायः सभी पुराणों में मिलता है।

[2] 'महामत्स्य का एक चपेटा', कामायनी, पृष्ठ १७। द्रष्टव्य : 'द फ्लड लीजेंड इन संस्कृत लिटेचर', लेखक, डा० सूर्यकांत शास्त्री, १९५१।

[3] वैवस्वत का अर्थ है विवस्वान अर्थात् सूर्य का पुत्र। वैवस्वत मनु का दूसरा नाम 'सत्यव्रत' भी मिलता है। द्रष्टव्य : 'पौराणिक अभिधान', लेखक, श्री सुधीरचंद्र सरकार, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १९५८, पृष्ठ ३२४।

[4] अध्याय संख्या १८७।

भी 'कामायनी' के आमुख में वैवस्वत मनु को एक ऐतिहासिक पुरुष के रूप में स्वीकार किया है। किंतु, 'कामायनी' में मनु का चरित्र जिस तरह चित्रित हुआ है, उसमें कोई ऐतिहासिकता नहीं झलकती है। उससे केवल इतना ही प्रतीत होता है कि 'मनु भारतीय इतिहास के आदिपुरुष हैं'। तब यह अंतर्विरोध खड़ा होता है कि वैवस्वत मनु आदिपुरुष कैसे होंगे? आदिपुरुष तो स्वायंभुव मनु ही हो सकते हैं। इस तरह प्रसाद ने ऋग्वेद के श्रद्धासूक्त, शतपथ ब्राह्मण, श्रीमद्भागवत, छांदोग्य उपनिषद् आदि के आधार पर 'कामायनी' की जो कथासृष्टि की है, उससे मनु के चरित्र का ऐतिहासिक रंग प्रकट नहीं होता। उससे मनु 'आदिपुरुष' के प्रतीक भर सिद्ध होते हैं।

इसी तरह श्रद्धा ('फेथ फिलासफी' की संकेतिका) का भी कोई ऐतिहासिक स्वरूप नहीं है। श्रद्धा को काम की पुत्री के अलावा सूर्य की पुत्री भी कहा गया है। इस रूप में श्रद्धा के कई नाम हैं—कामायनी, वैवस्वती, सावित्री तथा प्रसवित्री।[१] यही हाल प्रसाद की इड़ा ('रीजन फिलासफी' की संकेतिका और मेघसंवाहिनी नाड़ी की प्रतीक) का भी है। योगसाधनात्मक अर्थसंदर्भ के अलावा इड़ा का प्रयोग दार्शनिक, पौराणिक और प्रतीकात्मक अर्थसंदर्भों में भी होता रहा है। किंतु, इड़ा के चरित्र का कोई ऐतिहासिक स्वरूप नहीं है। अतः किस आधार पर 'कामायनी' को मनुष्य का अथवा मनुष्यता का इतिहास कहा जा सकता है? अधिक से अधिक, 'कामायनी' को मनुष्य की चेतना के काव्यात्मक इतिहास के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि 'कामायनी' की कथावस्तु को मुख्यतः ऐतिहासिक रूप में स्वीकार करना युक्तियुक्त नहीं है। शायद, इसी कारण प्रसाद ने आमुख में 'कामायनी' की कथासृष्टि के वैदिक पौराणिक आधार और विशेषकर ऐतिहासिक पक्ष की चर्चा करते हुए अंत में 'कामायनी' की कथावस्तुगत और पात्रगत सांकेतिकता तथा रूपाकात्मकता का उल्लेख किया है—'यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिये मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।' इस प्रकार 'कामायनी' में घटनाश्रित इतिहास की झलक ढूँढ़ने के बजाय 'कामायनी' को प्रसाद के ही शब्दों में

[१] शांतिपर्व, २६४।८।

'मानवता का विकासरूपक' या 'मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक (काव्यनिबद्ध !) इतिहास' स्वीकार करना अधिक युक्तिसंगत है। अतः 'कामायनी' का अभिव्यक्ति-पक्ष ही नहीं, इसका इतिवृत्त भी बहुलांशतः प्रतीकात्मक है।

'कामायनी' की कथावस्तु के मुख्य अंग हैं—मनु, प्रलय, हिमालय, श्रद्धा, यज्ञ, आकुलि, किलात, सारस्वत प्रदेश, इड़ा, मानसरोवर, कैलाश, त्रिपुर एवं शिवदर्शन। सच पूछा जाय तो इन सबमें श्रद्धा ही प्रधान है, क्योंकि श्रद्धा ही 'कामायनी' दर्शन की मुख्य प्रवक्ता है। शायद, इसीलिये प्रसाद ने 'कामायनी' के अंत में मनु को ओट में रखकर श्रद्धा को सामने कर दिया है और श्रद्धा के ही चरित्र को उभार दिया है। वस्तुतः 'कामायनी' की कथा का अंतिम नेतृत्व श्रद्धा के हाथ में है। श्रद्धा की ही सहायता से मनु को 'चिद्दर्शन' होता है। मनु और इड़ा का चरित्र तो श्रद्धा की प्रमुखता से आच्छन्न है। यहाँ यह लक्ष्य करने योग्य है कि मनु पहले प्रवृत्तिमार्गी और बाद में आध्यात्मिक स्तर के आनंदवादी बने हैं। 'संघर्ष' सर्ग तक मनु का प्रवृत्तिमार्गी रूप ही अंकित हुआ है। मनु के आध्यात्मिक उत्कर्ष की भूमिका 'निर्वेद' सर्ग के अंत से प्रारंभ होती है। निर्वेद का पर्यवसान स्वभावतः आध्यात्मिक प्रशांति में होता है। (शायद, इसीलिये शांतरस 'कामायनी' का अंगी रस है।) मनु के आध्यात्मिक प्रस्थान को ही शीर्ष पर पहुँचाने के क्रम में 'कामायनी' का रहस्यमय सर्ग अत्यंत दार्शनिक बन गया है।

रोमांटिक, दार्शनिक और सूक्ष्म काव्यप्रवृत्ति के कारण प्रसाद की कविताओं में ध्यानाकर्षक प्रतीकविधान मिलता है। प्रसाद ने निराला की 'गीतिका' में दो शब्द लिखते समय प्रतीकों के संबंध में अपनी धारणा व्यक्त की है। इनके अनुसार प्रतीकों का संबंध कवि की उस रहस्यानुभूति से है, जो युग के अनुकूल अपने लिये विभिन्न आधार चुना करती है। प्रतीकों के संबंध में इनकी दूसरी मान्यता यह है कि कलाजगत् में सौंदर्यबोध को मूर्त बनाने तथा संवेदनों को आकार देने के लिये प्रतीकों की सृष्टि होती है। अर्थात् प्रतीकों के द्वारा कवि काव्यनिबद्ध भावों को मूर्तता और वस्तुमत्ता प्रदान करता है। इस मान्यता को उपस्थित करते हुए इन्होंने लिखा है—'सौंदर्यबोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौंदर्य की अनुभूति के साथ ही साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिये, उनका प्रतीक बनाने के लिये बाध्य हैं।'[१] प्रतीकविधान के संबंध में इनकी तीसरी मान्यता अतिशय दार्शनिक आग्रह के कारण कुछ उलझी

[१] काव्य और कला तथा अन्य निबंध, प्रसाद, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ३५।

हुई है। इन्होंने प्रतीकविधान के तीन प्रकारों का निरूपण करते हुए लिखा है, स्व को कलन करने का उपयोग, आत्म अनुभूति की व्यंजना में प्रतिभा के द्वारा तीन प्रकार से किया गया है – अनुकूल, प्रतिकूल और अद्भुत। ये तीन प्रकार के प्रतीकविधान काव्यजगत् में दिखलाई पड़ते हैं। अनुकूल अर्थात् ऐसा हो। यह आत्मा के विज्ञात अंश का गुणनफल है। प्रतिकूल, अर्थात् ऐसा नहीं। यह आत्मा के अविज्ञात अंश की सत्ता का ज्ञान न होने के कारण हृदय के समीप नहीं। अद्भुत आत्मा का अविजिज्ञास्य रूप, जिसे हम पूरी तरह समझ नहीं सके हैं कि वह अनुकूल है या प्रतिकूल। इन तीन प्रकार के प्रतीकविधानों में आदर्शवाद, यथातथ्यवाद और व्यक्तिवाद इत्यादि साहित्यिक वादों के मूल संनिहित हैं।'[1] प्रकट है कि प्रतीकविधान के ये निर्धारित प्रकार दार्शनिकता के आग्रह से इस तरह आक्रांत हैं कि अस्पष्ट रह गए हैं। किंतु, प्रसाद की कविताओं में प्रतीकविधान का रंग बहुत ही निखरा हुआ है। इन्होंने अपनी कविताओं में दार्शनिक प्रतिपादन के संदर्भों में प्रतीकात्मक भावप्रकाशन की शैली का अधिक प्रयोग किया है। सामान्यतः इनके प्रतीकों में 'मनोदशा की व्यंजकता' पर्याप्त मात्रा में रहती है और इनके अधिकांश प्रतीकस्वरूप उपमान प्रकृति के विशाल क्षेत्र से गृहीत हैं। इन्होंने भाव और शिल्पगत चारुता के विधान के लिये 'कामायनी' में भी अनेक स्थलों पर प्रकृतिक्षेत्र से गृहीत प्रतीकस्वरूप उपमानों का प्रयोग किया है। जैसे, निम्नांकित पंक्तियों में यौवन के लिये 'वसंत' और वयःसंधि के लिये 'रजनी' के 'पिछले प्रहर' की योजना की गई है—

मधुमय वसंत जीवनवन के
वह अंतरिक्ष की लहरों में
कब आए थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में।[2]

किंतु इन प्रतीकस्वरूप उपमानों के अलावा 'कामायनी' में कई विशुद्ध प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं, क्योंकि संपूर्ण 'कामायनी' की कथा में प्रस्तुतार्थ के साथ ही किसी सैद्धांतिक अप्रस्तुतार्थ की अंतर्धारा विद्यमान है। इस प्रसंग में 'कामायनी' के पात्रों का प्रतीकमय सांकेतिक व्यक्तित्व विशेष ध्यातव्य है। एक ओर मनु मनोमय कोश में स्थित जीव का प्रतीक है, तो दूसरी ओर काम और लज्जा जैसे अशरीरी पात्र हैं, जिनकी सांकेतिकता असंदिग्ध है। इसी तरह श्रद्धा हृदय का

[1] काव्य और कला तथा अन्य निबंध, प्रसाद, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ४३।

[2] कामायनी, प्रसाद, सप्तम संस्करण, पृष्ठ ६३।

प्रतीक है—'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार' और इड़ा बुद्धि का प्रतीक है, जिसकी प्रतीकात्मकता इससे ध्वनित होती है—'बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल।' तदनंतर, श्रद्धा और मनु का पुत्र 'नव मानव' का प्रतीक है और असुरपुरोहित किलात, आकुलि आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। इनके अतिरिक्त देव, श्रद्धा का पशु, वृषभ तथा सोमलता निश्चितरूपेण प्रतीकात्मक हैं और गहरा सांकेतिक अर्थ रखते हैं। देवगण इंद्रियों के प्रतीक हैं, वृषभ धर्म का प्रतीक है और सोमलता में भोग की सांकेतिक प्रतीकात्मकता है —

था सोमलता से आवृत
वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि,
घंटा बजता तालों में
उसकी थी मंथर गतिविधि।

अथवा

तब वृषभ सोमवाही भी
अपनी घंटाध्वनि करता,
बढ़ चला इड़ा के पीछे
मानव भी था डग भरता।

इसी तरह 'कामायनी' में वर्णित जलप्लावन उस मानवचेतना के अन्नमय कोश में ही निमग्न होने या डूब जाने का प्रतीक है, जो निरंतर विषयवासना में रमे रहने से विज्ञानमय कोश और आनंदमय कोश की ओर उन्मुख होने में असमर्थ है। इसके बाद त्रिलोक (भावलोक, कर्मलोक तथा ज्ञानलोक की तत्संबंधित) तीन प्रधान वृत्तियों—भाववृत्ति, कर्मवृत्ति, और ज्ञानवृत्ति के प्रतीक हैं। अंत में, मानसरोवर समरसता की अवस्था का प्रतीक है। यह मानसरोवर कैलासशिखर पर, जो आनंदमय कोश का प्रतीक है, अवस्थित है। कथायष्टि में गुंफित इन प्रमुख प्रतीकों के अलावा 'कामायनी' में कई प्रतीक प्रसंगानुसार प्रयुक्त हुए हैं। जैसे रहस्य सर्ग में प्रयुक्त त्रिकोण, शृंग और डमरू इस दृष्टि से विचारणीय हैं—

शक्ति तरंग प्रलय पावक का
उस त्रिकोण में निखर उठा सा,
शृंग और डमरू निनाद बस
सकल विश्व में बिखर उठा सा।[१]

[१] कामायनी, प्रसाद, अष्टम संस्करण, पृष्ठ २७३।

'कामायनी' की प्रतीकात्मक शब्दावली लगभग शैवदर्शन से ली गई है। जैसे, ज्योतिपिंड के लिये 'गोलक', सामरस्यपूर्ण स्थिति के लिये 'भूमा', अहम् के लिये 'कारणजलधि, आधारभूत' शिवतत्व के लिये 'अधिकार' और पाशबद्ध जीव के लिये 'अणु' का प्रतीकवत् प्रयोग शैवदर्शन की शब्दावली के प्रभाव का स्पष्ट सूचक है।

इसी प्रकार प्रसाद की अनेक कविताएँ प्रकृतिजगत् से गृहीत उन प्रतीकों से भरी पड़ी हैं, जिन्हें प्रतीकस्वरूप उपमान कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। ऐसे उपमानों की योजना में इन्होंने प्रकृति के उपकरणों को ही व्यंजनागर्भ बनाकर प्रतीकों की तरह प्रयुक्त कर दिया है। जैसे—

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला।[1]

यहाँ तीव्र भावों की उमड़घुमड़ के लिये 'झंझा झकोर गर्जन' का, दर्द की तीव्र उठान के लिये 'बिजली' का, उदासी के आलम के लिये 'नीरदमाला' का और सूने आकाश के लिये 'शून्य हृदय' का प्रतीकस्वरूप अप्रस्तुतविधान किया गया है। इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों के प्रतीकस्वरूप उपमान भी प्रकृति-जगत् से लिए गए हैं, जिनमें लक्षक पदों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है—

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर !
करुणा की नव अँगराई सी
मलयानिल की परछाईं सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर।
... ...
तू भूल न री पंकज वन में,
जीवन के इस सूखेपन में,
ओ प्यार पुलक से भरी ढुलक !
आ चूम पुलिन के विरस अधर।[2]

[1] आँसु, प्रसाद, नवम संस्करण, पृष्ठ १५।
[2] लहर, प्रसाद, पंचम संस्करण, पृष्ठ ६।

यहाँ लहर, तट और पंकजवन प्रतीकवत् प्रयुक्त हैं। सरस और कोमल भावनाओं के लिये लहर को, शुष्क जीवन के लिये सूखे तट या पुलिन को और आपात-रमणीय प्रलोभनों या बाधाओं के लिये पंकजवन को प्रतीकस्वरूप उपमान बनाकर योजित किया गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि लाक्षणिकता की ओर विशेष रुझान रहने के कारण प्रसाद की काव्यभाषा में संवृतिवक्रता के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। किंतु, इस संवृतिवक्रता को कई विचारकों ने एक प्रकार का आकांक्षा-दोष माना है। यदि संवृतिवक्रता 'आकांक्षादोष' है, तो 'आँसू' और 'कामायनी' में इसकी कमी नहीं है, क्योंकि इन दोनों कृतियों में अनेक स्थलों पर संज्ञा का प्रयोग किए बिना सर्वनाम का प्रयोग कर दिया गया है।

प्रसाद जी में सहज दार्शनिकता थी। भारतीय संस्कृति और इतिहास का भी इन्होंने गहन अध्ययन किया था। इसलिये इनकी कृतियों में एक सांस्कृतिक सौरभ मिलता है, जिसे भ्रमवश कुछ आलोचकों ने प्राचीनता का व्यामोह मान लिया है। 'शेरसिंह का शस्त्रसमर्पण', 'हिमाद्रि तुंग शृंग से' अथवा 'अरी वरुणा की शांत कछार' जैसी कविताओं में प्रसाद का जो राष्ट्रीय अनुराग मिलता है, उसका बहुत बड़ा श्रेय भारतीय संस्कृति और इतिहास के प्रति इनके प्रेम को है। प्रातिभ कवित्व, गहन विद्वत्ता और सहज दार्शनिकता के कारण ही प्रसाद से उस 'कामायनी' की रचना संभव हो सकी, जो छायावाद युग की ही नहीं, संपूर्ण खड़ीबोली काव्य की सर्वोत्कृष्ट कृति है।

निराला

(जन्मकाल : वसंतपंचमी, १८९७ ई० और मृत्युकाल : १५ अक्टूबर, १९६२ ई०) छायावादी कवियों के बीच निराला में ज्ञानात्मक संवेदन की सामर्थ्य सबसे अधिक थी। इसलिये निराला की कई परवर्ती कविताएँ, जिनमें इन्होंने सरल भाषा के माध्यम से गंभीर तत्व अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है, डब्ल्यू० एच० ऑडेन के 'सेरेब्रल वर्स' के समान लगती हैं। विशुद्ध छायावादी रचनाकाल में भी इनकी कविताएँ बुद्धितत्व की दृष्टि से परिपुष्ट रही हैं। पंत ने उचित ही लिखा है कि 'निराला की बुद्धिपक्ष से प्रेरित रचनाएँ मेरी दृष्टि में उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं। उनकी भावना भी अधिकांशतः उनकी बुद्धिरश्मि से विद्ध ही देखने को मिलती है।'[१]

निराला की काव्यकृतियों का प्रकानकाल १९२३ ई० से लगभग १९५८

[१] छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पंत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६५।

ई० तक फैला हुआ है। इस सुदीर्घ रचनाकाल में निराला की जो काव्यकृतियाँ प्रकाश में आई हैं, वे कालक्रमानुसार इस प्रकार हैं – अनामिका (प्राचीन १६२३ ई०, नवीन १६३७ ई०), परिमल (१६३० ई०), गीतिका (१९३६ ई०), तुलसीदास (१६३८ ई०), कुकुरमुत्ता (१६४२ ई०), अणिमा (१९४३ ई०), बेला (१६४३ ई०), अपरा (१६४६ ई०), नए पत्ते (१६४६ ई०), अर्चना (१६५० ई०), आराधना (१६५३ ई०) और गीतगुंज (१६५८ ई०)। किंतु, ये सभी कृतियाँ छायावादी परिवृत्त में नहीं आती हैं। अनामिका, परिमल, गीतिका और तुलसीदास ही (अर्थात् १९३८ ई० तक की रचनाएँ) छायावादी काव्यकाल की रचनाएँ हैं, जिनमें 'अनामिका (नवीन : १६३७ ई०) इनकी सर्वोत्कृष्ट कवितापुस्तक है। यों अणिमा, बेला, अर्चना और आराधना में भी कुछ ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें छायावादी भावबोध मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि विशुद्ध छायावादी रचनाकाल के बाद निराला में जो प्रगतिवादी विषयांतर या दिशांतर आया अथवा उनपर छायावादोत्तर काव्य-प्रवृत्तियों का जो प्रभाव पड़ा (जिसमें निराला जी को कभी कभी 'फूटी खँजड़ी की लगातार फटाफट' मिलती थी), वह १६५० ई० तक आते आते लगभग समाप्त हो गया। १६५० ई० से लेकर जीवन के अंतिम क्षणों तक निराला की काव्यचेतना में भक्ति का स्वर ही प्रधान रहा, जो छायावादी काव्यबोध की आस्तिकता के सर्वथा अनुकूल है। जीवन की सांध्य वेला में रचित 'अर्चना' और 'आराधना' की कविताएँ भक्तिभावना से ही ओतप्रोत हैं।

यों १६३८ ई० ('तुलसीदास' के रचनाकाल) के बाद भी निराला छायावाद का उग्र पक्षपोषण करते थे। 'मंजीर'[१] की भूमिका से यह बात सिद्ध होती है। इस भूमिका से यह ज्ञात होता है कि १६४१ ई० तक निराला जी छायावादी काव्यसिद्धांत के पक्षधर थे और विरोधियों द्वारा लगाए गए आरोपों का वारण कर छायावाद की रक्षा करना चाहते थे। निराला ने आधुनिक हिंदी साहित्य में अनेक 'वादों' के 'अकांड तांडव' के संदर्भ में छायावाद की चर्चा करते हुए उक्त भूमिका में लिखा है, 'बहुतों का खयाल है, कुल छायावादी मकान उड़ गए। मैं ऐसे प्रत्यक्षदर्शियों को पहले भी देख चुका हूँ, इस समय भी देखता हूँ। पहले तो यह कहता हूँ, जो छायावादी थे, उनके मकान थे ही नहीं; फलतः तूफान से कायावादी ही उड़े हैं। उन्हें पहले भी छायावाद का ज्ञान नहीं था, इस समय भी उड़ते फिरनेवाली हालत में बेहोशी के कारण

१ गिरिजाकुमार माथुर का काव्यसंग्रह, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १६४१।

नहीं।' इसी संदर्भ में निराला ने छायावाद की प्रशंसा में यहाँ तक कहा है कि 'शब्द, भाव, विचार और कला का जो निखार तात्विक सत्याश्रयता के कारण छायावाद साहित्य में आया है, वह जीवन की कौन सी परिभाषा प्राप्त करता है, यह अनुभव और मनन का विषय है।' इस मंतव्य से यह प्रतीत है कि १९३८ ई० के बाद भी निराला सिद्धांततः छायावाद के रक्षक और पेशकार थे, किंतु, व्यवहारतः १९३८ ई० के बाद की इनकी कविताएँ काव्यवस्तु, भावबोध और शैली की दृष्टि से छायावादी राजमार्ग पर चलती हुई नहीं प्रतीत होती हैं। भला, छायावादी भावबोध गुलाब को छोड़कर कुकुरमुत्ता के पक्ष में कैसे जा सकता है?

'छायावादी' निराला का प्रतिनिधि काव्यसंग्रह 'अनामिका' है। 'अनामिका' इनके उस जीवनकाल की रचना है, जिसमें इनका चित्त पूर्णतः 'अंतःकेंद्रित' था और इनका कविव्यक्तित्व विक्षेप अथवा आंतरिक विखंडन से ग्रस्त नहीं हुआ था। जिस तरह पंत की कविताओं के बीच 'उच्छ्वास' ने निराला को बहुत प्रभावित किया था, उसी तरह निराला की कृतियों के बीच 'अनामिका' ने पंत को बहुत प्रभावित किया था। 'अनामिका' से अभिभूत होकर पंत ने निराला पर एक कविता लिखी थी जिसका शीर्षक है 'अनामिका के कवि निराला के प्रति।' पंत द्वारा निराला का 'अनामिका' के कवि के रूप में ही स्मरण किया जाना 'अनामिका' के महत्व का प्रमाण है। यों कहनेवाले कहते हैं कि 'अनामिका' में मौलिकता का अभाव है, कारण, 'अनामिका' में वे ही कविताएँ अच्छी बन पड़ी हैं, जो बँगला कलम की कविताएँ हैं। कुछ विचक्षण कविआलोचक तो यहाँ तक कहते हैं कि 'अनामिका' ही क्या, संपूर्ण निरालाकाव्य में केवल बँगलाकलम की रचनाएँ अच्छी बन पड़ी हैं और परवर्ती निराला में जैसे जैसे बँगला का प्रभाव घटता गया, वैसे वैसे निराला कूड़ा करकट या अंडबंड (ट्रैश) अधिक लिखते गए। निश्चय ही, यह धारणा संतुलित नहीं है। तटस्थ विश्लेषण से यही निष्पन्न होता है कि 'अनामिका' छायावादी निराला का प्रतिनिधि काव्यसंग्रह है। हाँ, इतनी बात सच है कि पुरानी 'अनामिका' (१९२३ ई० में प्रकाशित) को यह प्रतिनिधि स्थान नहीं दिया जा सकता। यह स्थान नई या अभिनव 'अनामिका' को ही मिल सकता है, जिसमें 'राम की शक्तिपूजा' पहली बार आई। पुरानी और नई 'अनामिका' के गुण और परिमाण में जो अंतर है, उसके प्रति निराला स्वयं सचेत थे। १९३७ ई० में लिखित 'अनामिका' के द्वतीय संस्करण के प्राक्कथन से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है।

निराला की पहली कविता 'जूही की कली' १९१६ ई० में रची गई थी। फिर छह सात वर्षों के अंतराल के बाद इनकी 'अनामिका' १९२३ ई० में प्रकाशित हुई। निराला के आरंभिक काव्यविकास में साप्ताहिक 'मतवाला' का महत्वपूर्ण

योग है। १९२३-१९२४ ई० से निराला की कविताएँ 'मतवाला' में लगभग नियमित रूप से छपने लगी थीं। 'मतवाला' के बिना निराला के आरंभिक काव्यविकास का लेखाजोखा नहीं किया जा सकता। कहने के लिये 'मतवाला' का संपादन महादेवप्रसाद सेठ करते थे, किंतु, उसका वास्तविक संपादनकार्य निराला ही करते थे। इसलिये 'मतवाला' निराला की काव्यरुचि और स्वभाव का पूर्ण प्रतिनिधि था। 'मतवाला' के मुखपृष्ठ पर ये दो पंक्तियाँ अंकित रहा करती थीं—

अमिय गरल शशिशीकर रविकर, राग विराग भरा प्याला,
पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है यह मतवाला।

इतना ही नहीं, इस पत्र के नाम के अनुरूप इसके दाम की भी घोषणा व्यंग्य-विनोद की शैली में इस प्रकार की गई थी—'एक प्याले का एक आना नगद, वार्षिक बोतल तीन रुपए पेशगी।' इसी तरह निराला के स्वभावानुकूल 'मतवाला' में 'मतवाला की बहक' शीर्षक एक विशेष स्तंभ था, जिसके नीचे ये पंक्तियाँ लिखी रहती थीं—

इंतहाए नशा में आता है होश।
होशियारी इंतहाए नशा है॥

'मतवाला' की ये सारी व्यंग्य-विनोद-पूर्ण विशेषताएँ निराला के निरालेपन का ही परिणाम थीं। निराला के बिना 'मतवाला' और 'मतवाला' के बिना निराला की स्मृति ही अपूर्ण लगती है। 'अनामिका' के प्राक्कथन में निराला ने निःसंकोच लिखा है कि 'मेरा उपनाम निराला 'मतवाला' के ही अनुप्रास पर आया था।' सचमुच, निराला के व्यक्तित्वविकास में दो पत्रों का उल्लेखनीय योग है। ये दो पत्र हैं—'मतवाला'[1] और 'समन्वय'[2]। 'मतवाला' के माध्यम से निराला की काव्यप्रतिभा का विकास हुआ और 'समन्वय' के माध्यम से इनके दार्शनिक व्यक्तित्व का।

१९२३-१९२४ ई० में ही, जबकि निराला की कविताएँ 'मतवाला' में

[1] १९२३ ई० में निराला महादेव बाबू के आग्रह पर 'मतवाला' के संपादक-मंडल में संमिलित हुए थे और १९२६ ई० तक वहाँ कार्य करते रहे। फिर दो तीन वर्षों के बाद वे 'सुधा' (लखनऊ) में चले गए।

[2] १९२१-२२ ई० के आसपास निराला ने 'समन्वय' का संपादन किया, जो रामकृष्ण मिशन, कलकत्ता से प्रकाशित होता था।

धड़ल्ले से छपने लगी थीं, निराला ने प्रायः वे सभी कविताएँ लिख ली थीं, जो १६२९ ईस्वी में संकलित होकर 'परिमल' के नाम से प्रकाशित हुईं। निराला की काव्यसर्जना का उन्नत धरातल १९३६–३८ ईस्वी तक ही बना रह सका। इसके बाद इनके चित्त की 'अंतःकेंद्रित' दशा लगभग समाप्त हो गई और इनकी रचना मनोदशा के बिखराव से विशृंखल हो गई।[1] फल यह हुआ कि इनकी रचनाओं में प्रेषणीयता का वेग ही उज्झित हो गया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'अनामिका', 'परिमल', 'गीतिका' और 'तुलसीदास' निराला की ऐसी कृतियाँ हैं, जिनकी रचना छायावादी काव्यकाल में हुई है। छायावादी रचनाकाल के अंतर्गत आनेवाले निराला के संपूर्ण काव्य का तात्विक प्रतिनिधित्व इनकी तीन रचनाएँ करती हैं—'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा' तथा 'सरोजस्मृति।' निराला की ये तीन रचनाएँ क्रमशः भक्ति, शक्ति तथा व्यथा के तत्वों का काव्यात्मक रूपायन हैं। वस्तुतः भक्ति, शक्ति तथा व्यथा के इन्हीं तीन विशद आयामों से निराला का वह त्रिकोणात्मक व्यक्तित्व निर्मित हुआ था, जिसमें समयानुसार अद्वैतवाद, शक्तिवाद और अहंवाद की तरंगें उठा करती थीं। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि मुख्यतः अद्वैतवादी होने के कारण निराला की प्रायः सभी उत्कृष्ट कविताओं में दार्शनिक संबोधनों की प्रचुरता है।

छायावादी कवियों के बीच निराला को सबसे अधिक विरोध और खरप्रखर आलोचना का सामना करना पड़ा था। निराला का यह विरोध केवल साहित्यिक धरातल पर ही नहीं था, बल्कि जीवन के व्यावहारिक धरातल पर भी प्रखर बनकर आया था।[2] इसी द्विविध विरोध के कारण निराला को जीवन के कठोर यथार्थ का सामना अधिक करना पड़ा। इसलिये अन्य छायावादियों की अपेक्षा ये 'साइकास्थेनिक' (Psycasthenic) कम थे। सचमुच, निरंतर विरोध और संघर्ष के कारण इनके पास वह कोरी मनोदशा नहीं थी, जिसमें 'यथार्थबोध का अभाव' रहता है।

निराला को अपने साहित्यिक जीवन में इसलिये भी चतुर्दिक् विरोध का

[1] शायद, इसी कारण पंत ने लिखा है कि 'निराला का व्यक्तित्व योगभ्रष्ट कवि का व्यक्तित्व था।'—छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पंत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७०।

[2] 'अनामिका' में संगृहीत निराला की आत्मकथात्मक कविताएँ इसे प्रमाणित करती हैं।

सामना करना पड़ा कि इन्होंने छायावाद के अग्रणी कवि के रूप में अनेक परंपरा-भंजक कविताएँ लिखीं। कहा जाता है किसी भी साहित्य के प्रत्येक नए 'वाद' के प्रवर्तक कवि को ऐसी परंपराभंजक कविताएँ लिखनी पड़ती हैं, कारण, हर नया 'वाद' अपने पूर्ववर्ती 'वाद' से शक्ति ग्रहण करके भी उसकी राख से पैदा होता है। इसीलिये हीगेल ने साहित्यक्षेत्र में उठनेवाले नए 'वादों' की तुलना इजिप्ट की कथाओं में प्राप्त 'फिनिक्स' नामक पक्षी के साथ की है। हेरोदोतस द्वारा उल्लिखित मिस्र के पौराणिक आख्यानों में यह कथा मिलती है कि जब कोई फिनिक्स पक्षी सर्जनचेतना से विह्वल होता है, तब उसके तन में आग लग जाती है, वह जलकर भस्म हो जाता है और तब उसकी अवशिष्ट राख से ही नया फिनिक्स पक्षी पैदा होता है। इसी तरह साहित्य में भी जब नई सर्जन-प्रेरणा जगती है, तब पुराने 'वादों' के तन में आग लग जाती है और उसकी राख से ही नया 'वाद' बनता है। फलस्वरूप नए 'वाद' के प्रवर्तक कवियों को प्रचुर विरोध का सामना करना पड़ता है। निराला इसी साधारण सत्य के एक असाधारण उदाहरण रहे हैं। 'अनामिका' में संगृहीत 'मित्र के प्रति' शीर्षक कविता में व्यक्त व्यंग्य और आक्रोश इस दृष्टि से ध्यातव्य हैं। सचमुच, ऐसी दृढ़ता और आक्रामक व्यंग्य के द्वारा निराला ने अपने को छायावादविरोधी पुरातनप्रिय प्रचंड आलोचकों के बीच घिरकर भी छायावाद का 'अजेय' अभिमन्यु सिद्ध किया था। इतने विरोधों का सामना निराला इसलिये स्फीतवक्ष होकर कर सके कि इनमें आत्मविश्वास बहुत था। अपने वैयक्तिक जीवन को प्रच्छन्न रूप से प्रति-बिंबित करते हुए 'वन-वेला' शीर्षक कविता में इन्होंने यही बतलाया है कि प्रतिभा वनवेला की तरह उपेक्षित स्थानों में पैदा होती है और एकांत में पलती है। जनरव के बीच विज्ञापन चाहनेवाले लोग प्रतिभाशाली नहीं होते, वे प्रतिभा की आँखों की किरकिरी होते हैं। लेकिन तत्कालीन साहित्यिक समाज की ऐसी विडंबना थी कि प्रतिभा के धनी होकर भी निराला उपेक्षित थे, जबकि अनेक द्वितीय तृतीय कोटि के कवि मस्तूल पर थे। निराला ने तत्कालीन साहित्यिक समाज की इस असंतुलित न्यायभावना पर व्यंग्य करते हुए 'हिंदी के सुमनों के प्रति पत्र' शीर्षक कविता में लिखा है—

मैं जीर्ण-साज-बहु-छिद्र आज,
तुम सुदल सुरंग सुवास सुमन
मैं हूँ केवल पदतल-आसन,
तुम सहज विराजे महाराज।
ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही वसंत का अग्रदूत,

ब्राह्मणसमाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि ।[१]

इस कविता के व्यंग्यपरक, किंतु आत्मनिष्ठा से भरे हुए भावनिवेदन का साम्य रवींद्रनाथ ठाकुर की इन दो कविताओं के साथ है—'निंदुकेर प्रति निवेदन'[२] और 'श्रीमान दामू वसु एवं चामू वसु संपादक समीपेषु' ।[३] अंतिम कविता, संभवतः 'बंगवासी' पत्रिका में संपादक को लक्ष्य कर लिखी गई थी ।

निराला का जीवनसंघर्ष, साहित्यिक और पारिवारिक धरातल पर, बहुत हृदयविदारक था । 'सरोजस्मृति'[४] शीर्षक कविता में अपने जीवनसंघर्ष को संकेतित करते हुए इन्होंने लिखा है—

एक साथ जब शत घात घूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण,
देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शरक्षेप, वह रणकौशल ।

इसी तरह इन्होंने अन्यत्र भी जीवनसंघर्ष के कटु नैरंतर्य को व्यक्त करनेवाली ऐसी पंक्तियाँ लिखी हैं—

मुसीबत में कटे हैं दिन
मुसीबत में कटीं रातें,
चली हैं चाँद सूरज से निरंतर
राहु की घातें ।

अथवा

चोट खाकर राह चलते
होश के भी होश छूटे ।
हाथ जो पाथेय थे, ठग–
ठाकुरों ने रात लूटे,
कंठ रुकता जा रहा है
आ रहा है काल देखो ।'

१ अनामिका, निराला, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ११४ ।

२ मानसी, रवींद्रनाथ ठाकुर, १८९० ई० ।

३ कड़ि ओ कोमल, रवींद्रनाथ ठाकुर, १८८६ ई० ।

४ उर्दू के प्रसिद्ध शायर नादिर ने भी अपनी बेटी की मृत्यु पर एक शेर लिखा है, जो 'अमीरुल्लोगात' में संगृहीत है—

अब आया याद ए आरामजाँ इस नामुरादी में ।
कफन देना तुम्हें भूले थे हम असबाबेशादी में ।

उपर्युद्धृत पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि निराला को जीवन भर अविरल संघर्ष करना पड़ा और इन्हें नाना प्रकार के दुःख लगातार झेलने पड़े। 'सरोज-स्मृति' के अंत में इन्होंने ठीक ही लिखा है—'दुःख ही जीवन की कथा रही।' जिस तरह 'उत्तररामचरित' में राम ने स्वयं स्वीकार किया है कि दुःख का अनुभव करने के लिये ही उन्हें चेतना मिली है—'दुःख संवेदनायैव रामे चैतन्यमाहितम्', उसी तरह निराला ने भी, मानो, स्वीकार किया है कि केवल दुःख भोगने के लिये इन्हें जीवन मिला था। किंतु, जीवनसंघर्ष की इस चोट और पराजय को इन्होंने हिंदी का स्नेहोपहार समझकर सगर्व स्वीकार किया है—

सोचा है नत हो बार बार—
'यह हिंदी का स्नेहोपहार,
यह नहीं हार मेरी, भास्वर
यह रत्नहार—लोकोत्तर वर!'[1]

निराला की कुछ कविताओं, विशेषकर 'अणिमा' की रचनाओं को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि निराला १९४०-४२ ई० के आसपास अपने जीवन में पराजयबोध अधिक महसूस करने लगे थे। 'अणिमा' में संग्रहीत १९४० ई० की एक कविता इस प्रकार है, जिसमें कवि का तीव्र पराजयबोध व्यक्त हुआ है—

मैं अकेला;
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सांध्य वेला।
पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मंद होती आ रही
हट रहा मेला।
जानता हूँ, नदी झरने,
जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख,
कोई नहीं भेला।[2]

[1] अनामिका, द्वितीय संस्करण, सरोजस्मृति, पृष्ठ ११६।
[2] अणिमा, निराला, १९४३, पृष्ठ २०।

इसी तरह घनतम पराजयबोध को व्यक्त करनेवाली एक और कविता 'अणिमा' में संग्रहीत है, जो १६४२ ई० में रची गई है। इस कविता की प्रारंभिक पंक्तियाँ हैं—

स्नेह निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—'अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ——
जीवन दह गया है।'[1]

किंतु, इस आवर्तक पराजयबोध के बावजूद 'राम की शक्तिपूजा' के राम की तरह कवि का 'एक और मन रहा', जो इतने संघर्षों और असफलताओं के बीच न थका, न दीन बना। संघर्ष और पराजय के हलाहल को शंकर की तरह पीकर कवि ने अंत में यह घोषणा कर दी—

मरण को जिसने वरा है
उसी ने जीवन भरा है।
परा भी उसकी, उसी के
अंक सत्य यशोधरा है।[2]

साहित्यिक धरातल पर निराला का इसलिये पुरजोर विरोध हुआ कि वे पुरानी लीक के अनुगंता कवि नहीं थे। फलस्वरूप, सभी पुरातनपंथी आलोचक इनके प्रत्येक काव्योच्चार पर एकलव्य का शरक्षेप करना चाहते थे। संभवतः नवीनता या मौलिकता के मात्राधिक्य ने ही निराला के साहित्यिक संघर्ष को तीव्रतर कर दिया। जब छायावादी काव्यांदोलन प्रारंभ हुआ,[3] तब कई दिशाओं

[1] अणिमा, निराला, १६४३, पृष्ठ ५५।

[2] उपरिवत्, पृष्ठ ५८।

[3] छायावादी काव्यांदोलन का विरोध कई दिशाओं से बहुत दिनों तक होता रहा। उदाहरण के लिये, 'उच्छृंखल' नामक एक लघुपत्रिका की १६३८–३६ ईस्वी की फाइल में छायावाद के चतुर्दिक् विरोध की बानगी देखी जा सकती है। अचरज है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ही 'सुकवि किंकर' के नाम से छायावाद के विरोध में नहीं उतरे, बल्कि आचार्य शुक्ल तक आलोचक की कुर्सी से नीचे उतरकर कविता के माध्यम से भी छायावाद का

ौर उस गोल में शामिल कवियों का विरोध हुआ। किंतु, सबसे अधिक निराला का।

ंत् १९९६ विक्रम में छायावाद के विरोध में 'छायावाद' नाम की एक त्रिका ही निकाली गई थी। इसका पहला अंक संवत् १९९६ की वसंत ्वसर पर निकला था और इसके मुखपृष्ठ पर यह घोषणा की गई थी कि ाद' छायावाद-प्रतिवाद-परिषद्, काशी का मासिक मुखपत्र है। इस पत्र के सात अंकों से यही पता चलता है कि इसके प्रत्येक अंक के मुखपृष्ठ काशक का नाम (छायावाद-प्रतिवाद-परिषद्, काशी) दिया रहता था, नहीं। छायावाद-प्रतिवाद-परिषद् वाले छायावाद को हिंदी साहित्य थी में पनाला' कहते थे। उक्त पत्रिका के प्रथम अंक में ही इसके अनाम यह मत व्यक्त किया था कि छायावादी कविता 'किंकविता' है, छायावादी वि' हैं और छायावाद के प्रशंसक समालोचक 'किंसमालोचक' हैं। इसी ं श्री १०८ श्री छायागुरु जी महाराज (एक छद्मनाम) द्वारा संकलित यावादमंत्रानुष्ठानम्'[१] दिया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि चौथे दकियानूस लोग किस तरह छायावाद का मखौल उड़ाते थे। इसी

ो भी यही ग' नामक ोचना की की खिल्ली ही विरोध क अंतर्गत ी बभूव।' नेराला जी ी गई है। का दूसरा ावश्यकता ह हिंदी में पुराकवीनां

वेरोध करने लगे। आचार्य शुक्ल ने 'पाषंड परिच्छेद' शीर्षक एक कविता लिखी, जिसमें इन्होंने छायावाद की रहस्यात्मक प्रवृत्तियों पर घनघोर व्यंग्य किया और तत्कालीन पाठकों को बतलाया कि वे छायावादी कवियों से बचें न्यथा ये छायावादी कवि ढोर डंगर की तरह काव्य की फसल चर जाएँगे— र्बाद कर देंगे। इस आशय को व्यक्त करते हुए शुक्ल जी ने उक्त कविता में लखा है—

हाँक दो, न घूम घूम खेती काव्य की चरें।

शुक्ल जी की इस कविता का उत्तर पंडित मातादीन शुक्ल ने 'पाषंड प्रतिषेध' शीर्षक कविता में दिया था और छायावाद की रहस्यात्मक प्रवृत्ति के विरोधियों को अरूप के प्रांगण में प्रसन्न पर्यटन करने का परामर्श दिया था।

। है। पुरुष के) ।

'अथ छायावाद मंत्रानुष्ठानम्' इस प्रकार है—

ॐ अस्य श्री छायावाद महामंत्रस्य निरालापंतौ ऋषी, रबड़कुचेआदीनि नानाविधानि छंदांसि, श्री महाजड़ता देवता, 'आह' बीजं भगवती महादेवी शक्तिः प्रचारः कीलकं मम भावुक कविपद प्राप्तये प्रगतिशीलतासिद्धयर्थजपे विनियोगः ॥

या ३-४,

अधिक किया गया था। उक्त पत्रिका के पाँच छह अंकों के विश्लेषण से भी यही तथ्य सिद्ध होता है। 'छायावाद' पत्रिका के प्रथम अंक में ही 'दूरवीक्षण' नामक स्तंभ के अंतर्गत निराला के 'तुलसीदास' की ध्वंसात्मक आलोचना की गई है और प्रसंगानुसार छायावादी कविता के पारलौकिक रहस्यवाद की खिल्ली उड़ाई गई है। पुनः 'छायावाद' पत्रिका के दूसरे अंक में निराला को ही विरोध का विशेष लक्ष्य बनाया गया है। इससे पूर्वोक्त 'दूरवीक्षण' स्तंभ के अंतर्गत 'अनामिका' की समीक्षा इस शीर्षक से की गई है—'अनामिकाऽनर्थवती बभूव।' पहले समीक्षक ने 'अनामिका' के नामकरण पर आक्षेप किया है; 'निराला जी चाहे जो सोचें पर हमारे यहाँ तो अनामिका एक अपवित्र उँगली मानी गई है। इसीलिये देवपितृ कार्यों में इसमें पवित्री पहनी जाती है।'[1] समीक्षक का दूसरा व्यंग्य निराला की भाषाशैली पर है—'निराला जी विभक्तियों की आवश्यकता बहुत कम समझते हैं। जैसे लिपियों में मुड़िया या सर्राफी है, उसी तरह हिंदी में आपकी अपनी भाषा।'[2] इन दो सस्ते आक्षेपों के बाद समीक्षक ने 'पुराकवीनां

२—पराहिकाष्ठा दुःखानुभूतेः सौख्येपि।
छायावादीपन में सुख में भी दुःख के अनुभव की पराकाष्ठा रहती है।

३—मनोवाक्कायैर्योषिद्भावः।
तन, वाणी और मन से जनानापन का अनुभव करना छायावादित्व है।

४—बुद्धिरुग्णाकरणं लेख कौशलम्।
वह लेखनकौशल, जिसके पढ़ने से पाठकों की बुद्धि रुग्ण हो जाय।

५—परलिंग कृत्रिम प्रेम पिपासा नादो रचना।
अपने लिंग से अन्य लिंग के (पुरुष को स्त्री के और स्त्री को पुरुष के) बनावटी प्रेम में बकबकाना छायावाद है।

६—बुद्धेः परतः प्रदर्शनं कवित्वे नाम दार्शनिकत्वम्।
अक्ल के बाहर की बात को दिखलाना छायावाद में दार्शनिकता है।

७—मुख विनिर्गतमृजुकुटिल वाक्यं कविता।
मुँह से टेढ़ा सीधा जो निकले, वह कविता है।
—छायावाद पत्रिका, चैत्र वैशाख संवत् १९९७ विक्रम, संख्या ३-४, पृष्ठ ५२।

१ 'छायावाद' पत्रिका, अंक २, पृष्ठ ३४।

२ 'छायावाद' पत्रिका, अंक २, पृष्ठ ३४।

गणनाप्रसंगे'''सार्थवती बभूव' की पैरोडी बनाकर निराला की सर्वश्रेष्ठ कृति 'अनामिका'[१] पर ऐसा नासमझ प्रहार किया है—

किं पुस्तिकानां गणना प्रसंगे
कनिष्ठिकाधिष्ठित पुस्तिकेयम्।
हा ! हंत ! तन्यूनकृतेरभावात्—
अनामिकाऽनर्थवती बभूव।

स्पष्ट है कि समीक्षक का उद्देश्य गुण-दोष-विवेचन नहीं, जान बूझकर आलोच्य कवि का केवल विरोध करना है। यों, भाषा के संबंध में निराला ही नहीं, सभी छायावादी कवियों की भाषा की छीछालेदर करना उस समय खूब प्रचलित था। कारण, छायावादी काव्यभाषा परंपरागत रुचिसंस्कार (ट्रैडिशन आव टेस्ट) से भिन्न एक नई प्रेषणीयता लेकर आई थी, जो पुराने स्वाद के प्रेमी पाठकों के गले के नीचे सहजतापूर्वक नहीं उतर पाती थी। इतना ही नहीं, छायावादी काव्यभाषा परंपरा से भिन्न एक नए ढंग के 'पदवाक्य विवेक' की अपेक्षा करती थी। इसीलिये छायावादी कवियों, विशेषकर निराला की काव्यभाषा पर अधिकतर आलोचक झुँझलाया करते थे और यह कहकर अपना हाथ ऊपर रखना चाहते थे कि छायावादी भाषाशैली महाभाष्यकार पतंजलि द्वारा उदाहृत 'दश दाडिमानि षडपूपाः' की तरह सार्थक शब्दों की परस्पर आकांक्षाहीन, अतः निरर्थक योजना है।[२] छायावादी काव्यभाषा को 'शब्दों का डंबराडंबर' कहनेवाले एक आलोचक

[१] 'अनामिका' शब्द का प्रयोग प्रसाद ने एक विशेष संदर्भ में इस प्रकार किया है—
'मेरी अनामिका' संगिनि !—आँसू, पृष्ठ ६९।

[२] १९२८ ई० के आसपास 'छायावाद या बकवाद' शीर्षक निबंध में पंडित नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ ने लिखा था—'यह छायावाद क्या है ? परस्पर निरपेक्ष आकांक्षाविरहित एक शब्दों का डबराडंबर। महाभाष्यकार पतंजलि ने एक सुंदर दृष्टांत दिया है। वह यह है—'दश दाडिमानि षडपूपाः कुंडमजाजिनं पपलपिंडाः'—'दस अनार, छह पुए, एक कूंड़ा, एक अजाचर्म और मांस के गोले'—ये समस्त शब्द स्वतंत्र रूप से सार्थक होने पर भी वाक्य में परस्पर आकांक्षाविरहित होने के कारण इनकी एकवाक्यता नहीं की जा सकती—इसलिये कोरे बकवाद या प्रलाप की कोटि में अथवा उन्मत्तप्रलापित की कोटि में डाला जा सकता है। वर्त्तमान छायावाद 'दश दाडिमानि

ने उसकी अस्पष्टता और धुँधलेपन को लक्ष्य करते हुए इस श्लोक का सहारा लिया है—

यद्गृहीतमविज्ञातं
निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नविव शुष्कैधो
न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

स्पष्ट है कि छायावादी काव्यभाषा 'पद्धतिकाव्य' की भाषा से भिन्न थी और उसमें शब्दन्यास की परंपरास्वीकृत भंगिमा बदल दी गई थी। इसीलिये उसपर अस्पष्टता का आरोप बेधड़क लगाया जा रहा था।[१] छायावादी निकाय में निराला शब्दन्यास की पारंपरिक भंगिमा को तोड़ने में सबसे आगे थे। इसी कारण तत्कालीन आलोचकों ने इनकी कविता को प्रहेलिका या अन्य शब्दचमत्कारों की तरह अधम कोटि का काव्य माना और शास्त्रीय धरातल पर यह आक्षेप किया कि निराला की अमर्यादित विवक्षा ने वक्ता और श्रोता अथवा बोद्धा के पारस्परिक संबंध को विच्छिन्न कर दिया है। इस प्रकार उस समय के आलोचक निराला की भाषा में प्रेषणीयता का सार्वत्रिक अभाव पाते थे। इसे हम इस कोटि के तत्कालीन आलोचकों का दृष्टिदोष कह सकते हैं। वस्तुतः निराला की कविताओं में प्राप्त शब्दविन्यास की नई भंगिमा कवि की मौलिकता का परिणाम थी, जिसे अब लगभग सर्वसंमत रूप में स्वीकार किया जा रहा है। यों, उस समय भी मुकुटधर पांडेय जैसे आलोचक थे, जिन्होंने छायावादी कवियों के भाषा-छंद-गत तथाकथित बेलीक प्रयोगों में समर्थ मौलिकता की झाँकी या पूर्वझलक देखी थी। मुकुटधर पांडेय ने 'हिंदी में छायावाद' निबंधमाला के अंतर्गत 'काव्यस्वातंत्र्य' की चर्चा करते हुए लिखा था, 'सभ्यता साहित्य में रीतिग्रंथों का पहाड़ खड़ा कर देती है, जिससे मौलिकता का

षडपूपाः' इस शब्द समुदाय के सदृश सार्थक होने पर भी सर्वथा निरर्थक सिद्ध हो रहा है।—मतवाला, ११ अगस्त, १९२८, पृ० ९–१०।

[१] प्रसाद जी ने उचित ही कहा था कि छायावाद की तथाकथित अस्पष्टता का कारण 'अतिक्रांतप्रसिद्ध व्यवहारसरणि' (कुंतक द्वारा प्रयुक्त) है। इस प्रकार प्रसाद ने छायावादी कविता की अस्पष्टता के कारणों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया था और उस समय प्रचलित इस सतही धारणा का खंडन किया था कि जो कुछ अस्पष्ट, छायामात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है।—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १२७–२८।

द्वार रुक जाता है। मौलिकता का अभाव उस व्यक्तित्व का बाधक है, जो कवि के लिये अत्यंत आवश्यक है। बिना व्यक्तित्व दिखलाए, कविप्रतिपत्ति किसी को नहीं मिल सकती। वह व्यक्तित्व चाहे भाव में हो, भाषा में हो, छंद में हो या प्रकाशनरीति में हो, पर कविता में हो जरूर। जिसकी कविता में व्यक्तित्व नहीं, उसे कवि नहीं, अनुकरणकारी कहना चाहिए।'[१] किंतु उस समय मुकुटधर पांडेय जैसे पूर्वाग्रहमुक्त और मौलिकता के पारखी आलोचक बहुत कम थे, जो निराला की कविता या समग्र छायावादी कविता की बारीकियों और नवीनताओं को सहानुभूतिपूर्वक समझने की चेष्टा कर पाते। फिर भी समर्थकों की न्यून संख्या और विरोधियों की बड़ी जमात निराला के आत्मविश्वास को नहीं हिला सकी। ये पूरी निष्ठा के साथ अपनी काव्यसाधना में संलग्न रहे और रवींद्रनाथ ठाकुर की इन पंक्तियों को मानो चरितार्थ करते रहे—

आपनार बले चलिते हइबे
आपनार पथ करे।

साहित्यिक संघर्ष की दशा से गुजरने के बाद निराला को कविजीवन के उत्तरार्ध में अच्छी ख्याति मिली। तब, देश में कौन कहे, विदेशों में भी निराला की चर्चा होने लगी। १९५७ ई० के 'लंदन टाइम्स' के इंडियन लिटरेचर सप्लिमेंट' और 'सोवियत लिटरेचर' में प्रकाशित रूसी लेखक केलीरोव के लेख से ही पता चलता है कि निराला ने अपने कविजीवन की अवसानबेला में अंतरराष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर ली थी। रूसी भारतविद्याविद् एवगेनी चेलीशेव ने भी आधुनिक हिंदी काव्य पर लिखित अपने निबंध में निराला की विशेष सराहना की है।

इसमें संदेह नहीं कि निराला ने छायावादी कविता के ओजपक्ष का प्रतिनिधित्व और नेतृत्व किया। छायावादी काव्यधारा में जो थोड़ी बहुत 'शक्ति' की झलक थी, निराला उसके मूर्तिमान् प्रतीक थे। इसलिये यह कहना उचित है कि निराला ने ही छायावादी कविता की स्त्रैण मधुरता में ओज का संचार किया। संभवतः निराला के बिना 'छायावाद' हिंदी साहित्य का कन्याराशि काव्य बनकर ही रह जाता। दूसरी बात यह है कि छायावादी कविता को जीवन की निकटता देने में निराला का ही सर्वाधिक योग रहा। निराला की इस विशेष भूमिका ने छायावादी कविता पर कल्पनाविहार और स्वप्निलता के आरोप का बहुत दूर तक

[१] श्रीशारदा, वर्ष १, खंड १, श्रावण शुक्ल प्रतिपदा, १९७७, १६ जुलाई, १९२०, संख्या ५, पृ० २७८।

परिहार किया। तीसरी बात यह है कि निराला ने मुक्त छंद और मुक्त गीत के सर्जन के द्वारा हिंदी रोमांटिक काव्यशास्त्र और छायावादी छंदोविधान को एक नई दिशा दी। निराला द्वारा प्रवर्तित मुक्तछंद का संबंध वर्णवृत्त से है और यह अंत्यानुप्रासहीन होता है; जैसे, 'जुही की कली'। इसे गाया नहीं जा सकता। दूसरी ओर 'मुक्तगीत' का संबंध मात्रावृत्त से है और यह असमान लड़ियों में भी अंत्यानुप्रासयुक्त रहता है। इसलिये इसे गाया जा सकता है। जैसे, 'बादल राग' शीर्षक रचना। ऐसा प्रतीत होता है कि निराला को मुक्तछंद या स्वच्छंद छंदों की रचना की प्रेरणा बँगला छंदों, विशेषकर रवींद्र के अक्षरमात्रिक संगीत के प्रसार एवं शब्द-चयन-बोध से मिली है।

निराला का मुक्तछंद, जिसमें कवित्त छंद के सदृश नाद-वृत्त-संपदा रहती है, हिंदी के तथाकथित भिन्न तुकांत या अंग्रेजी के 'ब्लैंक वर्स' से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि भिन्न तुकांत में तुक की भिन्नता तो रहती है, परंतु उसमें गण, मात्रा अथवा वर्ण का कोई न कोई बंधन अवश्य रहता है। किंतु, आदर्श मुक्तछंद में गण, मात्रा अथवा वर्ण का कोई बंधन नहीं रहता है। इस तरह निराला ने 'नियमराहित्य' को ही छंदों की वास्तविक मुक्ति के रूप में स्वीकार किया है और हिंदी में प्रचलित भिन्नतुकांत छंदों को स्वच्छंद छंद या मुक्तछंद से सर्वथा भिन्न माना है। इनकी दृष्टि में मुक्तछंद वही है, जो छंदों की भूमि में रहकर भी मुक्त हो।

निराला के इस मुक्तछंद या अमित्राक्षर छंद पर तत्कालीन पुरानी रुचि के आलोचकों ने भीषण आक्रमण किया था, जिसका उत्तर निराला ने निबंधों के अतिरिक्त अपनी व्यंग्य कविताओं में भी दिया है। जैसे, 'मित्र के प्रति' शीर्षक व्यंग्य कविता में इन्होंने मित्रों (पुराने आलोचकों) से प्राचीन काव्यसर और नवीन काव्यसर (छायावादी काव्य) की तुलना करते हुए उन्हीं मित्रों की बात को दुहरा कर कहा है—

सत्य बंधु, सत्य; वहाँ[1]
नहीं अर्र बर्र;
नहीं वहाँ भेक, वहाँ
नहीं टर्र टर्र।

मतलब यह कि पुराने आलोचकों के अनुसार छायावादी कविता के सर में केवल

[1] प्राचीन काव्य का सर।

अर्र बर्र और भेकों की टर्र टर्र है। यहाँ अर्र बर्र और टर्र टर्र से छंदभंग तथा अमित्राक्षरों से उत्पन्न तथाकथित 'हार्श साउंड्स' या श्रुतिदुष्ट दोष की ओर संकेत है। पुरातनप्रिय आलोचकों को मुक्त छंदरीति और अमित्राक्षर पद्धति से बनाई गई शब्दशय्या उसी प्रकार भ्रष्ट और अपांक्तेय लगती थी, जैसे कोई नेकलेस को पाँव में और ऐंक्लेट को गले में पहन ले। किंतु, इन आक्षेपों का सदय भाव से उत्तर देते हुए निराला ने छायावादी काव्यवैभव और स्वच्छंद छंद-सौष्ठव का प्रकारांतर संकेत किया है तथा अपने मित्रों (!) पर गहरा व्यंग्य किया है—

बही जो सुवास मंद
मधुर - भार - भरण - छंद
मिली नहीं तुम्हें, बंद
रहे, बंधु, द्वार ?
... .
कुहरित भी पंचम स्वर,
रहे बंद कर्ण कुहर,
मन पर प्राचीन मुहर,
हृदय पर शिला।[1]

और, तब निराला ने अमित्राक्षर छंदों के वैशिष्ट्य को व्यंग्यात्मक ढंग से बतलाते हुए लिखा है—

सोचो तो क्या थी वह
भावना पवित्र,
बँधा जहाँ भेद भूल
मित्र से अमित्र।

सच पूछिए तो मुक्तछंद और अमित्राक्षर छंदों को लेकर निराला ने हिंदी साहित्य में एक प्रकार से पहलकदमी की है। कारण, विगत पाँच छह दशकों से मुक्तछंद ही संपूर्ण विश्वसाहित्य की कविता में सर्वाधिक प्रचलित छंदपद्धति है। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि मुक्तछंद की आदर्श स्थिति निष्प्राण पद्यतंत्र (वर्स मेकैनिज़्म) से मुक्तिमात्र नहीं है। आदर्श मुक्तछंद की काव्यरचना रूढ़ पद्यतंत्र से मुक्त रहने के साथ ही स्वच्छंद, अपरंपरित अर्थात् नवीन विषयवस्तु

१ अनामिका, निराला, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १२–१३।

पर निर्भर रहती है। इस प्रकार छंदोविधानगत मुक्तता और विषयगत स्वच्छंदता का समन्वय वास्तविक मुक्तछंद की पहली अनिवार्यता है।

निराला ने 'प्रगल्भ प्रेम' शीर्षक कविता में भी अपने छंदसिद्धांत को अभिव्यक्त किया है। इन्होंने कविताकामिनी को संबोधित करते हुए कहा है—

अर्धविकच इस हृदयकमल में आ तू
प्रिये छोड़कर बंधनमय छंदों की छोटी राह !
गजगामिनि ! वह पथ तेरा संकीर्ण,
कंटकाकीर्ण।[1]

किंतु छंदबंधन के उल्लंघन से यह न समझना चाहिए कि निराला काव्यसंगीत के प्रति उदासीन थे। इनकी अनेक कविताओं और भूमिकाओं से यह सिद्ध होता है कि ये पूर्णतः संगीतसचेत कवि थे। तभी तो इन्होंने 'अर्चना' की 'स्वीयोक्ति' में ब्रजभाषा की तुलना में खड़ी बोली के बदले हुए नवीन संगीत की चर्चा की है और खड़ी बोली के पाठ का गले से सफलतापूर्वक न उतर सकने का कारण खड़ी बोली के विशिष्ट संगीत को माना है। इसी समृद्ध संगीतचेतना के कारण निराला की कई कविताओं में नादप्रधान शब्दसंगीत और व्यंजनाश्रित भावसंगीत का सुदर संयोग मिलता है। जैसे—

मौन रही हार !
प्रिय पथ पर चलती सब कहते श्रृंगार !
कण कण कर कंकण, प्रिय
किण किण रव किंकिणी,
रणन रणन नूपुर, उर लाज,
लौट रंकिणी;
और मुखर पायल स्वर करें बार बार,
प्रिय पथ पर चलती, सब कहते श्रृंगार।

इस कविता में नादप्रधान शब्दसंगीत और व्यंजनाश्रित भावसंगीत का सुंदर समायोजन है। निराला के इस गीत में न्यस्त मुखर शब्दसंगीत की तुलना चंद्रक के इस श्लोक (जिसे क्षेमेंद्र ने 'कविकंठाभरण' में निर्गुण काव्य के नमूने की तरह उद्धृत किया है) के साथ की जा सकती है—

स्तनौ सुपीनौ कठिनौ ठिनौ ठिनौ कटिर्विशाला रभसा भसा भसा।
मुखं च चंद्रप्रतिमं तिमं तिमं अहो सुरूपा तरुणी रुणी रुणी॥

[1] अनामिका, निराला, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३४।

किंतु, अर्थसंदोह की दृष्टि से निराला की उद्धृत पंक्तियाँ चंद्रक के इस निर्गुण श्लोक से उत्कृष्ट हैं, क्योंकि निराला का 'कण कण……किण किण' चंद्रक के 'ठिनौ ठिनौ…भसा भसा…तिमं तिमं…रुणी रुणी' की तरह एकदम निरर्थक नहीं है। शब्दमुखर रहने पर भी निराला के काव्यसंगीत की सार्थकता का कारण यह है कि इन्हें संगीतज्ञान के साथ ही कविता और संगीत के पार्थक्य का भी ज्ञान था। 'रवींद्र-कविता-कानन' में इन्होंने लिखा है कि 'शब्दशिल्पी संगीतशिल्पियों की नकल न करें तो बहुत अच्छा हो। कविता भावात्मक शब्दों की ध्वनि है, अतएव उसकी अर्थव्यंजना के लिये भावपूर्वक साधारणतया पढ़ना भी ठीक है, किसी अच्छी कविता को रागिनी में भरकर स्वर में माँजने की चेष्टा करके उसके सौंदर्य को बिगाड़ देना अच्छी बात नहीं।'[1]

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, निराला ने छायावादी कविता के तालाश्रित नवीन संगीत की सृष्टि के लिये अग्रेसर कार्य किया। तत्वतः मुक्तछंद इसी नवीन संगीत का वाहक बनकर आया। मुक्तछंद के निपुण कौशल की दृष्टि से निराला की कृतियों के बीच 'परिमल' (१९३० ई०) का अत्यधिक महत्व है। 'परिमल' की भूमिका में ही इन्होंने मुक्तछंद के पक्ष में यह दार्शनिक तर्क दिया है—'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना'। इस मान्यता की संपुष्टि में इन्होंने कहा है कि 'मुक्तकाव्य कभी साहित्य के लिये अनर्थकारी नहीं होता, प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।' इतना ही नहीं, इनकी दृष्टि में स्वच्छंद छंद प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। इसलिये इसका विरोध दृष्टि की संकीर्णता का परिचायक है। गायत्री मंत्र और वेद की कई ऋचाओं में हम छंद की स्वच्छंदता पाते हैं, जहाँ गणात्मक पद्धति या ह्रस्व-दीर्घ-क्रम का कोई सचेष्ट निर्वाह नहीं मिलता है। परवर्ती काल की बढ़ती छंदप्रियता और बंधनों के अमोघ स्वीकरण का कारण बतलाते हुए निराला ने लिखा है कि जनरुचि में 'ज्यों ज्यों चित्रप्रियता बढ़ती गई है, साहित्य में स्वच्छंदता की जगह

[1] रवींद्र-कविता कानन; निराला, द्वितीय परिवर्धित संस्करण, वाराणसी, पृष्ठ १४०।
'रवींद्र-कविता-कानन' की रचना निराला ने १९१६-१७ ई० के आसपास आरंभ कर दी थी। हालाँकि इसका प्रकाशन कई साल बाद हुआ। १९१६ ई० में ही इनका हिंदी बँगला का तुलनात्मक व्याकरण 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था।

नियंत्रण तथा अनुशासन प्रबल होता गया है।' इस प्रकार निराला ने वृद्धिगत चित्रप्रियता को छंदविधान का कारण माना है।

वस्तुतः निराला छायावाद युग की नवीन संगीतचेतना के प्रतिनिधि प्रयोक्ता हैं। बात यह है कि ये केवल साधारण संगीतचेतना एवं तज्जनित प्रयोगभंगिमा से ही अवगत नहीं थे, बल्कि इन्हें ध्वनि और संगीत के दर्शन का ज्ञान था। तभी तो इन्होंने नादब्रह्मवाद को संकेतित करते हुए लिखा है—

स्वर के सुमेरु से झर झर कर
आए हैं शब्दों के शीकर
... ...
कलरव के गीत सरल शत शत
बहते हैं जिस नद में अविरत
नाद की उसी वीणा से हत
होकर, झंकृत हो जीवन वर। (बेला)

'गीतिका' की भूमिका में भी निराला ने संगीत से संबद्ध जो वक्तव्य दिया है और उसमें जिस अधिकार के साथ अपनी रचनाओं को उदाहृत करते हुए धमार, रूपक, झपताल, चौताल, तीन ताल, दादरा इत्यादि तालों की विवेचना की है, वह इनकी स्वच्छंद और शास्त्रीय संगीतचेतना का समर्थ द्योतक है। इसी समर्थ संगीत-चेतना के कारण निराला खड़ीबोली के शब्दसंगीत की विशिष्टता से परिचित और उसकी रक्षा के लिये सचेष्ट थे। ब्रजभाषा के संदर्भ में खड़ीबोली के शब्दसंगीत की चर्चा करते हुए इन्होंने 'अर्चना' की भूमिका में लिखा है, "ब्रजभाषासंगीत में 'णा' और 'ना' के भिन्न उच्चारण नहीं। खड़ीबोली में इसकी भी विपुलता है। 'भव अर्णव की तरणी तरुणा' पद्य के 'ण' को 'न' उच्चरित करने पर खड़ीबोली का सिंगार बिगड़ जायगा, मगर ब्रजभाषा का संगीतमय रूप खड़ा हो जायगा। चूँकि खड़ीबोली देश भर की साहित्यिक भाषा बन चुकी है, इसलिये ब्रजभाषानुकूलता की पूर्वी उच्चारणपद्धति ही ग्राह्य नहीं।" कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि निराला ने क्षेमेंद्र की इस उक्ति—'गीतेनात्माधिवासनम्' को अपनी गीतिरचनाओं के द्वारा शत-प्रति-शत चरितार्थ किया है।

'राम की शक्तिपूजा' शक्ति एवं पौरुष के वैतालिक निराला की सर्वोत्कृष्ट कविता है। सचमुच, ऐसी कविता की रचना, भाषा और मनीषा के दुर्लभ संयोग से ही संभव हो पाती है। आधुनिक हिंदी साहित्य में शक्ति से संबद्ध काव्य की कोई तगड़ी परंपरा नहीं रही है। इस संदर्भ में बालमुकुंद गुप्त की 'दुर्गास्तुति' और 'शारदीय पूजा', मैथिलीशरण गुप्त की 'शक्ति', कुँवर हिम्मतसिंह रचित

'महिषासुरवध'[1] रामानंद तिवारी की 'पार्वती'[2] और कवि अनूपकृत 'शर्वानी' के ही नाम गिनाए जा सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि हिंदी में शाक्त साहित्य का परिमाण बहुत बड़ा नहीं है और जो है, उसका अधिकांश लोकसाहित्य के अंतर्गत है। शक्तिकाव्य की विपुलता बँगला साहित्य में मिलती है। बँगला साहित्य में शाक्तगीतों को 'आगमनी' भी कहा जाता है, जो 'विजयागीत' के नाम से भी गाए जाते हैं। रजनीकांत सेन के 'आगमनी' गीत और रामप्रसाद कवि के शाक्तगीत बँगला-शक्ति-साहित्य में बहुत महत्वपूर्ण माने जाते हैं।[3] आधुनिक हिंदी साहित्य में जो अल्पपरिधि शक्तिकाव्य मिलता है, उसमें निराला की 'राम की शक्तिपूजा' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यों. निराला की 'आवाहन'[4] शीर्षक कविता भी शक्ति से संबद्ध काव्य के अंतर्गत आती है, किंतु इसमें 'राम की शक्तिपूजा' जैसा औदात्य या काव्यकला का प्रकर्ष नहीं है। 'आवाहन' शीर्षक कविता निश्चय ही 'राम की शक्तिपूजा' के शक्तिदर्शन की पूर्वसंकेतक कविता है और इसपर स्वामी विवेकानंद की 'नाचुक ताहाते श्यामा' शीर्षक कविता तथा श्री रामकृष्ण परमहंस द्वारा निर्दिष्ट 'मातृभाव से साधना'[5] का

[1] इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित।

[2] नयापुर, कोटा, राजस्थान से प्रकाशित।

[3] द्रष्टव्य : 'बंगाली रेलिजस लिरिक्स' (शाक्त), द हेरिटेज आव इंडिया सीरीज, संपादक ई० जे० थौम्सन और ए० एम० स्पेंसर।

[4] परिमल, निराला, प्रथमावृत्ति, पृ० १२४।

[5] द्रष्टव्य : श्री रामकृष्ण वचनामृत, श्री महेंद्रनाथ गुप्त, अनुवादक, पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, रामकृष्ण आश्रम, धंतोली, नागपुर—१, चतुर्थ संस्करण, 'मातृभाव से साधना' शीर्षक अध्याय। निराला ने 'पंचवटी प्रसंग' के द्वितीय खंड में भी मातृभाव से शक्ति की आराधना का संकेत लक्ष्मण के माध्यम से उपस्थित किया है—

> माता की चरणरेणु मेरी परम शक्ति है—
> ... ...
> सारे ब्रह्मांड के जो मूल में विराजती हैं
> आदिशक्ति रूपिणी,
> शक्ति से जिनकी शक्तिशालियों में सत्ता है,
> माता हैं मेरी वे।

—परिमल, निराला, प्रथम संस्करण, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, पृ० २२१–२२२।

प्रकारांतर प्रभाव है। इस कविता में निराला ने जिस 'श्यामा' का आवाहन किया है—

कर-मेखला मुंड-मालाओं से बन मन अभिरामा—
एक बार बस और नाच तू श्यामा !
भैरवी भेरी तेरी झंझा
तभी बजाएगी मृत्यु लड़ाएगी जब तुझसे पंजा;
लेगी खंग और तू खप्पर,
उसमें रुधिर भरूँगा माँ
... ...

एक बार बस और नाच तू श्यामा ।[1]

वह तंत्रकारों की 'शक्ति' के अभ्यर्थित रूप से साम्य रखती है—

शरारूढ़ां महाभीमां घोरदंष्ट्रां वरप्रदाम् ।
हास्ययुक्तां त्रिनेत्राञ्च कपालकर्तृकाकराम् ॥
मुक्तकेशीं लोलजिह्वां पिबंतीं रुधिरं मुखम् ।
चतुर्व्वाहुयुतां देवीं वराभयकरां स्मरेत् ॥

'आवाहन' और 'राम की शक्तिपूजा'—दोनों पर बँगला साहित्य का प्रभाव है। अठारहवीं शताब्दी के बाद बँगला साहित्य में शक्तिकाव्य का प्रभूत विकास हुआ है। अतः निराला ऐसे कवि के लिये, जो बंगाल और बँगला के निकट संपर्क में रहे, बँगला शक्तिकाव्य से प्रभावित होना सर्वथा स्वाभाविक है। 'राम की शक्ति-पूजा' की कथायष्टि पर कृत्तिवास रामायण के 'श्रीरामेर दुर्गोत्सव' शीर्षक अंश का गहरा प्रभाव है। यह दूसरी बात है कि निराला ने अपनी प्रतिभा, पांडित्य और कल्पनाशक्ति की मीनाकारी द्वारा उक्त प्रभाव को 'मौलिकता का अभाव' नहीं बनने दिया है।[2]

[1] परिमल, प्रथमावृत्ति, पृ० १२४।

[2] श्री दासगुप्त ने 'राम की शक्तिपूजा' पर कृत्तिवास के प्रभाव को बतलाते हुए लिखा है—'कृत्तिवास हइतेई विषयवस्तू ग्रहण करिलेऊ कवि इहार मध्ये, नवीन सरसतार सृष्टि करियाछेन।'—भारतेर शक्तिसाधना ओ शाक्त साहित्य, शशिभूषण दासगुप्त; साहित्य संसद, आचार्य प्रफुल्लचंद्र रोड, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७४।

निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' में सीता के 'पृथ्वीतनया कुमारिका' रूप को स्वीकार किया है। इसे ही हम सीता का 'भूमिजा' रूप कह सकते हैं।[१] निराला ने 'पृथ्वीतनया' (भूमिजा) सीता को संकल्पबल और शक्तिसाधना की प्रेरणा का प्रतीक माना है। तभी तो सीता के स्मरण के बाद राम में शक्ति-कामना का उदय होता है। शक्तिसाहित्य में इस तथ्य का पौनःपुन्य कीर्तन किया गया है कि नारी ही शक्ति का मूल संस्थान है और शक्ति का एकमात्र रूप नारीरूप है। 'शक्तिसंगमतंत्र' के 'ताराखंड' में भी नारी को शक्ति का मूर्तिमान् रूप माना गया है। इतना ही नहीं, पौराणिक साहित्य[२] में शक्ति को

[१] भारतीय साहित्य में सीता के अनेक रूप मिलते हैं—जनकात्मजा, रावणात्मजा, पद्मजा, रक्तजा, अग्निजा, दशरथात्मजा, इत्यादि।

[२] पौराणिक साहित्य में शक्ति का प्रचुर उल्लेख मिलता है। फर्कुहार का मत है कि दुर्गा का प्राचीनतम रूप महाभारत में उपलब्ध है। पौराणिक साहित्य, विशेषकर हरिवंशपुराण के अध्ययन से यह पता चलता है कि पौराणिक युग में शक्ति के दो रूप मान्य थे। शक्ति का प्रथम रूप कृष्ण की भगिनी एकानंशा और योगमाया में मिलता है तथा शक्ति का द्वितीय रूप शिव की सहचरी भवानी में। श्रीमद्भागवत में भी योगमाया को 'नारायणी शक्ति' के रूप में स्वीकार किया गया है और इस शक्ति को 'दुर्गा' 'चंडिका' इत्यादि विशेषणों द्वारा विभूषित किया गया है, किंतु, इतना स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवत में योगमाया के साथ शिव की सहचरी के स्वरूप का समन्वय नहीं हुआ है—

दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च।
कुमुदा, चंडिका, कृष्णा माधवी कन्यकेति च।
माया नारायणी शानी शारदेत्यंबिकेति च।

इस प्रकार हरिवंशपुराण में ही दुर्गा अथवा शक्ति के समन्वित व्यक्तित्व का आदिरूप मिलता है। अतः यह कहा जा सकता है कि हरिवंशकाल में शक्ति का स्वरूप निश्चितप्राय हो गया था। तदनंतर, देवीभागवत, कालिकापुराण तथा मार्कंडेयपुराण में शक्ति की व्यापकता का निरंतर विकास मिलता है। सचमुच, हरिवंश का आर्यास्तव शक्ति के पौराणिक स्वरूप-विकास का प्रस्थान प्रस्तुत करता है। हरिवंशपुराण में देवी के कई विशेषण बहुत ही रोचक और सार्थक हैं, जैसे—नारीणां पार्वती च त्वा पौराणीमृषयो विदः।' यहाँ संभवतः देवी का पार्वती नाम इनके पर्वतनिवास की सूचना देता है तथा 'पौराणी' विशेषण देवी के इस स्वरूप की प्राचीनता की सूचना देता है।

जगत् योनि के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः सीतारूपिणी नारी के स्मरण से शक्तिकामना का उदय और सीता को पुनः प्राप्त करने के लिये शक्ति की साधना सहज स्वाभाविक है। इस प्रकार 'राम की शक्तिपूजा' में सीता केवल प्रिया ही नहीं हैं। इसमें कवि ने अन्योक्ति या प्रतीकपद्धति पर सीता के स्मरण के माध्यम से शक्तिसिद्धि का पूर्वाभास प्रस्तुत किया है। अतः 'राम की शक्ति-पूजा' में सीता की स्मृति मात्र शृंगार के उद्बोध से नहीं आई है, बल्कि वह शक्तिसाधना के पूर्वाभास का प्रतीक बनकर आई है। अर्थात् जानकी की स्मृति शक्ति के अवतरण की पूर्वपीठिका प्रस्तुत करती है। तभी तो सीता की याद आते ही हतोत्साह, श्रांत और क्लांत राम में धनुर्भंग के समय का पौरुष लौट आता है, विश्वविजय की भावना बलवती हो उठती है और उन्हें अपने मंत्रपूत बाणों में नया विश्वास बन जाता है—

सिहरा तन, क्षण भर भूला मन, लहरा समस्त,
हरधनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त,
फूटी स्मिति सीता-ध्यान-लीन राम के अधर,
फिर विश्व-विजय-भावना हृदय में आई भर,
वे आए याद दिव्य शर अगणित मंत्रपूत,
फड़का पर नभ को उड़े सकल ज्यों देवदूत।[१]

इस तरह सीता के स्मरण मात्र से त्रस्त राम के शंकाकुल हृदय में एक नई शक्ति का उदय हो जाता है। कहनेवाले कह सकते हैं कि यहाँ शृंगार से ही ओज की प्राप्ति हो गई है। सचमुच, जिसका शृंगार मर जाता है, उसकी तलवार सो जाती है। तरुण हृदय में छलकनेवाला आदिरस शृंगार ही भुजाओं में बल और व्यक्तित्व में विक्रम भर देता है।

'राम की शक्तिपूजा' में भीमा, श्यामा, पार्वती, शेषशयन इत्यादि के संदर्भविशिष्ट प्रयोगों से निराला के प्रगाढ़ पांडित्य और अध्ययन का पता चलता है। उदाहरणार्थ निराला ने राम की निराशा के विवरण के प्रसंग में दुर्गा के लिये 'भीमा मूर्ति' का प्रयोग किया है—

फिर देखी भीमा मूर्ति आज रण देखी जो
आच्छादित किए हुए संमुख समग्र नभ को।

[१] अनामिका, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १५१।

यहाँ 'भीमा मूर्ति' संकल्पों के बीच उठनेवाले विकल्प और परवान छूनेवाली आशाओं को ध्वस्त करनेवाली निराशा का प्रतीक बनकर आई है। इसी निराशाच्छन्न या अशुभ पक्ष को ध्यान में रखकर निराला ने यहाँ दुर्गा के किसी अन्य पर्यायवाची शब्द का प्रयोग नहीं किया है। शक्ति साहित्य में दुर्गा के लिये 'भीमा' का प्रचुर प्रयोग मिलता है। दुर्गा की छह अंगभूता देवियाँ मानी गई हैं, जिनमें 'भीमा' भी एक है। ये छह देवियाँ हैं—नंदा, रक्तदंतिका, शाकंभरी, दुर्गा, भीमा और भ्रामरी। भीमा का रूप नीलवर्ण माना गया है। भीमा का यह नीलवर्ण रूप, दंत तथा आयुध की भयंकरता के कारण अत्यंत भयंकर है—

भीमापि नीलवर्णा सा दंष्ट्रादशन भासुरा।
विशाललोचना नारी वृत्तपीनपयोधरा ॥

(दुर्गासप्तशती)

शायद, नीलवर्ण होने के कारण ही निराला ने 'भीमामूर्ति' से नीलवर्णमय नभ को पूर्णतः आच्छादित ('आच्छादित किए हुए संमुख समग्र नभ को') चित्रित किया है।

इसी तरह 'राम की शक्तिपूजा' में अंकित पार्वती का रूप निराला के पांडित्य और सावयव कल्पनाविधान का अन्यतम प्रमाण है। महाभाव में लीन राम की मंगलदृष्टि में मूर्त हुई पार्वती का चित्रण करते हुए निराला ने लिखा है—

पार्वती कल्पना हैं इसकी, मकरंदबिंदु;
गरजता चरणप्रांत पर सिंह वह, नहीं सिंधु;

यहाँ 'मकरंदबिंदु' बहुत ही साभिप्राय प्रयोग है। पार्वती गुल्म, तृण आदि की 'मकरंद', अर्थात् पुष्परस हैं। कवि ने एक ओर पार्वती के चरणप्रांत पर सिंधु का गर्जन दिखलाया है और दूसरी ओर मस्तक पर चंद्रमा धारण करनेवाले शिव का आकाश में ध्यान किया है। मस्तक पर सुरसरि, दिव्य भाल पर चंद्रमा, कंठ में विष और वक्षस्थल पर भोगधर धारण करनेवाले शंकर के अंक में पार्वती अर्थात् रसपूर्ण मधुरिमा सुशोभित हो रही हैं। जिस प्रकार बिंदु और नाद अर्थात् नारी और पुरुष के संयोग के अभाव में सृष्टि नहीं हो सकती, उसी प्रकार शिव और पार्वती के बिना सृष्टि नहीं चल सकती।

निराला ने अपनी कल्पनाशक्ति से पार्वती की ध्यानमूर्ति को गढ़ते हुए आगे कहा है—

दशदिक् समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अंबर में हुए दिगंबर अर्चित शशिशेखर।

यहाँ कवि ने पार्वती को दशभुजा न कहकर 'दशदिक् समस्त हैं हस्त' कहा है और दूसरी ओर शिव को 'दिगंबर' कहा है। यह ध्यातव्य है कि 'दशदिक् समस्त हैं हस्त' और 'दिगंबर'—दोनों में 'दिक्' की प्रधानता है। शिव को 'दिगंबर' अथवा 'दिग्वस्त्र' कहते हैं और पार्वती को दिगंबरी या दिग्वस्त्रा। यहाँ शिव पार्वती के संदर्भ में कवि ने तुल्यरूप कल्पनाविधान से काम लिया है। इसीलिये उपरि-निर्दिष्ट पंक्तियों में शिव जैसे विराट् और असाधारण प्रियतम के लिये पार्वती जैसी विराट् प्रियतमा को चित्रित किया गया है। पार्वती के रूप की विराट् कल्पना का औचित्य यह है कि शिव विराट् हैं, इसलिये उनकी प्रिया पार्वती भी विराट् हैं। शिव इतने विराट् हैं कि उनके विशाल मस्तक पर चंद्रमा तिलक की तरह लगता है अर्थात् शिव का शरीर अनंत व्योम की सीमाहीन परिधि जैसा विस्तृत है तो, दूसरी ओर, ऐसे विराट् शिव को स्नेहालिंगन में बाँधने के लिये पार्वती की प्रलंब बाहें भी उतनी ही विराट् हैं—

दशदिक् समस्त हैं हस्त।

इस तरह यहाँ निराला ने पर्वत के रूप में शक्ति की कल्पना की है, जिसपर 'दुर्गासप्तशती' की इन पंक्तियों का स्पष्ट प्रभाव है—

अतीव तेजसः कूटं ज्वलंतमिव पर्वतम्।
ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्त दिगंतरम्॥
अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥[1]

कुल मिलाकर, निराला ने देवी की परंपराप्रसिद्ध भयंकरता और विकरालता को एक विराट् काव्यात्मक कल्पना में परिवर्तित कर दिया है।[2] यों, यह कहा जा सकता है कि निराला ने शक्ति की जो मौलिक कल्पना की है, उसकी पृष्ठभूमि में स्वामी विवेकानंद के 'अंबास्तोत्र' और इन्हीं के द्वारा काली पर अँगरेजी में रचित कविता तथा 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के 'मातृभाव से साधना' शीर्षक प्रवचन के प्रभाव की हलकी अनुगूँज है। निराला की कल्पना का कमाल शक्ति और मधुरिमा (मकरंदबिंदु) के मिश्रण में है। बात यह है कि शाक्तपूजा का सिद्धांत 'कैलिस्थे-

१. दुर्गासप्तशती, द्वितीय अध्याय, श्लोक संख्या १२—१३।
२. परंपरा से यह भी प्रसिद्ध है कि देवी ही आद्या अव्याकृता परमा प्रकृति हैं। साथ साथ, देवी ही 'स्वाहा' और 'स्वधा' हैं।

निक्स' के द्वारा परमसत्ता की प्राप्ति का साधन है। 'कैलिस्थेनिक्स' का आशय है शक्ति और सौंदर्य की समवेत उपासना। 'दुर्गासप्तशती' में भी दुर्गा को शक्ति और सौंदर्य, दोनों की अधिष्ठात्री देवी के रूप में चित्रित किया गया है। दुर्गा शक्तिमती ही नहीं, सुंदरी भी हैं। वे 'स्मेरमुखी' हैं। उनके सौंदर्यवर्णन में कहा गया है—'ईषत् सहासममलं परिपूर्ण चंद्रबिंबानुकारि कनकोत्तम कांति कांतम्।'[१]

आधुनिक युग में रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद के अतिरिक्त श्री अरविंद ने भी अपनी व्याख्या के अनुसार शक्ति की उपासना पर बल दिया है। श्री अरविंद ने 'शक्ति' पर वैसे विचार व्यक्त किए हैं, जो निराला के शक्तिसंबंधी विचारों से पृथुल साम्य रखते हैं। जिस तरह निराला ने देश के अभ्युत्थान के लिये शक्ति की उपासना को आवश्यक घोषित किया, उसी तरह अरविंद ने भी भारत को शक्ति का स्वरूप बनाना चाहा। इसी कारण अरविंद भारत देश को 'भारतशक्ति' कहा करते थे। शक्तिपूजा की ओर निराला का झुकाव 'समन्वय' पत्रिका से संबंध स्थापित होने के समय से ही था। निराला ने 'समन्वय' में विविध विषय के अंतर्गत 'शक्तिपूजा' पर एक डेढ़ पृष्ठ की प्रभावपूर्ण टिप्पणी लिखी थी। लगता है, इस टिप्पणी में भी व्यक्त भावों का संस्कार 'राम की शक्तिपूजा' लिखते समय निराला के मन में रहा होगा। इस टिप्पणी की ये पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं—'संसार में शक्ति की पूजा करनेवाला ही अपना अस्तित्व कायम रख सकता है। जिस जाति या देश में शक्ति की पूजा नहीं होती, वह इस भूमंडल पर कुछ ही दिनों का मेहमान होता है।'[२]

कई आलोचकों का अनुमान है कि 'राम की शक्तिपूजा' की कथावस्तु पर 'देवीभागवत' का प्रभाव है। किंतु, तुलनात्मक विश्लेषण करने पर यह धारणा ग्राह्य नहीं मालूम पड़ती है। 'देवीभागवत' में नारद ने राम को नवरात्रव्रत अर्थात् देवी भगवती की उपासना करने की सलाह दी है। 'देवीभागवत' में कमलपुष्प चढ़ानेवाली बात नहीं है। केवल नारद द्वारा निर्दिष्ट विधि के अनुसार नवरात्रपूजन में देवी भगवती की उपासना का उल्लेख है। आशय यह है कि निराला की 'राम की शक्तिपूजा' के कथान्यास में मर्म को छूनेवाली जो नाटकीयता है, वह 'देवीभागवत' में नहीं है। 'राम की शक्तिपूजा' के कथान्यास पर कृत्तिवास रामायण के 'लंकाकांड' में वर्णित 'श्रीरामेर दुर्गोत्सव' का गहरा प्रभाव है। कुछ

[१] दुर्गासप्तशती, चतुर्थ अध्याय।

[२] समन्वय, वर्ष ४, अंक १०, सौर कार्तिक, संवत् १९८२।

ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ निराला ने अपनी प्रतिभा से कथायष्टि पर थोड़ी मीनाकारी की है। जैसे, कृत्तिवास रामायण में ब्रह्मा ने ('देवीभागवत' में नारद ने) राम को शक्ति की पूजा करने का उपदेश दिया है, किंतु, निराला ने राम को यह उपदेश जांबवान से दिलवाया है—

बोले विश्वस्त कंठ से जांबवान—रघुवर,
हे पुरुषसिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर।

इसी तरह निराला ने जहाँ कमल की कमी को पूरा करने का उपाय बतलाते हुए राम से माता के कथन का उल्लेख कराया है—

'यह है उपाय' कह उठे राम ज्यों मंद्रित घन
'कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन।
दो नील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।'

वहाँ कृत्तिवास ने माता के कथन के बदले 'सर्वजन' कथन की बात कही है—

भाविते भाविते राम करिलेन मने।
नील कमलाक्ष मोरे बले सर्वजने।
यूगल नयन मोर फूल्ल नीलोत्पल।
संकल्प करिब पूर्ण बूझिये सकल।
एक चक्षु दिब आमि देवी चरणे।
कमल लोचन मोरे बले सर्व्वजने।
एक चक्षु दिब आमि संकल्प पूरने॥[1]

[1] श्रीपुष्पदंत विरचित 'शिवमहिम्नः स्तोत्र' में भी हरि (जिन्होंने बाद में राम के रूप में अवतार लिया) के द्वारा शिव के 'सहस्र सरोज उपायन' में एक कमल के घट जाने पर नेत्र ही अर्पित कर देने की कथा मिलती है—

हरिस्ते साहस्रं कमलं बलिमाधाय पद्मो—
यदेकोने तस्मिन् निजमुदहरन्नेत्रकमलम्।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा।
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम्॥

—शिवमहिम्नः स्तोत्र; पदसंख्या १६।

इस प्रकार कृत्तिवास रामायण के 'श्रीरामेर दुर्गोत्सव' और 'राम की शक्तिपूजा' में कथायष्टि की जो भिन्नताएँ हैं, वे नाममात्र की हैं। प्रधान बातों में सर्वत्र समानता है। निराला ने 'एक सौ आठ इंदीवर' का उल्लेख किया है, कृत्तिवास रामायण में 'शताष्ट कमल' की चर्चा है। निराला ने 'देवीदह' का वर्णन किया है, कृत्तिवास ने भी इसी दह का उल्लेख किया है। कृत्तिवास रामायण में राम ने देवी दुर्गा का स्तवन इस प्रकार किया है—

महिषमर्दिनी महामाया महोदरी।
शिवनितंबिनी श्यामा शर्वानी शंकरी।

और निराला के राम ने भी शक्ति के समक्ष कुछ इसी तरह की प्रार्थना की है—

मातः, दशभुजा विश्वज्योति, मैं हूँ आश्रित;
हो विद्ध शक्ति से है खल महिषासुर मर्दित।

अतः 'राम की शक्तिपूजा' के कथाविन्यास पर 'देवीभागवत' का नहीं, कृत्तिवास रामायण का प्रभाव है। इतनी बात अवश्य है कि कृत्तिवास रामायण के दुर्गोत्सव में शक्तिपूजा का इतना ललित और शास्त्रीय वर्णन नहीं है,[1] जितना 'राम की शक्तिपूजा' में। साथ ही 'राम की शक्तिपूजा' में नामों और चरित्रों का जो पांडित्यपूर्ण प्रतीकात्मक गुंफन किया गया है, वह कृत्तिवास रामायण के 'श्रीरामेर दुर्गोत्सव' में नहीं मिलता। उदाहरण के लिये निराला की इस पंक्ति—'लख शंकाकुल हो गए अतुलबल शेषशयन' में 'अतुलबल शेषशयन' की प्रतीकात्मक अर्थवत्ता विचारणीय है। शेषनाग काल की अनंतता का प्रतीक है और उस शेषनाग पर विष्णु का शयन इसे व्यंजित करता है कि विष्णु कालाधीश हैं और आदि-अंत-हीन सृष्टि के एकमात्र स्वामी हैं। निराला के हनूमान ने राम में विष्णु के इसी कालाधीश रूप—आदि-अंत-हीन रूप—को देखा है और अपने भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है—युग अस्ति नास्ति के एक रूप।' दूसरी ओर यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि लक्ष्मण शेषनाग, अतः काल के प्रतीक हैं और राम के अनुज हैं। लक्ष्मण ऐसे अनुगंता अनुज के रहने से भी यही व्यंजित होता है कि काल राम का अनुगत है, राम के अधीन है। अर्थात् राम कालाधीश हैं। इसी तरह निराला के हनूमान अचला भक्ति, दास्य भाव, विवेक और शौर्य के संमिश्र प्रतीक हैं। अतः निराला के प्रतीक को हम संकुल प्रतीक (कंप्लेक्स

[1] कृत्तिवास ने केवल यह लिख दिया है कि राम ने तंत्र मंत्र के अनुसार दुर्गा की पूजा की—'तंत्रमंत्र मते पूजा करे रघुनाथ'।

सिंबल) कह सकते हैं। इस प्रकार की संकुल प्रतीकयोजना कृत्तिवास द्वारा वर्णित दुर्गोत्सव में नहीं है।

'राम की शक्तिपूजा' में व्यक्त शक्तिदर्शन पर स्वामी रामकृष्ण परमहंस और उनके अनुयायियों के मत का प्रभूत प्रभाव है। शक्तिदर्शन के प्रसंग में स्वामी रामकृष्ण के मतानुयायियों के बीच स्वामी सारदानंद[1] के विचारों का निराला पर सबसे अधिक गहरा प्रभाव है, जिसका समर्थन 'प्रबंधपद्म' के समर्पण, 'चतुरी चमार' में संगृहीत 'स्वामी सारदानंद जी महाराज और मैं' तथा 'समन्वय'[2] में प्रकाशित 'श्रीमत्स्वामी सारदानंद जी से वार्तालाप' शीर्षक लेखों के द्वारा पर्याप्त मात्रा में होता है। किंतु, इस उल्लेख का यह आशय नहीं है कि बंगाल से बाहर शक्तितत्व की उपासना की कोई परंपरा नहीं थी और निराला उससे तनिक भी प्रभावित नहीं थे। शक्तिपूजा, विशेषकर मातृभाव से शक्तिपूजा भारत की निजी संपत्ति है। भारत में जगत् की कारणभूत शक्ति को 'माँ' या 'जगदंबा' कहकर संबोधित किया गया है। सारांश यह है कि निराला के शक्ति-दर्शन पर रामकृष्ण परमहंस तथा उनके अनुयायियों के प्रभाव के साथ ही शक्तिपूजा की व्यापक भारतीय परंपरा के आलोक में भी विचार होना चाहिए।

छायावादी कवियों के बीच निराला और प्रसाद में पारंपरिक दार्शनिक रुचि की प्रधानता रही है। निराला में शाक्त और प्रसाद में शैव दृष्टिकोण के प्रति पूर्वाग्रह रहा है। 'राम की शक्तिपूजा' और 'कामायनी' से ही इस तथ्य की पर्याप्त संपुष्टि हो जाती है। यह भी एक विचित्र संयोग था कि जिस समय छायावादी शिविर के ओजपक्ष के प्रतिनिधि निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' की रचना की, लगभग उसी समय छायावादी चतुष्टय के सर्वाधिक दार्शनिक कवि प्रसाद ने 'कामायनी' के 'रहस्य सर्ग' को पूरा किया। एक ने शाक्त दृष्टि से तांत्रिक प्रतीकों का काव्यात्मक अंकन किया और दूसरे ने शैव दृष्टि से तांत्रिक प्रतीकों का प्रबंधात्मक निबंधन किया।

'राम की शक्तिपूजा' की तरह निराला की काव्यकृतियों में 'तुलसीदास' का भी एक विशिष्ट स्थान है। निराला के मन में राम, हनूमान और तुलसीदास के प्रति बहुत श्रद्धाभक्ति थी। 'राम की शक्तिपूजा' के अलावा 'तुलसीदास' और 'पंचवटी प्रसंग' में निराला की यही श्रद्धाभक्ति अभिव्यक्त हुई है। 'राम की

१ भारते शक्तिपूजा, स्वामी सारदानंद, उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता।

२ समन्वय, वर्ष ६, संवत् १९८४।

शक्तिपूजा', 'तुलसीदास' और 'पंचवटी प्रसंग' को एक साथ पढ़ने पर इन कविताओं का काव्यसौंदर्य पूरी महिमा के साथ हृदयंगम हो पाता है, क्योंकि इन तीनों कविताओं का संबंध निराला की रामभावना, हनुमद्भक्ति और गोस्वामी तुलसीदास के प्रभाव के साथ है।

'तुलसीदास' का प्रकाशन १९३८ ई० में हुआ, जिस समय छायावाद अपने उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। इसलिये प्रबंधात्मक शिल्पविधान में रचित रहने पर भी 'तुलसीदास' का भावबोध, दर्शनबोध और सौंदर्यविधान छायावादी काव्यशैली के नितांत अनुकूल है। उदाहरणार्थ, सौंदर्यबोध और प्रकृतिचित्रण से संबद्ध दो छंद प्रस्तुत हैं—

प्रेयसी के अलक नील, व्योम;
दृगपल, कलंक; मुख मंजु सोम;
निःसृत प्रकाश जो, तरुण क्षोभ प्रिय तन पर;
पुलकित प्रतिपल मानसचकोर
देखता भूल दिक् उसी ओर;
कुल इच्छाओं का वही छोर जीवन भर[१]।

अथवा

मग में पिक कुहरित डाल डाल,
हैं हरित विटप सब सुमनमाल,
हिलतीं लतिकाएँ ताल ताल पर सस्मित;
पड़ता उनपर ज्योतिःप्रपात,[२]
हैं चमक रहे सब कनक गात;
बहती मधु धीर समीर ज्ञात, आलिंगित।[३]

छायावादी काव्यशैली के अतिरिक्त 'तुलसीदास' का मनस्तत्वप्रधान होना भी छायावादी काव्यवस्तु का लक्षक है। छायावाद ने एक नए प्रकार के मनस्तत्वप्रधान प्रबंधकाव्यों का श्रीगणेश किया, जिसके अंतर्गत 'कामायनी' और 'तुलसीदास' उल्लेखनीय हैं। इन दोनों प्रबंधकाव्यों में कथातत्व नहीं, मनस्तत्व

[१] तुलसीदास, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ३४।

[२] 'ज्योतिःप्रपात' शब्द का प्रयोग 'राम की शक्तिपूजा' में भी हुआ है—'ज्योतिः-प्रपात स्वर्गीय ज्ञात छवि प्रथम स्वीय'।

[३] तुलसीदास, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ४८।

की प्रधानता है। सच पूछा जाय तो मनस्तत्वप्रधान प्रबंधकाव्य छायावाद का एक नूतन प्रवर्तन है। मनस्तत्वप्रधान प्रबंधकाव्य होने के कारण 'तुलसीदास' में अंकित सारी घटनाएँ और बातें तुलसी के मन में घटित होती हैं। इसमें न्यस्त संपूर्ण कथा का अधिकरण मन ही है। इसलिये यह काव्य कल्पना-चिंतन-प्रधान है और प्रायः क्रिया-व्यापार-शून्य। कथानायक ने मन ही मन सभी भावों को गुन लिया है—

क्या हुआ कहाँ, कुछ नहीं सुना,
कवि ने निज मन भाव में गुना,
साधना जगी केवल अधुना प्राणों की।[1]

'तुलसीदास' का प्रारंभ भारतीय संस्कृति की संध्या से होता है—

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मंडल।

और, इसका अंत भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण की आकांक्षा के नवीन अरुणोदय में होता है—

संकुचित खोलती श्वेत पटल
बदली, कमला तिरती सुखजल,
प्राची दिगंतउर में पुष्कल रविरेखा।

इसलिये इस काव्यकृति में तुलसीदास का चित्रण भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण के सारस्वत नेता के रूप में किया गया है।

तुलनात्मक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अनेक कलात्मक बारीकियों के रहने पर भी 'तुलसीदास' 'कामायनी' की तरह प्रथम कोटि का प्रबंधकाव्य नहीं है। कारण, इस अल्पकाय प्रबंधकाव्य में 'वर्णाश्रमवादी' तुलसीदास को लोकनायक के रूप में उपस्थित किया गया है और इसमें भारतीय संस्कृति के पराभव को दिखलाने के लिये ऐसे क्षण को चुना गया है, जो जातीय दृष्टि से उपयुक्त होने पर भी धर्मनिरपेक्ष सामासिक संस्कृति की दृष्टि से अब विशेष महत्व

[1] तुलसीदास, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ६०।

नहीं रखता है। अतः ऐतिह्य, कथाकलन, युगबोध, प्रबंधकौशल और शाश्वत सांस्कृतिक सार्थकता की दृष्टि से 'तुलसीदास' मध्यम कोटि का काव्य है।

पंत

पंत (जन्मकाल : २० मई, १९०० ई०[१]) ने 'मेरा रचनाकाल' तथा 'मैं और मेरी कला' शीर्षक निबंधों में अपने कविजीवन की प्रारंभिक अवस्था का वर्णन किया है। इन्होंने पंद्रह सोलह साल की उम्र से, अर्थात् १९१५-१६ ईस्वी से, जब कि ये आठवीं कक्षा में पढ़ते थे, नियमित रूप से लिखना प्रारंभ कर दिया था। इनकी ये प्रारंभिक रचनाएँ उस समय अल्मोड़ा से निकलनेवाली हस्तलिखित पत्रिकाओं—जैसे, 'अल्मोड़ा अखबार' नामक साप्ताहिक, रानीखेत से प्रकाशित 'हिमालय' नामक मासिक, मेरठ से प्रकाशित होनेवाली 'ललिता' और प्रयाग से प्रकाशित होनेवाली 'मर्यादा' नाम की मासिक पत्रिका में संकलित हैं। इनकी प्रारंभिक काव्यचेतना को उद्बुद्ध करनेवाली पत्रिकाओं में 'सरस्वती', 'वेंकटेश्वर समाचार' और 'सुधाकर'[२] के नाम उल्लेखनीय हैं।

'मैं और मेरी कला' शीर्षक निबंध में पंत ने बतलाया है कि काव्यरचना की प्रारंभिक प्रेरणा इन्हें प्रकृति से मिली।[३] सचमुच, इनकी प्रारंभिक रचनाएँ प्रकृति की ही लीलाभूमि में लिखी गई हैं। इस प्रसंग में 'इमोशंस रिकलेक्टेड इन ट्रैंक्विलिटी' की दृष्टि से यह ध्यातव्य है कि इनके सर्वोत्कृष्ट प्रकृति-काव्य-संग्रह

[१] इसी साल 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का भी जन्म हुआ।

[२] हस्तलिखित पत्रिका, श्री श्यामाचरण दत्त, पंत तथा इलाचंद्र जोशी द्वारा संपादित। इस 'सुधाकर' के मई, १९१७ के अंक में पंत की एक छोटी सी कविता 'शोकाग्नि और अश्रुजल' मिलती है, जिसपर गुप्त जी की छंदयोजना और हरिऔध की शब्दयोजना का स्पष्ट प्रभाव है।

[३] 'जब मैंने लिखना प्रारंभ किया था, तब मेरे चारो ओर केवल प्राकृतिक परिस्थितियों तथा प्राकृतिक सौंदर्य का वातावरण ही एक ऐसी सजीव वस्तु थी, जिससे मुझे प्रेरणा मिलती थी।' पंत ने इसी तथ्य को 'मैंने कविता लिखना कैसे प्रारंभ किया' शीर्षक लेख में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, 'नैसर्गिक सौंदर्य की प्रेरणा ही मेरी दृष्टि में वह मूल शक्ति थी जिसने मेरे एकांतप्रिय मन को काव्यसर्जन की ओर उन्मुख किया। और आज भी मेरे शब्दों के कुंजों से प्राकृतिक सौंदर्य का मर्मर फूट पड़ता है।'—कला और संस्कृति, किताब महल, इलाहाबाद, १९६५, पृ० ७९।

'पल्लव' की अधिकांश कविताएँ अल्मोड़े के प्राकृतिक परिवेश से दूर प्रयाग के नागरिक वातावरण में लिखी गई थीं ।

उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर पत की पहली कविता का शीर्षक 'गिरजे का घंटा' था, जिसको इन्होंने अपने किशोर उत्साह में मैथिलीशरण गुप्त के पास भेजा था। गुप्त जी ने इस कविता की भूरि भूरि प्रशंसा की थी।[1] यह कविता पंत जी ने अल्मोड़े में अपने घर के पास के गिरजे के घंटे की ध्वनि से प्रेरणा पाकर लिखी थी। बाद में इसी कविता को परिवर्तित कर केवल 'घंटा' शीर्षक दे दिया गया, जो 'आधुनिक कवि, भाग दो' में प्रकाशित है। इसी तरह 'कागज का फूल' और 'तंबाकू का धुआँ' भी इनकी प्रारंभिक कविताएं हैं।[2] इनके दो प्रारंभिक कवितासंग्रह—'कलरव' तथा 'नीरव तार', जो 'वीणा' काल से भी पहले लिखे गए थे, हिंदू बोर्डिंग हाउस में रहते समय १९२० ई० में चारपाई में आग लग जाने के कारण जलकर राख हो गए।

पंत की छायावादी काव्यकाल की रचनाएँ प्रकाशनक्रम की दृष्टि से इस प्रकार हैं—उच्छ्वास (१९२० ई०), ग्रंथि (१९२० ई०), वीणा (१९२७ ई०), पल्लव (१९२८ ई०) और गुंजन (१९३२ ई०)। 'वीणा' में इनकी १९१८ और १९१९ ई० की रचनाएँ संकलित हैं। 'ग्रंथि' भी, जिसे एक गीतिपूर्ण खंडकाव्य कहा जा सकता है, १९२० ई० तक लिखी जा चुकी

[1] गुप्त जी की प्रशंसा से प्रोत्साहित होकर पंत ने यह कविता (गिरजे का घंटा) 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी थी, जिसे हाशिए पर गुप्त जी की प्रशंसा रहने के बावजूद 'सरस्वती' के संपादक ने अस्वीकृत कर दिया था। यह बात १९१६ ईस्वी की है। इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि १९१९ ई० में पंत की कविता पहली बार 'सरस्वती' में छपी, जिसका शीर्षक 'स्वप्न' था। पंत की 'स्वप्न' शीर्षक कविता जिस समय 'सरस्वती' में छपी, उस समय उसका संपादन श्री देवीप्रसाद शुक्ल करते थे।

[2] 'साठ वर्ष : एक रेखांकन' में पंत जी ने बतलाया है कि 'कविता का प्रयोग सर्वप्रथम मैंने पत्र लिखने के रूप में किया था। अपनी बहन से अपने छंदबद्ध पत्रों की प्रशंसा सुनकर मैं बहुत प्रोत्साहित होता था। कोसानी में मैंने अपने भाई के अनुकरण में कुछ ढीलेढाले रेखता छंद भी लिखे थे। एक का विषय वागेश्वर का मेला था, जहाँ मैं अपनी दादी के साथ गया था; दूसरी कविता वकीलों के धनलोभी स्वभाव पर थी।' —साठ वर्ष एक रेखांकन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ० १८।

थी। तदनंतर, 'पल्लव' में 'सन् १९१८ से १९२५ तक की प्रत्येक वर्ष की दो दो, तीन तीन कृतियाँ रख दी गई थीं, यद्यपि संख्या में तीन चौथाई और आकार में इससे कहीं अधिक कविताएँ १९२० के पश्चात् की थीं।'[१] इसी प्रकार 'गुंजन' में कवि ने १९१९ ई० से १९३२ ई० तक की रचनाएँ रखी हैं, यद्यपि इसमें १९२५ ई० के बाद की रचनाओं की संख्या अधिक है।

पंत की स्फुट कविताओं के प्रकाशन का अविरल क्रम १९२० ई० से प्रारंभ हुआ। १९२० ई० में ही 'उच्छ्वास'[२] और 'ग्रंथि' का प्रकाशन हुआ तथा इसी वर्ष इनकी 'स्वप्न' शीर्षक कविता पहली बार 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। फिर दो ढाई वर्षों के अंतराल के बाद १९२३ ई० से इनकी कविताएँ 'सरस्वती' में धड़ल्ले से छपने लगीं। कहना तो यह ठीक होगा कि 'पल्लव' की प्रायः सभी प्रमुख कविताएँ पहले 'सरस्वती' में छप गईं। पंत के कई काव्य-संग्रहों का प्रकाशन मई मास में इनके जन्मदिवस पर या जन्मदिवस के आसपास हुआ है।[३] काव्यविकास की दृष्टि से यह लक्ष्य करने योग्य है कि पंत की छायावादोत्तर कृतियों में, विशेषकर जिनमें साधारणीकृत अध्यात्म की खोज है, कलापक्ष क्रमशः गौण होता गया है। कलातत्व का यह ह्रास क्यों हुआ—इस प्रश्न का उत्तर स्वयं पंत ने दिया है। इनके अनुसार जब कला सुंदर की अपेक्षा शिव की ओर अधिक झुक जाती है, तब कलाकृति में रूपसज्जा घट जाती है। मानो, शिव से आलिंगित होकर कला भी निरावरण और दिगंबर बन जाती है।[४]

पंत के संपूर्ण काव्यविकास के विश्लेषण से यह तथ्य सामने आता है कि पंत ने प्रारंभ में प्रकृतिकाव्य और बाद में विचारकाव्य लिखा है।[५] 'वीणा' से

[१] पल्लविनी, तृतीय संस्करण, बच्चनलिखित 'एक दृष्टिकोण' से उद्धृत, पृ० १९।

[२] 'उच्छ्वास' के प्रकाशन का १९२० ई० से १९२३ ई० के बीच के छायावादी काव्यांदोलन के लिये उल्लेखनीय महत्व है।

[३] उदाहरणार्थ, 'पल्लव' २६ मई को छपा था और 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' २० मई को।

[४] छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पंत, लोकभारती, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० १०१–१०२।

[५] पंत का प्रकृतिकाव्य मुख्यतः कलासाधना का काव्य है। इसलिये उपर्युक्त तथ्य को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि पल्लवकाल तक पंत ने कलापक्ष की साधना की है और बाद की कृतियों में विचारपक्ष की। पंत

लेकर 'गुंजन' तक की रचनाएँ मुख्यतः प्रकृतिकाव्य के अंतर्गत आती हैं। इस रचनाकाल में कवि ने सौंदर्य को केवल बोध और संवेदन के धरातल पर अभिव्यक्त किया है। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि 'उत्तरा' और उसके बाद की रचनाओं में कवि ने सौंदर्य को मूल्य के रूप में ग्रहण कर अधिमानस के स्तर पर अनुभूत और अभिव्यक्त किया है।[२] पंत का वास्तविक कवित्व इनके प्रारंभिक प्रकृतिकाव्य में ही सुरक्षित है। इनका विचारकाव्य या चेतनाकाव्य किंचित् बोझिल हो गया है। इन्होंने मानववृत्तियों को निम्न त्रिदल और उच्च त्रिदल के नाम से दो प्रकारों में बाँट दिया है। निम्न त्रिदल के अंतर्गत चेतन, उपचेतन और अचेतन आते हैं तथा उच्च त्रिदल के अंतर्गत् सत्, चित् और आनंद। ये फ्रायड की विचारधारा को इसलिये अपूर्ण मानते हैं कि उसने मनुष्य के केवल निम्न त्रिदल का विश्लेषण किया है। उच्च त्रिदल के प्रति इसी आसक्ति ने इनके विचारकाव्य को दुरूह और बोझिल बना दिया है। श्री अरविंद के संपर्क में आने के पहले ही उपनिषदों के प्रभाव ने इन्हें उच्च त्रिदल की ओर प्रेरित कर दिया था। गुंजनकाल से ही पंत के काव्यविकास में उपनिषदों के प्रभाव की स्पष्ट रेखा मिलती है। 'गुंजन' की प्रसिद्ध कविता 'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन' उपनिषदों में व्यक्त ज्योतिवाद से प्रभावित है। उपनिषदों के प्रभाव का उल्लेख करते हुए इन्होंने 'पुस्तकें, जिनसे मैंने सीखा' 'शीर्षक निबंध में लिखा है, 'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन' का अत्यंत प्रकाशपूर्ण वैभव मेरे अंतर में उपनिषदों ने ही बरसाया है। उपनिषदों का अध्ययन मेरे लिये शाश्वत प्रकाश के असीम सिंधु में अवगाहन के समान रहा है। वे जैसे अनिर्वचनीय अलौकिक अनुभूतियों के वातायन हैं, जिनसे हृदय को विश्वक्षितिज के उस पार अमरत्व की अपूर्व झाँकियाँ मिलती हैं। अपने सत्यद्रष्टा ऋषियों के साथ चेतना के उच्चतम सोपानों में विचरण करने से अंतःकरण एक अवर्णनीय आह्लाद से ओतप्रोत हो गया......उपनिषदों में भी ईशोपनिषद् ने नाविक के

ने 'मेरी मान्यताएँ' शीर्षक निबंध में स्वयं ही लिखा है, 'पल्लवकाल तक मेरी लेखनी कलापक्ष की साधना करती रही है। पल्लव की भूमिका में मेरे कलासंबंधी विचार व्यक्त हुए हैं, किंतु, उसके बाद की मेरी रचनाओं में इस युग के मान्यताओं संबंधी संघर्ष को ही वाणी मिली है'।—शिल्प और दर्शन, प्रथम संस्करण, पृ० २७१।

[२] द्रष्टव्य : 'मेरी कविता का पिछला दशक' शीर्षक निबंध 'शिल्प और दर्शन' प्रथम संस्करण, पृष्ठ २६२।

तीर की तरह मेरे मन के अंधकार को भेदने में सबसे अधिक सहायता दी है। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्' के मनन मात्र से ही जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है और हृदय में जिज्ञासा जग उठती है कि किस प्रकार इस क्षणभंगुर संसार के दर्पण में उस शाश्वत के मुख का बिंब देखा जा सकता है। ईशोपनिषद् के विद्या और अविद्या के समन्वयात्मक दृष्टिकोण ने भी मेरे मन को अत्यंत बल तथा शांति प्रदान की।'[१]

पंत का कविव्यक्तित्व निरंतर विकासशील रहा है, जिसे कवि ने स्वयं ही महसूस किया है। 'जो न लिख सका' शीर्षक निबंध में इन्होंने अपने कविव्यक्तित्व को 'विकासप्रिय व्यक्तित्व' कहा है। मुख्य बात यह है कि ये कल्पना से वस्तु की ओर आए हैं, यद्यपि इनकी दृष्टि में वस्तुबोध भी एक अधिदार्शनिक स्तर पर कल्पना ही है। पर्वतप्रदेश के एकांत एकाग्र वातावरण ने इन्हें किशोरकाल में एकदम कल्पनाप्रधान बना दिया था। किंतु, बाद में जीवन, जगत् और बाह्य परिवेश के आघात संघात ने इन्हें क्रमशः वस्तून्मुखी बना दिया। 'मेरी लेखन-प्रक्रिया' शीर्षक विचारपूर्ण निबंध में इन्होंने अपने काव्यविकास की रेखाओं को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है कि पाठकों को 'मेरी प्रारंभिक रचनाओं में—पल्लव-गुंजन-काल तक—कल्पना का ही प्राधान्य मिलता है। किंतु, गुंजन ज्योत्सना के बाद मेरा कल्पनाप्रधान दृष्टिकोण धीरे धीरे वस्तून्मुखी बनकर जीवनयथार्थ की ओर आकर्षित होता रहा। यह संभवतः मेरे स्वभाव की परिणति या विशेषता रही हो। मैं आत्मनिष्ठ कभी नहीं रहा और कल्पनानिष्ठता से वस्तुनिष्ठता में उतर जाना एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है। क्योंकि जिसे हम जीवनयथार्थ या वस्तुबोध कहते हैं, वह भी अधिदर्शन की दृष्टि से एक कल्पना ही है—कालसापेक्ष, दिशा अधिष्ठित कल्पना। जैसे जैसे मेरे भीतर जीवनमूल्य का विकास होता गया, मेरी भावानुगामिनी कल्पना वस्तून्मुखी अथवा यथार्थोन्मुखी होती गई। कुछ लोगों को बाह्यदृष्टि से इसमें एक विसंगति लगती है, किंतु, मैं इसकी अंतःसंगति से भली भाँति परिचित हूँ और यह मेरे लिये एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में ही संभव हो सका है।'[२] उपर्युक्त मंतव्य से स्पष्ट है कि पंत जी कल्पना के सत्य को अनुभूति के सत्य से घनिष्ठ रूप में संबद्ध मानते हैं। इतना ही नहीं, इनके लिये कल्पना का सत्य अनुभूति या अनुभव के सत्य से अधिक महत्वपूर्ण है।

[१] शिल्प और दर्शन, पंत, प्रथम संस्करण, पृ० १८६–१८७।

[२] कला और संस्कृति, पंत, किताब महल, इलाहाबाद, १९६५, पृ० १२३-१२४।

पंत के काव्यविकास के संबंध में यह कहा जा सकता है कि 'परिवर्तन' जैसी अंगुलिगण्य कविताओं को छोड़कर इन्होंने प्रारंभ में कल्पना और भावना से परिचालित होकर प्राकृतिक सौंदर्य से उपेत कविताएँ लिखी हैं। तब सौंदर्य इनकी कविताओं में बोध के स्तर पर चित्रित हुआ था, मूल्य के स्तर पर नहीं। मूल्य के स्तर पर सौंदर्य को अभिव्यक्त करने के लिये इन्हें इस युग के ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक यथार्थ पर गंभीर चिंतन मनन करना पड़ा। इस क्रम में इन्हें यह महसूस हुआ कि आज के अधिकांश कवि लेखक यथार्थ के नाम पर जो कुछ लिख रहे हैं, उसमें इस संक्रांतियुग के ह्रासोन्मुखी विघटन के तत्व घुल मिल गए हैं, जिसके फलस्वरूप यथार्थ के नाम पर ह्रासोन्मुख विघटित यथार्थ का ही चित्रण होता रहा है। पंत जी को ऐतिहासिक यथार्थबोध पर निर्भर युगसत्य का ऐसा चित्रण एकांगी प्रतीत हुआ, क्योंकि इसमें केवल समदिक् वास्तविकता का ही समावेश संभव था। अतः इन्होंने इस एकांगी यथार्थ को अपूर्ण मानकर उस नवीन सर्वांगीण यथार्थ को चित्रित करना चाहा, जिसकी ऊर्ध्वगति बाह्य यथार्थ को अंतश्चैतन्य के प्रकाश से मंडित कर सके। इस तरह इन्होंने अपने छायावादोत्तर काव्य में, जिसे 'स्वर्णकाव्य' या 'चेतनाकाव्य' कहा जाता है, बाह्य ऐतिहासिक वास्तविकता को भीतरी आयाम देने का प्रयास किया है। अतः यह कहना ठीक होगा कि पंत का संपूर्ण काव्यविकास अंतर्जीवन को गुणात्मक उन्नयन देने की ओर तथा सौंदर्यबोध को अंतर्मूल्य बनाने की ओर अग्रसर है।

वस्तु, यथार्थ और समदिक् जीवनमूल्यों की जैसी भी व्याख्या पंत जी अपनी सुविधा के अनुसार करें, इनके काव्य में कल्पना का अविरल प्राथमिक महत्व है। इन्होंने सिद्धांततः स्वीकार किया है और यह स्वीकृति सौंदर्यशास्त्रीय मान्यता के अनुरूप ही है कि 'कल्पना ही वास्तव में वह अनुभूतिग्राहिणी तथा रूपविधायिनी शक्ति है, जो काव्य का प्राण है। वस्तु के रूप में प्रच्छन्न कवित्व का उद्घाटन उसी की सहायता से संभव है।'[१] इतना ही नहीं, पंत का स्पष्ट कथन है कि 'कोई भी गंभीर व्यापक तथा महत्वपूर्ण अनुभूति काल्पनिक होती है।'[२] इस प्रकार पंत जी काल्पनिक अनुभूति (आइडिएटेड एक्सपीरिएंस) को अधिक महत्व देते हैं और भोगी हुई अनुभूतियों या यथार्थानुभूतियों को कम। संभवतः इसी कारण ये अपनी काव्यकल्पना के साथ ही छायावादी कल्पना की यह विशेषता मानते हैं कि इसमें 'नई वास्तविकता के स्वप्नदर्शी नए आयाम' थे।

[१] छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पंत, लोकभारती, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० ६२८।

[२] उपरिवत्।

एक छायावादी कवि के रूप में पंत का यह विशेष योगदान रहा है कि इन्होंने छायावाद को 'रोमांटिसिज्म' तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे 'मानवीय संबोधि' से संपृक्त कर दिया। संभवतः इसी कारण आगे चलकर अपने आपको 'युगकवि' या 'युगपिक'[१] कहने में पंत ने किसी आत्ममोह या अन्याय की झलक नहीं देखी। सचमुच, पंत का काव्य विभिन्न युगप्रवृत्तियों तथा 'आयामों में वितरित'[२] है। विशुद्ध छायावादी रचनाकाल में भी भाव-पक्ष-गत कई संक्रांतियाँ इनकी कविताओं में मिलती हैं। उदाहरणार्थ, विशुद्ध छायावादी रचनाकाल के ही अंतर्गत 'परिवर्तन' शीर्षक कविता की रचना के बाद काव्यचेतना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। कवि के इस परिवर्तित काव्यबोध की अभिव्यक्ति 'पल्लव' की ही अंतिम कविता 'छायाकाल' में हुई है। इसमें कवि ने अपने किशोर मन से बिदा लेते हुए कहा है—

स्वस्ति, जीवन के छायाकाल,
मूक मानस के मुखर मराल,
स्वस्ति, मेरे कवि बाल !
... ...
दिव्य हो भोला बालापन,
नव्य जीवन, पर, परिवर्तन।
स्वस्ति, मेरे अनंग नूतन,
पुरातन मदनदहन !

किंतु, छायावादी और नव्य सगुणवादी पंत के संपूर्ण काव्यविकास को ध्यान में रखते हुए यह निर्भ्रांत बात कही जा सकती है कि 'पल्लव' और 'गुंजन' की सूक्ष्म कलारुचि पंत की छायावादोत्तर कविताओं में नहीं मिलती है। माना कि पल्लवकाल की कविताओं में 'कलात्मक रूपमोह' अधिक मिलता है, तथापि यह सच है कि छायावादी पंत के प्रकृतिकाव्य का प्रकर्ष 'पल्लव' में ही सुरक्षित है। 'पल्लविनी' की भूमिका में बच्चन का यह मंतव्य समीचीन है कि 'प्रथम चरण में पंत जी की कल्पना ने जिस भावप्रदेश में विचरण किया है, उसकी तुलना यदि पर्वत से करें, तो 'पल्लव' को उसकी सबसे ऊँची चोटी...मानना होगा।'[३]

[१] द्रष्टव्य : 'आत्मिका' शीर्षक कविता।

[२] 'शिल्प और दर्शन' की भूमिका।

[३] द्रष्टव्य : पल्लविनी, राजकमल प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, बच्चन लिखित 'एक दृष्टिकोण', पृष्ठ ८।

पंत की छायावादी काव्यकृतियों के बीच 'पल्लव' को सर्वश्रेष्ठ मानने में यह विप्रतिपत्ति की जा सकती है कि 'पल्लव' के प्रकाशनकाल या 'पल्लव' में संकलित कविताओं के रचनाकाल में पंत के मन में छायावाद अथवा छायावादी काव्यांदोलन जैसी कोई चीज नहीं थी। 'पल्लव' की विस्तृत भूमिका में, जिसे अब हम छायावाद का घोषणापत्र कहते हैं, 'छायावाद' शब्द नहीं आया है; यद्यपि यह भूमिका १९२६ ई० में लिखी गई थी। पंत ने स्वयं भी 'पल्लव' को छायावादी काव्यांदोलन की अग्रेसर कृति न मानकर इसे द्विवेदीयुगीन कविता का कलात्मक विकास माना है। इन्होंने लिखा है, '......पल्लवकाल तक की अपनी कविता को मैं द्विवेदीयुग की कविता का विस्तार नहीं तो विकास मानता आया हूँ।'[1] किंतु, यह आवश्यक नहीं है कि कवि की मान्यता ही तटस्थ और वस्तुनिष्ठ आलोचनात्मक विश्लेषण का भी निष्कर्ष हो। यह अवश्य है कि पंत की कृतियों में 'छायावाद' शब्द का पहली बार प्रयोग 'वीणा' की भूमिका में हुआ है, जो १९२७ ई० में लिखी गई थी। पंत ने यह भूमिका आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा छायावाद पर किए गए उस आक्षेप के प्रत्युत्तर में लिखी थी, जो 'सुकवि किंकर' के नाम से 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। पंत के प्रत्युत्तर में इतना तल्ख विद्रोह था कि उसे उस समय 'वीणा' की भूमिका के रूप में प्रकाशित करना प्रकाशक के लिये संभव न हो सका। अब 'वीणा' की वह अप्रकाशित भूमिका 'गद्यपथ' में संकलित है। किंतु, 'वीणा' की इस तिक्त और 'ताम्रनयन' भूमिका की तुलना में 'पल्लव' की भूमिका का ऐतिहासिक महत्व, छायावादी काव्यांदोलन के विकास की दृष्टि से, अधिक है। यों, 'पल्लव' की भूमिका भी (विशेषकर इसका पूर्वार्ध) रत्नाकर जी के उस भाषण के प्रत्युत्तर में लिखी गई थी, जो भाषण उन्होंने हिंदी साहित्य संमेलन के वार्षिकोत्सव के अवसर पर सभापति के पद से दिया था। मगर 'वीणा' की भूमिका की तरह एक प्रत्युत्तर होने पर भी 'पल्लव' की भूमिका का महत्व तात्कालिकता से ऊपर उठा हुआ है। छायावादी कविता परंपरा से जिस 'प्रस्थान' को लेकर चली, उसका शंखनाद 'पल्लव' की भूमिका में ध्वनित प्रतिध्वनित है। अतः वादविशेष का नाम्ना निर्देश किए बिना भी तद्गत प्रवृत्तियों का अग्रचारी स्तवन करने के कारण 'पल्लव' की भूमिका छायावाद के घोषणापत्र के समान ही है तथा पंत की छायावादी काव्यकृतियों के बीच 'पल्लव' सर्वोच्च शिखर के तुल्य है।

[1] साठ वर्ष : एक रेखांकन, पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६० पृष्ठ ३३-३४।

'पल्लव' की कविताओं के माध्यम से पंत ने खड़ीबोली में अपने 'प्राणों का संगीत' भर दिया और खड़ीबोली की काव्यभाषा के व्यंजनाविकास में अद्भुत योग दिया। पल्लवकाल से ही पंत काव्यसंगीत के प्रति पर्याप्त सचेष्ट रहे[१]। 'पल्लव' से 'गुंजन' तक इनकी छायावादी संगीतचेतना का निरंतर विकास मिलता है। इन्होंने अपनी विशुद्ध छायावादी रचनाओं में ('उच्छ्वास' से 'गुंजन' तक) वर्णों की कोमलता और संवादी स्वरों के समायोजन पर विशेष ध्यान दिया है। इन्होंने कटु संयुक्ताक्षरों और रूक्षाक्षरों का बहुत कम प्रयोग किया है। अपने काव्यसंगीत के विकास की चर्चा करते हुए इन्होंने स्वीकार किया है कि 'गुंजन' के भाषासंगीत में जो सुघरता, मधुरता और श्लक्ष्णता है, वह 'पल्लव' में अनुपस्थित है।' गुंजन' के संगीत में 'एकता' है, जबकि 'पल्लव' के स्वरों में 'बहुलता'। इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए इन्होंने यह मंतव्य व्यक्त किया है कि 'पल्लव से गुंजन तक मेरी भाषा में एक प्रकार के अलंकार रहे हैं और वे अलंकार भाषासंगीत को प्रेरणा देनेवाले तथा भावसौंदर्य की पुष्टि करनेवाले हैं।'[२]

पंत ने छायावादी काव्यसंगीत की संपन्नता के लिये मात्रिक छंदों को ही उपयुक्त माना है। काव्यसंगीत के प्रति इनकी यही धारणा 'पल्लव' से 'गुंजन' तक स्थिर रही है। गुंजनोत्तर कविताओं में इनकी धारणा किंचित् परिवर्तित हो गई है, जिसका युक्तियुक्त प्रतिपादन 'उत्तरा' की प्रस्तावना में मिलता है।

[१] काव्यसंगीत के प्रति पंत के सुचिंतित दृष्टिकोण का सर्वोत्तम निदर्शन 'पल्लव' की भूमिका में मिलता है, जिसमें पंत ने काव्यसंगीत के संबंध में निम्नलिखित मान्यताएँ उपस्थित की हैं :—

क. 'संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिंदी का नहीं। वह लोल लहरों का चंचल कलरव, बाल झंकारों का छेकानुप्रास है।...हिंदी का संगीत स्वरों की रिमझिम में बरसता, छनता, छनकता, बुदबुदों में उबलता, छोटे छोटे उत्सों के कलरव में उछलता किलकता हुआ बहता है।'

ख. 'हिंदी का संगीत केवल मात्रिक छंदों में ही अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की संपूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसमें सौंदर्य की रक्षा की जा सकती है।...हिंदी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पदक्षेप के लिये वर्णवृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कड़ों की तरह बड़े भारी हो जाते हैं।'

[२] आधुनिक कवि २, प्रयाग, संवत् २०११, पृष्ठ १५–१६।

गुंजनोत्तर कविताओं में, जो कथ्य और कथनभंगिमा दोनों ही दृष्टियों से छायावादी परिवृत्त के बाहर पड़ती हैं, कवि ने काव्यसंगीत को प्रच्छन्न सूक्ष्मता देने के लिये नम्र (ह्रस्व) अंत्यानुप्रासों का विशेष प्रयोग किया है और दीर्घ अंत्यानुप्रासों को यथासंभव कम स्थान दिया है।[1] इन शैल्पिक सूक्ष्मताओं के कारण पंत को आधुनिक हिंदी कविता का एक उल्लेखनीय काव्यशिल्पी कहा जा सकता है।

पंत की काव्यकृतियों के बीच 'गुंजन' एक ऐसी रचना है, जो इनके प्रकृतिकाव्य के विकास की 'इति' और विचारकाव्य का 'अथ' प्रस्तुत करती है। इसलिये पंत की विशुद्ध छायावादी सौंदर्यचेतना 'गुंजन' और विशेषतः गुंजनपूर्व कविताओं में ही मिलता है। 'गुंजन' का कविताएँ एक प्रकार की 'आध्यात्मिक व्यथा' या 'मेटाफिजिकल एँग्विश' की दशा में लिखी गई हैं। 'गुंजन' की एक प्रमुख कविता है—

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्ववेदना में तप प्रतिपल,
जगजीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर विधुर मन !

इन पंक्तियों में कवि की आध्यात्मिक व्यथा का, जो एक आनंदस्पर्शजनित व्यथा है, पता चलता है। फिर भी 'गुंजन' में बाह्य जगत् अर्थात् प्रकृतिजगत् ही प्रधान है। पंत ने 'मैं और मेरी रचना गुंजन' शीर्षक निबंध में इसे स्वीकार किया है कि "...जब मैंने गुंजन की रचनाएँ लिखीं, मुझे बाह्य जगत् इतना

१ छंदोविधानगत क्रांति को समान रूप में स्वीकार करने पर भी पंत और निराला के काव्यसंगीत में उल्लेखनीय अंतर है। स्वयं निराला के अनुसार उनका वर्णसंगीत जयदेव के भिन्न वर्ण-सौंदर्य-गर्भित संगीत से मिलता जुलता है, जबकि पंत का वर्णसंगीत कालिदास के वर्णसंगीत से साम्य रखता है। निराला का कहना है कि भिन्न वर्णसौंदर्य वाला संगीत ही (अर्थात् उनका संगीत ही) खड़ी बोली की प्रकृति के अधिक समीप है। निराला ने 'मेरे गीत और कला' शीर्षक लेख में पंत के काव्यसंगीत को वर्णविचार की दृष्टि से 'श-ण-ब-ल' स्कूल का काव्यसंगीत कहा है, क्योंकि पंत के वर्णसौंदर्य का मुख्य आधार 'श-ण-व और ल' हैं। प्रबंधप्रतिमा, निराला, भारती भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० २७४।

लुभाता रहा कि मुझे जैसे अपनी सुधि ही नहीं रही। बाह्य जगत् से मेरा अभिप्राय प्रकृति के जगत् से है।"[१]

पंत ने काव्य के मनोनीत तत्वों में 'सौंदर्यचेतना' को प्राथमिक महत्व दिया है। इनका कहना है कि कवि या कलाकार सबसे पहले सौंदर्य का स्रष्टा है, क्योंकि उसे जगत् और जीवन की कुरूपता को सौंदर्य में परिवर्तित करना पड़ता है। इन्होंने सौंदर्यचेतना का संबंध कवि के अनुभूतिसमृद्ध अंतर्जगत् से माना है, जिसका एक छोर 'जगजीवन की अंतरतम स्वरसंगति' अर्थात् शिवतत्व से संबद्ध है और दूसरा छोर स्वप्नों के स्वर्णिम प्रवाह अर्थात् कल्पना से रसान्वित है। काव्यविकास के विश्लेषण की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इन्होंने गुंजनोत्तर रचनाओं में, विशेषकर 'उत्तरा' और उसकी परवर्ती रचनाओं में, सौंदर्यबोध को अधिदर्शन (मेटाफिजिक्स) की दृष्टि से 'अंतर्मन का संगठन' माना है। किंतु, वीणा, पल्लव और गुंजन की रचनाओं में, जो इनकी प्रतिनिधि छायावादी रचनाएँ हैं, इनकी सौंदर्यचेतना उन्नत मानसिक धरातल पर उपस्थित नहीं हो सकी है। कारण, इनकी प्रथम उत्थान की रचनाओं में सौंदर्य के दैहिक संस्कारों की छाप अनेकत्र मिलती है। 'अनंग के प्रति' या 'भावी पत्नी के प्रति' लिखी गई कविता की पंक्तियाँ इस तथ्य को उदाहृत करती हैं—

बजा दीर्घ साँसों की भेरी,
सजा सटे कुच कलशाकार,
पलक पाँवड़े बिछा, खड़े कर
रोओं में पुलकित प्रतिहार;
बाल युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के बंदनवार,
देव ! तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत उत्सुक दृगद्वार। (अनंग)

अथवा

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात।
विकंपित मृदु, उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप,
जड़ित पद, नमित पलक दृगपात,

[१] शिल्प और दर्शन, प्रथम संस्करण, पृ० १३०।

पास जब आ न सकोगी, प्राण !
मधुरता में सी भरी अजान;
लाज की छुईमुई सी म्लान
प्रिये, प्राणों की प्राण !
(भावी पत्नी के प्रति)

इतना ही नहीं, पंत का संपूर्ण प्रकृतिकाव्य मुख्यतः चाक्षुष सौंदर्य पर निर्भर है। इन्होंने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में इसे स्वीकार किया है कि प्रकृति के साहचर्य ने ही इन्हें सौंदर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया है।[1]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पंत के कविजीवन का प्रारंभ एक प्रातिभ प्रकृतिकवि के रूप में हुआ था, किंतु, उसकी परिणति एक संक्रमणशील विचारक कवि के रूप में हो गई। इनके किशोरकाल की अल्पचर्चित उपन्यास रचना 'हार' से भी इनके प्रकृतिप्रेम और रूमानी स्वभाव का ही पता चलता है। इसलिये इनकी आरंभिक रचनाओं में इनका विचारक रूप प्रकट नहीं हो सका है। जब छायावादी ज्वार भाटा बन गई और इनका विचारक रूप उभरकर सामने आ गया, तब इन्होंने छायावादी सौंदर्यबोध का विश्लेषणात्मक मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया। इन्होंने आधुनिक[2] सौंदर्यबोध को दो प्रकारों में बाँटा है—(१) यंत्रयुग का मध्यवर्गीय सौंदर्यबोध और (२) यंत्रयुग का जनवादी सौंदर्यबोध। इनकी धारणा है कि मध्यवर्गीय सौंदर्यबोध रवींद्रनाथ ठाकुर के काव्यों में अपने उत्कर्ष पर है और इसी सौंदर्यबोध का प्रभाव छायावादी कविता पर पड़ा है।[3] छायावादी कविता के सौंदर्यबोध की विवेचना करते हुए पंत ने लिखा है कि छायावादी

[1] आधुनिक कवि, भाग २, षष्ठ संस्करण, पृ० ८।

[2] पंत मध्यकालीन सौंदर्यबोध, मध्यकालीन जीवनमूल्य और दार्शनिक मध्यकालीनतावाद के विरोधी हैं।

[3] 'भारतीय अध्यात्म के प्रकाश को रवींद्रनाथ ठाकुर ने पश्चिम के यंत्रयुग के सौंदर्य से मंडित कर उसे पूर्व तथा पश्चिम दोनों के लिये समान रूप से आकर्षक बना दिया था। इस प्रकार नवीन युग की आत्मा के अनुकूल स्वरझंकृति प्रस्तुत कर कवींद्र रवींद्र ने एक नवीन सौंदर्यबोध का झरोखा भी कल्पनाशील युवक साहित्यकारों के हृदय में खोल दिया था। इन्हीं आध्यात्मिक, तथा सौंदर्यबोध संबंधी भावनाओं से हिंदी में छायावादी युग के कवि भी प्रभावित हुए थे।'—पंत, रश्मिबंध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५८, पृष्ठ ११।

सौंदर्यबोध 'पूँजीवादी युग की विकसित परिस्थितियों की वास्तविकता पर आधारित था'। इन्होंने इस छायावादी (नवीन) सौंदर्यबोध को, जो रूपबोध और भावबोध दोनों का प्रतिनिधित्व करता है, छायावादी युग की सर्वोपरि देन के रूप में स्वीकार किया है। इसलिये हिंदी कविता की अन्य धारणाओं के प्रेमकाव्य में हम जहाँ रागमूलकता की प्रधानता पाते हैं, वहाँ छायावादी प्रेमकाव्य में सौंदर्यभावना की प्रधानता मिलती है।

पंत ने चिंतन और सर्जन के धरातल पर सौंदर्य के चार तात्विक रूपों को स्वीकार किया है—नैसर्गिक सौंदर्य, सामाजिक सौंदर्य, मानसिक सौंदर्य और आध्यात्मिक सौंदर्य। प्रायः यह देखा जाता है कि नैसर्गिक सौंदर्य अर्थात् प्राकृतिक सौंदर्य का विकास भावनात्मक सौंदर्य के रूप में होता है। इसलिये वीणाकाल में जहाँ प्राकृतिक सौंदर्य की प्रधानता है, वहाँ 'पल्लव' में भावना के सौंदर्य की। नैसर्गिक सौंदर्य पंत को बहुत प्रिय है, क्योंकि इनके लिये प्रकृतिसौंदर्य के अनेक सद्यःस्फुट उपकरणों की मंजूषा है। आशय यह है कि पंत की सौंदर्यचेतना के विकास में प्रकृति का उल्लेखनीय योग है। इन्होंने 'वीणा' से लेकर 'गुंजन' तक की रचनाओं में प्रकृतिसौंदर्य के साथ प्रायः नारीरूप का मिश्रण कर दिया है। इन्होंने अपने छायावादी काव्यकाल को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट लिखा है, 'प्रकृति को मैंने अपने से अलग, सजीव सत्ता रखनेवाली नारी के रूप में देखा है।'[१] अतः इनकी अनेक पंक्तियाँ इस धारणा को चरितार्थ करती हैं। जैसे—

उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही, माँ,
वह अपनी वयवाली में।

अथवा

खैंच ऐंचीला भ्रू सुरचाप,
शैल की सुधि यों बारंबार...
हिला हरियाली का सुदुकूल
झुला झरनों का झलमल हार,
जलदपट से दिखला मुखचंद्र.
पलक पल पल चपला के मार;

[१] आधुनिक कवि, भाग २, पंत, षष्ठ संस्करण, पृष्ठ ६।

भग्न उर पर भूधर सा हाय !
सुमुखि ! धर देती है साकार ।

इस प्रकार प्रारंभिक कृतियों में पंत की सौंदर्यचेतना प्रधानतः प्रकृतिकेंद्रित है। फलस्वरूप, 'वीणा' और 'पल्लव' मुख्यतः प्रकृतिकाव्य ही हैं। कवि ने भी इसे स्वीकार किया है कि 'वीणा' और 'पल्लव' की रचनाओं में उसकी सौंदर्यलिप्सा की पूर्ति प्रकृति के द्वारा ही होती थी।[१]

इस संदर्भ में यहाँ तक कहा जा सकता है कि पंत को कवि बनाने का श्रेय प्रकृति को ही है। पंत ने स्वयं लिखा है, 'मेरे किशोरप्राण मूक कवि को बाहर लाने का सर्वाधिक श्रेय मेरी जन्मभूमि के उस नैसर्गिक सौंदर्य को है, जिसकी गोद में पलकर मैं बड़ा हुआ हूँ।···प्रकृति की रमणीय वीथिका से होकर ही मैं काव्य के भावविशद सौंदर्यप्रासाद में प्रवेश पा सका।' इसी तरह पंत ने अनेकत्र प्रकृतिसौंदर्य और काव्यप्रेरणा के संबंध में अपने भावुक उद्गार व्यक्त किए हैं। सचमुच, प्रकृतिसौंदर्य ही पंत की अनेक विस्मयभरी उद्भावनाओं के मूल में है। वीणाकाल (सन् १६१८–२०) से ही प्रकृति इनकी कविताओं का आधारभूत कथ्य रही है। इसलिये 'वीणा' में 'प्रकृति की छोटी मोटी वस्तुओं' को ही 'कल्पना की तूली से रँगकर' प्रस्तुत किया गया है। यह प्रकृतिप्रेम 'पल्लव' में अपना पार्यंतक विकास पा गया है। यद्यपि 'पल्लव' की अधिकांश रचनाएँ प्रयाग ऐसे शहर में लिखी गईं और छायावादी अभिव्यंजना की सीमाएँ 'पल्लव' की सीमाएँ बनी रह गईं तथापि 'प्रकृतिसौंदर्य और प्रकृतिप्रेम की अभिव्यंजना 'पल्लव' में अधिक प्रांजल तथा परिपक्व रूप में हुई है।' 'वीणा' और 'पल्लव' के प्रकृतिबोध का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए पंत ने उचित ही लिखा है, 'वीणाकाल का प्राकृतिक सौंदर्य का प्रेम 'पल्लव' की रचनाओं में भावनाओं के सौंदर्य की माँग बन गया है और प्राकृतिक रहस्य की भावना ज्ञान की जिज्ञासा में परिणत

१ 'वीणा और पल्लव, विशेषतः, मेरे प्राकृतिक साहचर्यकाल की रचनाएं हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था। वह मेरी सौदर्यलिप्सा की पूर्ति करती थी, जिसके सिवा, उस समय मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं थी।'—आधुनिक कवि, भाग २, पंत, षष्ठ संस्करण, पृष्ठ १०। पंत की उत्कृष्ट प्रकृतिकविताओं में 'सोने का गान', 'निर्झर गान', 'मधुकरी', 'निर्झरी', 'विश्ववेणु' और 'वीचिविलास' शीर्षक कविताएं विशेष महत्व रखती हैं।

हो गई है। वीणा की रचनाओं में जो स्वाभाविकता मिलती है, वह पल्लव में कलासंस्कार तथा अभिव्यक्ति के मार्जन में बदल गई है।'

प्रकृतिसौंदर्य के एक मधुर गायक के रूप में भी पंत ने छायावादी कविता का प्रतिनिधित्व किया है, क्योंकि छायावादी सौंदर्यचेतना के मुख्य आधार हैं प्रकृति और नारी। प्रकृतिसौंदर्य अथवा नारीसौंदर्य का अंकन छायावादी कवियों को बहुत प्रिय रहा है। इन दोनों में भी प्रकृति छायावादी सौंदर्यदृष्टि का सहजतम आलंबन है। पंत की कविताओं में प्राकृतिक उपादानों की प्रचुर नूतनता इसे पूर्णतः प्रमाणित करती है। पंत ने प्रकृतिसौंदर्य को तीन माध्यमों से उपस्थित किया है—चित्रधर्मी निसर्गवर्णना द्वारा अंकित प्रकृतिसौंदर्य, भावधर्मी निसर्ग-वर्णना द्वारा अंकित प्रकृतिसौंदर्य और संगीतधर्मी निसर्गवर्णना द्वारा अंकित प्रकृतिसौंदर्य। किंतु, प्रकृतिसौंदर्य और नारीसौंदर्य के प्रति एक तादात्म्य दृष्टि रखने के कारण पंत की कविताओं में प्रायः प्रकृतिसौंदर्य पर नारी के रूप और क्रियाव्यापारों का आरोप मिलता है। अतः इनकी ऐसी कविताओं में मानवी-करण के सहारे प्रकृतिसौंदर्य का ऐसा मूर्त चित्रण मिलता है, जिसके साथ सौंदर्य के प्रति शिशुसुलभ विस्मय और जिज्ञासा की अपूर्व अभिव्यक्ति हुई है। जैसे, 'छाया' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस धारणा को पूर्णतः चरितार्थ करती हैं—

कौन, कौन तुम परहितवसना,
म्लानमना, भूपतिता सी,
वातहता विच्छिन्न लता सी,
रतिश्रांता व्रजवनिता सी ?

... ...

किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि ! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार।[१]

इस सौंदर्य के प्रति अविरल शिशुसुलभ जिज्ञासा और विस्मय के साथ प्रकृति पर मानवीकरण के द्वारा नारी के रूपव्यापार का आरोप पंत के सौंदर्यविधान की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। यों, छायावाद युग के अन्य प्रमुख कवियों की रचनाओं में भी इस ओर विशेष रुझान मिलता है। किंतु, यह प्रवृत्ति पंत की कविताओं में

[१] पल्लव, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ७०।

सबसे अधिक मिलती है। जैसे, 'नौकाविहार' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में न केवल प्रकृतिसौंदर्य के साथ नारीरूप का मिश्रण कर दिया गया है, बल्कि प्रकृतिसौंदर्य के लिये प्रयुक्त सभी उपमानों को नारी की कोमलता में संपृक्त कर दिया गया है—

जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किए अविरल
फिरतीं लहरें लुक छिप पल पल।
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल।
लहरों के घूँघट से झुक झुक दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख
दिखलाता, मुग्धा सा रुक रुक।

इतना ही नहीं, पंत ने अनेक स्थलों पर यहाँ तक लिख दिया है कि नारीरूप प्रकृतिसौंदर्य का मूल आस्पद है। अर्थात्, नारी का रूपलावण्य ही विच्छुरित होकर प्रकृतिसौंदर्य के रूप में चतुर्दिक् फैल गया है। उदाहरणार्थ, पंत ने 'भावी पत्नी के प्रति' शीर्षक कविता में लिखा है—

खोल सौरभ का मृदु कचजाल
सूँघता होगा अनिल समोद,
सीखते होंगे उड़ खगबाल
तुम्हीं से कलरव, केलि विनोद,
चूम लघु पद चंचलता, प्राण!
फूटते होंगे नव-जल-स्रोत,
मुकुल बनती होगी मुस्कान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

इसी भाव को कवि ने 'मधु स्मिति' शीर्षक कविता में शब्दभेद से व्यक्त किया है। उसे ऐसा लगता है कि उसकी प्रिया की मुसकान ही प्रकृतिसौंदर्य के रूप में प्रसार पा गई है। तब वह विस्मयविमुग्ध होकर अपनी प्रिया से पूछने लगता है—

मुसकुरा दी थी क्या तुम, प्राण!
मुसकुरा दी थी आज विहान!
आज गृह वन उपवन के पास
लोटता राशि राशि हिमहास,

खिल उठी आँगन में अवदात
कुंद कलियों की कोमल प्रात।
मुसकुरा दी थी, बोलो, प्राण!
मुसकुरा दी थी तुम अनजान ?[१]

इसी तरह 'मधुवन' शीर्षक कविता में भी पंत ने प्रकृतिसौंदर्य के दर्शन नारीरूप के गवाक्ष से किए हैं। कवि को यह विश्वास हो गया है कि उसकी प्रिया की छविमयी छटा ही प्रकृतिसौंदर्य के रूप में फैल गई है—

आज मुकुलित कुसुमित सब ओर
तुम्हारी छवि की छटा अपार,
फिर रहे उन्मद मधु प्रिय भौंर
नयन, पलकों के पंख पसार!
तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार
लग गई मधु के वन में ज्वाल।

उपर्युक्त उद्धरणों से पंत की कविताओं में प्राप्त प्रकृतिसौंदर्य पर नारी-रूप-व्यापारों के आरोप का पूर्णतः स्पष्टीकरण हो जाता है। पंत की कविताओं में प्रकृतिसौंदर्य और नारीरूप के इस तादात्म्य या मिश्रण का एक दूसरा पहलू भी है, जिसे हम उपर्युक्त पद्धति का विलोम कह सकते हैं। यह दूसरा पहलू है—नारीरूप पर प्रकृतिसौंदर्य का आरोप। छायावादी कविता की यह एक प्रमुख विशेषता है कि इसमें जहाँ सौंदर्यविधान के लिये मानवीकरण का मंडान बाँधा गया है, वहाँ प्रकृतिसौंदर्य पर नारीरूप और नारीसुलभ क्रियाव्यापारों का आरोप कर दिया गया है; किंतु, जहाँ नारी को मांसल सौंदर्य की स्थूल जड़ता से मुक्त करने का प्रयास किया गया है, वहाँ नारीरूप पर प्रकृतिसौंदर्य का आरोप कर दिया गया है ताकि नारी प्रकृति की रहस्यमयी शक्ति और भास्वर सौंदर्य से मंडित हो सके। दूसरी ओर, पंत ने जहाँ जहाँ प्रकृति के विराट् रूप में कोई अमोघ आकर्षण पाया है, वहाँ नारी का लावण्य इनकी नजरों के सामने उपस्थित हो गया है। 'स्नेह' अथवा 'भादों की भरन' शीर्षक कविताएँ इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि इनके प्रारंभिक काव्य में नारी के तन की प्रधानता यत्र तत्र मिलती है, तथापि बाद की रचनाओं में इन्होंने निश्चय ही नारी के सांस्कृतिक मन को महत्व दिया है। इसलिये इन्होंने अपनी बाद की कविताओं में सांस्कृतिक

[१] पल्लविनी, पंत, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १५०।

शोभा सुषमा में लीन आभादेही नारी को विशेष महत्व दिया है तथा एक दार्शनिक की तरह 'देहमोह' और 'देहद्रोह' का प्रश्न उठाया है।

कुल मिलाकर पंत की सौंदर्यचेतना ने विकास की एक लंबी डगर तय की है। इनकी प्रारंभिक कविताओं में किशोर प्रवृत्ति के कारण मांसल सौंदर्य की चाक्षुष अंगिता मिलती है। इन्होंने अपने सौंदर्यबोध की विकासप्रक्रिया को संकेतित करते हुए लिखा है कि 'जब तक रूप का विश्व मेरे हृदय को आकर्षित करता रहा, जो कि एक किशोर प्रवृत्ति है, मेरी रचनाओं में ऐंद्रिक चित्रणों की कमी नहीं रही। प्राकृतिक अनुराग की भावना क्रमशः सौंदर्यप्रधान से भावप्रधान और भावप्रधान से ज्ञानप्रधान होती गई।' इनकी गुंजनोत्तर कविताओं में सौंदर्य की मांसल निविड़ता घटती गई तथा सोपान आरोहण के सदृश इनकी ऊर्ध्वमुखी 'सौंदर्यकल्पना क्रमशः आत्मकल्याण और विश्वकल्याण की भावना को अभिव्यक्त करने के लिये' मांगलिक उपादान बन गई। इन्होंने स्वयं ही लिखा है, 'ज्योत्स्ना तक मेरे सौंदर्यबोध की भावना मेरे ऐंद्रिक हृदय को प्रभावित करती रही है, मैं तब तक भावना ही से जगत् का परिचय प्राप्त करता रहा, उसके बाद मैं बुद्धि से भी संसार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ।'[१] किंतु, इनकी सौंदर्यचेतना के विकास ने इस स्तर पर पहुँचकर अंतिम रूप नहीं ग्रहण किया है, क्योंकि इनकी सौंदर्यचेतना का प्रकर्ष 'स्वर्णकिरण' और उसके परवर्ती संग्रहों की उन रचनाओं में मिलता है, जिन्हें इन्होंने 'नवीन सगुण' से उत्थित 'चेतनाकाव्य' कहा है। यहाँ पहुँचकर इनकी सौंदर्यचेतना सूक्ष्मता, आध्यात्मिकता और अधिदर्शन (मेटाफिजिक्स) की संगमभूमि पर पूर्णतः अधिष्ठित हो गई है।

पंत की प्रतिनिधि छायावादी कविताएँ कल्पना की अनुगूँज से भरी हुई हैं। इन्होंने यहाँ तक स्वीकार किया है कि कल्पना का सत्य सबसे बड़ा सत्य होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मनिष्ठता और अंतर्जगत् से चालित होकर इन्होंने छायावादी कल्पना को बहिर्जगत् के कृत्रिम बंधनों और अधीक्षणों से मुक्त माना है। संभवतः इसीलिये इन्होंने छायावादी कवियों की कल्पना को 'मुक्त कल्पना' की आख्या दी है। इनके अनुसार 'मुक्त कल्पना' तर्कसिद्ध सत्य, रूढ़ दृष्टि और वस्तुनिष्ठ यथातथ्य से दूर रहती है तथा उसमें भिन्नवर्णी बिंबों की योजना के द्वारा प्रस्तुत होनेवाले सौंदर्य की बहुविध छटाओं का आलिंपन कौशल रहता है। 'पल्लव' में संगृहीत इनकी 'नक्षत्र' शीर्षक कविता की अनेक पंक्तियाँ छायावादी मुक्त कल्पना को उदाहृत करती हैं—

[१] आधुनिक कवि, भाग २, पंत, छठा संस्करण, पृष्ठ १५।

अग्निशस्य ! रवि के चिह्नित पग !
म्लान दिवस के छिन्न वितान !
... ...
दिवसस्रोत से दलित उपलदल !
स्वप्ननीड़, तमज्योति धवल ।[1]

इस मुक्त कल्पना को पंत ने 'ऊर्णनाभ कल्पना', 'सर्जनशील कल्पना','अंतर्मुखी कल्पना', 'प्रगल्भ कल्पना' इत्यादि कई नामों से अभिहित किया है। कल्पना का यह रूप इनकी गुंजनकाल तक की उन रचनाओं में प्रचुरता के साथ मिलता है, जिनमें सूक्ष्मता और भावात्मकता की ओर कवि का विशेष आग्रह है। इन्होंने स्वयं भी लिखा है कि 'गुंजन' तक की भाषा 'कल्पना के सूक्ष्म सौंदर्य से गुंजित' है।[2] इस प्रसंग में यह लक्ष्य करने योग्य है कि जिस प्रकार इनकी प्रारंभिक (विशेषकर पल्लवकालीन) सौंदर्यचेतना 'नारी' से संपृक्त है, उसी प्रकार इनकी प्रारंभिक 'कल्पना' के मूल में भी 'नारी' अवस्थित है। उदाहरणार्थ, 'उच्छ्वास[3] की बालिका' शीर्षक कविता (पहले 'पल्लव' की 'सावन' शीर्षक कविता में प्रकाशित) में किशोर कवि ने नारी को कल्पना की कल्पलता के रूप में स्वीकार किया है—

[1] पल्लव, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३१, पृष्ठ ८५।

[2] आधुनिक कवि, भाग २, षष्ठ संस्करण, पृष्ठ १२।

[3] 'मतवाला' (३ मई, १९२४, पृष्ठ ६५९) में प्रकाशित निराला के एक लेख से ऐसा लगता है कि निराला पंत की इस कविता ('उच्छ्वास') से बेतरह प्रभावित थे। पंत की इस पंक्ति—'निरालापन था आभूषन'—पर निराला लट्टू थे। मानो, पंत ने इन्हीं के निरालेपन को 'आभूषन' कहा हो। उक्त लेख में निराला ने पंत को खड़ीबोली का पहला 'स्वाभाविक कवि' और हिंदी का 'गौरवकुसुम' कहा है। पंत की संगीतचेतना की प्रशंसा करते हुए इन्होंने लिखा है, 'पंत जी में कविजनोचित सभी गुण हैं। आप हारमोनियम, क्लैरिओनेट आदि भी बजाते हैं और गाते भी हैं बड़ा ही सुंदर। जिस समय आप सस्वर कविता पढ़ने लगते हैं, उस समय आपकी सरस शब्दावली और कमनीय कंठ श्रोताओं के चित्त पर कविता की मूर्ति अंकित कर देते हैं।' लेख के अंत में निराला ने यहाँ तक लिख दिया है, 'खड़ीबोली में प्रथम सफल कविता आप ही कर सके हैं।'—मतवाला, ३ मई, १९२४, पृष्ठ ६६०।

कह उसे कल्पनाओं की
कल कल्पलता अपनाया,
बहु नवल भावनाओं का
उसमें पराग था पाया।

छायावादी कवियों के बीच पंत की कविताओं में 'फैंसी' का विनियोग सबसे अधिक हुआ है। विशेषकर, इनकी प्रारंभिक कविताओं, जैसे वीणाकालीन रचनाओं में 'फैंसी' की प्रचुरता है। 'वीणा' का बालकवि कभी तुहिनबिंदु बनना चाहता है, कभी तरल तरंग और कभी कुमुदकला—

तुहिनबिंदु बनकर सुंदर,
कुमुदकिरण से सहज उतर
... ...

कुमुदकला बन कलहासिनि,
अमृतप्रकाशिनि, नभवासिनि,
तेरी आभा को पाकर माँ!
जग का तिमिर त्रास हर दूँ—
नीरव रजनी में निर्भय।

'वीणा' में इस प्रकार की अतिकल्पना से ग्रस्त और भी कविताएँ मिलतीं हैं। जैसे, कवि विहगबाला से कहता है—

है स्वर्णनीड़ मेरी भी जगउपवन में,
मैं खग सा फिरता नीरव भावगगन में,
उड़ मृदुल कल्पनापंखों में, निर्जन में,
चुगता हूँ दाने बिखरे तृन में, कन में।[१]

पंत के प्रौढ़िकाल की कुछ रचनाओं में भी अतिकल्पना की अविरल आकाशगंगा मिलती है। पंत की दृष्टि में अतिकल्पना कल्पना का वह रूप है, जो किसी प्रकार के वस्तुसंपृक्त आधार से एकदम हीन रहता है। अतः इनके शब्दों में हम 'अतिकल्पना' को कल्पना का अनिर्वचनीय इंद्रजाल कह सकते हैं। इस 'अनिर्वचनीय इंद्रजाल' का नमूना 'बादल' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में मिलता है—

[१] वीणा, पंत, इंडियन प्रेस, १९४२, पृष्ठ ४८।

नग्न गगन की शाखाओं में
फैला मकड़ी का सा जाल
अंबर के उड़ते पतंग को
उलझा लेते हम तत्काल।

पंत की कई कविताओं में अतिकल्पना के साथ वर्णबोध का सुष्ठु मिश्रण मिलता है। उदाहरणार्थ 'पल्लव' में संगृहीत 'भादों की भरन' के प्रथम खंड की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है—

धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल,
आज सोने का संध्याकाल,
जल रहा जतुगृह सा विकराल।

तदनंतर पंत ने कल्पना के पार्श्व में प्रदोलित होनेवाली अतिकल्पना का भी प्रयोग किया है। ऐसी अतिकल्पना के एक रूप को हम सावयव अतिकल्पना कह सकते हैं। सावयव अतिकल्पना में 'फैंसी' से आनीत अप्रस्तुतों और बंकिम उक्तियों का एक अविरल क्रम रहता है। पंत को सावयव अतिकल्पना बहुत ही प्रिय है। 'ग्रंथि' में नायिका के रूपवर्णन के प्रसंग में इन्होंने इसका सुंदर प्रयोग किया है—

देख रति ने मोतियों की लूट यह,
मृदुल गालों पर सुमुखि के लाज से
लाख सी दी त्वरित लगवा, बंद कर
अधर-विद्रुम-द्वार अपने कोष के।[१]

पंत के कल्पनाविधान में जहाँ प्रकृति के निरीक्षित सौंदर्य का पुट रहता है, वहाँ इनकी कविता में एक विशेष प्रकार का लावण्य मिलता है। इस प्रकार की कल्पना का सुंदर उदाहरण 'वीचिविलास' शीर्षक कविता में मिलता है—

अंगभंगि में व्योम मरोर,
भौंहों में तारों के झौंर,
नचा, नाचती हो भरपूर,
तुम किरणों की बना हिंडोर,

[१] ग्रंथि, पंत, तृतीय संस्करण, पृ० १४।

निज अधरों पर कोमल क्रूर
शशि से दीपित प्रणयकपूर
चाँदी का चुंबन कर चूर।[1]

यहाँ वीचियों पर तारों की छाया का झौंरना, लहरों का किरणों के साथ नाचना और लहरों पर चाँदनी का छिटकना प्राकृतिक सौंदर्य का निरीक्षित या यथार्थ पक्ष है, जिसपर उपर्युक्त पंक्तियों में कल्पना की सहायता से नई मीनाकारी कर दी गई है। इसी तरह की एक कविता 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना' 'वीणा' में संकलित है, जिसकी रचना कवि ने बनारस में रहते समय की थी।

कल्पनाप्रणवता और बारीक सौंदर्यचेतना के कारण पंत की रुचि गत्वर बिंबों की ओर अधिक है। गत्वर बिंबविधान के द्वारा गतियुक्त वस्तुओं, स्थितियों अथवा दृश्यों का अंकन प्रस्तुत किया जाता है। स्थिर वस्तुओं, स्थितियों अथवा दृश्यों के अंकन की अपेक्षा यह कार्य कठिन होता है, क्योंकि इसमें कवि को अप्रस्तुतों की ऐसी योजना करनी पड़ती है कि संकेतों से ही गति के गोचर प्रत्यक्षीकरण का आभास मिल सके। पंत ने गत्वर बिंबविधान के दोनों रूपों—संस्मृत और तात्कालिक का आकर्षक प्रयोग किया है। तात्कालिक गत्वर बिंब-विधान में सद्यःप्रत्यक्ष दृश्य, स्थिति अथवा वस्तुविशेष का गतियुक्त अंकन प्रस्तुत किया जाता है। इसमें देशकालगत सामीप्य के कारण आलंबन के प्रति आश्रय का भावावेग अपेक्षाकृत अधिक तीव्र होता है। पंत की 'ग्रामयुवती' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों को हम ऐसे बिंबविधान के अंतर्गत उदाहृत कर सकते हैं—

सरकाती पट
खिसकाती लट,—
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट !

उपरिनिर्दिष्ट संस्मृत और तात्कालिक गत्वर बिंबों के अलवा पंत ने मूलतः स्थावर दृश्यों अथवा वस्तुओं में भी गति की योजना प्रस्तुत की है। जैसे, इन्होंने अपनी भाषा के प्रसिद्ध 'चित्रराग' का सहारा लेते हुए स्थिर पर्वत का गतिशील चित्र इस प्रकार उपस्थित किया है—

[1] पल्लविनी, पंत, तृतीय संस्करण, पृ० १०१।

उड़ गया अचानक, लो भूधर
फड़का अपार पारद के पर।
रवशेष रह गए हैं निर्झर
है टूट पड़ा भू पर अंबर।[१]

यहाँ 'उड़ने' का क्रियासौष्ठव जोड़कर स्थावर पर्वत को गतिशील बना दिया गया है। इसी तरह पंत की कविताओं में गतिबोधक बिंबों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे, 'नौकाविहार' शीर्षक कविता में इन्होंने नाव की मृदु मंथर गति को चित्रित करते हुए इस कलात्मक गत्वर बिंब को प्रस्तुत किया है—

मृदु मंद मंद, मंथर मंथर, लघु तरणि, हंसिनी सी सुंदर
तिर रही खोल पालों के पर।

किंतु, इनके अधिकांश गत्वर बिंब क्रियासौष्ठव से युक्त हैं, जो सर्वथा स्वाभाविक है; क्योंकि एक विशिष्ट क्रिया अथवा विभिन्न प्रकार की साधारण क्रियाओं के योग से काव्यनिबद्ध वस्तु, दृश्य या स्थिति में गतिशीलता की अवतारणा सहज हो जाती है। अतः इनकी 'प्रथम रश्मि' शीर्षक कविता में विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के योग से ही एक प्रसृत गतिबोधक बिंब को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

निराकार तम मानो सहसा
ज्योतिपुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत्जाल में
धरकर नामरूप नाना;
सिहर उठे पुलकित हो द्रुमदल
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुमअधरों पर
हिल मोती का सा दाना;
खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि,
खिली सुरभि, डोले मधुबाल।[२]

इसी तरह पंत ने 'आँसू' शीर्षक कविता में क्रियासौष्ठव के सहारे बल खाती हुई लहरों का गतिबोधक बिंब प्रस्तुत किया है—

[१] पल्लविनी, पंत, तृतीय संस्करण; पृ० ६६।
[२] वीणा, पंत, १९४२, पृष्ठ ५४।

नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुककर
सरकती है सत्वर।[१]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि पंत की कविताओं में क्रियासौष्ठव और गति (वेग) पर आश्रित अनेक आवर्धक बिंब हैं, किंतु, इनकी रचनाओं में वेग के साथ उद्भेद से संबद्ध बिंब, शायद अपनी परुषता के कारण, कम मिलते हैं। बात यह है कि वेगोद्भेदक बिंबों में गति और ध्वनि (उद्भेद) का विरूप मिश्रण रहा करता है। अतः वेगोद्भेदक बिंबों की रुक्ष प्रकृति कोमलप्राण पंत को अनुकूल नहीं पड़ी है। फिर भी पंत ने 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में तीन वेगोद्भेदक बिंबों की सृष्टि की है, जो इस प्रकार हैं—

क—अहे वासुकि सहस्रफन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर।

ख—अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भूकंपन,
गिर गिर पड़ते भीत पक्षिपोतों से उडुगन,
आलोड़ित अंबुधि फेनोन्नत, कर शत शत फन
मुग्ध भुजंगम सा, इंगित पर करता नर्तन !
दिक्पिंजर में बद्ध गजाधिप सा विनतानन
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन।

ग—बजा लोहे के दंत कठोर
नचाती हिंसा जिह्वा लोल;
भृकुटि के वक्र मरोर
फहुँकता अंध रोष फन खोल।

कोमल और संवेदनशील कविस्वभाव के कारण पंत की रुचि अधिकतर सहसंवेद-

ा हिमाल
वत्रों से और

[१] पल्लव, पंत, १९३१, पृष्ठ २०।

नात्मक मिश्र बिंबों की ओर है। सहसंवेदनात्मक मिश्र बिंब में शारीरिक और मानसिक—अनेक प्रकार के संवेगों, संवेदनों या अनुभूतियों का मिश्रण रहता है। जैसे, पंत ने 'गुंजन' में लिखा है—

दूर, उन खेतों के उस पार,
जहाँ तक गई नील झंकार
छिपा छायावन में सुकुमार।
स्वर्ग की परियों का संसार।

यहाँ नीलिमा के साथ झंकार या झंकार के साथ नीलिमा का संग्रथन इंद्रिय-संक्रांति पर निर्भर रहने के कारण मिश्र बिंब का रोचक उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसी तरह 'एक तारा' शीर्षक कविता में भी मिश्र बिंब का सुष्ठु प्रयोग हुआ है—

गुंजित अलि सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अंधकार
हलका एकाकी व्यथाभार !

यहाँ 'घन अंधकार' चाक्षुष प्रत्यक्ष से संबद्ध है, किंतु, उसके उपमान 'अलि' का विशेषण 'गुंजित' श्रावण प्रत्यक्ष से संबद्ध है। इस प्रकार यहाँ चाक्षुष और श्रावण—दो प्रकार के बोधों का मिश्रण प्रस्तुत किया गया है। पंत ने पल्लवकाल में ही यह अनुभव कर लिया था कि खड़ीबोली को समृद्ध बनाने के लिये उसे रूपबोध, रसबोध और गंधबोध से भरना होगा।[१]

जिस तरह संपूर्ण रवींद्रकाव्य के वैचारिक पक्ष को समझने के लिये ये चार अप्रस्तुत—'खेया घाट,' 'मुक्त वातायन', 'बाँका पथ' (जिगजैग वे) और 'एक तारा'—मूलाधार का काम करते हैं, उसी तरह छायावादी पंत के वैचारिक पक्ष को समझने के लिये ये चार अप्रस्तुत मूलाधार का काम करते हैं— नौकाविहार, एक तारा, चाँदनी और भ्रमर।[२]

१ 'हम खड़ीबोली से अपरिचित हैं, उसमें हमने अपने प्राणों का संगीत अभी नहीं भरा। उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरस नहीं हुए, वे केवल नाममात्र हैं; उनमें हमें रूप-रस-गंध भरना होगा।—पंत, पल्लव, १९३१, पृष्ठ ५८।

२ पंत के परवर्ती काव्यविकास में भी कुछ अप्रस्तुत मूलाधार का काम करते हैं। जैसे—आरोहण, अवरोहण (शक्तिपात), समदिक् संचरण और शिखर हिमालय, सौवर्ण, रजतशिखर इत्यादि। यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'शिखर' ऐसे 'वर्टिकल सिंबल' का कविमन और पाठकों के हृदय पर एक दुहरा समानुभूतिक प्रभाव (इंपैथिक इंप्रेशन) पड़ता है। 'सौवर्ण,'

महादेवी

महादेवी वर्मा (जन्मकाल : २४ मार्च, १९०७ ई०) का जन्मस्थान फर्रुखाबाद है। इनकी प्रारंभिक शिक्षा घर में और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा क्रास्थवेट गर्ल्स कॉलेज, प्रयाग में हुई। इन्होंने १९३३ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० की उपाधि ली। छायावादी चतुष्टय में अन्य किसी कवि ने इतनी उच्च विश्वविद्यालयीय शिक्षा नहीं प्राप्त की थी। परीक्षाफल की दृष्टि से भी महादेवी वर्मा का छात्रजीवन प्रथम कोटि का था—पुरस्कारों और पदकों से भरा हुआ। ये पहले ब्रजभाषा में कविता किया करती थीं। इनके नाना ब्रजभाषा में अच्छी कविताएँ लिख लेते थे। संभवतः इस कारण भी ये प्रारंभ में ब्रजभाषा की समस्यापूर्ति और पदों की रचनाएँ किया करती थीं। इन्होंने खड़ीबोली में जो पहली कविता लिखी, उसका शीर्षक है 'दिया'। 'दिया' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

धूलि के जिन लघु कणों में है न आभा प्राण,
तू हमारी ही तरह उनसे हुआ वपुमान!
आग कर देती जिसे पल में जलाकर क्षार,
है बनी उस तूल से वर्ती नई सुकुमार।
तेल में भी है न आभा का कहीं आभास,
मिल गए सब तब दिया तूने असीम प्रकाश।
धूलि से निर्मित हुआ है यह शरीर ललाम,
और जीवनवर्ति भी प्रभु से मिली अभिराम।
प्रेम का ही तेल भर जो हम बने निःशोक,
तो नया फैले जगत के तिमिर में आलोक।

यह एक अपूर्व संयोग है कि इनकी पहली कविता में वर्णित दिया (दीपक) ही

'हिमालय' या 'हिमाद्रि' के रूप में पंत का यह 'शिखर' प्रतीक बहुत ही प्रभविष्णु बनकर उपस्थित हुआ है। पंत का हिमालय अनुराग 'शिखर' की ही प्रतीकोपासना है। रूस में हिमालय से संबद्ध पंत की कविताओं का एक अलग संग्रह तैयार किया गया है, जिसका नाम है 'सुमित्रानंदन पंत का हिमालय ग्रंथ।' इस पुस्तक को निकोलाई रोएरिक के हिमालय संबंधी चित्रों से और भी नयनाभिराम बना दिया गया है।

इनकी प्रौढ़तम काव्यकृति 'दीपशिखा' का आधारबिंब बन गया। अतः इस 'दिया' शीर्षक कविता को हम 'दीपशिखा' का सुदूर पूर्वाभास कह सकते हैं।

'दिया' शीर्षक कविता की रचना के पहले भी इन्होंने खड़ीबोली में कविता करने का बाल प्रयास किया था। किंतु, खड़ीबोली की एक दो पंक्तियों के बाद उस कविता में फिर ब्रजभाषा आ जाती थी। जैसे, इनकी एक कविता की प्रारंभिक पंक्ति खड़ीबोली में इस प्रकार है—'आओ प्यारे तारे आओ, मेरे आँगन में बिछ जाओ।' किंतु, इसके बाद की शेष पंक्तियाँ ब्रजभाषा की समस्या-पूर्ति शैली में इस प्रकार हैं—

आगम है दिन नायक को, अरुनाई भरी नभ की गलियान में,
सीरी सुमंद बतास बही, मुस्कान नई बगरी कलियान में।
संख धुनी बिरुदावलियाँ अब गुंजित हैं खग औ अलियान में,
वारन के हित कंजकली मुकुताहल जोरि रही अँखियान में।[1]

इसके अतिरिक्त महादेवी अपने बालप्रयास में कभी कभी ब्रजभाषा की किसी अच्छी काव्यपंक्ति को खड़ीबोली में रूपांतरित भी कर देती थीं। जैसे, इन्होंने 'मेघ बिना जलवृष्टि भई है' का खड़ीबोली में रूपांतरण इस प्रकार किया था—

हाथी न अपनी सूँड में यदि नीर भर लाता अहो,
तो किस तरह बादल बिना जलवृष्टि हो सकती कहो ?

इस तरह महादेवी ने प्रारंभ में ब्रजभाषा के पद, कवित्त सवैए की समस्यापूर्ति आदि लिखने के बाद पूर्णतः खड़ीबोली की काव्यरचना में प्रवेश किया। माध्यमिक कक्षाओं में पढ़ते समय इन्होंने सौ छंदों का एक करुण खंडकाव्य भी लिखा था। उस समय इन्होंने 'अबला' और 'विधवा' शीर्षक जैसी कई विवरणात्मक कविताएँ लिखी थीं, जो 'चाँद', 'आर्य महिला' एवं 'महिला जगत' इत्यादि में प्रकाशित हुई थीं। इन कविताओं से ही इस बात की पूर्वझलक मिलती है कि 'पुरुषनिरपेक्ष नारीव्यक्तित्व' को स्थापित करना महादेवी के आगामी जीवनक्रम का एक लक्ष्य था। इन्होंने कालेज जीवन में एक काव्यरूपक की रचना की थी, जिसमें वसंत, फूल, भ्रमर, तितली, वायु इत्यादि को पात्र बनाया गया था। इसी तरह इन्होंने 'भारतीय नारी' नामक एक नाटक भी लिखा था। किंतु, आगे चलकर इन्होंने

[1] द्रष्टव्य : महादेवी संस्मरण ग्रंथ, संपादक, सुमित्रानंदन पंत, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६७, पृ० १३।

इन विधाओं में कोई विशिष्ट रचना नहीं की। इनकी प्रारंभिक रचनाओं को प्रकाश में लाने का सर्वाधिक श्रेय 'चाँद' को है। उस समय श्री रामकृष्ण मुकुंद लघाटे 'चाँद' का संपादन करते थे। 'चाँद' के प्रथम वर्ष में ही महादेवी की कई कविताएँ प्रकाशित हुई थीं, जिनमें कुछ के शीर्षक इस प्रकार हैं—'चंद्रोदय', 'चाँद', भारतमाता', 'धन्यवाद', 'अबला', 'विधवा', 'वसंतोपहार', 'होली' इत्यादि।

महादेवी की मौलिक साहित्यसर्जन के साथ ही संपादनकार्य और रचनात्मक कार्यों में गहरी रुचि है। इन्होंने कई पत्रों—जैसे, 'चाँद', 'महिला' और 'साहित्यकार' का सफल संपादन किया है। इनके रचनात्मक कार्य का एक उज्वल उदाहरण रसूलाबाद, प्रयाग में साहित्यकार संसद् की स्थापना है।

कवयित्री होने के साथ ही महादेवी अच्छी चित्रकर्त्री हैं। इन्होंने चित्रकला में दक्षता का अर्जन आभ्यासिक ढंग से नहीं किया है। ये तो एक प्रातिभ चित्रकर्त्री हैं। इन्होंने चित्रकला की शिक्षा विधिवत् नहीं प्राप्त की है। कहने भर के लिये इन्होंने बचपन में ही सदाशिव राव नाम के एक मराठी सज्जन से चित्रकला की प्रारंभिक शिक्षा पाई। बाद में इनकी चित्रकला पर शंभूनाथ मिश्र, वर्दा उकील और कनु देसाई का आंशिक प्रभाव पड़ा। किंतु, यह प्रभाव भी प्रौढ़िकाल में समाप्त हो गया। कारण, प्रौढ़िकाल में इन्होंने अपनी मौलिकता का विकास किया, जिसका अनन्वय निदर्शन 'यामा' और 'दीपशिखा' के चित्रों में मिलता है। इनका आगामी काव्यसंग्रह भी, जिसका नाम 'प्रभा' है, ऐसे ही स्वरचित मौलिक चित्रों से मंडित है। अबतक आलोचकों ने महादेवी की कलादृष्टि का समुचित विश्लेषण नहीं किया है, जिसके कारण इनकी कविताओं में काव्येतर कलाओं, विशेषकर चित्रकला के आंतरिक समायोजन से निष्पन्न लावण्य का उद्घाटन नहीं हो सका है। बात यह है कि इनकी कविताओं को चित्रकला का पृष्ठिका से रसार्द्रता मिली है। अतः इनकी कविताओं के रसास्वादन के लिये इनकी चित्रकला का सहारा लेना वांछनीय है। इन्हें स्वयं भी इसका बोध है कि इनकी कविताओं की पूरी रमणीयता चित्रात्मक पृष्ठभूमि के बिना अच्छी तरह स्फुरित नहीं हो पाती है। इसलिये इनकी प्रातिभ कलासाधना के वैशिष्ट्य को अच्छी तरह समझने के लिये इनकी चित्रकला पर भी वैसा विस्तृत कार्य होनी चाहिए, जैसा अँगरेजी साहित्य में विलियम ब्लेक पर किया गया है। महादेवा की चित्रकला का सीधा प्रभाव इनकी कविताओं में न्यस्त बिंबविधान पर पड़ा है। अतः कविताओं के मंडनशिल्प के मूल्यांकन की दृष्टि से भी इनकी चित्रकला पर विस्तृत कार्य अपेक्षित है।

साहित्यसृजन के क्षेत्र में कविता के अलावा महादेवी ने प्रथम कोटि का

ललित गद्य लिखा है, किंतु, ऐसा ललित गद्य नहीं, जो अपनी लोच लचक में यथार्थ की लू को जज्ब न कर सके। ऐसा प्रतीत होता है कि समाजसेवा और लोकमंगल की कामना ने आस्था और अमांसल रागतत्व की आराधिका महादेवी को कविव्यक्तित्व से पृथक् एक सामाजिक व्यक्तित्व दिया है, जिसकी आंशिक अभिव्यक्ति इनके गद्य साहित्य में हुई है। कविता के क्षेत्र में इन्होंने अवश्य ही छायावादी वृत्त के अंतर्गत रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व किया है और कोमल कंठ में पिकपंचम बसानेवाली विरहविहंगिनी का पद प्राप्त कर लिया है, किंतु, व्यावहारिक जीवन में ये खुरदरे यथार्थों से लड़नेवाली हैं और दृढ़व्रती हैं।

महादेवी की काव्यकृतियाँ संख्या या परिमाण की दृष्टि से प्रचुर नहीं हैं। प्रकाशित कविताओं के आधार पर इनका प्रमुख रचनाकाल 'नीहार' और 'दीपशिखा' के बीच १९२४ ई० से १९४२ ई० तक फैला हुआ है। १९४२ ई० के बाद इनकी बहुत कम कविताएँ प्रकाश में आई हैं। डा० नगेंद्र ने उचित ही लिखा है कि 'सन् १९५० के बाद महादेवी जी की प्रख्या ने एक प्रकार से उपराम ले लिया।'[१] १९४२ ई० के बाद रचित इनकी कविताओं का एक संकलन 'प्रमा' के नाम से प्रकाशित होनेवाला है। 'नीहार' से लेकर 'दीपशिखा' तक में प्रकाशित इनके गीतों की कुल संख्या लगभग दो सौ छत्तीस है। इतना कम लिखकर इतना अधिक महत्व अर्जित कर लेना इस बात का द्योतक है कि आज के अतिलेखन के युग में भी गुण परिमाण से सर्वथा पराजित नहीं हुआ है।

महादेवी के प्रथम काव्यसंग्रह 'नीहार' का प्रकाशन १९३० ई० में हुआ, जिसमें १९२४ ई० से १९२८ ई० तक की अवधि में रचित इनकी सैंतालीस कविताएँ संगृहीत हैं। इस संग्रह की प्रत्येक कविता सशीर्षक है। शीर्षकों के रहने से कविता का केंद्रीय अर्थ अपेक्षाकृत बोधगम्य हो जाता है। 'नीहार' में संकलित कविताओं के शीर्षक इस प्रकार हैं—विसर्जन, मिलन, अतिथि से, मिटने का खेल, संसार, अधिकार, कौन ?, मेरा राज्य, चाह, सूनापन, संदेह, निर्वाण, समाधि के दीप से, अभिमान, उस पार, मेरी साध, स्वप्न, आना, निश्चय, अनुरोध, तब, मुर्झाया फूल, कहाँ ?, उत्तर, फिर एक बार, उनका प्यार, आँसू, मेरा एकांत, उनसे, मेरा जीवन, सूना संदेश, प्रतीक्षा, विस्मृति, अनंत की ओर, स्मारक, मोल, दीप, वरदान, स्मृति, याद, नीरव भाषण, अनोखी भूल, आँसू की माला, फूल, खोज, जो तुम आ जाते एकबार और परिचय। इन शीर्षकों से 'नीहार' के कथ्य का

१ महादेवी-संस्मरण-ग्रंथ, संपादक, पंत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५८।

स्पष्ट संकेत मिलता है। 'नीहार' की भूमिका हरिऔध जी ने बहुत ही सहृदयता और सहानुभूति के साथ लिखी थी। इस भूमिका के आरंभिक अंश से यह आभास मिलता है कि 'नीहार' के प्रकाशनकाल तक यानी १९३० ई० तक पुरानी पीढ़ी के सहानुभूतिशील कवियों, आलोचकों और विचारकों की दृष्टि में भी छायावाद का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सका था। कुछ लोग छायावाद को हृदयवाद कहते थे, तो कुछ लोग उसे रहस्यवाद का समीपी मानते थे। कहने का आशय यह है कि अपनी प्रथम कृति के साथ महादेवी का अवतरण छायावादी कविता के मध्याह्नकाल में नहीं हुआ, उसके पूर्वाह्न में ही हुआ। अतः आज छायावाद का जो स्वीकृत समादृत स्वरूप है, उसके अभिनियंतन में, त्रयी के बाद उदित होने पर भी, महादेवी का महत्त्वपूर्ण योग है।

'नीहार' की कविताओं में विस्मय और जिज्ञासा की प्रचुरता है, जो छायावादी काव्यचेतना के सर्वथा अनुकूल है। विस्मय और जिज्ञासा के साथ ही 'नीहार' में उस व्यथाकथा या वेदनावादी धारा की भी पूर्वझलक है, जिसे अब अश्रुगीले गीत गानेवाली महादेवी के भावपक्ष की सर्वोपरि विशेषता के रूप में स्वीकार किया जाता है। जैसे, 'नीहार' की 'निश्चय' शीर्षक कविता में कवयित्री ने पीड़ा ऐसी अमूर्त अनुभूति को मूर्तता प्रदान करते हुए लिखा है—

पीड़ा मेरे मानस से
भीगे पट सी लिपटी है।

अतः 'नीहार' 'आधुनिक काव्य में आध्यात्मिक अभियान का प्रथम चरण' हो या न हो, मगर इतनी बात निश्चित है कि उसमें 'कुतूहलमिश्रित वेदना' का वह प्लावन है, जिसने महादेवी के संपूर्ण काव्यसर्जन को आच्छन्न कर रखा है। कवयित्री ने उचित ही लिखा है कि 'नीहार के रचनाकाल में मेरी अनुभूतियों में वैसी ही कुतूहलमिश्रित वेदना उमड़ आती थी, जैसी बालक के मन में दूर दिखाई देनेवाली अप्राप्य सुनहली उषा और स्पर्श से दूर सजल मेघ के प्रथम दर्शन से उत्पन्न हो जाती है।' किंतु, प्रारंभिक रचनाओं का संग्रह होने के कारण 'नीहार' में कविता के कलापक्ष का वह शिल्पित कौशल नहीं मिलता है, जो महादेवी के प्रौढ़ काल की रचनाओं में उपलब्ध है।

महादेवी के दूसरे काव्यसंग्रह 'रश्मि' का प्रकाशन १९३२ ई० में हुआ, जिसमें १९२८–३१ ई० की अवधि में रचे गए पैंतीस गीत संकलित हैं। तीसरी कविता को छोड़कर सभी कविताएँ सशीर्षक हैं। तीसरी कविता के शीर्षक के स्थान पर केवल एक प्रश्नवाचक चिह्न दिया हुआ है। शेष चौंतीस कविताओं के शीर्षक इस प्रकार हैं— रश्मि, सुधि, गीत, दुःख, अतृप्ति, जीवनदीप, कौन है?

जीवन, आह्वान, वे दिन, आशा, मेरा पता, गीत, पहिचान, अलि से उपालंभ, निभृत मिलन, दुविधा, मैं और तू, उनसे, रहस्य, स्मृति, उलझन, प्रश्न, विनिमय, देखो, पपीहे के प्रति, अंत, मृत्यु से, जब, कब, समाधि से, क्यों और कभी। इन शीर्षकों से स्पष्ट है कि इस संग्रह का कथ्य छायावादी भावबोध और विषयवस्तु के सर्वथा उपयुक्त है। काव्यविकास की दृष्टि से 'रश्मि' में प्रौढ़ि की किरणें फूटती दीख पड़ती हैं। इसमें प्रथम बार कवयित्री के जीवनदर्शन की दुःखवादी भूमिका पूर्णतः उभरकर सामने आई है। इसलिये इसमें काव्यकला के निखार के साथ प्रौढ़ दार्शनिकता मिलती है। इसके दर्शनपक्ष पर बौद्ध दर्शन का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है, जिसकी ओर कवयित्री ने भूमिका में निर्देश किया है और बुद्ध के प्रति अपने 'भक्तिमय अनुराग' को स्वीकार किया है। इस संग्रह की दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूतिप्रधान कविताओं में 'दुःख', 'रहस्य' और 'विनिमय' शीर्षक कविताएँ उल्लेखनीय हैं।

महादेवी की तीसरी काव्यकृति 'नीरजा' है, जिसका प्रकाशन १६३५ ई० में हुआ। इसमें कुल अट्ठावन गीत हैं, जो १६२१ ई० से १९३३ ई० की अवधि में लिखे गए हैं। 'नीरजा' पर महादेवी को पाँच सौ रुपए का सेक्सरिया पुरस्कार मिला था। इस संग्रह की पहली कविता से ही कवयित्री की आध्यात्मिक भावदशा और अश्रुसिक्त उपासनाभाव का परिचय मिल जाता है। 'नीरजा' में प्रतीकवत् वर्णित नीरज की सात्विक विशेषताओं का संकेत करते हुए कवयित्री ने लिखा है—

इसमें उपजा यह नीरज सित,
कोमल कोमल लज्जित मीलित,
सौरभ सी लेकर मधुर पीर!
इसमें न पंक का चिह्न शेष,
इसमें न ठहरता सलिललेश,
इसको न जगाती मधुपभीर!

इस संग्रह की एक ध्यातव्य विशेषता यह है कि इसकी सभी कविताएँ शीर्षकहीन हैं। शीर्षकहीन रहने से इन कविताओं में छायावादी अस्पष्टता का रंग गहरा हो गया है तथा इनकी केंद्रीय सार्थकता पाठकों को पकड़ में आने की दृष्टि से और भी पिच्छिल हो गई है। किंतु, 'नीरजा' के गीतों में पहले की अपेक्षा आंगिक संगठन से युक्त सुदृढ़ स्थापत्य मिलता है। अभिनियंतित स्थापत्य के कारण इन गीतों की वर्णनाभंगी, शीर्षकहीन रहने पर भी, मर्मस्पर्शी और नुकीली है। दूसरी बात यह है कि 'नीरजा' के कलागीतों में लोकगीत की लय का संस्कार सुरक्षित है। महादेवी लोकगीतों को कलागीतों का अग्रज कहकर लोकगीतों को

प्रभूत प्रतिष्ठा देती रही हैं। अतः इनके गीतों में लोकगीतों की लय का प्रभाव आकस्मिक नहीं है। लोकगीत की लय में तरंगित इनका एक प्रसिद्ध गीत इस प्रकार है—

मुखर पिक हौले हौले बोल !
हठीले हौले होले बोल।
जाग लुटा देंगी मधु कलियाँ मधुप कहेंगे और
चौंक गिरेंगे पीले पल्लव अंब चलेंगे बौर
समीरण मत्त उठेगा डोल
हठीले हौले हौले बोल ![१]

कुल मिलाकर 'नीरजा' अनुभूति की समृद्धि और अभिव्यक्ति की कलात्मकता— दोनों ही दृष्टियों से मनोरम है। अतः 'नीरजा' महादेवी की काव्यसाधना ही नहीं, संपूर्ण हिंदी गीतिकाव्य के प्रकर्ष का अन्यतम निदर्शन है। इस संग्रह में कई ऐसी महत्वपूर्ण कविताएँ हैं, जिनके बिना महादेवी के काव्य का उचित विश्लेषण मूल्यांकन संभव नहीं है। उदाहरण के लिये 'विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात', 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ' तथा 'मधुर मधुर मेरे दीपक जल !' ऐसी ही महत्वपूर्ण कविताएँ हैं।

महादेवी का चौथा काव्यसंग्रह 'सांध्यगीत' १९३६ ई० में प्रकाशित हुआ, जिसमें १९३४-३६ ई० की अवधि में रचे गए पैंतालीस गीत संगृहीत हैं। इस संग्रह की भूमिका (अपनी बात) महादेवी के काव्यसिद्धांत और कलाचेतना के विकास को समझने की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। कवयित्री ने इसमें पहली बार अपने गीतिसिद्धांत, प्रकृतिबोध और चित्रकला संबंधी स्थापनाओं को इतने विशिष्ट, प्रखर तथा युक्तियुक्त ढंग से प्रतिपादित किया है। इस संग्रह की कविताओं में अनुभूति की तन्मयता और भी अटूट हो गई है। आगे चलकर कवयित्री ने 'संधिनी' की भूमिका में अनुभूति, स्वानुभूति और काव्यानुभूति की विवेचना करते हुए लिखा है, "जीवन अनुभूतियों की संसृति है। मानव का अपने परिवेश से संपर्क किसी न किसी सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति को जन्म देता है और इन संवेदनों पर बुद्धि की क्रिया प्रतिक्रिया मूल्यात्मक चिंतन के संस्कार बनाती चलती है। विकास की दृष्टि से संवेदन चिंतन के अग्रज रहे हैं, क्योंकि बुद्धि की क्रियाशीलता से पहले ही मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति सक्रिय हो

[१] नीरजा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २९।

जाती है।'[1] कवयित्री की यह मान्यता 'सांध्यगीत' के संदर्भ में भी शत-प्रति-शत सही है। सचमुच, 'सांध्यगीत' 'जीवनानुभूतियों की संसृति' है और रागात्मिका वृत्ति की घनीभूत सक्रियता का दीतिमान उदाहरण भी। इसमें कल्पना की विधायिका वृत्ति के सहारे 'मानसी संयोजन' के द्वारा संवेदनों का कलात्मक संप्रेषण किया गया है। इस संप्रेषण में भोर की हलकी कुहेलिका सी झीनी रहस्यात्मकता भी है। महादेवी तो 'सांध्यगीत' या अपनी अन्य कविताओं को ही नहीं, संपूर्ण काव्यसर्जन को 'रहस्यमय' मानती हैं। इनका कहना है कि 'मानव के जितने सर्जन हैं, कविता उनमें सबसे अधिक रहस्यमय सर्जन है, जिसमें उसके अंतःकरण का संगठन करनेवाले सभी अवयव मन, चित्त, बुद्धि और अलंकार एक साथ सामंजस्यपूर्ण स्थिति में कार्य करते हैं।'[2]

छंद और लय की एकान्विति से युक्त 'सांध्यगीत' के गीतों में दीपक और बादल आधारबिंब की तरह प्रयुक्त हुए हैं। महादेवी के लिये दीपक एक ओर असंग साधना की अकंप लौ का प्रतीक है और दूसरी ओर लोकमंगल की भावना का भी। स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश देनेवाला दीपक आत्मोत्सर्ग और लोक-मंगल की भावना का सर्वोत्तम प्रतीक है। दीपक ने कवयित्री को शैशवकाल से ही आकर्षित और प्रभावित किया है। यह तथ्य इससे भी प्रमाणित होता है कि काव्यसर्जन के तुतले उपक्रम में रचित इनकी खड़ीबोली की पहली पूर्ण रचना दीपक पर ही है। पूर्व पृष्ठों में इस 'दिया' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ उद्धृत की जा चुकी हैं। दूसरी बात यह है कि सांध्यगीत में पहले की कृतियों की अपेक्षा प्रकृतिचित्रण को अधिक स्थान मिला है। विशेषकर संध्या के वर्णन में ऐसे अनेक प्रकृतिचित्र योजित हुए हैं, जिनमें मादक रहस्यसंकेत भरे पड़े हैं। तीसरी बात यह है कि 'सांध्यगीत' के बिंबविधान में चित्रात्मकता अधिक है। अतः वर्णपरिज्ञान या रंगयोजना की दृष्टि से 'सांध्यगीत' के बिंबों में रंगामेजी और चटक की प्रचुरता है। कवयित्री द्वारा अंकित 'संध्या', 'वर्षा', 'अरुण', 'निशीथिनी' तथा 'मृदु महान्' शीर्षक चित्रों के समावेश ने इस संग्रह की कलात्मक गरिमा को और भी समृद्ध कर दिया है।

महादेवी की पाँचवीं काव्यकृति 'यामा' है, जो इनकी इतःपूर्व संग्रहरूप में प्रकाशित कविताओं का बृहत् संकलनग्रंथ है। अर्थात् 'यामा' में, जो १९४० ई० में प्रकाशित हुई, 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सांध्यगीत' नामक चार काव्य-

[1] संधिनी, महादेवी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६५, पृ० ११।
[2] उपरिवत्, पृ० ७।

संग्रहों की सभी कविताएँ संकलित हैं। इस प्रकार 'यामा' में संगृहीत कुल गीतों की संख्या एक सौ पचासी है, जो १९२४ ई० से १९३९ ई० के बीच लिखे गए हैं। अतः 'यामा' कवयित्री की बारह वर्षों की काव्यसाधना का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। 'यामा' पर ही कवयित्री को बारह सौ रुपए का मंगलाप्रसाद पारितोषक मिला था। 'यामा' की सबसे बड़ी विशेषता, कलाचेतना की दृष्टि से, यह है कि इसमें कवयित्री के कई स्वरचित चित्र संकलित हैं। 'यामा' के कुल चित्रों की संख्या नौ है, जिनका विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—१. तूफान (उद्वेलित नीलाभ सागर, मेघमेदुर अंबर, झंझा तरी, पतवार और नाविक), २. अरुणा (आलोकवसना मुक्तकेशी उषासुंदरी, बालारुण, दिव के अधोभाग में तिमिर का पलायन और छिटपुट हतप्रभ नक्षत्र), ३. यात्रा का अंत (शिथिलचरण पलितवय पथिक, गठरी, लाठी, सुदूरविस्तृत पथरेखा, गंतव्य द्वार, अभिनंदनतत्पर विराट् की मानुष आकृति और ज्योतिर्मय दीपक), ४. निशीथिनी (नीलाभ गगन, निर्बंधकुंतला रजनी, तारों के गजरे, अर्धचंद्रमा, उजले काले बादल, अलिगुंजित अर्थात् रात्रि के कारण संपुटित कमलकोश और मलयानिल का वसन), ५. दीपक (दीपाधार, दीपकली, तिमिर की पृष्ठभूमि और ज्योति, दीपदान करनेवाली पीतवर्णा सुकेशिनी आराधिका तथा प्रसाधनपुष्प), ६. वर्षा (वर्षासुंदरी, सद्यःस्नाता नारीवेश, तरलायित अंचल, कजरारे बादल, आलोक तिमिर की रंगामेजी, धूमायित धूपदान, श्याम गगन और विरल बकपंक्ति), ७. संध्या (नारीवेश, धुँधला और अरुण सांध्यगगन, श्यामल तिमिर में घुलता सा आलोकवलय, छिटपुट तारे, पिंग अरुण और असित श्वेत बादल तथा किरणों का शरनिकर), ८. मिलन (नरनारी, अंजलिपुष्प, आकाश, बादल, विहगयुग्म और तारे) तथा ९. मृदु महान् (नील गगन में उठे हुए तुषारधवल गिरिशृंग, उन्मुक्त दिशा, विचारमग्न आराधिका, मृणालविश्व और लघु विराट् का छायामेल)। इन चित्रों में प्रायः सभी चित्र रम्य एवं दृश्य प्रकृति से संबंधित हैं। इनमें भी 'तूफान', 'अरुणा', 'निशीथिनी', 'वर्षा', 'संध्या' और 'मिलन' शीर्षक चित्र उपकरण, चित्रण तथा विवक्षा की दृष्टि से खाँटी प्रकृतिचित्र हैं। इन चित्रों से यह सिद्ध होता है कि प्रकृति महादेवी के लिये अध्ययनलब्ध अथवा अवकाश के क्षणों का बौद्धिक विलास नहीं, बल्कि एक 'निरीक्षित यथार्थ' है, जिसके साथ इनका अव्यवहित, प्रत्यक्ष और सद्यः संबंध है। इतना ही नहीं, वे अपने प्रकृतिचित्रणों के प्रति इस मात्रा में सावचत हैं कि इन्हें अपने काव्य और चित्र में अंकित प्रकृति की भेदक विशिष्टता का अभिज्ञान है। इनके काव्य के अंतर्गत चित्रित प्रकृति में आंतरिक एकाग्रता प्रधान है और इनके चित्रों में प्रकृति का बाह्य वातावरण। इन्होंने अपने काव्य और चित्र में अंकित प्रकृति के अंतर को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है, 'प्रकृति का शांत रूप जैसे मेरे हृदय को एक

चंचल लय से भर देता है, उसका रौद्र रूप वैसे ही आत्मा को अशांत स्थिरता देता है। अस्थिर रौद्रता की प्रतिक्रिया ही संभवतः मेरी एकाग्रता का कारण रहती है। मेरे अंतर्मुखी गीतों में तो यह एकाग्रता भी व्यक्त हो सकती है, परंतु चित्र में उनका बाह्य वातावरण भी चित्रित हो सका है। मेरे निकट आँधी, तूफान, बादल, समुद्र आदि कुछ ऐसे विषय हैं, जिनपर चित्र बनाना अनायास और बना लेने पर आनंद स्थायी होता है।'[1] इसी कारण महादेवी के चित्रों में कहीं कहीं वॉन गौ के प्रकृतिचित्रों का उदात्त एवं भास्वर रूप मिलता है। इस निकट, किंतु, महार्घसाम्य को हम महादेवी के 'मृदु महान्' एवं वॉन गौ के 'द साइप्रसेस' शीर्षक चित्रों में देख सकते हैं।

महादेवी की छठी काव्यकृति 'दीपशिखा' है, जिसका प्रकाशन १९४२ ई० में हुआ। इसमें इक्यावन गीत संगृहीत हैं, जो १९३६ ई० से १९४२ ई० के बीच रचे गए हैं। इस संग्रह की यह एक ध्यातव्य विशेषता है कि इसकी प्रत्यक कविता की पृष्ठभूमि में कवयित्री ने स्वरचित तद्भावव्यंजक चित्र दे दिया है। अतः इस संग्रह में शब्दों और रंगरेखाओं का अद्भुत सामंजस्य मिलता है। सचमुच, चित्रपृष्ठिका के कारण एक ओर कविता नयनाभिराम बन गई है और दूसरी ओर उसकी अर्थव्यंजना में सहज प्रसादन आ गया है। 'यामा' की तुलना में 'दीपशिखा' के चित्रों की यह एक विशेषता है कि इनपर मूर्तिकला का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। महादेवी ने अपने चित्रों पर मूर्तिकला के प्रभाव को स्वीकार करते हुए लिखा है, 'कुछ अजंता के चित्रों पर विशेष अनुराग के कारण और कुछ मूर्तिकला के आकर्षण से चित्रों में यत्र तत्र मूर्ति की छाया आ गई है। यह गुण है या दोष, यह तो मैं नहीं बता सकती पर चित्र-मूर्ति-संमिश्रण ने मेरे गीत को भार से नहीं दबा डाला है, ऐसा मेरा विश्वास है।' मूर्तिकला का यह प्रभाव 'दीपशिखा' के चित्रों में विशेषकर मिलता है। इस दृष्टि से 'दीपशिखा' के इन गीतों की पृष्ठभूमि में अंकित चित्र विशेष ध्यातव्य हैं— 'ओ चिर नीरव! मैं सरित विकल', 'सब बुझे दीपक जला लूँ', 'हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चंदन', 'तरल मोती से नयन भरे', 'जब यह दीप थके तब आना', 'तू धूल भरा ही आया', 'जो न प्रिय पहचान पातीं', 'झिप चलीं पलकें तुम्हारी पर कथा है शेष', 'अलि, कहाँ संदेश भेजूँ', 'कोई यह आँसू आज माँग ले जाता', 'निमिष से मेरे विरह के कल्प बीते', 'सब आँखों के आँसू उजले सबके सपनों में सत्य पला', 'गूँजती क्यों प्राणवंशी', 'लघु हृदय तुम्हारा अमर छंद'

[1] दीपशिखा, महादेवी, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६२।

और 'पुजारी ! दीप कहीं सोता है।' इन चित्रों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी के चित्रों पर अजंता की चित्रकला का प्रकट प्रभाव है। उक्त चित्रों में भौंह, आँख तथा नाखून के प्रलंब रूप अजंता के प्रभाव की घोषणा करते हैं। दूसरी बात यह है कि इन चित्रों की कलापद्धति पूर्णतः भारतीय है। आधुनिक अथवा समकालीन प्रभावों की दृष्टि से, अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि महादेवी के चित्रों पर ई० वी० हैवेल, अवनींद्रनाथ ठाकुर और लेडी हेरिंघम के विचारों तथा कृतियों का प्रकारांतर प्रभाव है। इसलिये इनके चित्रों में यूनानी और रोमी माडलों की अनुकृति का पूर्ण बहिष्कार मिलता है।

'दीपशिखा' की कविताओं में रागात्मक अनुभूति, आराधना और साधना—तीनों का सुंदर सामंजस्य है। इसमें संगृहीत कविताएँ कवयित्री की इस मूल मान्यता को चरितार्थ करती हैं कि 'सत्य काव्य का साध्य और सौंदर्य साधन है।'[१] इसमें विराट् कल्पना से आयोजित उदात्त बिंबों का अनेकत्र विधान हुआ है, जैसे—

परिधिहीन रंगों भरा व्योममंदिर,
चरणपीठ भू का व्यथासिक्त मृदु उर,
ध्वनित सिंधु में है रजतशंख का स्वन।[२]

अथवा

चितवन तनश्याम रंग,
इंद्रधनुष भृकुटिभंग,
विद्युत का अंगराग,
दीपित मृदु अंग अंग
उड़ता नभ में अछोर तेरा नव नील चीर !
अविरत गायक विहंग
लासनिरत किरण संग,
पग पग पर उठते बज,
चापों में जलतरंग।[३]

'दीपशिखा' के उपरांत अर्थात् १९४२ ई० के बाद महादेवी का कोई नया काव्यसंकलन प्रकाश में नहीं आया है। १९४२ ई० के बाद की इनकी

१ दीपशिखा, भूमिका (चिंतन के कुछ क्षण), चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १।
२ दीपशिखा, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ७८।
३ दीपशिखा, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १०२।

कविताओं का सचित्र संकलन 'प्रभा' के नाम से प्रकाशित होनेवाला है। इनके उनचालीस काव्यानुवादों का एक संकलन १९६० ई० में प्रकाशित हुआ है, जिसका नाम 'सप्तपर्णा' है। उपरिनिवेदित मौलिक काव्यसंग्रहों के अतिरिक्त इनकी स्वसंपादित दो चयनिकाएँ भी विस्तृत भूमिकाओं के साथ प्रकाशित हुई हैं। पहली चयनिका 'आधुनिक कवि' के नाम से १९४० ई० में प्रकाशित हुई, जिसमें कवयित्री की एक सौ चार कविताएँ संकलित हैं। दूसरी चयनिका 'संधिनी' के नाम से १९६५ ई० में प्रकाशित हुई है, जिसके अंतर्गत कवयित्री के पैंसठ गीत संकलित हैं। १९६७ ई० में गंगाप्रसाद पांडेय ने 'महादेवी के श्रेष्ठ गीत' शीर्षक एक संकलन भी संपादित किया है, जिसमें सड़सठ गीत संकलित हैं। किंतु, इस संकलन में कोई उल्लेखनीय नवीनता नहीं मिलती है।

भावपक्ष की दृष्टि से महादेवी की काव्यसाधना का प्रकर्ष उन्हीं कविताओं में मिलता है, जिनमें वेदना, करुणा या दुःखवाद को अभिव्यक्ति मिली है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाकरुणा की देशना के प्रभाव ने महादेवी को करुणा का अभिनव वाहक बना दिया और दुःखवादी धारणाओं ने इन्हें 'नीरभरी दुख की बदली' का रूप दे दिया। इनके दुःखवाद की यह एक ध्यातव्य विशेषता है कि उसमें एक ओर प्राचीन काल से आती हुई भारतीय नारियों की वह दुःखप्रियता समाहित है, जिसका संकेत महाभारत में द्रौपदी की इस उक्ति से मिलता है—'सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि'; दूसरी ओर उसमें बौद्ध दर्शन के 'आर्य सत्य' की झलक मिलती है और तीसरी ओर उसमें वर्तमान युग की वह व्यथाकथा मिलती है, जिसने रावींद्रिक वेदनावाद को छायावाद से कुछ वर्ष पहले जन्म दे दिया था। यह वर्तमान युगधारा का ही कमाल है, जिसने रवींद्र के काव्य में व्यक्ति की वेदना को समग्र सृष्टि में व्याप्त कर दिया—

जागे बूके सूखे दूखे कत जे व्यथा।
केमने बूझाये कब ना जानि कथा।
आमार वेदना आजि
त्रिभूवने ऊठे बाजि,
काँपे नदी वनराजि वेदना भरे॥

महादेवी ने भी अपने जीवन की व्यष्टिगत वेदना में आज के युग की समष्टिगत वेदना को मूर्तिमान् करने की चेष्टा की है। इनके काव्य में जो अंतश्चेतना की पीड़ा (साइकिक पेन) अथवा वेदना मिलती है, उसपर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। मुख्य बात यह है कि वेदना ही इनके काव्य की भावसीमा है। वेदनानुभूति की तीव्रता ने ही इनकी कविताओं में उस आध्यात्मिक

रंजना की प्रचुरता भर दी है, जिसमें रोमांटिक अवसाद (रोमांटिक मेलांकली) और रहस्यवादी पीड़ा (मिस्टिक पेन) विद्यमान हैं। कवयित्री की घनीभूत वेदना का आसन्न कारण विरह—अविरल विरह है। मानो, विरह ही इनका आराध्य है और ये स्वयं उस विरह की आकुलता हैं। इसलिये इनकी वेदनानुभूति बेकली से भरी हुई है—

आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा।
विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा ?

इनकी वेदना मात्र अनुभूति ही नहीं, 'अनुभूतियों की रमणीय कल्पना' भी है। इसलिये इनकी वेदनानुभूति में कल्पना का वह माधुर्य है, जिसमें नारी भावनाओं का हृदयलावण्य भरा रहता है। जैसे—

कौन आया था न जाने
स्वप्न में मुझको जगाने
याद में उन अँगुलियों के
हैं मुझे पर युग बिताने !

महादेवी के काव्य में उपरिविवेचित वेदना की परिणति करुणा के रूप में हुई है। करुणा ही इनकी वेदना का चरम रूप है और इनके दुःखवाद का मेरुदंड भी। इनके काव्य में करुणा की प्रधानता के कई कारण हैं। पहला कारण छायावादी कविता की सामान्य बेदनावादी धारा है। वेदनावाद के दो प्रमुख पक्ष हैं—दुःख और आँसू। दुःख वेदना का अनुभूतिपक्ष है और आँसू उसका ऊहात्मक परिणाम। यों, आँसू भी अंतर्दशाव्यंजक होने पर अनुभूतिप्रवण हो सकता है। महादेवी की कविताओं में अश्रु की प्रचुरता है। सर्वदा जलपरी सी दो पुरनम आँखें और सर्वत्र अश्रुगीले गीत ! अतः इन आँसुओं ने ही महादेवी को छायावादी वेदना की सम्राज्ञी का पद दिया है।

महादेवी के काव्य में करुणा की प्रधानता का दूसरा कारण करुणा का परंपरास्वीकृत महत्व और करुण रस की सुखात्मकता है। करुणरस की सुखात्मकता दुःखांत नाटकों के प्रचलन, उसके काव्यशास्त्रीय महत्व और रेचनसिद्धांत से ही प्रमाणित है। अतः प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य में करुणा का परंपरास्वीकृत महत्व है। कवयित्री के मंतव्यों से ही यह सिद्ध होता है कि इनकी करुणा पर पाश्चात्य साहित्य का कोई प्रभाव नहीं है और न इनकी करुणा का संबंध उस पराजय अथवा निराशावाद से है, जिनसे दावानल की द्रुतगति से भारत और भारत के बाहर भी बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में एक लंबे क्षितिज को

घेरकर कुहरम्लान कर दिया था। इस प्रकार महादेवी की करुणा पर छायावाद की सामान्य वेदनावादी धारा के अतिरिक्त भारतीय साहित्य की परंपरास्वीकृत करुणा का प्रभाव है। भारतीय साहित्य की इस परंपरास्वीकृत करुणा के अंतर्गत ही बौद्धदर्शन की करुणा और दुःखवाद का रेखांकित महत्व है। बौद्धदर्शन के कर्मपक्ष का मूल और बोधिप्राप्ति की उत्तरदशा करुणा है। यह बोधिचित्त का अनिवार्य गुण है। बोधिसत्व की प्राप्ति के बाद बुद्धहृदय में करुणा का संचार होता है। इस प्रकार बौद्धदर्शन करुणा को एक प्रकार का शीलविकास मानता है। महादेवी को बौद्धदर्शन की इस करुणा ने बहुत आकृष्ट किया है। कवयित्री ने 'यामा' के 'सांध्यगीत' वाले खंड में जो 'मृदु महान्' शीर्षक चित्र बनाया है, उसमें मृणालविश और हस्तमुद्रा से करुणा की देशना को ही संकेतित किया गया है। इस चित्र की पीठ पर ये पंक्तियाँ अंकित हैं—

मेरे जीवन का आज मूक
तेरी छाया से हो मिलाप,
तन तेरी साधकता छू ले
मन ले करुणा की थाह नाप।

इसी प्रकार कवयित्री ने 'दीपशिखा' की चित्रमय कविता में अपने को करुणा का वाहक घोषित किया है—

मैं गतिविह्वल
पाथेय रहे तेरा दृगजल
आवास मिले भू का अंचल
मैं करुणा की वाहक अभिनव !

करुणा की तरह महादेवी का दुःखवाद भी बौद्ध दर्शन के दुःखवाद से प्रभावित है। यह दुःखवाद बुद्ध के धर्मचक्रप्रवर्तन का मूलाधार है। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि महादेवी बौद्धदर्शन के दुःखवाद से अंशतः (पूर्णतः नहीं) प्रभावित हैं। कारण, महादेवी की रचनाओं में बौद्ध दुःखवाद के अनात्मवाद का कोई प्रभाव नहीं मिलता है, क्योंकि इन्हें आत्मवाद प्रिय है। दूसरी बात यह है कि इस दुःखवाद के निर्वाणसिद्धांत से इन्होंने कोई सीधा प्रभाव नहीं ग्रहण किया है।

महादेवी की रचनाओं में बौद्धदर्शन के दुःखवाद का उपरिनिर्दिष्ट आंशिक प्रभाव विविध रूपों में व्यक्त हुआ है। इस दुःखपूर्ण जगत् एवं जीवन की क्षणिकता ने कवयित्री के संवेदनशील हृदय को अनंत वेदना और करुणा से परिप्लावित कर दिया है। किंतु, संवेदनशीलता की अधिकता के कारण ये दुःख के प्रति ध्रुव दृष्टि अर्जित नहीं कर सकी हैं। दुःख इनके समक्ष कभी आराध्य के

समागम का सुंदर साधन बनकर आता है और कभी दुःख ही इनका आराध्य बन जाता है। कहीं कहीं इन्होंने सुख दुःख को एक ही आगम सत्य के दो पहलुओं के रूप में स्वीकार किया है। अतः दुःख इनके लिये प्रिय बन जाता है और उस दुःख का एकांत पथ इन्हें आनंदप्रद प्रतीत होने लगता है, जैसे—

पंथ होने दो अपरिचित, प्राण रहने दो अकेला।

....

दुखव्रती निर्माण उन्मद
वह अमरता नापते पद
बाँध देंगे अंकसंसृति से तिमिर में स्वर्ण बेला।

इस प्रकार कवयित्री में दुःख के प्रति इतनी आसक्ति बढ़ जाती है कि ये आराध्य को ही दुःख का प्रतिरूप मान लेती हैं—

तुम दुख बन इस पथ से आना।
शूलों में नित मृदु पाटल सा
खिलने देना मेरा जीवन;
क्या हार बनेगा वह जिसने
सीखा न हृदय को बिंधवाना।

दुःखवाद से संबंधित महादेवी की कविताओं में 'नीरभरी दुख की बदली' अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसकी अंतिम पंक्तियाँ और भी मार्मिक हैं—

विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना, इतिहास यही
उमड़ी कल थी, मिट आज चली!

विस्तृत नभ के किसी कोने को अपना बना लेना मोह या आसक्ति है। बौद्ध दर्शन ने जीवन के समग्र दुःखों का कारण इस आसक्ति को ही माना है। आसक्ति बलिष्ठ होकर ऐसी एषणा बन जाती है, जो इस जीवन के बाद भी फलीभूत होना चाहती है। फलस्वरूप, जीव को उसकी पूर्ति के लिये विभिन्न योनियों में भटकना पड़ता है।

महादेवी के दुःखवाद की दूसरी विशेषता यह है कि इन्होंने दुःख को आनंद की तरह स्थायी या सत् सदृश मान लिया है; जब कि बौद्ध दर्शन दुःख को एक प्रकार की ऐसी कर्मजन्य विकृति मानता है, जिसका निरोध या शमन संभव है। किंतु, महादेवी के अनुसार, संपूर्ण मानवजाति का दुःख या 'मूलगत विषाद'

एक ही है, साथ साथ अनंत और अक्षय भी। इस तरह महादेवी दुःख अथवा विषाद को भी आनंद की तरह चिरस्थायी मानती हैं। अतः आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का यह आक्षेप उचित है कि 'महादेवी ने सुख और दुःख के स्वरूप को अस्पष्ट ही रख छोड़ा है। उन्होंने दुःख के आध्यात्मिक स्वरूप और सुख के भौतिक स्वरूप को सामने रखकर विचार किया है। किंतु, इसके विपरीत सुख का एक आध्यात्मिक और दुःख का एक मौलिक स्वरूप भी है, जिसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गई।'

महादेवी के काव्य में प्राप्त प्रचुर दुःखानुरक्ति पर अंतश्चेतना की पीड़ा की दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। कारण, महादेवी की कविताओं में स्वप्न-संयोग की अधिकता है। 'अश्रु मेरे माँगने जब नींद में वह पास आया' जैसे अनेक स्वप्नसंयोग के चित्र महादेवी की कविताओं में मिलते हैं। स्वप्नसंयोग की अधिकता से कई आलोचकों की यह स्थापना समर्थित होती है कि महादेवी के काव्य में मूलतः कुंठित और दमित वासनाओं की उन्मेषपूर्ण अभिव्यक्ति है। निष्कर्ष जैसा भी निकाला जाय, यह निर्विवाद है कि महादेवी की कविताओं में सपनों की प्रचुरता है। जब कभी इनका 'प्रिय' मनुहार से द्रवित होता है, वह सपनों में आ जाता है —

> बिछाती थी सपनों के जाल
> तुम्हारी वह करुणा की कोर।

अतः 'नीहार' से 'दीपशिखा' तक स्वप्नमिलन या स्वप्नसंकेत की भरमार मिलती है। केवल 'रश्मि' कुछ अंशों में इसका अपवाद है। स्वप्नसंकेतों की भरमार के कारण मनोविश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महादेवी ने प्राक्चेतन को अचेतन की अपेक्षा बहुत अधिक बलवान बना लिया है। इसलिये इनमें दमित वासना की कुंठाएँ अधिक हैं। प्राक्चेतन के सबल अधीक्षण के कारण इनके सपने भी छद्मवेशी बन गए हैं। वे आध्यात्मिक संकेतों का कनटोप पहनकर उपस्थित होते हैं। फ्रायड का कहना है कि प्राक्चेतन के भय से वासनाएँ केवल दमित ही नहीं होतीं, बल्कि वे रचनाएँ जब स्वप्न में उद्रिक्त होती हैं, तब भी उन्हें प्राक्चेतन के अधीक्षण का भय बना रहता है। इसलिये वे वासनाएँ सपनों में भी शीघ्र पकड़ में नहीं आतीं। वे तो अचेतन से निकलते समय अधीक्षण के भय से छद्मवेश धारण कर लेती हैं। यही कारण है कि सपनों की व्याख्या सरल नहीं होती। अतः महादेवी के सपने भी खुली पुस्तक के पन्ने नहीं हैं। फलस्वरूप, महादेवी की कृतियों का अध्ययन और आस्वादन करते समय यह महसूस होता है कि इनकी कविताओं पर उस मनोवैज्ञानिक अध्ययन की गुंजाइश

है, जिसे आधार मानकर डब्ल्यू० पी० विटकट ने ब्लेक का अथवा एलाफ्री मान शार्पे ने शेक्सपीयर की कुछ कृतियों—'किंग लीयर', 'टेंपेस्ट' और 'हैम्लेट' का विवेचन प्रस्तुत किया है। कम से कम, महादेवी के काव्यनिबद्ध सपनों का इस दृष्टि से बहुत ही रोचक अध्ययन किया जा सकता है, क्योंकि महादेवी के सपने एक प्रकार के पिहित प्रतीक हैं, जो विचारबोधक हैं, कृत्रिम स्वप्नचारिता के वाहक नहीं। इनके काव्यनिषिद्ध सपने प्रायः 'स्वप्नसंयोग' हैं, जिनमें भावनिवेदन का एक विशेष सौष्ठव है। जब काव्य का आलंबन अलौकिक या लोकोत्तर होता है अथवा लौकिक होकर भी एकाधिक कारणों से छद्मावरण में गोप्य रहता है, तब स्वप्नसंयोग ही कवि, भावक या भक्त को संयोगसुख दिया करता है। इसीलिये भारतीय भक्ति-रस-शास्त्र में भी स्वप्नसंयोग की बहुत चर्चा मिलती है, हालाँकि भारतीय भक्तिशास्त्र में स्वप्नसंयोग को गौण संभोग के अंतर्गत स्वीकार किया गया है। श्रीमद् रूप गोस्वामी ने इस स्वप्नसंयोग के मात्राभेद और स्थिति-भेद से चार प्रकार माने हैं—संक्षिप्त स्वप्नसंयोग, संकीर्ण स्वप्नसंयोग, संपन्न स्वप्नसंयोग और समृद्धिमान स्वप्नसंयोग। 'उज्ज्वलनीलमणि' में स्वप्नसंयोग की विस्तृत व्याख्या मिलती है। आशय यह है कि महादेवी के काव्यनिबद्ध सपनों पर कई दृष्टियों से अच्छा विचार किया जा सकता है।

सामान्यतः महादेवी का काव्य उपकरणों की दृष्टि से वैविध्यहीन माना जाता है। भावभूमि की एकरसता के कारण इनके विनियोजित उपकरण मिलते जुलते से हैं। साधारण पाठक सीमित उपकरणों की इस पुनरावृत्ति और उनके विनियोग की एकरस योजना से, शायद, झुँझला सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' की पृष्ठभूमि एकदम एकरस तथा धारांकित है। 'सांध्यगीत' में संध्या तथा दीपशिखा में रात्रि के ही कुछ आयामों को अंकित किया गया है। फलस्वरूप, काव्यनिबद्ध चित्रों का वातावरण ही एक सा नहीं मिलता, बल्कि दीपक और बादल जैसे दो चार उपकरण बार बार चित्रफलक पर आकर सहृदय चित्त में एकरसता पैदा कर देते हैं। उपकरणों की यह एकरूपता इनकी चित्रकला की रंगयोजना पर भी हावी है। इनकी अनेक कृतियों में केवल दो तीन रंगों से ही चित्रपृष्ठिका के मंडनशिल्प का काम लिया गया है, जो निश्चितरूपेण भावांकन की दृष्टि से असाध्य हुआ करता है। इन्होंने अपने चित्रों में रंगों के इस ईदृक्तया निःस्व प्रयोग की चर्चा करते हुए लिखा है, 'रंगों की दृष्टि से मैं बहुत थोड़े और विशेषतः नीले सफेद से ही काम चला लेती हूँ। जहाँ कई को मिलाना आवश्यक होता है, वहाँ ऐसे मिलना अच्छा लगता है कि किसी की स्वतंत्र सत्ता न रह सके। दीपशिखा के चित्र तो एक ही रंग में बने थे, अतः उनके भावांकन में आयास भी अधिक हुआ और

इस अभावयुग में उनके मूल रूपों की संतोषजनक प्रतिकृति देना भी असंभव हो गया ।'[१]

इसी प्रकार महादेवी के चित्रों में प्रायः रमणीमूर्तियों के साथ दीपक, कमल अथवा काँटे अंकित मिलते हैं। ये तीनों क्रमशः आत्मा, भावना और पीड़ा के प्रतीक हैं। अपने गीतों में भी महादेवी ने इसी प्रतीकार्थ को स्पष्ट किया है। जैसे—

दीप मेरे जल अकंपित
घुल अचंचल !

अथवा

ले मिलेगा उर.........
वेदनाजल स्वप्नशतदल

अथवा

फिर तुमने क्यों शूल बिछाए ?

महादेवी की चित्रकला का सीधा प्रभाव इनकी कविताओं में न्यस्त बिंब-विधान पर पड़ा है। यह एक नंदतिक तथ्य है कि कल्पना जब चित्रात्मक होती है, तब उसमें बिंबों की मूर्तता का सहज आधान हो जाता है। महादेवी ने अपनी चित्रप्रियता के कारण बिंबों के विधान में विधायक कल्पना का प्रचुर प्रयोग किया है। इसीलिये विधायक कल्पना से योजित इनके बिंब सूक्ष्म भावछवियों के गोचर विधान में काफी सफल उतरे हैं। यह विदित है कि अनुभवगम्य सूक्ष्म भावों को चाक्षुष बिंबविधान के सहारे गोचर प्रत्यक्षीकरण के स्तर पर ला देना कविकल्पना की मूर्तविधायिनी शक्ति का सर्वोत्तम निकष है। इस निकष पर महादेवी का बिंब-विधान इसलिये खरा उतरता है कि इनकी कल्पनाशक्ति में ही स्वाभाविक चित्र-प्ररोचन है। कहने का आशय यह नहीं है कि चित्रप्रियता के कारण इनका बिंबविधान एकदम निर्दोष है। चित्रप्रियता या चित्राप्ररोचन का दूसरा पक्ष यह है कि चित्रात्मक प्लवन (पिक्टोरियल लीप) की अधिकता रहने से एक ही छोटी कविता में विन्यस्त इनके बिंब श्रृंखलित न होकर विलग विलग वृत्ताकृति हो गए हैं। फलस्वरूप, विश्रृंखलित बिंबों को ग्रहण करने के लिये पाठकों को भी एक चित्रवृत्त से दूसरे चित्रवृत्त तक पहुँचने के निमित्त अपनी ग्राहिका शक्ति को

[१] दीपशिखा, पृष्ठ ६१ ।

उछालना पड़ता है। इसलिये महादेवी की कविताओं की केंद्रगत सार्थकता सर्वसंवेद्य न होकर दीक्षित पाठकों की वस्तु बन जाती है।

उपरिनिर्दिष्ट चित्रप्रियता के कारण महादेवी के बिंबविधान का दूसरा दोष यह है कि उसमें संयोजनसूत्रता का अभाव मिलता है, जबकि बिंबविधान के पारखी आलोचकों ने बिंबों के संग्रथनसामर्थ्य पर बहुत बल दिया है। सचमुच, महादेवी के बिंबविधान में संयोजनसूत्रता का अनेकत्र अभाव है। इसलिये इनके अधिकांश बिंब लपेटवाँ शैली (इंटरलेस्ड स्टाइल) में एक दूसरे से संबद्ध रहते हैं अथवा इनके बिंब कांथा शैली के होते हैं, जिनकी जमीन फटी चिटी साड़ियों जैसी होती है और उसपर भावचित्र पैबंदों की तरह चिपके रहते हैं। यदि हम कसीदाकारी की भाषा का प्रयोग करें तो हम कह सकते हैं कि महादेवी के बिंब-विधान में यत्र तत्र सलमा सितारे जैसी नयनाभिराम झिलमिली मिलती है, किंतु, अधिकतर इनकी बिंबसज्जा में छाया के कामों का पृथुल प्रयोग मिलता है, जिसके कारण इनके बिंबविन्यास में दो या दो से अधिक बिंबों के बीच की मध्यस्थ शृंखला को गुप्त (ओपेक) रखकर आगे आनेवाले बिंबों को चिपटवाँ ढंग (एप्लिक प्रॉसेस) से संलग्न कर दिया जाता है।

चित्रकला की सर्जनात्मक चेतना से समन्वित रहने के कारण महादेवी के काव्य में सबल रंगपरिज्ञान मिलता है। विशेषकर इनके चाक्षुष बिंबविधान में इस रंगपरिज्ञान का कलात्मक उपयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, संध्या और प्रभात के दो चित्र नीचे दिए जाते हैं—

(संध्या)

गुलालों से रवि का पथ लीप
जला पश्चिम में पहला दीप
विहँसती संध्या भरी सुहाग
दृगों से झरता स्वप्नपराग।

(प्रभात)

स्मित ले प्रभात आता नित
दीपक दे संध्या जाती।
दिन ढलता सोना बरसा
निशि मोती दे मुस्काती।

इनमें गुलाल, सुहाग, स्वर्ण, मोती इत्यादि के समायोजन में रंगबोधमयी सप्राणता मिलती है। कुछ अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं—

सीपी से, नीलम से द्युतिमय
कुछ पिंग अरुण कुछ सित श्यामल,
कुछ सुखचंचल, कुछ दुखमंथर
फैले तम से कुछ तूल विरल
मड़राते शत शत अलि बादल।

अथवा

स्वर्णकुंकुम में बसाकर
है रँगी नव मेघ चूनर
बिछल मत घुल जायगी
इन लहरियों में लोल री!
चाँदनी की सित सुधा भर
बाँटता इनसे सुधाकर
मत कली की प्यालियों में
लाल मदिरा घोल री!
मत अरुण घूँघट खोल री!

स्पष्ट है कि इन पंक्तियों का कलासौष्ठव बहुलांशतः इनकी रंगीन चटक पर निर्भर है। ऐसा रंगपरिज्ञान काव्यकला, विशेषकर बिंबविधान के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। रंगबोध की बारीकी से बिंबों में चाक्षुष आकर्षण और अभिव्यक्ति में व्यंजक वक्रता आ जाती है। इतना ही नहीं, रंगयोजना से कवि की आंतरिक मनोवृत्ति का पता चलता है। इसलिये वाट्स, थियोडोर डंटन, शुक्ल जी आदि ने आलोचना में रंगबोध के विश्लेषण को महत्व दिया है। काव्य में रंग के प्रयोग का प्रकृति से ऋजु संबंध है। फलस्वरूप, रंगविशेष कवि के संपूर्ण व्यक्तित्व और आंतरिक प्रकृति का वाचक बन जाता है। पंत के लिये हरा रंग, प्रसाद के लिये लाल रंग, निराला के लिये नीला रंग और महादेवी के लिये श्वेत रंग इनके व्यक्तित्व के ही वाचक है। हरित रंग से जीवनीशक्ति की, लाल से अनुराग की, नील से विराट् शांति की और श्वेत से सात्विक स्वच्छता की अभिव्यक्ति होती है।

महादेवी के काव्य में श्वेत रंग की योजना और श्वेत रंगवाले अप्रस्तुतों की प्रचुरता है, जिससे प्रयोक्ता की सात्विक प्रवृत्ति द्योतित होती है। महादेवी की कविताओं में ओस, चाँदनी, नीहार इत्यादि का प्रचुर प्रयोग श्वेतप्रियता का ही फल है। इनके काव्यसंसार में नखचरणों की ज्योति भी श्वेत है और कलियों के प्याले धोनेवाली चाँदनी भी श्वेत है—

मधुर चाँदनी धो जाती है
खाली कलियों के प्याले

इतना ही नहीं, इनको आत्मप्रसाधन या अभिविन्यसन के लिये भी श्वेत रंग ही अत्यंत प्रिय है। ये सर्वत्र श्वेत वसन धारण करना चाहती हैं, जैसे—

जाने किस जीवन की सुधि ले
लहराती आती मधु बयार।
....

पाटल के सुरभित रंगों से रँग दे हिम सा उज्वल दुकूल
गुँथ दे रसना में अलिगुंजन से पूरित झरते बकुलफूल।

यहाँ स्मृति उल्लास और प्रियतम के अभिनंदन की तैयारी में क्षणोत्सविक वस्त्र (वस्त्र चार प्रकार के होते हैं—नित्यनिविसनिक, निमज्जनिक, क्षणोत्सविक और राजद्वारिक) का वर्णन है, जो प्रायः बेलबूटेदार और चाकचिक्य से भरा होता है। किंतु, कवयित्री को श्वेतिमा और सादगी से इतना स्नेह है कि वह मिलन-त्योहार के समय भी पाटल जैसे श्वेत पुष्प के समान उजला वस्त्र धारण करना चाहती है। निश्चय ही यह श्वेतप्रियता कवयित्री की आंतरिक सात्विक वृत्ति की परिचायिका है।

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि महादेवी की कविताओं में स्थूल सौंदर्य के प्रति विकर्षण का भाव अन्य छायावादी कवियों की अपेक्षा अत्यधिक है। इसके दो कारण हैं। एक यह कि इनकी अनुभूति आत्मनिष्ठ और प्रवृत्ति अंतर्मुख है। साथ ही, नारी होने के कारण आलंबन के प्रति इनके सौंदर्यानुप्राणित भावात्मक संवेग का मर्यादित होना सर्वथा स्वाभाविक है। दूसरे, इनके काव्य का वातावरण पूर्णतः विरह से भरा हुआ है। विरहकाव्य, विशेषकर जिसकी आभ्यंतर चेतना का धरातल अत्यधिक उन्नीत रहता है, संस्मरणात्मक और सुधिविह्वल हुआ करता है। तदनंतर, आलंबन के मनसा प्रत्यक्ष और चक्षुषा अप्रत्यक्ष रहने के कारण आश्रय की सस्ती दुर्बलताएँ दमित हो जाती हैं। फलतः ऐसी अवस्था में भावुक के मनोलोक में सात्विक रसात्मकता जगती है। महादेवी की सौंदर्यानुभूति सर्वाधिक सूक्ष्म है और परिणामस्वरूप एक 'निरामिष रोमांस' मिलता है।

कीबल्लभ
ते हो जाने
हास' बन जाने
र, काव्यरचनाओं
ो कवियों अर्थात्
यों के बीच मिलिंद,

———

छायावाद के अन्य कवि—गौण कवि

गौण छायावादी कवियों की काव्यकला की चर्चा करने के पहले इसे स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि 'गौण कवि' कहने से हमारा तात्पर्य क्या है। गौण कवि उन कवियों को कहा जाता है, जो युगविशेष या प्रवृत्तिविशेष के पक्षधर होकर भी अपने खेमे के कवियों के बीच प्रथम पंक्ति के अधिकारी नहीं हो पाते अथवा मौलिक उद्भावना करने के बदले अपने गोल के शलाकापुरुषों का अनुकरण अनुगमन करते रह जाते हैं। गौण कवि उन कवियों को भी कहा जाता है, जो वय की दृष्टि से कनिष्ठ होने के कारण अथवा अन्यानेक कारणों से युगविशेष, वादविशेष या प्रवृत्तिविशेष के भाटा बन जाने पर भी उसमें संमिलित हो जाते हैं। अर्थात्, इस प्रकार के गौण कवि डूबती नाव पर भी सवार हो जाते हैं और अस्तंगत वादविशेष के दायरे में कुछ दिनों तक रहकर आगे नई राह बना लेते हैं अथवा ऋतुपंछी या युगचारण की तरह किसी सशक्त नए काव्यांदोलन के स्वर में स्वर मिलाने लग जाते हैं। तीसरे प्रकार के गौण कवि वे होते हैं, जो अपनी राह नहीं बदलते और पूरी आस्था के साथ उसी प्रवृत्तिधारा में आद्यंत बहते रह जाते हैं। चौथे प्रकार के गौण कवि अपनी रचनाओं के स्वल्प परिमाण के कारण गौण रह जाते हैं। छायावाद के गौण कवियों के बीच मोहनलाल महतो 'वियोगी', लक्ष्मीनारायण मिश्र, जनार्दन झा 'द्विज' और उदयशंकर भट्ट प्रथम प्रकार के गौण कवि हैं, जो छायावादी काव्यांदोलन के उन्मेषकाल से ही विशुद्ध छायावादी कविताएँ रचने के बावजूद न बहुचर्चित हो सके और न छायावाद के अग्रणी कवि के रूप में स्वीकृत हो सके। गौण कवियों के उपरिनिर्दिष्ट दूसरे प्रकार के अंतर्गत नवीन, नरेंद्र शर्मा, नेपाली, भगवतीचरण वर्मा, आरसीप्रसाद सिंह इत्यादि आते हैं, जिन्होंने प्रारंभ में छायावादी रचनाएँ तो कीं, किंतु, बाद में प्रगतिवादी धारा के साथ हो गए। दो प्रवृत्तियों, वादों या काव्यधाराओं के संधिस्थल पर प्रायः इस प्रकार के गौण कवि आविर्भूत हुआ करते हैं। तीसरे प्रकार के गौण छायावादी कवियों के बीच रामकुमार वर्मा और जानकीवल्लभ शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इन्होंने छायावाद के अस्तंगत हो जाने पर भी अपनी राह नहीं बदली है और ये कवि छायावाद के 'इतिहास' बन जाने पर भी अब तक उसी काव्यप्रवृत्ति में मूलतः रमे हुए हैं। तदनंतर, काव्यरचनाओं के स्वल्प परिमाण के कारण गौण कहे जानेवाले छायावादी कवियों अर्थात् उपरिनिवेदित सूत्र के अनुसार चौथे प्रकार के गौण कवियों के बीच मिलिंद,

रामनाथ 'सुमन', गुलाबरत्न वाजपेयी 'गुलाब'[१] मुकुटधर पांडेय[२], इलाचंद्र जोशी, वंशीधर विद्यालंकार, जगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल', प्रफुल्लचंद ओझा 'मुक्त', सत्यव्रत शर्मा सुजन, आनंदीप्रसाद श्रीवास्तव, जगमोहन विकसित, कलक्टर सिंह केसरी इत्यादि के नाम गिनाए जा सकते हैं।

छायावाद के गौण कवियों का एक पाँचवाँ प्रकार भी निर्धारित किया जा सकता है, जिसके अंतर्गत छायावाद के पूर्वज कवियों को रखा जा सकता है। पूर्वपुरुष कवि वादविशेष के अवतरित होने के पहले अपनी कृतियों के द्वारा उसकी विशिष्ट प्रवृत्तियों का पूर्वाभास अथवा पूर्वझलक प्रस्तुत करते हैं। यह कार्य जाने अनजाने ही पूर्वज कवियों के द्वारा सिद्ध हो जाता है। अँगरेजी कविता के इतिहास में भी रोमांटिसिज्म' के 'प्रिकर्सर पोएट्स' मिलते हैं। छायावाद के ऐसे पूर्वज कवियों के बीच रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण

[१] गुलाबरत्न वाजपेयी 'गुलाब' की कविताओं का संकलन 'लतिका' के नाम से प्रकाशित हुआ था। इन्होंने 'कुरुक्षेत्र' नामक महाकाव्य की भी रचना प्रारंभ की थी, जिसकी भाषा बहुत ही प्रांजल थी। इन्होंने इस काव्य के प्रथम सर्ग का नाम रखा था 'द्यूत'। इनके 'कुरुक्षेत्र' का प्रारंभिक अंश १९२८ की 'माधुरी' के कुछ अंकों में प्रकाशित हुआ था और उसने तत्कालीन युवा कवियों तथा सहृदयों को काफी प्रभावित किया था। किंतु, इनका संपूर्ण 'कुरुक्षेत्र' पाठकों के समक्ष नहीं आ सका।

[२] पंत ने 'आधुनिक काव्यप्रेरणा के स्रोत' शीर्षक निबंध में मुकुटधर पांडेय के विषय में लिखा है, 'श्री मुकुटधर पांडेय की रचनाओं में छायावाद की सूक्ष्म भावव्यंजना तथा रंगीन कल्पना धीरे धीरे प्रकट होने लगी थी, जो आगे चलकर प्रसाद जी के युग में पुष्पित पल्लवित होकर, एक नूतन चमत्कार एवं चेतना का संस्कार धारण कर, हिंदी काव्य के प्रांगण में नवीन युग के अरुणोदय की तरह मूर्तिमान हो उठी।'—शिल्प और दर्शन, पंत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १६७। पंत जी मुकुटधर पांडेय की रचनाओं के साथ 'सरस्वती' के माध्यम से परिचित हुए। पांडेय जी की कविताओं में पंत को 'नवीनता तथा मौलिकता का आभास' मिलता था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी मुकुटधर पांडेय की गणना छायावाद के सूत्रधारों में की थी। मुकुटधर पांडेय का पहला काव्यसंकलन 'पूजाफूल' के नाम से १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ था, जिसमें छायावादी कविता के सदृश ही प्रगीतात्मकता, स्वानुभूतिमूलकता और अनाख्यान की प्रचुरता है।

गुप्त, नवीन आदि का नामोल्लेख किया जा सकता है। रामनरेश त्रिपाठी ने विशद प्रकृतिचित्रण और भावुक प्रणयनिवेदन से युक्त 'स्वप्न' तथा 'पथिक' ऐसे खंडकाव्यों की रचना कर न केवल छायावादी काव्यवस्तु का पूर्वाभास प्रस्तुत किया, बल्कि आगे आनेवाली छायावादी सौंदर्यभावना को भी हिलकोर दिया। इसी तरह बालकृष्ण शर्मा के 'अपलक' और 'क्वासि' में जो दार्शनिक भावबोध परिव्याप्त है, उसमें छायावादी सुरभि अस्फुट रूप में सिमटी हुई है। यही बात सियाराम शरण गुप्त की 'आर्द्रा' और 'पाथेय' के साथ भी है। इन काव्यसंग्रहों की भाषा में निश्चय ही छायावादी भाषाशैली की मसृण प्रांजलता नहीं है, किंतु इनका भावबोध छायावादी भावभंगिमा की पूर्वझलक प्रस्तुत करता है।[1]

इन गौण कवियों को छायावादी काव्यांदोलन या छायावादी कविता के इतिहास में उचित महत्व नहीं दिया गया है, जो अनुचित है। यह आलोचकों और साहित्येतिहासकारों के असंतुलित या पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण का सूचक है कि छायावादी काव्यांदोलन या छायावादी कविता की चर्चा केवल चार प्रमुख कवियों तक सीमित कर दी जाती है। यह कुछ वैसा ही है, जैसा कि दस बीस राजे-महाराजे या राजवंशों के वृत्तांत को किसी देश का इतिहास कह दिया जाता है। अतः जिस प्रकार सामान्य इतिहासलेखन में इन दिनों सतही इतिहास (सर्फेस हिस्ट्री) की जगह पर ऐसे गहन इतिहास (डेप्थ हिस्ट्री) को महत्व दिया जा रहा है, जिसमें शिखरस्थ व्यक्तियों के जीवन से संबद्ध घटनाओं को नहीं, पूरे लोकजीवन को दृष्टिगत रखा जाता है; उसी प्रकार साहित्येतिहास में भी अब प्रमुख कवियों के साथ गौण कवियों को उचित महत्व देना अनिवार्य हो गया है अन्यथा साहित्येतिहास अपूर्ण रह जायगा। इसलिये न्याय्य, प्रामाणिक और गहन साहित्येतिहास प्रस्तुत करने के लिये गौण कवियों की ओर गवेषकों का ध्यान आकृष्ट होना आवश्यक है। आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने हिंदी के गौण कवियों के इतिहास की चर्चा करते हुए उचित ही लिखा है कि 'महान् लेखकों से अधिक महत्व उन गौणों का है, जिनसे विस्तार निर्मित होता है। हिंदी साहित्य के इतिहासों में इन महान् गौणों की उपेक्षा हुई है और इसका कारण यह है कि

[1] यहाँ इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त कवियों में कई कवियों का स्थान यद्यपि छायावाद के संदर्भ में गौण है, तथापि हिंदी काव्येतिहास के व्यापक संदर्भ में उनका स्थान महत्वपूर्ण है। अतः उन कवियों के प्रसंग में 'गौण' शब्द 'अन्य' का वाचक है, अमहत्वपूर्ण या कम 'महत्वपूर्ण' का नहीं।

शोध ने अपने वास्तविक कर्तव्य का पालन नहीं किया है। यह उन पथचिह्नों तक ही सीमित रहा है, जो वस्तुतः आलोचना के विषय हैं।"[१]

संभवतः शुरू से ही छायावाद के आलोचक गौण छायावादी कवियों के विवेचन की आवश्यकता महसूस करते रहे हैं, किंतु, उदार और व्यवस्थित ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव में लघुत्रयी अथवा बृहत्रयी की चर्चा से ही संतोषलाभ करते रहे हैं। वास्तविकता यह है कि छायावादी कविचतुष्टय (प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी) के साथ रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा इत्यादि जैसे कुछ नामों को जोड़ देने से ही छायावादी काव्यांदोलन का इनिहास पूरा नहीं हो सकता और न उसके अनल्प विस्तार को ही अंकित किया जा सकता है। पंत जी का यह मंतव्य बहुत ही समीचीन है कि "छायावादी काव्य को कविचतुष्टय तक सीमित कर देना मुझे विचार की दृष्टि से संगत नहीं प्रतीत होता। अभिव्यंजना शैली, भावसंपदा, सौंदर्यबोध तथा काव्यवस्तु आदि की दृष्टि से उस युग के आगे पीछे अन्य भी अनेक समृद्ध कवि हुए हैं, जो छायावाद के उद्भव तथा विकास में सहायक हुए हैं। उनमें से माखनलाल जी, मुकुटधर पांडेय, रामनरेश त्रिपाठी, नवीन जी, सियारामशरण जी, मोहनलाल महतो, उदयशंकर भट्ट, इलाचंद्र जोशी, डा० रामकुमार वर्मा, जानकीवल्लभ शास्त्री आदि अनेक लब्धप्रतिष्ठ कवियों के नाम गिनाए जा सकते हैं।'[२]

बालकृष्ण शर्मा नवीन के काव्यसंकलनों में छायावादी भावबोध के अनुरूप अंतर्जगत् का रोमांच मिलता है। जैसे, 'अपलक' में संकलित 'आज हुलसे प्राण' शीर्षक कविता, जो १६३६ ई० में रची गई है, इस रोमांच को उदाहृत करती है। 'अपलक' की अपेक्षा 'क्वासि' में छायावादी रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ अधिक हैं, क्योंकि इसमें अमांसल टोह और आध्यात्मिक टेर की अधिकता है। विशेषकर १६४० ई० के पहले रची गई कविताएँ छायावादी प्रवृत्ति से और भी भरी पड़ी हैं। कथ्य के साथ ही काव्यकला की दृष्टि से 'क्वासि' की कविताएँ छायावादी अभिव्यंजनाशैली के निकट हैं। जैसे, 'फिर गूँजे नव स्वर, प्रिय' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

बूँदें टप टप टिपिर टिपिर टपकीं दल बादल से,
धाराएँ घिर घहरीं नभ के वक्षस्थल से—

[१] साहित्य का इतिहासदर्शन, नलिनविलोचन शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १६६०, पृ० ११६।

[२] छायावाद: पुनर्मूल्यांकन, सुमित्रानंदन पंत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १०७।

सिहर उठा मलयानिल, हम सिहरे बेकल से,
काँपा मन, उमड़ा हिय, नयन झरे झर झर, प्रिय,
फिर गूँजे नव स्वर, प्रिय ।[1]

कथ्य की दृष्टि से भी 'क्वासि' में रहस्यात्मक रचनाओं और आध्यात्मिक अनुभूतियों का अभाव नहीं है। किंतु, वे रहस्यात्मक रचनाएँ और आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी छायावादी भावबोध के परिवृत्त में ही आती हैं—उदाहरणार्थ, 'इकतारा' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

मेरी वीणा में एक तार, गायक तू भी यह छवि निहार।
एकाकी स्वर का मृदु निक्वण—
होता है स्वनित यहाँ प्रतिक्षण,
गाऊँ कैसे शंकराभरण ?
दरसाऊँ कैसे स्वरलक्षण ?
है सात स्वरों का कठिन भार, मेरी वीणा में एक तार ।[2]

इतना ही नहीं, भावबोध की दृष्टि से 'क्वासि' में छायावादी वेदनावाद के छींटे भी मिलते हैं। जैसे, 'मनुहार' शीर्षक कविता में नवीन ने लिखा है—

मेरी वेदना सहेली है,
बचपन से वह संग खेली है ।[3]

गौण छायावादी कवियों के पहले खेवे में मोहनलाल महतो 'वियोगी' का विशिष्ट स्थान है। वियोगी जी की दो कवितापुस्तकें—'निर्माल्य' और 'एकतारा' इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। 'निर्माल्य' का प्रकाशन सुंदर साहित्यमाला के अंतर्गत् हिंदी पुस्तक भंडार लहेरियासराय से संवत् १९८२ विक्रम में हुआ था। वियोगी की कविताओं में आवेग (पैशन) और दर्शन (फिलासफी) का मधुर सामंजस्य है । छायावादी कविता में कल्पना को जो सर्वोपरि महत्व दिया गया, उसे इन्होंने भी अंगीकार किया है। इन्होंने इस आशय की अनेक पंक्तियाँ 'एकतारा' और 'निर्माल्य' में लिखी हैं। जैसे—

कर प्रवेश कल्पनालोक में
कविताउत्स प्रवाहित कर ।[4]

[1] क्वासि, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५२, पृष्ठ ४५ ।
[2] उपरिवत्, पृष्ठ ७३ ।
[3] उपरिवत्, पृष्ठ ७६ ।
[4] एकतारा, वियोगी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५६ ।

अथवा

सुखद कल्पना की वीणा ले
गाता फिर अनंत संगीत।[१]

वियोगी जी की कविताओं में छायावाद के आध्यात्मिक पक्ष की, जो सामान्यतः छायावाद का एक प्रच्छन्न पक्ष है, सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। 'निर्माल्य' के निवेदन से ही कवि की आस्तिक आध्यात्मिकता का पता चलता है—

मैं तो हूँ नीरव वीणा
मुझपर है वादक का अधिकार
मुझे बजाता है वह जब आ
अपनी इच्छा के अनुसार—
होती हैं तब व्यक्त राग रागिनियाँ
मन हरनेवाली।

इनकी काव्यसाधना पर रवींद्रनाथ ठाकुर का गहरा प्रभाव है। यह कहा जा सकता है कि छायावाद के प्रमुख कवियों में निराला पर और गौण कवियों के बीच वियोगी पर रवींद्रनाथ ठाकुर की काव्यधारा का गहनतम प्रभाव है। शायद रवींद्र के प्रभाव ने ही वियोगी का ध्यान छायावाद की ओर आकृष्ट किया था। 'निर्माल्य' में संगृहीत 'विसर्जन' शीर्षक कविता और उनके नीचे दी गई पादटिप्पणी से भी इस प्रभाव की मुखरता व्यक्त होती है।

'निर्माल्य' की अधिकांश कविताओं में छायावादी लाक्षणिकता और कथ्य की सूक्ष्मता का अभाव है। किंतु, 'निर्माल्य' की कुछ कविताओं में अवश्य ही छायावाद की कल्पनाप्रियता या अनंत का आह्वान है। जैसे—

अभी तरी को खोल
पहुँच जाता हूँ पल भर में उस पार।
मैं अनंत में कर दूंगा,
अपना विलीन व्यक्तित्व अपार।[२]

'निर्माल्य' के बाद वियोगी जी के दूसरे काव्यसंग्रह 'एकतारा' का प्रकाशन हिंदी पुस्तक भंडार, लहेरियासराय से श्रावण शुक्ला सप्तमी, १९८४ को हुआ। यह कवितासंकलन छायावादी काव्यकौशल की दृष्टि से 'निर्माल्य' की तुलना में

[१] निर्माल्य, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २०।
[२] उपरिवत्, पृष्ठ ६७।

अधिक परिष्कृत और प्रांजल रचना है। इसमें कवि ने छायावाद की मुख्य भावभूमि का स्पर्श करते हुए लिखा है—

वेदना को छंदों में बाँध
मिटाया था जो अंतर्दाह;
पुनः स्मृति से दूँ उसको जगा
लगा चेतनावर्ति की छोर;
छोड़ दूँ कविताओं के दीप
अतल जल में अनंत की ओर।

इन पंक्तियों में प्रयुक्त 'वेदना', 'अंतर्दाह' और 'अनंत की ओर' छायावादी भावधारा के ही आकाशदीप हैं। इस संग्रह का नामकरण भी छायावाद की केंद्रीय सार्थकता को दृष्टिगत रखते हुए किया गया है। छायावादी कविता की वैयक्तिकता, एकाकीपन, रहस्यपरक आध्यात्मिकता और मसृण संगीतात्मकता को व्यक्त करने के लिये 'एकतारा' से अच्छा प्रतीक और क्या हो सकता है? इस 'एकतारा' से छायावाद की कल्पनाश्रित सूक्ष्मानुभूति और संतों की साधनात्मक सूक्ष्मानुभूति के बीच की प्रच्छन्न शृंखला उभरकर सामने आ गई है।

इस संदर्भ में लक्ष्मीनारायण मिश्र और इनके 'अंतर्जगत्' का उल्लेख आवश्यक है। यह दूसरी बात है कि 'अंतर्जगत्' के बाद मिश्र जी की कोई अन्य कवितापुस्तक प्रकाश में नहीं आई और इनका ध्यान मुख्यतः नाट्यरचना की ओर केंद्रित हो गया। 'अंतर्जगत्' की रचना इन्होंने १९२१-२२ ई० में की, जिस समय इनकी अवस्था १८-१९ वर्ष की थी। इनकी कविता में कल्पना के प्रति अकूत आकर्षण मिलता है। जैसे—

मनस्तत्व का निपुण पारखी
तन्मयता का नेमी—
अमर कल्पना का स्रष्टा
... ...
रहता मेरे मन में।[1]

यद्यपि लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'अंतर्जगत्' के बाद कोई अन्य छायावादी कृति प्रस्तुत नहीं की और वे 'पद्धतिकाव्य' के पक्षधर बन गए, तथापि इनके 'अंतर्जगत्' ने छायावाद के प्रादुर्भावकाल में 'आँसू' की तरह ही आत्मनिष्ठता और कैशोर

[1] अंतर्जगत्, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १६।

विषाद के उद्रेक को बल दिया। लक्ष्मीनारायण मिश्र का यह दावा है कि 'अंतर्जगत्' के तीन वर्ष बाद 'आँसू' प्रकाशित हुआ और उसपर 'अंतर्जगत्' का स्पष्ट प्रभाव है। यह गर्वोक्ति कई कारणों से समीचीन प्रतीत नहीं होती, किंतु, यह सच है कि 'अंतर्जगत्' छायावादी काव्यदृष्टि की एक मूल मान्यता से संबद्ध है। अंततोगत्वा, संपूर्ण छायावादी कविता अपने रचयिताओं के अंतर्जगत् का ही स्वच्छ प्रतिबिंब है। सच पूछिए तो छायावादी कवियों का अंतर्जगत् एक प्रकार का आत्मकल्पित 'रागलोक' है।

छायावाद के गौण कवियों में जनार्दन झा 'द्विज' का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। द्विज जी (जन्मकाल : १९०४ ई०) मूलत: वेदना, स्मृति और अनुभूति के कवि थे। यह सर्वविदित है कि छायावादी कविता की मानसिक विभूतियों में वेदना, स्मृति और अनुभूति की ही प्रचुरता है। इस तरह द्विज जी विशुद्ध छायावादी प्रवृत्ति के प्रतिनिधि कवि सिद्ध होते हैं। इनके प्रथम काव्यसंग्रह 'अनुभूति' का प्रकाशन १९३३ ई० में वाणीमंदिर, छपरा (बिहार) से हुआ था। 'अनुभूति' में कवि की आकुल व्यथाकथा है और 'आभ्यंतरिक व्यथा' की मार्मिक अभिव्यक्ति ही उक्त काव्यसंग्रह का आधारभूत तत्व है। 'बाह्यव्यथा' न होकर 'आभ्यंतरिक व्यथा इसलिये कि आभ्यंतरिक व्यथा में उपलब्धि की आकांक्षा नहीं रहती, उत्सर्ग के भाव भरे रहते हैं।' इसी आभ्यंतरिक व्यथा को द्विज ने 'वेदना' की आस्था दी है और यह कामना की है—

अमर वेदना ही हो मेरे
सकल सुखों का मीठा सार।

इस तरह वेदना को 'जीवन की एकांत साधना' बना लेने की दृष्टि से छायावादी कवियों के बीच, द्विज और महादेवी में काफी समानता है। महादेवी वर्मा के 'आँसू से पुरनम गीत' बरबस द्विज द्वारा लिखे गए 'तरल पीड़ा के गीले गीत' की याद दिला देते हैं। वस्तुतः द्विज की कविताएँ 'प्रेमपीड़ा की मीठी चोट' और 'निगूढ़ वेदना के अमर क्रंदन' से भरी पड़ी हैं। भावनात्मक धरातल पर द्विज द्वारा की गई यह 'अभाव की पूजा' छायावादी कविता की सात्विक विभूति है।

अभिव्यक्तिकला की दृष्टि से द्विज ने 'भाव और शब्द की सुकुमारता' का ध्यान रखा है। इसमें संदेह नहीं कि इनके पास 'हृदय विपंची के सोए तारों में आकुल स्वर भरने' की सधी हुई कला है। शब्दशय्या की दृष्टि से इनकी 'प्रेम के देवता से' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

मेरे तिमिर भरे अंतर में
एक बार प्रिय ! ढार प्यार के
नव प्रकाश की धार ![1]

इनकी कविताओं से स्पष्ट है कि इनके पास बहुत ही सूक्ष्म रूमानी अंतर्दृष्टि थी। तभी तो ये 'गीली पलकों में बंद लजीली आँखों का अनुरोध' भी समझ लेते थे और 'भग्न उसास' को भी भूलना नहीं चाहते थे।[2] इन्हें तो 'वेदना के आँगन में लोट पोटकर अपने पागल प्यार को पालना' प्रिय था। कारण, इन्हें 'विषाद के राज्य में बंदी बनकर तड़पनेवाले सुख' से ही सदैव भेंट हुई थी। इन्हें विशुद्ध छायावादियों की तरह यह स्वीकार था कि प्यार दुलार को जीवित रहने के लिये 'पीड़ा के आलिंगन' की आवश्यकता होती है। 'पीड़ा के आलिंगन' के बिना 'अंतर की प्यास' निरंतर बढ़ती जाती है और 'लालसा के करुण विलास' से जीवन मलिन हो जाता है।

द्विज की दूसरी कवितापुस्तक 'अंतर्ध्वनि' छायावादी मध्य तथा शिल्प की दृष्टि से और महत्वपूर्ण है। इसमें संगृहीत सभी कविताएँ, छायावादी काव्य-शिल्प के अनुरूप, शीर्षकहीन हैं। द्विज जी ने 'अंतर्ध्वनि' का 'आमुख' विद्वत्तापूर्ण ढंग से लिखा है, जिसमें इन्होंने सूक्ष्मेक्षिकापूर्ण सहृदयता के साथ छायावादी काव्यदृष्टि की ललित व्याख्या की है। इस 'आमुख' में इन्होंने 'आत्माभिव्यंजन-मूलक काव्य' के प्रति अपनी आस्था को दुहराया है और अपने को 'साहित्यसाधना के क्षेत्र में व्यक्तिवाद की प्रधानता का समर्थक' घोषित किया है। यह 'आमुख' निर्भ्रांत रूप में इन्हें छायावादी काव्यसिद्धांत का सुलझा हुआ प्रवक्ता सिद्ध करता है। एक प्रतिनिधि छायावादी कवि की तरह इनका आग्रह है कि 'कला का प्रादुर्भाव अंतस्तल की निगूढ़ वेदना से ही होता है' और 'कला के मूल में अतृप्त आकांक्षा' तथा वेदना की सहस्रमुखी धारा रहती है। अर्थात् वेदना इनके जीवन और काव्यानुभूति का सारसर्वस्व' है। इन्होंने एक संवेदनशील कवि के रूप में जीवन और काव्य को 'वेदना की परिधि' में देखा है। इन्होंने छायावाद की मुख्य भावभूमि वेदनावादी अंतर्धारा का कितना सुंदर संकेत इन पंक्तियों में किया है—

[1] अनुभूति, द्विज, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४६।

[2] उपरिवत्, पृष्ठ ५२।

है विरह प्रणय का मधुर मोल
वह अमर बना पी ली जिसने
पीड़ा आँसू में घोल घोल!

छायावाद के गौण कवियों के बीच द्विज जी ने 'व्यथाबिद्ध प्यासी चाहों' की छटपटाहट का जैसा स्निग्ध वर्णन किया है, वह अन्य गौण कवियों की रचनाओं में दुर्लभ है। इसलिये इन्हें स्वानुभूतिमूलक करुणा का मार्मिक कवि' माना जा सकता है। डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु की धारणा है कि द्विज की 'वेदना' जीवन की शुद्ध वेदना नहीं, बल्कि उसमें जीवन के विलास का आकर्षण है।'[२] द्विज जी की कविताओं के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ये मूलतः व्यक्तिवाद की प्रधानता के समर्थक थे। अतः इन्हें वैयक्तिक अनुभूतियों के साधारणीकरण की अनिवार्यता अनावश्यक महसूस होती रही। अत्यंत भावुक व्यक्तिवादी स्वभाव ने ही वेदना या पीड़ा को इनका 'मूल काव्यद्रव्य' बना दिया। छायावादी काव्यधारा के किसी दूसरे गौण कवि ने जीवन के विषादतत्व को कविता का विषय बनाकर करुणा का ऐसा मादक स्वरसंधान नहीं किया है।

छायावाद के इन गौण कवियों के बीच रामकुमार वर्मा (जन्मकाल : १९०५ ई०) का कृतित्व गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। द्विवेदीयुगीन संस्कार से निकलकर छायावादी भावबोध तक इन्होंने जो काव्ययात्रा की है, उसका पता वीर हम्मीर, कुलललना, चित्तौड़ की चिता, अभिशाप, अंजलि, रूपराशि, निशीथ, चित्ररेखा, चंद्रकिरण, संकेत, आकाशगंगा, एकलव्य इत्यादि जैसी कृतियों के क्रमिक अनुशीलन से चलता है। इनकी छायावादी कविताओं में सर्वात्मवादी चेतना के कारण मानवीकरण प्रेरित कल्पना की प्रचुरता है। जैसे, निम्नलिखित कविता में इन्होंने रजनी का जो मनमोहक और दृष्टिरंजक रूप उपस्थित किया है, वह मानवीकरणप्रेरित कल्पना से ही निष्पन्न है—

इस सोते संसार बीच
    जगकर सजकर रजनी बाले!
कहाँ बेचने ले जाती हो,
    ये गजरे तारोंवाले?

[१] अंतर्ध्वनि, द्विज, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३८।
[२] जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत, सुधांशु, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २२५।

मोल करेगा कौन,
सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी।
मत कुम्हलाने दो,
सूनेपन में अपनी निधियाँ न्यारी।[1]

रचनात्मक धरातल पर ही नहीं, काव्यसिद्धांत की दृष्टि से भी रामकुमार वर्मा की कल्पना संबंधी मान्यताएँ महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इन्होंने अपने छायावादी कविजीवन में पंत के सदृश कल्पना को विशेष महत्व दिया है, जिसकी स्पष्ट स्वीकृति 'रूपराशि' की भूमिका में मिलती है। यह दूसरी बात है कि इन्होंने अपनी प्रौढ़ रचनाओं में अपने कल्पनासिद्धांत को संशोधित कर लिया है और 'कल्पना' की तुलना में 'अनुभूति' को अधिक महत्व दिया है। इस दृष्टि से इनकी निकटता महादेवी वर्मा के साथ स्थापित की जा सकती है, क्योंकि महादेवी ने भी कल्पना को अत्यधिक प्रश्रय देना छायावाद के पराभव का एक कारण माना है। अतः यह कहना समीचीन होगा कि अपने प्रौढ़िकाल में रामकुमार वर्मा ने कल्पना के अतिरेक को काव्य का दूषण मानते हुए अनुभूति को कल्पना से अधिक गौरव दिया है। इन्होंने 'चित्ररेखा' के 'परिचय' में स्पष्ट लिखा है—'मैं पहले कल्पना का उपासक था। मेरी 'रूपराशि' तो अधिकतर कल्पना से ही निर्मित है। पर अब अनुभूति मुझे कल्पना से अधिक रुचिकर है।'[2] इनकी भूमिकाओं और साहित्यशास्त्र से संबद्ध निबंधों में कल्पना पर सात्विक विचार करने का अच्छा प्रयास मिलता है। प्रारंभिक कविजीवन में कल्पना के प्रति इनके अमोघ आग्रह का सर्वोत्तम उदाहरण 'रूपराशि' नामक कवितासंग्रह के प्राक्कथन में मिलता है। इसमें इन्होंने लिखा है, "कविता में कल्पना मुझे सबसे अच्छी मालूम होती है। वही एक सूत्र है, जिसको पकड़कर कवि इस संसार से उस स्थान पर चढ़ जाता है, जहाँ उसकी इच्छित भावनाओं द्वारा एक स्वर्णसंसार निर्मित रहता है।......कवि में निर्माण करने की शक्ति कल्पना द्वारा ही आती है।" 'रूपराशि'[3] के प्राक्कथन में कवि ने अपने को 'कल्पना का उपासक' कहा है। सचमुच, 'रूपराशि' की अनेक पंक्तियाँ कल्पना की निबिड़ उपासना का द्योतन करती हैं—

मैं तुमसे मिल सकूँ यथा उर से सुकुमार दुकूल,
समयलता में खिले मिलन के दिन का उत्सुक फूल।

[1] आधुनिक कवि, रामकुमार वर्मा, प्रयाग, संवत् १९९८, पृष्ठ ९६।
[2] चित्ररेखा, चाँद प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १।
[3] रूपराशि, रामकुमार वर्मा, बनारस, १९३३, पृष्ठ १।

अथवा

इंद्रधनुष सा वस्त्र कर रहा था सज्जित सब अंग,
जिनमें अनिपुण चोर सदृश था आधा छिपा अनंग।

कुल मिलाकर रामकुमार वर्मा की कविताओं में छायावादी किशोरभावना के कोमलतम अंश और रहस्यकल्पना की प्रचुर अभिव्यक्ति हुई है। कविताओं के अलावा इनकी अन्य सर्जनात्मक विधाओं में छायावादी मूल्यबोध ने ही मूलाधार का कार्य किया है। पंत जी ने तो इनके 'एकलव्य' को भी 'छायावादी अभिव्यंजना का एक श्रेष्ठतम महाकाव्य' माना है।

छायावादी काव्यांदोलन के दौर में रामनाथ 'सुमन' ने भी अच्छी कविताएँ लिखी थीं। यदि सुमन (जन्मकाल : १९०४ ई०) की काव्यसर्जना परिमाण में विपुल होती, तो निश्चय ही इनकी गणना महत्वपूर्ण छायावादी कवियों में होती। 'विपंची' के नाम से इनकी कवितापुस्तक हिंदी पुस्तक भंडार, लहेरियासराय से प्रकाशित हुई थी, जिसमें प्रेम एवं आत्मनिष्ठ दर्शन से संबद्ध इनके ललित गीत संगृहीत हैं। 'विपंची' में, निस्संदेह, छायावादी काव्यकला का अच्छा निदर्शन मिलता है। लगता है, कवि ने 'मूक वदना' की 'विपंची' पर 'उँगली की अंतिम चोट' लगाई है।

छायावाद के फुटकल गौण कवियों में गोपाल सिंह नेपाली (जन्मकाल : १९०२ ई०) की भी गणना की जा सकती है। नेपाली की कविताओं में 'शक्ति, प्रवाह, सौंदर्यबोध तथा चारुचित्रण' की प्रचुरता है। 'पंछी' और 'रागिनी' इनके प्रतिनिधि काव्यसंग्रह हैं। प्रकृतिप्रेम और प्रकृतिसौंदर्य के प्रति रोमानी दृष्टिकोण इनकी कविताओं का रसप्राण है। चिंतन और दर्शन का प्रवेश इनकी कविताओं में कम है। वस्तुतः ये कल्पना, आवेग और जोश के कवि हैं। यहाँ यह लक्ष्य करने योग्य है कि इनकी अभिव्यक्तिशैली पर छायावादी रौनक नहीं के बराबर है। कारण, इन्हें 'सरल भाषा' और 'सरल साहचर्य' से प्यार है, जो छायावादी अभिव्यक्तिकौशल के अनुरूप नहीं माना जा सकता। फलस्वरूप, इनकी ऐसी कविताएँ भी, जिनका कथ्य प्रकृतिसौंदर्य है, विवरणात्मक ही हैं और छायावादी लाक्षणिकता से लगभग रहित हैं।[१]

इस प्रसंग में केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' (जन्मकाल : १९०७ ई०) की

[१] उदाहरणार्थ : 'रागिनी' नामक काव्यसंकलन में संगृहीत 'मालव की डगर पर' शीर्षक कविता।

काव्यकृतियों का उल्लेख अत्यावश्यक है। अनल्प परिमाण में काव्यरचना कर लेने पर भी इनकी गणना छायावाद के गौण कवियों में ही होती रही है। राष्ट्रीयता, क्रांति या एवंविध अस्थायी भावलहरियों से यदा कदा प्रभावित होते रहने के बावजूद ये मुख्यतः छायावादी कवि हैं[१]। 'चिरस्पर्श' (१९५१ ई०), और 'कलापिनी' से लेकर 'सेतुबंध' (१९६६ ई०) तथा 'शुभ्रा' (१९६७ ई०) तक इनकी कविताओं में छायावादी रंग ढंग व्याप्त है। वेद, उपनिषद् और पुराणों के प्रभाव ने इन्हें अत्याधुनिक प्रवृत्तियों से कुछ दूर रखा है। फलस्वरूप, छायावादी काव्यबोध इनकी सर्जनरुचि की अंतिम सीमा है। इनकी सर्वोत्कृष्ट कृति 'ऋतंवरा' है, जो 'कामायनी' के ढंग की एक प्रबंधात्मक रचना है। परंतु वे सभी कृतियाँ हमारे आलोच्यकाल की परिधि से बाहर पड़ती हैं अतः इनका विवेचन यहाँ संगत न होगा।

छायावाद के उत्कर्षकाल में काव्यरचना प्रारंभ करनेवाले कवियों के बीच आरसीप्रसाद सिंह (जन्मकाल : १९११) का नाम भी उल्लेखनीय है। आरसी ने तत्समप्रधान प्रांजल भाषा में प्रकृति, प्रेम और सौंदर्य से संबद्ध अच्छी कविताएँ लिखी हैं, जिनका सर्वोत्तम रूप 'कलापी' में मिलता है। इनकी अनेक कविताओं की शब्दशय्या और छंदभंगी पंत से मिलती जुलती है। उदाहरण के लिये, इनकी ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं…

प्रेयसी मेरी जो अज्ञात—
विमल ज्योत्स्ना सी, मृदु मृदु गात;
कल्पना सी अवदात !
कौमुदी वन में खिलकर रात,
आप ही मुरझा जाती प्रात !

अथवा

आज रे प्राची का मधु हास,
वीचियों का उल्लास ?
दृगों में छवि का छायाभास ;
ज्योतिचुंबित आकाश !

१ द्रष्टव्य : 'मतवाला', ८ दिसंबर, १९२८, पृष्ठ १०, 'छायायाद और बिहार के छायावादी कवि' शीर्षक निबंध, लेखक देवकीनंदन श्रीवास्तव गौर। यह निबंध 'मतवाला' में छपने से पहले पटना के 'नवसाहित्य समाज' द्वारा आयोजित गोष्ठी में पढ़ा गया था।

भर रहा भव में भूतिहुलास;
प्राण ! रज रज में सुख का श्वास ।[१]

अथवा

आज, छाया मधुमास ;...
आज रे छाया नव मधुमास ;
चतुर्दिक् हर्ष हुलास !
प्रवाहित मधुउत्सव का उत्स ;
प्रेमपरिमल सा हास !
मुक्त वातायन पथ से मुग्ध
उमड़ती मृदु मृगपद की वास ![२]

इसी तरह 'कलापी' की 'अप्रस्तुता' शीर्षक कविता छायावादी भावभूमि और अभिव्यक्तिभंगिमा की दृष्टि से हृदयावर्जक है। 'अप्रस्तुता' शीर्षक कविता की प्रारंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

आज, बाँधी नहीं कबरी, सखि, न गूँथा हार।
और सुमनों से किया तुमने नहीं शृंगार।
अश्रुछलछल लोचनों में, क्यों न जाने, एक
वेदना सी वस्तु कोई कर रही अभिषेक।
आज कैसे कर सकोगी प्राणधन को प्यार?
हाय, बाँधी नहीं कबरी, सखि, न गूँथा हार।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि आरसी ने छायावाद के तृतीय उत्थान का सफल प्रतिनिधित्व किया है और इनकी कविताओं में यदा कदा पंत की मसृण भाषाशैली तथा रहस्यपरक प्रकृतिचित्रणों का प्रकट प्रभाव है।

डा० नगेंद्र (जन्मकाल : १९१५ ई०) का कविजीवन भी छायावादी उत्थानकाल में प्रारंभ हुआ था। उस समय छायावादी काव्यकला अपने प्रकर्ष पर पहुँच चुकी थी। डा० नगेंद्र के प्रथम काव्यसंग्रह 'वनबाला' का प्रकाशन १९३७ ई० में हुआ। इस काव्यसंग्रह में इनके छात्रजीवन की गीतिकविताएँ संकलित हैं, जिनमें छायावादी भावबोध और छायावादी अभिव्यक्तिभंगिमा की प्रधानता है। इनके दूसरे काव्यसंग्रह 'छंदमयी' में भी रोमानी भावबोध के साथ छायावादी स्वर सुरक्षित है।

[१] कलापी, आरसी, ग्रंथमाला कार्यालय, पटना, १९३८, पृष्ठ ५७।
[२] उपरिवत्, पृष्ठ ६७।

छायावादी कविता के तृतीय उत्थान् के सर्वोत्तम गीतकार, विद्वान् और संगीतज्ञ कवि जानकीवल्लभ शास्त्री (जन्मकाल : १९१६ ई०) काल और प्रवृत्ति की दृष्टि से छायावाद के गौण कवियों की ही परंपरा में आते हैं। इन्होंने बड़े ही तनुक तारों पर अपनी प्राणविपंची का मादक स्वरसंगीत प्रस्तुत किया है। इनमें अपने रूमान भरे आध्यात्मिक गीतों, शृंगारगीतों या प्रकृतिगीतों को शास्त्रीय संगीत में बाँधकर रचने की प्रवृत्ति है। इनकी काव्यप्रतिभा का विकास बाद में चलकर हुआ।

इन कवियों के अतिरिक्त छायावाद के गौण कवियों की श्रेणी में उन्हें भी गिना जा सकता है, जो कुछ समय के लिये छायावाद की परिधि पर घूमते मँडराते रहे और फिर किसी दूसरी धारा में बह गए। ऐसे परिधि पर के कवियों में भगवतीचरण वर्मा और नरेंद्र शर्मा छायावाद से मुड़कर सिर्फ प्रगतिवाद तक आए, मगर बालकृष्ण राव तो मुड़ते मुड़ते नई कविता तक चले आए।

भगवतीचरण वर्मा (जन्मकाल : १९०३ ई०) यद्यपि मुख्यतः कथाकार हैं, तथापि इनकी सर्जना का आरंभ कविता से हुआ और 'मधुकण' इनका प्रथम तथा आलोच्य कालखंड का प्रसिद्ध काव्यसंग्रह है। इन्होंने १९१६–१७ ई० से ही कविता लिखना प्रारंभ किया था। यह काल विशुद्ध छायावादी काव्यकाल में पड़ता है। दूसरी बात यह है कि इन्हें काव्यलेखन की प्रेरणा अपने हिंदी अध्यापक श्री जगमोहन विकसित से मिली, 'जिनकी गणना उन दिनों हिंदी के अच्छे कवियों में होती थी' और अब जिनका नामोल्लेख गौण छायावादी कवियों के बीच आदरपूर्वक किया जा सकता है। भगवतीचरण वर्मा की आरंभिक काव्यरुचि के निर्माण में 'सरस्वती' और 'प्रताप' का महत्वपूर्ण योग रहा है। इनकी पहली कविता १९१८ ई० में 'प्रताप' में प्रकाशित हुई थी। इनकी कई कविताओं में छायावादी भावबोध की प्रतिनिधि अभिव्यक्ति हुई है। छायावादी भावबोध में कल्पना और वेदना की जो प्रमुखता है, उसकी स्पष्ट स्वीकृति 'मधुकण' की अनेक कविताओं में मिलती है।

काव्यबोध के क्रमिक विकास की दृष्टि से बालकृष्ण राव (जन्मकाल : १९१३ ई०) का काव्यविकास भी कम ध्यानाकर्षक नहीं है। ये पहले ब्रजभाषा काव्यप्रेमी थे और कविता में यति-गति-शुद्धि तथा छंदोबद्धता का बहुत ध्यान रखते थे।

किंतु, युगीन प्रवृत्तियों के ग्रहण की दृष्टि से लोचदार और प्रभावसहिष्णु कविव्यक्तित्व के कारण सिर्फ चार वर्षों के बाद 'आभास' की कविताओं में इनका छायावादविरोधी स्वर लुप्त ही नहीं हुआ, बल्कि ये छायावादी निकाय के अनुवर्ती कवि बन गए और इन्हें इसका अभिमान हो गया कि ये 'तारों का संगीत सुनने और तम की ज्योति देखने' में समर्थ हैं। अतः 'आभास' की कविताओं में ये

छायावादी भावभंगिमा और मंडनशिल्प की ओर पूर्णतः मुड़ गए हैं। इस संग्रह की कविताओं के इंद्रधनुषी और कल्पनाविल शीर्षक ही (एकांत, मुक्ति, आभास, वेदना, विकलता, उच्छ्वास, इत्यादि) जो प्रयोग के पौनःपुन्य से वैशिष्ट्य अर्जित कर छायावादी काव्यधारा के सुपरिचित शब्द बन गए थे, संकेतित करते हैं कि अब कवि 'कौमुदी' की भावदशा के विपरीत 'जीवन के उस पार' और 'अलौकिक रूपराशि' की अनुभूति में ही मुख्यतः रम गया है तथा छायावाद का व्यावर्तक गुण—कैशोर भावुकता में लिप्त सर्वचेतनावाद—उसकी कवितावल्लरी के लिये मालंच बन गया है। इसी तरह 'आभास' में छायावादी कवियों के प्रिय अलंकार 'विशेषण विपर्यय' का भी प्रचुर प्रयोग मिलता है। जैसे–विकल शांति, जाग्रत सुप्त, भ्रांति, शीतलतर ज्वाला इत्यादि। इतना ही नहीं, 'आभास' की कुछ कविताओं में कवि रोमानी रहस्यानुभूति तक पहुँच गया है, जहाँ उसने अपने अधरों पर अनंत के मृदु अधरों के सुखद स्पर्श पाने तक की बात कही है। इसी प्रकार 'आभास' शीर्षक कविता में, जिसके आधार पर संग्रह का नामकरण किया गया है, कवि ने केवल 'कण कण में असीम का अनुमान' ही नहीं किया है, बल्कि 'नीरवता का गान' भी सुन लिया है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'आभास' तक आते आते राव छायावादी गिरोह के हमसुखन बन गए और 'सिद्धहस्ता कल्पना' के कवि हो गए। 'आभास' की कुछ कविताएँ भावपक्ष और कलापक्ष की दृष्टि से छायावादी अनुशासन में इस प्रकार बँधी हुई हैं कि उनपर पंत और महादेवी की कविताओं का स्पष्ट प्रभाव मिलता है। एक कविता तो ऐसी है, जिसका शीर्षक हू ब हू पंत की प्रसिद्ध कविता का शीर्षक 'भावी पत्नी के प्रति' है।

छायावादी काव्यबोध की परिधि पर के अन्य कवियों में नरेंद्र शर्मा (जन्मकाल : १९१३) का भी नाम उल्लेखनीय है। नरेंद्र शर्मा ने अपने प्रारंभिक कविजीवन में ही छायावादी प्रवृत्ति की कविताएँ लिखी हैं। बाद में इनकी कविताओं में प्रगतिशीलता और सामाजिक वस्तुपक्ष के तत्व आ गए। छायावादी कविताएँ इनकी 'शूलफूल' और कुछ एक 'प्रवासी के गीत' में संगृहीत हैं। छायावादी तासीर नरेंद्र शर्मा के तथाकथित प्रगतिवादी काव्यकाल में भी मिल जाती हैं। शायद, इसीलिये नरेंद्र शर्मा १९४३ ई० तक अपने को 'मन की दुर्बलताओं का कवि' मानते रहे।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि यद्यपि उपरिविवेचित कवियों को छायावाद के गौण कवियों की श्रेणी में स्थान दिया गया है, तथापि हिंदी काव्येतिहास के व्यापक संदर्भ में इनका स्थान महत्वपूर्ण है। अतः इन कवियों के प्रसंग में 'गौण' शब्द 'अन्य' का वाचक है, अमहत्वपूर्ण या कम महत्वपूर्ण का नहीं।

३

दार्शनिक आधार

भारतीय संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है उसकी परंपरा का अटूट विकास। अनेक राजनीतिक और सांस्कृतिक आदि घटनाओं तथा दुर्घटनाओं से गुजरते हुए भारतीय चेतना ने न तो पुरातन परंपरा को भुलाया और न ही आगे बढ़ने से हिचकिचाई। आज का साहित्यिक, दार्शनिक आदि विवेचन भी जब ऐतिहासिक क्रम से प्रस्तुत किया जाता है तो उसका आरंभ वेदों से किया जाता है। कुछ लोगों को यह बात एक पुराणपंथी की सनक भी प्रतीत हो सकती है। मगर ऐसे लोग वही हैं जिनके व्यक्तित्व का विकास अधूरा होता है, जो विदेशी इतिहास के तो पंडित बनने का दावा करते हैं, लेकिन जो अपनी परंपरा से अनभिज्ञ होते हैं। ऐसे ही लोग हैं जो भारतीयता या भारतीय परंपरा के नाम से चिढ़ते हैं और उसकी उपेक्षा और निषेध करते हैं। जरूरत पड़ने पर वे लोग भी भारतीयता और भारतीय परंपरा की दुहाई देते दिखाई देते हैं। जाहिर है कि ऐसे व्यक्ति अँगरेजों की गुलामी के भाव से आक्रांत हैं जिसने यह दिखाने की जोरदार कोशिश की कि भारतीय परंपरा और संस्कृति जाहिल और विकृत मन की उपज हैं।

भारतीय जीवन के सांस्कृतिक पहलू पर ईसाई पादरियों के जो तीव्र और व्यापक आरंभिक आक्रमण थे, उन्होंने यहाँ के मनीषियों को नए सिरे से सोचने के लिये मजबूर किया। नए सिरे से सोचने की इस प्रक्रिया में अंग्रेज शासन द्वारा दी गई पश्चिमी शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। लेकिन अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त इन विचारकों ने संतुलन को नष्ट नहीं होने दिया और प्राचीन भारतीय परंपरा को नए सिरे से पश्चिमी चेतना के समकक्ष रखकर देखने की कोशिश की। पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित इन व्यक्तियों के साथ साथ भारतीय परंपरा में पले हुए विचारकों ने भी भारतीय परंपरा को नए सिरे से प्रस्तुत करने का प्रयास किया। राजा राममोहन राय (सन् १७७२–१८३३), स्वामी विवेकानंद (१८६३–१९०२), गोपालकृष्ण गोखले (१८६६–१९१५), बाल गंगाधर तिलक (जन्म १८७६), महात्मा गांधी (१८६९–१९४८) आदि विचारक तो पहले वर्ग के हैं जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षा के आधार पर भारतीय

परंपरा के पुनर्मूल्यांकन और पुनरुत्थान का प्रयास किया और स्वामी दयानंद सरस्वती (१८२४–१८८३) तथा स्वामी रामकृष्ण परमहंस (१८३४–१८८६) आदि मनीषी और भक्त दूसरे वर्ग के अंतर्गत आते हैं जिनका मूलाधार भारतीय परंपरा के विविध तत्व रहे हैं। सन् १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई थी और सन् १८८७ में इंडियन नेशनल सोशल रिफार्म कांफ्रेंस की नींव डाली गई थी। इसके अलावा थियोसोफिकल सोसायटी और सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसायटी जैसी संस्थाएँ भी प्रचार और सुधार का काम कर रही थीं। इन सब व्यक्तियों और संस्थाओं की गतिविधियों का असर उन्नीसवीं शती के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक आते आते काफी सशक्त और व्यापक रूप में दिखाई देने लगा था। उस व्यापक प्रयास के दो पहलू थे—एक प्राचीन भारतीय परंपरा के मूल्यवान तत्वों की शोध और उनकी पुनः प्रतिष्ठा और दूसरा, भारतीय परंपरा के संदर्भ में नवीन पाश्चात्य मूल्यवान तत्वों की स्वीकृति। इससे भारतीय पुनर्जागरण का व्यापक आरंभ हुआ जो आज तक दिखाई दे रहा है। मगर यह पुनर्जागरण सामयिक चेतना के अनुरूप था तथा नए जीवंत पश्चिमी मूल्यों की स्वीकृति की भावना से युक्त था।

इस पुनर्जागरणवादी-संशोधनवादी-विकासवादी चेतना का प्रभाव अनिवार्य रूप से साहित्य पर भी पड़ा। हिंदी साहित्य में भारतेंदुयुग से ही इस चेतना का रूप विकसित होने लगा था। छायावाद तक आते आते इसका स्वर और भी प्रबल तथा स्पष्ट हो गया।

जहाँ तक दर्शन का सवाल है, विभिन्न विचारकों ने अपनी रुचि तथा उद्देश्य के अनुसार विविध दार्शनिक संप्रदायों या दार्शनिक तत्वों को नई व्याख्या के साथ हमारे सामने रखा। दर्शन के क्षेत्र में दो प्रधान स्वर थे वेदांत के आत्मवाद और गीता के कर्मयोग के। इसके अतिरिक्त कुछ मनीषियों ने भारतीय दर्शन को विकासवादी दृष्टि से देखने का प्रयास किया जिसका परिणाम अरविंद का आध्यात्मिक विकासवाद का दर्शन है। आध्यात्मिक विकास का स्वर स्वामी विवेकानंद में भी दिखाई देता है :

'उस असीम शक्ति के प्रकाशन का अर्थ है उससे परिचित होना। धीरे धीरे यह विराट् देव जाग रहा है, अपनी शक्ति से अवगत होता जा रहा है, और प्रबुद्ध होता जा रहा है। जैसे जैसे उसकी चेतना उद्‌बुद्ध होती जाती है, उसके बंधन टूटते जा रहे हैं, उसकी शृंखलाएँ पाश पाश होती जा रही हैं और वह दिन अवश्य आएगा जब यह देव अपनी असीम शक्ति और अबाध कौशल का ज्ञान

प्राप्त कर, अपने पाँव पर तनकर खड़ा हो जाएगा। आइए हम सब मिलकर उस दिव्य जागरण को शीघ्र पूरा होने में सहायता दें।'

(स्वामी विवेकानंद, प्रेक्टिकल वेदांत, पृ० ८१, अनु० लेखक)

'श्री अरविंद ने उपनिषद् दर्शन और चेतन विकासवाद का सामंजस्य किया है। श्री अरविंद ने 'इस देव' से मिलते जुलते गुणोंवाले नास्टिक व्यक्ति की भावना की है। पंत के नवमानव पर इन दोनों की छाया है।'[१]

जयशंकर प्रसाद पर काश्मीर शैव दर्शन का प्रभाव है। इस दर्शन में भी मूल शक्ति के विकास और संकोच की प्रक्रियाओं के आधार पर सृष्टि की व्याख्या का प्रयास है। इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रमुख प्रभाव है बौद्ध दर्शन की करुणा का जिसका प्रभाव महादेवी और कहीं कहीं प्रसाद की रचनाओं में दिखाई देता है।

दर्शन की दृष्टि से छायावादी काव्य उस पुनर्जागरणवादी-संशोधनवादी-विकासवादी चेतना की व्यंजना करता है जो उसके युगजीवन में व्याप्त थी। इस स्थिति की सामान्य और व्यापक व्याख्या के उपरांत छायावादी काव्य में व्याप्त विविध दार्शनिक अवधारणाओं का संकलन और समालोचन किया जाएगा।

भारतीय इतिहास में सबसे पहला शक्तिशाली पुनरुत्थान शंकराचार्य के अद्वैतवाद में दिखाई देता है जिसमें वेदविरोधी बौद्ध धर्म का खंडन कर वैदिक या आस्तिक धारा को नया जीवन प्रदान किया गया है। शंकराचार्य के सिद्धांत पर 'वेदविरोधी' बौद्ध दर्शन का कितना प्रभाव था, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि शकर के विरोधियों ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध तक कह डाला। आधुनिक युग में विद्वानों ने यह भी दिखाने की कोशिश की कि बौद्ध दर्शन पर भी उपनिषदों का काफी असर है। कहने का अभिप्राय यह है कि आस्तिक और नास्तिक धारा में उतना तीव्र विरोध नहीं है जितना कि आम तौर पर समझा जाता है।

आचार्य शंकर का अद्वैतवाद एक युगांतरकारी सिद्धांत साबित हुआ जिसने विविध महत्वपूर्ण दार्शनिक धार्मिक प्रयासों की एक शृंखला को विकसित किया। आचार्य रामानुज, आचार्य वल्लभ, और आचार्य निंबार्क आदि इस शृंखला की कड़ियाँ हैं। उन सिद्धांतों में परस्पर चाहे जितना भी विरोध हो, यह बात बुनियादी महत्व की है कि सभी ने उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और गीता को अपने मतों का

[१] तारकनाथ बाली : सुमित्रानंदन पंत, पृ० ४६।

आधार बनाया। इस प्रकार ये सभी मत उसी पहली पुनरुत्थानवादी धारा के अंतर्गत आते हैं जिसका आरंभ आचार्य शंकर से होता है। प्रत्येक मत ने संशोधन, पुनर्व्याख्या और विकास से युक्त पुनरुत्थान का प्रयास किया।

साहित्य ने इस पुनरुत्थानवादी-संशोधनवादी-विकासवादी चेतना को किस प्रकार प्रतिबिंबित और परिपुष्ट किया है, यह प्रत्यक्ष ही है। विद्रोही कबीरदास अद्वैत से प्रभावित हैं, सूफी जायसी भी अद्वैत के ब्रह्म के प्रभाव से अछूते ही हैं, और सूरदास तो वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित ही थे। लेकिन तत्कालीन चेतना का व्यापक और मार्मिक प्रतिनिधित्व 'नाना पुराण निगमागमसम्मत' मानसकार गोस्वामी तुलसीदास में ही दिखाई देता है जिन्होंने अपने 'मानस' में लोकमानस को ही मुखर करने का प्रयास किया है। रामचरितमानस कहाँ तक 'निगमागम-सम्मत' है और कहाँ तक 'पुराणसंमत' है, यह भली भाँति विदित है। लेकिन इससे एक बात स्पष्ट होती है, और वह है भारतीय जीवनदृष्टि का लोच जो उसकी समाहार और विकास की शक्ति का स्रोत है। वेदांत के ब्रह्म के समान ही भारतीय जीवनदृष्टि निरंतर विकासशील रही है जिसमें हर नए आयाम और हर नए संदर्भ को उसके स्वभाव के अनुकूल समझने, परखने और स्वीकारने का प्रयास किया जाता रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में छायावादी काव्य की दार्शनिक चेतना को समझने का प्रयास होना चाहिए।

मुस्लिम शासनकाल में काव्य दरबारी होता चला गया और उसमें प्रणय के भावों को मुखर किया जाने लगा। इस काल में भारतीय जीवन आत्मरक्षा की भावना से प्रेरित होकर आत्मविश्वासी से अंधविश्वासी होता चला गया। इस अंधविश्वास ने और उसपर आधारित रूढ़ियों ने भारतीय संस्कृति को अटूट बनाए रखने में कितना व्यापक योग दिया है, इसपर यहाँ विचार करने का अवसर नहीं है। लेकिन जब अंग्रेजी शासनकाल में तत्कालीन विषमता की सजगता ने पुनरुत्थान, संशोधन और विकास को प्रेरित किया तो इस वातावरण से प्रभावित होकर काव्य ने भी इसी पुनीत कार्य में अपना योग दिया। छायावादी काव्य की दार्शनिक चेतना उसी पुनरुत्थान की धारा का ही विकास है जिसका आरंभ शंकराचार्य के अद्वैतवाद से हुआ था।

यहाँ यह सवाल किया जा सकता है कि क्या छायावादी दर्शन ने रीति-कालीन भावना की उपेक्षा की? स्पष्ट है, ऐसा नहीं हुआ। छायावादी काव्य ने दर्शन के स्तर पर रीतिकालीन भावना और भक्तिकालीन दार्शनिकता के समन्वय का प्रयास किया है। इसपर आगे विस्तार से विचार किया जाएगा।

छायावादी काव्य के दार्शनिक आधार पर विचार करने से पहले एक और बुनियादी बात पर विचार करना आवश्यक है।

छायावादी काव्य का दर्शन अपने युग की सामाजिक भावना का प्रतिनिधित्व करता है जो केवल तत्कालीन भारतीय ऐतिहासिक परिस्थिति की नहीं वरन् तत्कालीन मानवजाति की ऐतिहासिक परिस्थिति की एक सहज और अनिवार्य माँग थी। छायावादी काव्य में दर्शन का जो पुनरुत्थान हुआ, वह उस युग की सामाजिक माँगों को नजरअंदाज करके नहीं बल्कि उनको ध्यान में रखते हुए उन्हें पूरा करने के उद्देश्य से हुआ। उदाहरण के लिये यह वह युग था जबकि व्यक्ति की बजाए सामाजिक महत्ता के प्रति जागरूकता बढ़ रही थी और साहित्यिक दृष्टि पर भी इसका व्यापक असर पड़ रहा था। छायावादी काव्य के दर्शन में सामाजिक महत्ता की स्वीकृति सर्ववाद के रूप में हुई जिसमें सृष्टि को सत्य और सुंदर माना गया। और इसी संदर्भ में कर्म के महत्व को—निष्काम कर्म के महत्व को—स्वीकृति मिली और इस प्रकार प्रवृत्ति मार्ग की प्रतिष्ठा की गई और 'काम मंगल से मंडित श्रेय' माना गया। इस काम को जो 'मंगल से मंडित श्रेय' है, रीतिकालीन प्रणय (वासना ?) और भक्तिकालीन दार्शनिकता के समन्वय के रूप में देखा जा सकता है क्योंकि 'कामायनी' के अंत में 'प्रेमज्योति' की विमलता में ही 'सब पहचाने से लगते' हैं। इसी भाव का एक रूप करुणा या विश्वप्रेम है—इसीलिये महादेवी 'करुणा की अभिनव वाहक' बनकर 'कन कन' में 'आँसू के मिस' किसी का प्यार ढाल रही हैं। उस युग की सामाजिक भावना के मूल्य थे सृष्टि की सत्यता, कर्म पर आस्था, व्यक्ति (प्रणय) का अतिक्रम कर समाज (करुणा) की स्वीकृति, निवृत्ति और त्याग के स्थान पर प्रवृत्ति, आसक्ति और भोग की प्रतिष्ठा, विकासवाद पर विश्वास, भौतिकता (जड़) और आत्मिकता (चेतन) के सामरस्य की स्थापना और मानवजाति की मूलभूत एकता और समानता पर आस्था। प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी की दार्शनिक दृष्टियों में अंतर के बावजूद इन सबकी दार्शनिक दृष्टियों में इन सभी मूल्यों की स्वीकृति दिखाई देती है। इसी सामान्य धरातल पर छायावादी काव्य की दार्शनिक चेतना का विवेचन वांछनीय है।

मूल सत्य : नए आयाम : सौंदर्य और प्रेम महाभाव

वैसे तो प्रत्येक दार्शनिक सिद्धांत एक पूर्ण इकाई के रूप में होता है। उसे खंड खंड करके देखना केवल एक व्यावहारिक प्रक्रिया है, कोई तात्विक स्थिति नहीं। केवल व्यावहारिक सुविधा के लिये उसके पहलुओं पर अलग अलग विचार किया जाता है। उदाहरण के लिये किसी भी दर्शन के मूल सत्य—यहाँ ब्रह्म के अध्ययन में आत्मा, सृष्टि, माया, साधन और साध्य सभी का अध्ययन समाविष्ट हो जाता है। सृष्टि तथा जीवन के संबंध में जो भी धारणाएँ

होंगी वे मूल सत्य की भावना के अनुरूप होंगी। इसीलिये पहले मूल सत्य का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

द्विवेदीयुग की इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रिया में और तत्कालीन बाह्य दमन और आंतरिक संत्रास—जो छायावादी कवियों की व्यक्तिगत निराशाओं और सामाजिक नैतिक रूढ़ियों से उत्पन्न हुआ था—ने छायावादी कवि को अंतर्मुख होने को विवश किया। यह अंतर्मुखी प्रवृत्ति पहले तो भाव पर—लौकिक प्रणय, सुख दुःख आदि पर स्थित हुई लेकिन वहाँ भी यह अतृप्त रही और अंत में इसे आत्मतत्व या महाचिति में आवास मिला। इस प्रकार यह अंतर्मुखी प्रवृत्ति लौकिक प्रणय के आह्लाद और नैराश्य से होती हुई, विश्व-वेदना—करुणा—की अनुभूति में परिणत हुई। विश्ववेदना की अनुभूति ने करुणा या महाकरुणा का उन्मेष किया जिसके साथ ही सर्ववाद की भावना का उन्मेष सहज रूप से हुआ। यह सर्ववाद किसी विशिष्ट दर्शन का सर्ववाद न होकर प्रायः उपनिषद् के ब्रह्म का सर्ववाद है। प्रसाद अपवाद हैं क्योंकि उन्होंने कश्मीर शैवदर्शन के सर्ववाद को स्वीकार किया। लेकिन उसकी प्रतिष्ठा कामायनी में ही मिलती है। उससे पूर्व तो उनका सर्ववाद उपनिषद् का सर्ववाद ही रहा। 'आँसू' का आरंभ असफल प्रणय की निराशा से होता है। यह निराशा अकर्मण्यता और आत्मघात की ओर भी प्रवृत्त करती है और जीवन की व्यापक वेदना की अनुभूति का साक्षात्कार कराती हुई महाकरुणा अथवा प्रेम महाभाव में भी परिणत हो सकती है। 'आँसू' की भावभूमि का विकास दूसरी रीति से ही हुआ है जहाँ कवि अनुभूति के उस स्तर पर पहुँच जाता है जहाँ वह संसार के सारे दुःखों को अंगीकार कर सृष्टि को सुखमय बनाना चाहता है—

चुन चुन ले रे कन कन से
जगती की सजग व्यथाएँ
रह जाएँगी कहने को
जन - रंजन - करी कथाएँ

\+ \+ \+

जीवन सागर में पावन
बड़वानल की ज्वाला सी
यह सारा कलुष जलाकर
तुम जलो अनलबाला सी

—'आँसू', पृष्ठ ५८।

यह वेदना की सर्ववादी भूमिका है जो छायावादी मानवतावाद का आधार

बनती है। यह प्रेम महाभाव द्वंद्वों का सामरस्य करने में समर्थ है और इसीलिये इस स्थिति को पाकर ही सृष्टि मंगलमय हो सकती है—

जग द्वंद्वों के परिणय की
हे सुरभिमयी जयमाला
किरणों के केसर रज से
भव भर दो मेरी ज्वाला।

—वही, पृष्ठ ६२।

\+ \+ \+

जिसके आगे पुलकित हो
जीवन है सिसकी भरता
हाँ मृत्यु नृत्य करती है
मुसक्याती खड़ी अमरता।
वह मेरे प्रेम विहंसते
जागो मेरे मधुवन में
फिर मधुर भावनाओं का
कलरव हो इस जीवन में।

—वही, पृष्ठ ६४।

पंत की परिवर्तन कविता की भावभूमि का विकास भी लगभग 'आँसू' की की भावभूमिका के विकास के समान ही होता है। आरंभिक निराशा और विनाश के साक्षात्कार से उत्पन्न संत्रास को ब्रह्मवाद में ही आश्रय मिलता है। यह ब्रह्मवाद सर्ववाद के रूप में तो व्यक्त हुआ ही है, साथ ही इसी संदर्भ में सौंदर्य और प्रेम महाभाव का कलात्मक वर्णन भी मिलता है—

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास;
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शांत अंबर में नील विकास;
वही उर उर में प्रेमोच्छ्वास
काव्य में रस, कुसुमों में वास;
अचल तारक पलकों में हास,
लोल लहरों में लास।

—पल्लव, आधुनिक कवि—

इन पंक्तियों में प्रेम महाभाव का विशद वर्णन मिलता है—

दीप के बचे विकास।
अनिल सा लोक लोक में,
हर्ष में और शोक में,
कहाँ नहीं है स्नेह ? साँस सा सबके उर में।
—वही, पृष्ठ ७।

निराला ने भी मूल सत्य के इसी प्रेम महाभाव का सजीव वर्णन किया है—

राम—छोटे से घर की लघु सीमा में
बँधे हैं क्षुद्र भाव
यह सच है प्रिये;
प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भू पर।
प्रेम की महोर्मिमाला तोड़ देती क्षुद्र ठाट
जिसमें संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग
तृण सम बह जाते हैं।
हाथ मलते भोगी,
धड़कते हैं कलेजे उन कायरों के,
सुन सुन प्रेम सिंधु का
सर्वस्व-त्याग-घन गर्जन।

—परिमल, पृष्ठ २३८-३६।

उपनिषदों में सच्चिदानंद ब्रह्म की स्थापना हुई है। छायावादी कवियों ने ब्रह्म के सच्चिदानंद रूप को तो स्वीकार किया है लेकिन उसके दो गुणों पर विशेष बल दिया है। ये गुण हैं सौंदर्य और प्रेम। सृष्टि के सौंदर्य में ब्रह्म के दर्शन या ब्रह्म के व्यक्त रूप सृष्टि के सौंदर्य की यह दार्शनिक स्वीकृति छायावादी काव्य का महत्वपूर्ण तत्व है जो सृष्टि की सत्यता और रमणीयता को ठोस आधार पर प्रतिष्ठित करता है और इसी परिप्रेक्ष्य में प्रवृत्ति मार्ग की प्रतिष्ठा करता है। प्रवृत्ति मार्ग की यह प्रतिष्ठा तत्कालीन युगजीवन की बुनियादी माँग का परिणाम था जिसको औपनिषदिक दर्शन के पुनरुत्थान के स्तर पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। और जहाँ इस व्यापक सौंदर्य की आध्यात्मिक भावना की जाएगी; वहाँ प्रेम महाभाव का उन्मेष सहज रूप में ही हो जाता है। 'कामायनी' के अंतिम दो छंदों में यह मान्यता पुष्ट होती है—

प्रतिफलित हुईं सब आँखें
उस प्रेमज्योति विमला से,
सब पहचाने से लगते
अपनी ही एक कला से।
समरस थे जड़ या चेतन
सुंदर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था।

—कामायनी, पृष्ठ २९४।

यहाँ मूल सत्य के सामरस्य के वर्णन के साथ साथ प्रेमज्योति का भी महत्वपूर्ण स्थान है जो उस 'समरस जड़ चेतन', 'साकार सुंदर', 'चेतनता' और 'अखंड आनंद' के दर्शन कराती है। मूल सत्य से संपृक्त इस प्रेमभाव का एक आधार तो व्यक्तिगत प्रणय का उदात्तीकरण है और दूसरा आधार है सर्ववाद।

महादेवी की इन पंक्तियों में सत्य, सौंदर्य, प्रेम और आनंद की संपृक्त स्थिति का स्पष्ट वर्णन हुआ है—

'सत्य काव्य का साध्य और सौंदर्य साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनंत। इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खंड रूप से साध्य की विस्मयभरी अखंड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनंद की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।'

—दीपशिखा, भूमिका, पृ० ५।

मूल सत्य के सौंदर्य पक्ष पर सभी छायावादी कवियों ने बल दिया है। प्रसाद जी भी कविता को आत्मा की 'संकल्पात्मक अनुभूति' मानते हैं। और 'संकल्पात्मक अनुभूति आत्मा के मनन की वह असाधारण अवस्था है जिसमें वह श्रेय सत्य को उनके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेता है।' यहाँ भी काव्य के संदर्भ में सत्य के सौंदर्य पक्ष पर बल दिया गया है। यह उपनिषद् के सर्ववाद के अनुरूप ही है। प्राचीन दार्शनिकों ने मूल सत्य के सत्, चित्, आनंद आदि गुणों पर विशेष बल दिया है। लेकिन छायावादी कवि उसी मूल सत्य को स्वीकार करते हुए उसके सौंदर्य और आनंद पर विशेष बल देते हैं। और इस आनंद को अधिक विशिष्ट रूप में—प्रेम महाभाव के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

सृष्टि का समस्त सौंदर्य उसी मूल सत्य के तेज का ही अंश है। इस बात को स्पष्ट करते हुए भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशंसंभवम्॥ —१०।४१

सभी छायावादी कवि सत्कार्यवाद को स्वीकार करते हैं जिसके अनुसार यह माना जाता है कि कार्य की सत्ता कारण में ही विद्यमान रहती है और कार्य कारण का ही व्यक्त रूप है। इसलिये सृष्टि ब्रह्म से अलग या भिन्न नहीं है। वह तो ब्रह्म का ही रूप है। इसीलिये तो समस्त सृष्टि का सौंदर्य उसी ब्रह्म के सौंदर्य के रूप में दिखाई देता है तथा इसी सौंदर्य के परिचय से और इसी सौंदर्य में अनुरक्ति द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति संभव होती है। सृष्टि के उदय का काव्यात्मक वर्णन करते हुए सभी छायावादी कवियों ने सागर और लहरों का उदाहरण दिया है—

प्रसाद

नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा सी नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।
—कामायनी, पृष्ठ ५४।

\+ \+ \+

निराला

स्थित मैं आनंद में चिरकाल
जाल मुक्त। ज्ञानांबुधि
वीचिरहित। इच्छा हुई सृष्टि की,
प्रथम तरंग वह आनंद सिंधु में,
प्रथम कंपन में संपूर्ण बीज सृष्टि के
पूर्णता से खुला मैं पूर्ण सृष्टिशक्ति ले,
त्रिगुणात्मक रचे रूप
विकसित किया मन को,
बुद्धि, चित्त अहंकार पंचभूत
रूप–रस–गंध–स्पर्श
शब्दज संसार यह,
वीचियाँ हीं अगिनित शुचि सच्चिदानंद की।
—परिमल, जागरण, पृष्ठ २६२।

\+ \+ \+

पंत

नित्य का यह अनित्य नर्तन
विवर्तन जग, जग व्यावर्तन,
अचिर में चिर का अन्वेषण
विश्व का तत्वपूर्ण दर्शन।
अतल से एक अकूल उमंग,
सृष्टि की उठती तरल तरंग,
उमड़ शत शत बुद्बुद् संसार
बूड़ जाते निस्सार।
——पल्लव, परिवर्तन, रश्मिबंध, पृष्ठ ५०।

+ + +

महादेवी

सिंधु को क्या परिचय दें देव
बिगड़ते बनते वीचिविलास ?
क्षुद्र हैं मेरे बुद्बुद् प्राण
तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश !

+ + +

जन्म ही जिसको हुआ वियोग
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास;
चुरा लाया जो विश्व समीर
वही पीड़ा की पहली साँस।
——रश्मि, यामा, पृष्ठ ६६।

ब्रह्म और सृष्टि दोनों को सत्य मान लेने पर जीवनसाधना के मार्ग का स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। जीवन की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है दुःख की, उद्वेग की। इस समस्या को विविध प्रसंगों में विविध अर्थों द्वारा व्यक्त किया जाता है। इन अर्थों में संवेदन भी है और तथ्य भी। उदाहरण के लिये निराशा, पतन, मोह, भ्रम, नश्वरता, मृत्यु, त्रास, विघटन, कुंठा, जिजीविषा आदि को लिया जा सकता है। प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति किसी न किसी अवस्था में और किसी न किसी स्तर पर जीवन और उत्कर्ष की आकांक्षा में और मृत्यु तथा पतन के त्रास में बँधा हुआ जीता है। यही जीवन का द्वंद्व है जो व्यक्ति और समाज को संश्लिष्ट इकाई को प्रेरित भी करता है और त्रस्त भी, मुक्त भी करता है और अवरुद्ध भी, आश्वस्त भी करता है और आतंकित भी। जीवन एक सहज अनिवार्य द्वंद्व से ग्रस्त प्रतीत होता है। और यह

द्वंद्व इतना रमणीय और इतना भीषण है कि कोई भी धर्म या दर्शन इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। दरअसल सभी धर्म और दर्शन इसी द्वंद्व में ही उत्पन्न होते हैं और उसकी स्वीकृति तथा प्रतिकार में समाप्त हो जाते है। इस द्वंद्व को आध्यात्मिक धरातल पर भी समझने और सुलझाने का प्रयास होता रहा है और भौतिक धरातल पर भी। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि इन दोनों धरातलों पर स्वीकृत द्वंद्व दो प्रकार का है। अपने मूल रूप में यह एक ही विषम स्थिति है जिसे अलग अलग दृष्टियों ने अलग अलग स्तरों पर स्वीकार किया है। यह द्वंद्व ही जीवन का और जगत् का सनातन तत्व है जो जीवन का समकालीन होने से अनंत भी है। सभी छायावादी कवियों ने इस द्वंद्व अथवा विषमता का अनुभव किया है और उसके मूल में स्थित सामरस्य पर बल देने का प्रयास किया है। यदि एक बार सामरस्य को इस द्वंद्व का मूल मान लिया जाए तो फिर उसे इस द्वंद्व का अंत मानने में कोई बाधा नहीं रह जाती। उस द्वंद्व का अंत ही जीवन का पुरुषार्थ और लक्ष्य है जिसे मोक्ष, निर्वाण, समाजवाद आदि नाम दिए जाते हैं। मुक्ति का यह बोध केवल चेतना के धरातल पर ही नहीं होता वरन् पदार्थ के धरातल पर ही होता है। मुक्ति केवल मनोजगत् के द्वंद्व से ही नहीं होती वरन् भौतिक जगत् के संघर्ष से भी होती है। मुक्ति का अर्थ है द्वंद्व का परिहार जो दोनों—चिति तथा भौतिकता—के स्तरों पर होता है।

आध्यात्मिक दर्शनों में यह द्वंद्व दो रूपों में मिलता है। एक ओर तो व्यक्ति (आत्मा) और मूल सत्य (ब्रह्म) के संबंध की समस्या है और इस स्तर पर आत्मा और ब्रह्म के द्वंद्व के परिहार की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर जीवन में सुख और दुःख का द्वंद्व है। द्वंद्व के ये दोनों रूप मूलतः एक ही द्वंद्व की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इसीलिये सभी आध्यात्मिक दर्शनों में दोनों का समाहार एक ही उत्तर से हो जाता है। सभी छायावादी कवियों ने सर्ववाद की भूमिका में द्वंद्व के इन दोनों रूपों के समाहार का प्रयास किया है।

सभी छायावादी कवियों के काव्य और चिंतन में द्वंद्व के इन दोनों रूपों का चित्रण देखा जा सकता है। एक ओर तो उनके व्यक्तिगत जीवन की निराशा और कुंठा है जिसका जन्म प्रणय की असफलता या भौतिक अभावों की यंत्रणा से होता है। इन व्यक्तिगत कुंठाओं या मंत्रणाओं के लिये किसी अंश तक समाज भी उत्तरदायी है। दूसरी ओर सामाजिक जीवन का द्वंद्व है जिसमें राजनीतिक पराधीनता और आर्थिक विषमता प्रधान कारणों के रूप में स्वीकार किए जा सकते हैं।

प्रसाद और महादेवी ने द्वंद्व के इन दोनों रूपों को आध्यात्मिक स्तर पर

ही सुलझाने का प्रयास किया है। महादेवी की अनुभूति का क्षेत्र बहुत सीमित है, वे रहस्यवादी अनुभूति की परिधि से बाहर नहीं निकल पातीं, और यह प्रयास करती हैं कि सभी समस्याओं का समाधान इस रहस्यवादी परिधि के भीतर ही ढूँढ निकाला जाए। निर्गुण निराकार ब्रह्म उनकी भावना का आलंबन है। और यह सृष्टि उसी ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। इसलिये महादेवी के मन में अपने प्रिय के व्यक्त रूप सृष्टि के प्रति भी प्रेम की भावना है जिसे प्रेम महाभाव कहा गया है। महादेवी पर प्रायः यह आक्षेप लगाया जाता है कि वे एकांत साधना में इतनी डूबी रहती हैं कि सृष्टि की व्यापकता की ओर से विमुख हो गई हैं। लेकिन महादेवी इन पंक्तियों में इस आक्षेप का उत्तर देती सी प्रतीत होती हैं—

जाने क्यों कहता है कोई
मैं तम की उलझन में खोई
धूममयी वीथी वीथी में
लुक छिपकर विद्युत् सी रोई
मैं कण कण में ढाल रही अलि आँसू के मिस प्यार किसी का।

—महादेवी, दीपशिखा, पृष्ठ १२२।

इसी प्रकार प्रसाद में भी भौतिक द्वंद्व की स्वीकृति एक सीमा तक ही हो पाई है। यद्यपि कामायनी आरंभ में मनु को कर्म का उपदेश देती है तथापि जब कर्म का विकास सारस्वत प्रदेश की नई यंत्रप्रधान सभ्यता के रूप में होता है तो कवि का दर्शन द्वंद्व के उस व्यक्त व्यापक रूप को नकारने का प्रयास करता है। श्रद्धा मनु को उस सभ्यता के परिणामों से मुक्ति दिलाकर कैलाश के सामरस्य तक ले जाती है; मगर उस सभ्यता के द्वंद्व, जो व्यक्त और व्यापक भौतिक द्वंद्व है, का समाधान नहीं हो पाता। कैलाश पर पहुँचकर इड़ा और मानव को भी सामरस्य के दर्शन होते हैं और इस दर्शन से प्रेरित होकर वे उक्त भौतिक सभ्यता के द्वंद्व का समाहार कर सकते हैं, ऐसा कहना या मानना कामायनी काव्य और उसके दर्शन की सीमा से बाहर जाना होगा जो अपने आपमें एक व्यर्थ की बात होगी।

पंत और निराला ने भौतिक द्वंद्व के परिहार का अधिक मुक्त प्रयत्न करने का प्रयास किया है। लेकिन आध्यात्मिक पूर्वग्रह उनमें भी बराबर बने रहते हैं। कारण यह है कि उनका चिंतन अपने आरंभिक काल में ही उपनिषद् का गंभीर प्रभाव ग्रहण कर चुका था।

द्वंद्व का समाधान होता है सामरस्य में। इस सामरस्य के भी दो रूप हैं। पहले रूप में आत्मा और ब्रह्म के संबंध की प्रतिष्ठा होती है। यहाँ यह प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया जाता है कि आत्मा और ब्रह्म में द्वैत नहीं है। दोनों नित्य संबद्ध हैं। ब्रह्म मूल शक्ति या महाचिति है और उसी से आत्मा का जन्म हुआ है।

दूसरी ओर जीवन के प्रत्यक्ष द्वंद्व के समाहार का प्रयास किया जाता है। इसके अंतर्गत सुख दुःख आदि के विविध द्वंद्वों के बीच समत्व बुद्धि की प्रतिष्ठा की जाती है।

प्रसाद ने सृष्टि को महाचिति की लीला माना है और इस लीला में सभी का अनुरक्त होना स्वाभाविक ही है। ब्रह्म और आत्मा का द्वैत इसी लीला का परिणाम प्रतीत होता है, मगर यह द्वैत तात्विक नहीं है, केवल व्यावहारिक ही है—

कर रही लीलामय आनंद,
　　महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
　　इसी में सब होते अनुरक्त।

—प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ ५३।

व्यक्ति को सुख और दुःख दोनों से अनासक्त रहकर दोनों में सामरस्य की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। और यह सुख दुःख तो विकास का सत्य है; यदि जीवन में दुःख से दूर रहने की और सुख को पाने की इच्छा न हो तो फिर व्यक्ति परिश्रम ही क्यों करेगा—

हो उदासीन दोनों से
सुख दुख से मेल कराएँ
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनाएँ।

—प्रसाद, आँसू, पृष्ठ ५०।

×　　×　　×

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
　　हो रहा स्पंदित विश्व महान्;
यही दुख सुख विकास का सत्य
　　यही भूमा का मधुमय दान।

—प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ ५४।

वैषम्य से दुःख तब उत्पन्न होता है जब जीवन में सामरस्य का अभाव होता है, जब मन की विविध वृत्तियाँ एक दूसरे से असंबद्ध और परंपराविरुद्ध रहती हैं। इसलिये इस प्रत्यक्ष विषमता के मूल में स्थित सामरस्य के दर्शन के लिये जिस साधना की अपेक्षा है उसमें सभी मानसिक वृत्तियों और शक्तियों का सामरस्य होना अनिवार्य है। जब तक यह सामरस्य नहीं होगा तब तक जीवन को खंडित प्रतीति होगी और केवल असफलता और निराशा की प्राप्ति होगी—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
　　इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
　　यह विडंबना है जीवन की।

—प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ २७२।

निराला ने 'तुम और मैं' कविता में ब्रह्म और आत्मा के संबंध की अभिव्यक्ति की है। कुछ लोगों को इस कविता में रहस्यवाद नजर आता है। मगर रहस्यवादी भावना और इस कविता की भावना में बुनियादी अंतर है, जिस-पर बाद में विचार किया जाएगा। इस कविता के विविध बिंबों से तीन बातें स्पष्ट हैं। प्रथम, आत्मा का जन्म ब्रह्म से हुआ है इसलिये ब्रह्म प्रधान है और आत्मा गौण। द्वितीय, यह धारणा विशिष्टाद्वैतवाद के निकट पड़ती है जिसमें आत्मा ब्रह्म का विशेषण मानी जाती है। तृतीय, यहाँ शंकराचार्य का अद्वैतवाद नहीं है।

तुम मृदु मानस के भाव
　　और मैं मनोरंजनी भाषा;
तुम नंदनवन-घन-विटप
　　और मैं सुख-शीतल-तल-शाखा,
तुम प्राण और मैं काया,
　तुम शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म
　　मैं मनोमोहिनी माया।

+　　+　　+

तुम नभ हो, मैं नीलिमा
　　तुम शरत्काल के बाल इंदु
मैं हूँ निशीथ मधुरिमा।

—निराला-अपरा, तुम और मैं, पृ० ५८–५९।

महादेवी ने भी ब्रह्म और आत्मा के संबंध के बारे में इसी प्रकार के उद्गार व्यक्त किए हैं—

तुम असीम विस्तार ज्योति के
　　मैं तारक सुकुमार,
तेरी रेखा रूप हीनता
　　है जिसमें साकार।

×　　×　　×

तुम हो विधु के बिंब और मैं
मुग्धा रश्मि अजान
जिसे खींच लाते अस्थिर कर
कौतूहल के बाण।

—यामा, रश्मि, पृष्ठ १०५, १०६।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि इन कवियों ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद को स्वीकार नहीं किया जिसमें आत्मा ब्रह्म ही है। कारण स्पष्ट है। अद्वैत के इस तत्व को स्वीकार करने पर सृष्टि की सत्यता को बनाए रखना असंभव था और फिर न तो भक्ति या रहस्यवादी भावना की अभिव्यक्ति का अवकाश रहता और न ही प्रवृत्ति मार्ग की स्वीकृति संभव होती।

निराला में कहीं कहीं अद्वैत की प्रतिष्ठा भी मिलती है लेकिन निराला की समग्र चेतना अद्वैत की अपेक्षा विशिष्टाद्वैत के अधिक निकट पड़ती है। प्रेम की स्वीकृति के लिये अद्वैत की अस्वीकृति अनिवार्य है। इसलिये इन पंक्तियों में अद्वैत की अभिव्यक्ति के उपरांत कवि प्रेम के महत्व का वर्णन भी उसी मनोयोग से करता है—

राम—भक्ति भोग-कर्म ज्ञान एक ही हैं
यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते हैं।
एक ही है, दूसरा नहीं है कुछ
द्वैत भाव ही है भ्रम।
तो भी प्रिये,
भ्रम के ही भीतर से
भ्रम के पार जाना है।
मुनियों ने मनुष्यों के मन की गति
सोच ली थी पहले ही।
इसीलिये द्वैत भावभावुकों में
भक्ति की भावना भरी—
प्रेम के पिपासुओं को
सेवाजन्य प्रेम का
जो अति ही पवित्र है,
उपदेश दिया।

—निराला, परिमल, पंचवटी प्रसंग, पृ० २३।

पंत ने पहले तो उपनिषद् के सर्ववाद को ही स्वीकार किया था—'एक ही तो असीम उल्लास; जगत में पाता विविधाभास आदि 'परिवर्तन' कविता की

पंक्तियों में प्रायः वैसे ही बिंबों का प्रयोग किया है जो कि निराला या महादेवी के उद्धरणों में आए हैं—

एक छवि के असंख्य उडगन,
एक ही सब में स्पंदन;
एक छवि के विभात में लीन
एक विधि के रे नित्य अधीन !

—पंत, रश्मिबंध, पल्लव, पृष्ठ ५० ।

ब्रह्म अनंत अरूप ज्योति है और आत्मा उस ज्योति का विशिष्ट रूप तारक है। महादेवी और पंत दोनों के बिंब एक से ही हैं। परवर्ती काव्य में पंत ने ब्रह्म और आत्मा के नित्य संबंध को स्वीकार किया है लेकिन यह स्वीकृति आध्यात्मिक विकासवाद के अंतर पर हुई है। यह सृष्टि एक ही मूल चित् शक्ति का विकास है और पदार्थ आत्मा (मन और अति मन) सब उसी परम चिति के ही विशिष्ट रूप हैं। एक प्रकार के अद्वैत की स्थिति यहाँ भी दिखाई देती है मगर यह भी शांकर अद्वैत से भिन्न है।

परम पद की प्राप्ति के लिये जीवन में समत्व बुद्धि का होना आवश्यक है। इसका अर्थ यह है कि जब तक व्यक्ति के मन में दुःख से विरक्ति का और सुख में अनुरक्ति का भाव है, तब तक वह सीमाओं में घिरा रहता है और चेतना का यह संकोच उसकी उन्नति को रोक देता है। इसलिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति सुख और दुःख में सामरस्य का दर्शन करे। द्वंद्व के इस रूप का समाहार करने के लिये छायावादियों के दर्शन में दो बातें विचारणीय हैं। पहली तो यह कि इन सभी कवियों ने यह माना है कि सुख और दुःख दोनों का स्रोत एक ही पराशक्ति है जिससे आत्मा अभिन्न रूप से संपृक्त है। इसलिये इस तत्वज्ञान को प्राप्त कर दोनों को समान भाव से देखा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि ऐसी स्थिति में व्यक्ति या तो दोनों को ही त्याग सकता है (निवृत्ति मार्ग) अथवा वह दोनों को ही स्वीकार कर सकता है (प्रवृत्ति मार्ग)। छायावादी कवियों ने पहला मार्ग नहीं अपनाया। वे निवृत्तिवादी नहीं हैं। इसीलिये शांकर अद्वैत उनके समग्र जीवनदर्शन के अनुकूल नहीं है। वे सब प्रवृत्तिमार्गी हैं, सब में कर्म पर आस्था है।

प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी सभी ने सुख दुःख आदि का स्रोत उसी मूल शक्ति को माना है जिससे आत्मा और सृष्टि का जन्म हुआ है। प्रसाद

के 'नित्य समरसता का अधिकार' वाले उद्धरण से यह स्पष्ट ही है। व्यथा की नीली लहरें और द्युतिमान मणियाँ सभी सागर की चंचलता में ही व्यक्त होते हैं। निराला ने जीवन के उन द्वंद्वों का वर्णन इन पंक्तियों में किया है—

यही तो है जग का कंपन—
अचलता में सुस्पंदित प्राण—
अहंकृति में झंकृति - जीवन—
सरल अविराम पतन-उत्थान—
दया-भय-हर्ष-क्रोध-अभिमान
दुःख-सुख-तृष्णा-ज्ञानाज्ञान।
—निराला, अपरा, स्मृति, पृ० ६६।

\+ \+ \+

जीवन की विजय सब पराजय,
चिर अतीत आशा, सुख सब भय
सब में तुम, तुममें सब तन्मय
—निराला-परिमल- पारस, पृष्ठ ७१।

महादेवी ने भी इसी मूल सत्य के आधार पर समत्व का वर्णन किया है—

नाश भी हूँ मैं अनंत विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी,
तार भी, आघात भी, झंकार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी,
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ।
—यामा, नीरजा, पृ० १४३।

और साधना के क्रम में सुख और दुःख, दोनों ही समीप आ गए हैं—'छाँह में उसकी गए आ शूल फूल समीप' (दीपशिखा) अथवा 'किसलिये अलि फूल सोबर शूल आज बखानती री (दीपशिखा)।

पंत ने भी सर्ववाद की भूमिका में ही सुख और दुःख एवं जीवन तथा मृत्यु के द्वंद्व के समाहार का प्रयास किया है—

एक ही लोल लहर के छोर
उभय सुख दुख, निशि भोर;
इन्हीं से पूर्ण त्रिगुण संसार,
सृजन ही है, संहार।
मूँदती नयन मृत्यु की रात
खोलती नव जीवन की प्रात,

शिशिर की सर्व प्रलय कर वात
बीज बोती अज्ञात।
—पंत, रश्मिबंध, पल्लव, परिवर्तन, पृ० ५०।

इस सामरस्य या द्वंद्व के समाहार की, गीता के स्थितप्रज्ञ के समत्वभाव से तुलना की जा सकती है—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

\+ \+ \+ \+

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषुविगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

—गीता, २।४८, ५६।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि छायावादी काव्य के दर्शन में सृष्टि की सत्यता आधारित है मूल सत्य पर, सामरस्य या समत्व आधारित है सृष्टि की सत्यता पर और प्रवृत्तिमार्ग आधारित है सामरस्य या समत्व पर। स्थूल सृष्टि के सौंदर्य के सत्य पर आधारित प्रवृत्तिमार्ग छायावादी काव्य के दर्शन का मूल और प्रधान स्वर है। यह स्वर पुनरुत्थान की व्यापक साधना पर आधारित है। मगर साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यह स्वर तत्कालीन परिस्थितियों और आकांक्षाओं को तृप्त करने का प्रयास करता है। विज्ञान पर आधारित एक नई सभ्यता के प्रयास से भारतीय जीवन में भी नए परिवर्तन दिखाई दे रहे थे। विज्ञान ने स्थूल सृष्टि को समझने का प्रयास ही नहीं किया वरन् नए प्राप्त ज्ञान के आधार पर प्रकृति की शक्तियों का उपयोग भी किया जिससे जीवन अधिक समृद्ध, सुखद और स्पृहणीय बन गया। स्थूल सृष्टि के प्रति बढ़ती हुई आसक्ति के कारण व्यक्ति सामान्यतः विरक्ति या निर्वेद पर आधारित दर्शन की ओर उन्मुख नहीं हो सकता था। इसलिये तत्कालीन सामाजिक चेतना के विकास की अवस्था में प्रवृत्ति के स्वर का प्रधान रूप से प्रभावशाली होना स्वाभाविक ही था।

विज्ञान ने ज्ञान के क्षेत्र को भी व्यापक रूप से विस्तृत किया। प्रेस के आविष्कार के कारण ज्ञान कुछ इने गिने व्यक्तियों की संपत्ति नहीं रह गया था। इसलिये आधुनिक युग के मनीषियों के लिये ज्ञान का अनंत क्षेत्र खुला पड़ा है। ज्ञान के इस व्यापक विस्तार के कारण वादों और संप्रदायों की शक्ति का क्षीण होना स्वाभाविक ही था। एक व्यक्ति आसानी से अनेक वादों और संप्रदायों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और इसलिये वह अनेक वादों और संप्रदायों से सहज और अनिवार्य रूप से प्रभाव ग्रहण करता है। यह क्रिया इतनी स्वाभाविक और

अनिवार्य है कि जो सामाजिक व्यवस्थाएँ किसी एक वाद पर आधारित हैं और उसी एक वाद पर आधारित रहना चाहती हैं वहाँ दृढ़ता से यह प्रयास किया जाता है कि ज्ञान के प्रचार और प्रसार के साधनों पर पूरा पूरा नियंत्रण किया जाए ताकि वहाँ के व्यक्ति को केवल एक वाद का ही ज्ञान प्राप्त हो। भारत में इस प्रकार का नियंत्रण न कभी रहा है और न ही कभी रह सकता है। यही कारण है कि दार्शनिकों और मतवादियों के अतिरिक्त जो चिंतक या कलाकार हुए हैं उन्होंने एकाधिक मतों से प्रभाव ग्रहण किया है। यह बात हमें कबीर और तुलसी में दिखाई देती है और आधुनिक कवियों तथा कलाकारों में भी। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी में ऐसे कवि और कलाकार भी हुए हैं जो विशिष्ट दर्शन या मत में ही सीमित होकर रह गए हैं। मगर अधिकतर सर्जक इन दृढ़ सीमाओं के बंधन से मुक्त हैं। छायावादी कवियों में प्रसाद के अतिरिक्त अन्य किसी भी कवि को किसी विशिष्ट वाद से नहीं बाँधा जा सकता। प्रसाद की कामायनी में काश्मीर शैव दर्शन का आधार है मगर यहाँ भी प्रसाद ने उन सब तत्वों को स्वीकार किया है जो उस दर्शन के भीतर स्वीकार किए जा सकते थे। यहाँ तक कि परमाणुओं और विद्युत्कणों का भी उल्लेख है। निराला, पंत और महादेवी इन तीनों को किसी एक विशिष्ट दर्शन से नहीं बाँधा जा सकता। कहीं कहीं अद्वैत का प्रभाव दिखाई देता है मगर वह प्रभाव ही है, कोई मताग्रह नहीं है। छायावादी काव्य किसी विशिष्ट दार्शनिक वाद की अपेक्षा उपनिषद् के दर्शन के अधिक समीप है जिसमें कुछ सामान्य सत्यों की स्वीकृति है और किसी वादविशेष के बंधन भी नहीं हैं। साथ ही गीता के कर्मयोग का प्रभाव भी स्पष्ट है।

छायावादी काव्य के दार्शनिक आधार के बारे में ये सामान्य बातें कही जा सकती हैं—

(१) सच्चिदानंद ब्रह्म मूल सत्य है जिससे समस्त सृष्टि का उदय हुआ है। छायावादी कवियों ने इस मूल सत्य के दो नए पक्षों—सौंदर्य और प्रेम महाभाव—पर विशेष बल दिया है।

(२) आत्मा और जगत् का जन्म उस मूल सत्य से हुआ है। आत्मा और जगत् दोनों ही अव्यक्त रूप से ब्रह्म में विद्यमान रहते हैं इसलिये वे दोनों ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं—जैसे लहरें सागर की अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार सभी छायावादी कवियों को सत्कार्यवाद पर विश्वास है।

(३) आत्मा और ब्रह्म के संबंध को कहीं कहीं अद्वैत पर आधारित माना गया है। लेकिन प्रायः आत्मा को ब्रह्म का विशिष्ट सीमित रूप और विशेषण माना गया है।

(४) मन और सृष्टि का द्वंद्व प्रातिभासिक है। मूलतः सर्वत्र सामरस्य या समत्व की व्याप्ति है। इसका अनुभव तभी होता है जब व्यक्ति अज्ञान या मोह से मुक्त होता है। अज्ञान व्यक्ति को मूल सत्य से विमुख कर उसे उससे दूर ले जाता है। अज्ञान चेतन की अनंत शक्ति को संकुचित कर देता है।

(५) सभी छायावादी कवियों ने प्रवृत्तिमार्ग को स्वीकार किया है। जीवन का सुख 'मंगल से मंडित श्रेय' है।

(६) साधना सामरस्य अथवा समत्व की भावना पर प्रतिष्ठित है जो भोग से होती हुई निर्वेद की ओर अग्रसर होती है। इस साधना में प्रेम महाभाव या करुणा का विशेष महत्व है।

(७) महादेवी के अतिरिक्त अन्य तीनों कवियों में मोक्ष की या परम पद की कल्पना विद्यमान है। सिवाय प्रसाद के किसी अन्य कवि ने इस परम पद की सुनिश्चित व्यंजना नहीं की।

उपर्युक्त समानताओं के अतिरिक्त छायावादी कवियों के दर्शन में कुछ अंतर भी है। सबसे पहली बात तो यह है कि प्रसाद के सिवाय किसी भी कवि ने किसी विशिष्ट दर्शन का सांगोपांग निरूपण नहीं किया है। कामायनी ही एक ऐसा ग्रंथ है जिसे निश्चित रूप से काश्मीर शैवदर्शन पर आधारित माना जा सकता है। शेष कवियों ने उपर्युक्त सभी तत्वों पर सामान्य रूप से विचार किया है— किसी एक निश्चित दर्शन के संदर्भ में उनकी व्यापक प्रतिष्ठा का प्रयास उन्मुक्त कविचेतना को काम्य नहीं प्रतीत हुआ। पंत के परवर्ती काव्य में आध्यात्मिक विकासवाद का जो स्वर सुनाई देता है वह भी उपनिषदों के दर्शन की उस नई व्याख्या का प्रभाव है जो अरविंद के दर्शन में प्राप्त होती है। उपनिषद् के अनुसार सृष्टि ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म का विकास ही इस अनेक नामरूपात्मक जगत् के रूप में दिखाई देता है। इसलिये आज तक संसार में जितने 'नए' आविष्कार या विकास हुए हैं वे सब उसी मूल शक्ति के उन्मीलन का परिणाम हैं। वह मूल शक्ति एक बार ही पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं हो जाती। इस व्यक्ति में समय के क्रम को स्वीकार कर लेने पर हम उस आध्यात्मिक विकासवाद पर पहुँच जाते हैं जो पंत जी की परवर्ती रचनाओं का प्रतिपाद्य है, और कालक्रम में होनेवाले इन 'नए' रूपों और व्यापारों को स्वीकार कर लेने के उपरांत सहज ही व्यक्ति भविष्य के उन रूपों और व्यापारों की व्यवस्था की भावना कर सकता है जो वर्तमान जीवन के सभी संकोचों और द्वंद्वों से मुक्त होगी। पंत का नूतन काव्य इसी संदर्भ में समझा जा सकता है।

निराला और महादेवी प्रधान रूप से मुक्तककार हैं। इसलिये उनकी रचनाओं में दर्शन की अभिव्यक्ति सूक्ष्म संकेतों के रूप में या बिंबों के माध्यम से हुई है। एक सीमित काव्यरूप की स्वीकृति के कारण उनमें दर्शन के विविध पक्षों के व्यापक और मूर्त चित्रण का कोई अवकाश नहीं था। लेकिन फिर भी दर्शन को व्यक्त करनेवाले संकेतों और बिंबों के आधार पर उनकी दार्शनिक चेतना की रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। इसकी सामान्य विशेषताओं की चर्चा की जा चुकी है।

साधना के रूप में इन कवियों में विनय और भक्ति के उद्गार भी मिलते हैं। प्रार्थना का स्वर निराला की कविताओं में सबसे अधिक मुखर है —

तरणि तार दो
अपर पार को।
खे खेकर थके हाथ
कोई भी नहीं साथ
श्रमसीकर भरा माथ
बीच धार ओ !

\+ + +

पड़ी भँवर बीच नाव
भूले हैं सभी दाँव
रुकता है नहीं राव
सलिलसार ओ !

—अपरा, गीत, पृष्ठ १७५-७६।

उधर पंत भी कहते हैं 'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन।' महादेवी की साधना भी पूजा या अर्चना से भिन्न नहीं है—'क्या पूजा क्या अर्चन रे।' प्रसाद की दार्शनिक चेतना इतनी प्रबुद्ध और गंभीर थी कि उन्होंने कर्म और निष्ठा से युक्त साधना को ही विशेष महत्व दिया है। लेकिन अन्य कवियों में विनय, प्रार्थना और भक्ति का स्वर एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भी मध्यकालीन भारतीय साधनापद्धति का विकास या पुनरुत्थान देखा जा सकता है। यदि गोस्वामी तुलसीदास भक्त होने से पहले भी कविता करते तो स्पष्ट है कि उनकी कविता प्रणय के गीत होती। प्रणय में निराश होने पर ही उन्होंने भक्तिकाव्य की रचना की। इस प्रकार यदि वे आरंभ से ही कवि होते तो उनके काव्य का विकास भी छायावादी काव्य के विकास से मिलता जुलता होता।

प्रसाद और निराला के काव्य में रहस्यसाधना का भी काफी प्रभाव

दिखाई देता है। कामायनी में श्रद्धा द्वारा त्रिपुर का वर्णन, उनका संमिलन, अनहद नाद की अभिव्यक्ति नर्तित नटेश के दर्शन आदि सभी तत्व रहस्यसाधना के अंतर्गत आते हैं। उधर निराला की अनेक रचनाओं में योग और ध्यान आदि का गंभीर रूप से चित्रण हुआ है। 'राम की शक्तिपूजा' का प्रधान कार्य ही राम की योगसाधना और सिद्धि की प्राप्ति है। आज के युग में कोई भी व्यक्ति इन वर्णनों और प्रसंगों की बुद्धिसंगत व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर सकता। लेकिन यह परंपरा का सत्य है और इसी नाते ये वर्णन हमें अजीब या अविश्वसनीय नहीं लगते। यदि ये अविश्वसनीय होते तो ये प्रसंग नीरस और प्रभावहीन होते। मगर उनकी प्रभावशक्ति अमोघ है और किसी न किसी अंश में वे आधुनिकता के संदर्भ से संपृक्त हैं। इसीलिये इन प्रसंगों के वर्णन से रचना की शक्ति में गहराई और व्यापकता आई है। ये काव्य के माध्यम से व्यक्त परंपरा के सत्य या अतीत के जीवित अंश हैं।

अंत में छायावादी काव्य की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति रहस्यवाद पर विचार करना अनिवार्य प्रतीत होता है। रहस्यवाद के संबंध में प्रायः भ्रांति वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ दार्शनिक कविता को भी रहस्यवाद के अंतर्गत ले लिया जाता है। उदाहरण के लिये निराला की कविता 'तुम और मैं' या पंत की कविता 'एक तारा' के अंतिम छंद में रहस्यवादी प्रवृत्ति देखी दिखाई जाती है। मगर यह स्पष्ट है कि इन दोनों कविताओं के मूल में दार्शनिक अवधारणाएँ विद्यमान हैं। दोनों में ही ब्रह्म और आत्मा या ब्रह्म और सृष्टि के संबंध के दार्शनिक स्वरूप का काव्यात्मक चित्रात्मक वर्णन हुआ है। इसलिये किसी दार्शनिक सत्य को व्यक्त करनेवाले बिंबों या रचनाओं में रहस्यवाद नहीं माना जा सकता। वे कविताएँ दार्शनिक कविताएँ कहलाएँगी।

भक्तिकाल के अनेक कवियों ने भी दार्शनिक कविताएँ लिखी हैं। कबीर की वे साखियाँ और पद जहाँ वेदांत के विविध पक्षों का स्पष्ट या प्रतीकात्मक चित्रण हुआ है, दार्शनिक रचनाएँ ही कहलाएँगी। इसी प्रकार विनयपत्रिका का यह पद 'केशव, कहि न जाय का कहिए' या 'रामचरितमानस' के वे अंश जिनमें ब्रह्म, आत्मा, जगत्, माया आदि का काव्यात्मक वर्णन है, दार्शनिक रचनाओं या प्रसंगों के अंतर्गत गिनी जाएँगे।

अब सवाल यह पैदा होता है कि किस आधार पर दार्शनिक और रहस्यवादी कविता का अंतर स्पष्ट किया जा सकता है ?

उत्तर स्पष्ट है। हमारे विचार से केवल वे रचनाएँ ही रहस्यवादी रचनाएँ हैं जहाँ निर्गुण निराकार ब्रह्म के प्रति आत्मा के प्रणय का—संयोग या

वियोग का निवेदन हो। रहस्यवाद का मूल तत्व निर्गुण के प्रति प्रणयभाव ही है। जहाँ यह तत्व विद्यमान है उस रचना को रहस्यवादी कहा जा सकता है। जहाँ यह तत्व विद्यमान नहीं है, उन रचनाओं को रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता। जहाँ ब्रह्म के संबंध में जिज्ञासा की व्यंजना की जाती है, अथवा जहाँ प्रकृति के भीतर किसी विराट् चिन्मय मूल शक्ति के दर्शन किए जाते हैं, वे रचनाएँ रहस्यवाद में तब तक नहीं मानी जा सकतीं जब तक कि निराकार मूल तत्व के प्रति प्रणय की व्यंजना न हो।

इस दृष्टि से विचार करने पर केवल महादेवी ही रहस्यवादी कवयित्री सिद्ध होती हैं। प्रसाद को भी मूलतः एक दार्शनिक कवि मानना चाहिए। और इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि 'कामायनी' रहस्यवादी काव्य नहीं है वरन् एक दार्शनिक काव्य है। 'कामायनी' के मूल में काश्मीर शैवदर्शन के सिद्धांत स्थित हैं और विविध प्रसंगों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसी दर्शन के विविध पक्षों का वर्णन हुआ है। 'कामायनी' में कहीं भी कोई ऐसा प्रसंग नहीं है जहाँ निराकार के प्रति प्रणय की व्यंजना की गई हो। और, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बिना प्रणय की व्यंजना के किसी रचना को रहस्यवादी मानने से भ्रांतियाँ ही पैदा होती हैं। यदि कोई 'कामायनी' को रहस्यवादी काव्य मानना चाहेगा तो फिर यह भी अनिवार्य होगा कि वह काश्मीर शैवदर्शन को—जिसपर 'कामायनी' आधारित है—भी रहस्यवाद के अंतर्गत स्वीकार करे। और यदि काश्मीर शैव-दर्शन रहस्यवादी दर्शन है तब तो उपनिषद् और वेदांत को भी रहस्यवाद के अंतर्गत मानना होगा। ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि वे तथ्य या सत्य जो मात्र तर्क पर आधारित न होकर सहजानुभूति या दैवी अंतर्प्रेरणा पर आधारित हैं, वे सब रहस्यवादी दर्शन माने जाने चाहिए। प्रसाद जी ने इसी अर्थ में रहस्यवाद का प्रयोग किया है। 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' दैवी ज्ञान या सहजानुभूति ही है। और इस अर्थ में सूफियों की रचनाओं को रहस्यवादी मानना संभव नहीं होगा।

———

४

काव्यशिल्प

हिंदी साहित्य के इतिहास में छायावादी काव्य का युग केवल कथ्य एवं संप्रेष्य वस्तु की समृद्ध भावनिधि के कारण ही नहीं, प्रत्युत अभिव्यंजनाशिल्प के अद्भुत नवोत्कर्ष के आधार पर भी नितांत औचित्यपूर्वक 'उत्कर्ष काल' का अभिधान प्राप्त करने का अधिकारी है। शिल्प की दृष्टि से हिंदी के रीतिकालीन काव्य की समृद्धि भी अतर्क्य है, किंतु रीतिकाव्य की अतिशय आलंकारिक प्रवृत्ति अनुभूतिशून्य होकर अतिवाद की सीमा तक पहुँच जाने के कारण उसकी सबसे बड़ी परिसीमा बन गई थी; दूसरी ओर द्विवेदीयुगीन काव्य इस दोष से बचने के प्रयास में श्रीहीन नीरसता के दूसरे अतिवादी ध्रुव के निकट आ पहुँचा था। इन दोनों अतिवादी सीमांतों के मध्य काव्य के दोनों पक्षों, अनुभूति और अभिव्यक्ति, में संतुलन और सामंजस्य स्थापित करने का उपक्रम छायावादी कवियों ने किया।

द्विवेदी युग और छायावादी युग खड़ीबोली हिंदी काव्य को उत्कर्ष-शिखर पर पहुँचानेवाले दो महत्वपूर्ण सोपान हैं। द्विवेदी युग ने खड़ीबोली में व्याकरणगत परिष्कार एवं संस्कार उत्पन्न कर इसे सुस्थिर और प्रांजल रूपाधार प्रदान किया, किंतु छायावाद की सिद्धि उसकी आंतरिक शक्तियों का विकास कर उसके अलंकरण एवं श्रीसमृद्धि में है। ब्रजभाषा की प्रतिद्वंद्विता में खड़ीबोली की काव्यक्षेत्र में गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा इस वर्ग के कवियों की अपूर्व प्रतिभा का प्रतिफल है। हिंदी आलोचनाक्षेत्र में छायावाद की अभिव्यंजनाशैली के अर्थ में 'काव्यशिल्प' शब्दावली का प्रचलन ही इसके कवियों की काव्य की बाह्य रूपसज्जा के प्रति जागरूकता का प्रबल प्रमाण है। मानसपटल पर उभरे रम्याद्भुत कल्पनाचित्रों एवं भावचित्रों को संवेदनशील, समृद्ध एवं सशक्त शब्द-विन्यास द्वारा निर्मित काव्यबिंबों में रूपायित करने में ही खड़ीबोली की इस समृद्धिसंपन्न काव्यधारा का वैशिष्ट्य निहित है।

छायावादी कवि अभिव्यंजना को सौंदर्यानुभूतिप्रसूत मानसबिंबों का व्यक्त रूप मानते हैं। कथ्य और कथनप्रणाली में अभेद स्थापित करते हुए छायावाद के प्रवर्तक जयशंकर प्रसाद ने काव्य की वस्तु और रूपाकार को समरूप माना है: 'काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारों या प्रयोगों

की ? काव्य में आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है वही सौंदर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेय स्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। वह आकार वर्णात्मक रचनाविन्यास में कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है।'[1] अनुभूति और अभिव्यक्ति में बिंब-प्रतिबिंब-भाव-रूप समरूपता रहती है, इस तथ्य की ओर संकेत उनके इस कथन में मिलता है : 'अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आंतर स्पर्श करके भावसमर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति की छाया कांतिमयी होती है।'[2] यह सत्य है कि कवि की अभिव्यंजना के विविध उपकरणों का वैशिष्ट्य मूलतः उसकी अनुभूति की प्रकृति के ही आश्रित है। देश-विदेश के आलोचनाशास्त्र में काव्य के अभिव्यंजनाशिल्प के स्वरूपविधायक निम्नोक्त उपकरण प्रायः स्थिर हो चुके हैं :—

१. काव्यरूप

२. भाषा

(क) स्वरूपनिर्णायक तत्व :

(१) शब्दभांडार

(२) व्याकरणगत संस्कार

(ख) अलंकरण के प्रसाधन :

(१) शब्दालंकार

(२) शब्दशक्तियाँ

(३) प्रतीकयोजना

(४) चित्रात्मक योजनाएँ

३. अभिव्यंजना के विविध प्रसाधन :

(क) अप्रस्तुत योजना

(ख) बिंबविधान

(ग) वक्र एवं वैचित्र्यपूर्ण भंगिमाएँ

४. छंदयोजना।

छायावाद के काव्यरूप :

छायावाद का जन्म एक नवीन युगव्यापी चेतना के उद्बोध का परिणाम था। काव्यरूप की दिशा में इस वर्ग के कवियों की नवचेतना का प्रसार दो

[1] जयशंकर प्रसाद : 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पृ० ४४-४५।

[2] उपरिवत्, पृ० १२६।

रूपों में हुआ—एक तो इन्होंने परंपराप्रचलित शास्त्रनिबद्ध काव्यरूपों का नवरूपांतरण किया; दूसरे, पाश्चात्य साहित्य और साहित्यकारों की विचारधारा से प्रेरित होकर इन्होंने समस्त परंपराजन्य रूढ़िबंधनों का तिरस्कार कर अपने संप्रेष्य भावों तथा विचारों के अनुकूल विविध नूतन काव्यविधाओं की सृष्टि की।

छायावादी काव्य की रचना यद्यपि विविध काव्यरूपों में हुई, तथापि यह काव्य अपने समग्र रूप में अनिबद्ध काव्य की कोटि में आता है, प्रगीत इसकी प्रमुख विधा है। प्रगीत की सीमित परिधि में ही छायावाद के कवियों ने एक तो संबोधनगीति, चतुर्दशपदी आदि विभिन्न प्रगीतरूपों की रचना द्वारा तथा दूसरे, प्रगीततत्व को आधार मानकर भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य में उपलब्ध विविध प्रबंध एवं नाट्यरूपों के अनेकविध संमिश्रण से विभिन्न नवीन काव्यविधाओं की सृष्टि द्वारा पर्याप्त वैविध्य का समावेश किया।

(क) छायावाद के अनिबद्ध काव्य

मुक्तक : छायावाद का अनिबद्ध काव्य प्रमुखतः प्रगीतरूप में ही लिखा गया; इस काव्य का प्रमुख रचनाबंध मुक्तक अथवा प्रबंध न होकर प्रगीत ही है। नवयुग की प्रबुद्ध चेतना तथा अंग्रेजी और बँगला साहित्य की प्रेरणा से ये कवि काव्य के परंपराप्रचलित मुक्तकरूप की अपेक्षा प्रगीतरचना की ओर ही विशेष प्रवृत्त हुए, तथापि यह सत्य है कि छायावाद के माखनलाल चतुर्वेदी, मुकुटधर पांडेय, प्रसाद तथा निराला आदि अनेक प्रमुख कवियों ने काव्यरचना का समारंभ मुक्तकों से ही किया।

प्रसाद के 'चित्राधार', 'कानन कुसुम', 'झरना' तथा निराला के 'परिमल' में संकलित छायावादी मुक्तक प्रमुखतः दो शैलियों में रचित हैं। घनानंद आदि रीतिमुक्त कवियों और भारतेंदु के व्रजभाषा में रचित मुक्तकों की परंपरागत चमत्कृतिप्रधान दोहा एवं कवित्त-सवैया शैली तथा नवीन शैली। नवीन शैली में रचित मुक्तकों में से कुछ तो द्विवेदीयुगीन काव्य की इतिवृत्तात्मक शैली में लिखे गए हैं और अधिकांश मुक्तक ऐसे हैं जिनमें छायावाद के समृद्ध काव्यशिल्प, सूक्ष्म एवं नूतन सौंदर्यदृष्टि तथा रोमानी कल्पना के उन्मेष के अंकुर प्रस्फुटित होने लगे थे। मूल दृष्टिकोण के भावगत हो जाने के कारण ये मुक्तक विशुद्ध मुक्तक न होकर प्रगीतात्मकता की ओर उन्मुख हैं, अतः इन्हें प्रगीतोन्मुख मुक्तक की संज्ञा देना अधिक समीचीन होगा।

छायावादी काव्य में उपलब्ध ये मुक्तक इस वर्ग के कवियों के प्रारंभिक प्रयास मात्र हैं। मुक्तकशिल्प के अलंकरण, चमत्कृति, वचनविदग्धता आदि अधिकांश अनिवार्य तत्वों से युक्त होने पर भी इनमें छायावाद के प्रगीतशिल्प के

विकासचिह्न संनिहित हैं। इसी शिल्प का चरम विकास प्रगीतशिल्प में हुआ, अतः ये दो परस्पर भिन्न शैल्पिक विधाओं के द्योतक न होकर छायावाद की एक ही मूल शैली के विभिन्न विकाससोपानों के व्यंजक हैं।

प्रगीत :

छायावाद मूलतः प्रगीतकाव्य है। वस्तुतः हिंदी में प्रगीत के विशुद्ध एवं समृद्ध रूप का विकास इसी काव्य में हुआ। इस काव्य की मूल प्रेरणा भी प्रगीत के ही अनुकूल थी। छायावाद के प्रगीतों का स्वरूप विशेषतः पाश्चात्य साहित्य में उपलब्ध आधुनिक प्रगीतों से ही प्रभावित है। इनमें संगीतात्मकता, व्यक्तितत्व, भावप्रवणता, भावान्विति, सहज अंतर्प्रेरणा, भावानुरूप तरल प्रवाहमयी शैली तथा संक्षिप्त रूपाकार आदि प्रगीत काव्य के समस्त अनिवार्य तत्वों का सम्यक् समावेश है; यह बात और है कि इस वर्ग के कवियों ने प्रगीत के इन तत्वों के परंपरागत रूप को अपनी विशिष्ट प्रकृति के अनुरूप रूपांतरित कर लिया है। उदाहरणार्थ, 'राग' को कविता का प्राणतत्व स्वीकार करने के कारण छायावाद के अधिकांश प्रगीतों का संगीत शब्द का तरल आंतरिक संगीत ही है। ये प्रगीत प्रायः शास्त्रीय रागरागिनियों के स्वर और ताल की कारा में बँधकर नहीं चलते। इसके अतिरिक्त छायावादी कवियों ने विशुद्ध प्रगीत की प्रत्यक्ष एवं निश्छल आत्माभिव्यंजन की प्रणाली के स्थान पर प्रच्छन्न एवं परोक्ष अभिव्यक्ति प्रणाली को ही अपनाया है। इसी प्रकार इनका संयत भावावेश भी सूर, मीरा आदि भक्त कवियों की भाँति निर्बाध नहीं है। छायावादी कवि का चिंतन कल्पनामोह प्रकृतिगत संयम और संस्कार भावावेग की क्षीणता के लिये उत्तरदायी है। इस काव्य में आवेश की प्रचंड ज्वाला (निराला और एक सीमा तक प्रसाद को छोड़कर) नहीं मिलती। ये कवि तो सिद्धांत रूप में भी संयत भावावेग को ही गीतिकाव्य का सहज तत्व मानते हैं।[१] लेकिन फिर भी इस काव्य की रागात्मकता असंदिग्ध है जो प्रगीत के अनेक चित्रों को परस्पर एक भावसूत्र में गुंफित करने में सहायक हुई है। महादेवी के कुछ प्रगीतों में अवश्य चिंतन की सघनता और हार्दिक अनुभूति की क्षीणता ने उनके अनेक चित्रों को परस्पर अन्वित नहीं होने दिया है, किंतु 'पल्लव' और 'गुंजन' के 'मौन निमंत्रण', 'नौकाविहार', 'परिवर्तन' आदि भावपूर्ण प्रगीत, 'चंद्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' नाटकों के भावविभोर करनेवाले प्रणयगीत तथा 'अनामिका', 'नीरजा' और 'दीपशिखा' के प्रगीत इस दृष्टि से अत्यंत

१ 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' : (गीतिकाव्य), पृ० १४१।

समृद्ध हैं। समग्रतः छायावाद के प्रगीत सहज अंतःस्फूर्त विशुद्ध प्रगीत न होकर अधिकांशतः कलागीत ही हैं, जिनमें भावनाओं का सहज अंतःस्फुरण चिंतन, कल्पना और कला—तीनों से बाधित है। प्रगीत की प्रकृति के अनुरूप तरल, गेय और प्रवाहमयी शैली, संक्षिप्तता तथा भाव, विचार और भाषा का पूर्ण सामंजस्य इनमें यथोचित रूप में विद्यमान है। सामान्यतः छायावादी प्रगीतों में संस्कृत मुक्तककाव्य की भावाभिव्यंजन की संक्षिप्त प्रणाली तथा पश्चिम की वैयक्तिक अनुभूति का अपूर्व समन्वय है।

प्रगीत के विभिन्न भेदप्रभेदों की दृष्टि से छायावाद में परिमाण की दृष्टि से सर्वाधिक रचना संबोधनगीतियों की हुई क्योंकि एक ओर तो इस प्रगीत विधा ने छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति—आत्माभिव्यंजन के लिये सहज माध्यम प्रस्तुत किया और दूसरी ओर इन कल्पनाप्रवण कवियों को इसमें कल्पनाविलास के लिये अपरिमित क्षेत्र सुलभ हो गया। छायावाद की संबोधनगीतियाँ पाश्चात्य साहित्य में उपलब्ध वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, कीट्स, शेली आदि अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी कवियों की आधुनिक व्यवस्थित संबोधनगीतियों के अधिक निकट हैं। पंत और महादेवी की प्रायः सभी संबोधनगीतियों में एक सुनिश्चित लय की व्यवस्थित योजना मिलती है। निराला की संबोधनगीतियों की छंदव्यवस्था अन्य सभी छायावादी कवियों से भिन्न है; उनमें केवल समग्र रूप से ही वैविध्य लक्षित नहीं होता, अपितु एक ही संबोधनगीति के एक अनुच्छेद की विभिन्न पंक्तियों में भी वैषम्य सर्वथा स्पष्ट है। ये गीतियाँ भाव और कल्पना से उत्तरोत्तर चिंतन और विचारात्मकता की ओर विकसित होती गई हैं। इनके संबोध्य विषय प्रायः प्रकृति के उपकरण ही हैं जिनके प्रति इन कवियों का कौतूहल और जिज्ञासा व्यक्त हुई है।

छायावादी काव्य में निराला की 'सरोजस्मृति', माखनलाल चतुर्वेदी और सुमित्रानंदन पंत की लोकमान्य तिलक तथा महादेवी की रवींद्रनाथ ठाकुर की मृत्यु पर रचित कविताएँ शोकगीति की कोटि में आती हैं। किंतु एक तो जिस पृष्ठभूमि में छायावाद का जन्म और पल्लवन हुआ उसमें कवियों के मनस्तत्व में ऐकांतिक और व्यक्तिनिष्ठ अतिनिबिड़ दुःख को उसकी तीव्रता में अनुभूत करने की प्रवृत्ति के बीज नहीं थे और दूसरे ऐतिहासिक कारणों से विकास के प्रारंभिक चरणों में ही इस काव्य के राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना से संबद्ध हो जाने के कारण भविष्य की उज्वल कल्पना और आशाओं के स्वस्थ स्वर उभरने लगे थे, फलतः शोक का नितांत वैयक्तिक स्वर इस काव्य में विलुप्तप्राय हो गया। यही कारण है कि मूलतः 'एलिजिआक' छंद विशेष से संबद्ध, किंतु वर्तमान रूप में केवल अंत्येष्टि गीत अथवा मृत्युजन्य शोकोद्गार को व्यक्त करनेवाली विशुद्ध शोकगीति (एलेजी)

संपूर्ण छायावादी काव्य में केवल 'सरोजस्मृति' ही है। इसमें भी शोकगीति के लिये अपेक्षित संक्षिप्त आकार, संयत भावावेगपूर्ण शैली, कारुणिकता तथा सहज एवं निश्छल अभिव्यक्ति आदि लक्षण तो हैं, किंतु अंग्रेजी की शोकगीतियों के समान इसकी परिणति दार्शनिक चिंतन में नहीं हुई है।

चतुर्दशपदी (सॉनेट) : छायावादी कवियों ने अपने पूर्ववर्ती हिंदी कवियों की ही भाँति सॉनेट-रचना में प्रायः चौदह पंक्तियों का प्रतिबंध ही स्वीकार किया है; अंग्रेजी सॉनेट के खंडविभाजन तथा लय एवं अंत्यक्रम-व्यवस्था आदि की अधिकांशतः उपेक्षा ही कर दी है। यद्यपि छायावाद में अंग्रेजी सॉनेट के विभिन्न रूपों में से 'शेक्सपीरियन सॉनेट' का तीन चतुष्पदियों तथा एक युग्मक के रूप में खंडविभाजन अधिक लोकप्रिय हुआ, तथापि इन कवियों ने अपनी चतुर्दशपदियों में प्रायः चतुष्पदियों और युग्मक का क्रमविपर्यय कर दिया है। इन चतुर्दशपदियों में भाव की अपेक्षा चिंतन एवं कल्पनातत्व अधिक प्रबुद्ध है। आद्यंत एक ही कल्पनाप्रेरित मूल भाव अथवा विचार से अनुप्राणित होने के कारण ये परस्पर गुंफित विभिन्न बिंब एवं चित्रों से सुसज्जित हैं। आत्मतत्व तथा स्वर-व्यंजन-मैत्री पर आधृत आंतरिक संगीत और अंत्यानुप्रासपुष्ट संगीतात्मक लय आदि गीतितत्वों से युक्त होने के कारण इन चतुर्दशपदियों की प्रगीतात्मकता असंदिग्ध है। इस काव्य में चतुर्दशपदी की रचना केवल स्फुट रूप में ही हुई है; निबद्ध या श्रृंखलाबद्ध चतुर्दशपदियाँ इसमें नहीं मिलतीं। संक्षेप में, छायावादी कवियों को अंत्यक्रम एवं लयसंयोजना-संबंधी अनेकानेक सफल एवं मौलिक प्रयोगों द्वारा इस क्षेत्र में अद्भुत सिद्धि प्राप्त कर लेने पर भी 'सॉनेटकार' की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि मात्र प्रगीतरचना की एक विशिष्ट शैली के रूप में गृहीत 'चतुर्दशपदी' इस काव्य की सर्वप्रमुख प्रगीतविधा नहीं है; छायावाद के प्रारंभिक चरण में लोकप्रिय इस शैली के प्रति इन कवियों के आकर्षण का क्रमिक ह्रास इस तथ्य का प्रमाण है।

गीत (साँग) : अंग्रेजी से सांग की रचनापद्धति से संप्रेरित होकर छायावादी कवियों ने भी परंपरागत पदशैली, बँगला गीतों की शैली तथा उर्दू की गजल, कौमी नगमों और उर्दू नज्म की रूपसंगठना, शब्दयोजना एवं लयनिपात आदि को दृष्टि में रखकर शास्त्रीय संगीत में निबद्ध गीतों की रचना की। गीत के विभिन्न प्रभेदों की दृष्टि से छायावाद के अधिकांश गीतों का सायास अलंकृत एवं समृद्ध शिल्प लोकगीतों के सहज, अनगढ़ और ग्राम्य शिल्प से नितांत भिन्न है। अतएव इनके कल्पना एवं शिल्पवैभव को लक्ष्य करते हुए इन्हें परिष्कृत लोकगीत कहना भी उचित नहीं है। यद्यपि निराला, महादेवी और माखनलाल चतुर्वेदी के अनेक गीतों पर कजली, फाग जैसे

लोकगीतों की मूल भावना, शब्दरचना, लय तथा शैली का प्रभाव अत्यंत स्पष्ट है, तथापि उनके छंदविधान, शब्दसंयोजन, वाक्यभंगिमा आदि शिल्पोपकरणों की समृद्धि एवं रमणीय कल्पना के उन्मेष को देखते हुए उन्हें लोकगीतों की शैली में रचित कलागीत मानना ही तर्कसंमत है। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी और रामकुमार वर्मा इस काव्य के प्रमुख गीतकार हैं। 'झरना', 'लहर', 'गीतिका', 'गीतगुंज', 'पल्लव', 'गुंजन', 'नीरजा', 'सांध्य गीत' और 'दीपशिखा' आदि छायावाद के उत्कृष्ट कलागीतों के प्रमुख संग्रह हैं। इनके अनेक गीतों में शास्त्रीय स्वरसंगीत का कुशल विधान हुआ है। कलागीतों की रचना में सर्वाधिक सिद्धि निराला और महादेवी ने प्राप्त की है। इन्होंने संगीतशास्त्र और छंदशास्त्र पर आधारित वर्णमैत्री, लय, नाद, ताल तथा स्वरमैत्री की शत शत नवीन संयोजनाएँ प्रस्तुत की हैं। मूल प्रेरणा की दृष्टि से छायावाद के ये कलागीत अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों के सांग के अत्यंत निकट होते हुए भी संगीतात्मक स्वरविधान, लयसंयोजन, छंदयोजना तथा स्वरव्यंजन पर आश्रित वर्णमैत्री आदि की दृष्टि से सर्वथा भारतीय हैं और इन कवियों की नूतन एवं मौलिक सृष्टि हैं। सब मिलाकर बाह्य संगीत के कुशल विधान द्वारा गीतरचना में पूर्ण सफलता प्राप्त करने पर भी छायावादी कवियों की प्रवृत्ति सहज भावगत संगीत से अनुप्राणित प्रगीत की ओर ही अधिक रही है। अतः ये कवि मूलतः गीतकार न होकर प्रगीतकार ही थे।

पत्रगीति (एपिसिल) : अंग्रेजी काव्य की प्रगीतरचना की पत्रात्मक शैली के प्रति छायावादी कवियों ने विशेष अभिरुचि प्रदर्शित नहीं की। संपूर्ण छायावादी काव्य में केवल दो पत्रगीतियाँ लिखी गईं—निराला का 'महाराज शिवाजी का पत्र' तथा 'हिंदी के सुमनों के प्रति पत्र'। इनमें से 'महाराज शिवाजी का पत्र' केवल निराला अथवा छायावाद की ही नहीं, प्रत्युत संपूर्ण हिंदी काव्य की सर्वश्रेष्ठ पत्रगीति है। निराला का शिवाजी के व्यक्तित्व से पूर्ण तादात्म्य हो जाने के कारण शिवाजी की ओर से लिखी जाने पर भी इसकी शैली तटस्थ एवं वस्तुमुखी न होकर कवि के आत्मतत्व से मुखरित है। व्यंग्यवक्रता तथा तार्किकता इसकी शैली की विशिष्टता है। वार्तालाप की प्रश्नोत्तरशैली ने इसकी शैली में सुदीर्घ कथोपकथन के समान सहजता एवं सजीवता उत्पन्न कर दी है। 'हिंदी के सुमनों के प्रति पत्र' में वे पत्रगीति के विशुद्ध रूप की रक्षा नहीं कर सके हैं। संबोध्य एक व्यक्ति के स्थान पर व्यक्तिसमूह होने के कारण पत्रगीति के आवश्यक तत्व आत्मीयता का इसमें समावेश नहीं हो सका है। किंतु फिर भी, छायावाद की एकमात्र पत्रगीति ही उसकी गौरववृद्धि में पूर्णतः सफल हुई है, इसमें संदेह नहीं।

निबद्ध गीत (गीतबंध) : (आँसू)

काव्यविधा की दृष्टि से प्रसाद का 'आँसू' कवि का सर्वथा मौलिक एवं नूतन प्रयास है। पूर्वापर-प्रसंग से निरपेक्ष छंदों में रचित होने के कारण इसमें 'मुक्तक', मूलभूत तत्व की दृष्टि से 'प्रगीत', किंतु मूल प्रभाव की अन्विति एवं भावों के क्रमिक विकास की सुसंबद्ध योजना के कारण 'प्रबंध' का भ्रम हो सकता है। इन परस्पर भिन्न काव्यरूपों के विभिन्न तत्वों के मिश्रण ने इसे एक विशिष्ट रूपाकार प्रदान कर दिया है। प्रगीत काव्य के मूल एवं अनिवार्य तत्वों से संयुक्त होने के कारण 'आँसू' की आत्मा मुक्तक की अपेक्षा प्रगीत की है, किंतु साथ ही उसमें वर्णित भावों की क्रमबद्ध योजना एवं अन्वित प्रभाव के कारण निबद्धता भी है।

निष्कर्ष रूप में 'आँसू' अपने संपूर्ण रूप में विशुद्ध प्रगीत न होते हुए भी प्रबंध की अपेक्षा प्रगीत के ही अधिक निकट है—क्योंकि एक तो इसकी पृष्ठभूमि में 'सूरसागर' तथा तुलसी की 'कवितावली', 'रामाज्ञा प्रश्न', 'बरवै रामायण' आदि रामकथा-काव्यों की भाँति कथा का प्रत्यक्ष आधार विद्यमान नहीं है (प्रबंधसूत्र के अत्यंत क्षीण होने पर भी केवल मूल भाव की अन्विति के आधार पर उसे 'प्रबंधकाव्य' की कोटि में स्थान देना उचित न होगा), दूसरे किसी कृति के काव्यरूप का निर्णायक उसका रूपाकार न होकर आत्मा है, अतएव समग्रतः 'आँसू' को केवल प्रगीत न कहकर 'निबद्ध गीत' कहना अधिक समीचीन होगा। इस प्रकार दो सर्वथा विपरीत विधाओं के मिश्रण का यह प्रयास सर्वथा अभूतपूर्व न होता हुआ भी मौलिक, नूतन एवं कलात्मक अवश्य है—इसमें विवाद के लिये अवकाश नहीं है। बच्चन की 'मधुशाला' आदि परवर्ती कृतियों के रूपाकार पर भी इसका किंचित् प्रभाव दृष्टिगत होता है।

(ख) छायावाद के निबद्ध अथवा प्रबंध काव्य

छायावादी कवि, जैसा कि कहा जा चुका है, मूलतः प्रगीतकार थे, अतः वे प्रबंधरचना में भी जीवन के व्यापक चित्रण की अपेक्षा आत्माभिव्यंजन को व्यापक आधारफलक प्रदान करने की प्रेरणा से ही प्रवृत्त हुए। इसी कारण प्रबंध के अंतर्गत उन्होंने न केवल विभिन्न काव्यविधाओं के तत्वों के मिश्रण की पद्धति ही अपनाई, अपितु बाह्य घटनाविधान के प्रति आग्रह, बहिर्मुख वस्तुपरक दृष्टिकोण आदि प्रबंध के अन्य तत्वों का भी अतिक्रमण किया। रूपविधा की दृष्टि से छायावाद के प्रबंधकाव्य (१) लघु आख्यानक प्रबंध, (२) नाट्यकाव्य, (३) खंडकाव्य, और (४) महाकाव्य—इन चार उपवर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं।

छायावाद में लघु आख्यानक प्रबंध भी चार रूपों में उपलब्ध हैं—

(क) लघु पद्यबद्ध कथा, (ख) कथाकाव्य, (ग) आख्यानक गीति, तथा (घ) लघु वीरकाव्य। प्रसाद के 'चित्राधार' तथा 'काननकुसुम' में संकलित 'अयोध्या का उद्धार', 'वनमिलन', 'प्रेमराज्य', 'चित्रकूट', 'भरत', 'शिल्पसौंदर्य', 'कुरुक्षेत्र' तथा 'वीर बालक' शीर्षक कथात्मक कविताएँ लघु पद्यबद्ध कथाकाव्य की कोटि में आती हैं जिनमें द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति की प्रेरणा से कतिपय पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रसंगों को पद्यबद्ध किया गया है।

प्रसाद के 'प्रेमपथिक' में भी इन लघु पद्यबद्ध कथाओं की समाख्यानशैली का ही विकसित रूप दृष्टिगत होता है। इस काव्य में कथा का विकास अधिकतर संवादों के द्वारा ही हुआ है। इसके अतिरिक्त स्वप्न द्वारा कथाविकास की नूतन शिल्पविधि के प्रयोग से भी शैली में नाट्यतत्व का तो थोड़ा बहुत समावेश अवश्य हुआ है, किंतु अंतःसंघर्ष की तीव्रता, सक्रियता, घनत्व तथा कथाविकास में अप्रतिहत वेग आदि गुण यथोचित मात्रा में समाविष्ट नहीं हो सके हैं। सब मिलाकर आकार की अपेक्षाकृत विपुलता, समाख्यान-शैली में नाट्यगुण का संनिवेश तथा गीतितत्व का अभाव आदि विशेषताओं को लक्ष्य करते हुए 'प्रेमपथिक' को 'लघु पद्यबद्ध कथा' अथवा 'आख्यानगीति' की अपेक्षा 'कथाकाव्य' की संज्ञा प्रदान करना ही अधिक समीचीन होगा। परंतु उपर्युक्त सभी कृतियाँ आलोच्य काल से पहले की रचनाएँ हैं, अतः यहाँ उनका विवेचन संगत नहीं होगा।

पंत की 'ग्रंथि', 'उच्छ्वास' और 'आँसू' तथा प्रसाद की 'पेशोला की प्रतिध्वनि' आदि गीतियाँ आख्यान और गीतितत्व के संमिश्रण के कारण आख्यानगीतियों की कोटि में आती हैं। प्रगीततत्व का प्राचुर्य और आख्यान-तत्व की क्षीणता इनके समग्र रूपाकार को अंग्रेजी 'बैलेड' के परंपरागत रूप से विशिष्टता प्रदान करती है। छायावाद की इन आख्यानगीतियों की प्रमुख शैली छायावादी काव्य की रम्याद्भुत उपकरणों से अलंकृत प्रगीतात्मक शैली ही है जिसमें कहीं कहीं आख्यानतत्व के निर्वाह के लिये वर्णनात्मकता का आश्रय भी लिया गया है। कवियों का अंतर्मुख दृष्टिकोण, शैली की गीतिमयता तथा भावतत्व का प्राधान्य इनके प्रबंधत्व में बाधक हुआ है। संवादशैली द्वारा नाटकीयता के समावेश में भी ये आख्यानक गीतियाँ सफल नहीं हुई हैं। संक्षेप में, इन आख्यानगीतियों में छायावादी प्रबंधशिल्प के उस विशिष्ट रूप के विकासांकुरों का प्रस्फुटन है—आख्यानतत्व की परिक्षीणता तथा गीतितत्व का अतिरंजन जिसका अनिवार्य एवं सहज अंग है।

आख्यानगीति का ही एक विशिष्ट रूप प्रसाद के प्रगीतसंग्रह 'लहर' में संकलित 'अशोक की चिंता', 'शेरसिंह का शस्त्रसमर्पण' तथा 'प्रलय की छाया' शीर्षक आत्मसंलाप शैली में रचित आख्यानगीतियों में उपलब्ध होता है। शैली की दृष्टि से इनका बहुत कुछ साम्य अंग्रेजी के ब्राउनिंग और टेनीसन के 'ड्रैमेटिक मोनॉलॉग' से है। स्वगतकथनात्मक अथवा आत्मसंलाप शैली में आख्यान की सांकेतिक अभिव्यक्ति होने पर भी इन आख्यानगीतियों का मूल स्वर गीतिमय है, साथ ही इनमें नाट्यतत्व का भी कुशल एवं कलापूर्ण संनिवेश हुआ है। 'प्रलय की छाया' इस स्वगतकथनात्मक नाटकीय शैली की चरम सिद्धि की प्रतीक है। इसमें नाटकीय अंत:संघर्ष, चरम घटना, निगति और नाटकीय वैषम्य की अद्‌भुत सृष्टि हुई है। अलंकरणकला एवं शिल्प की दृष्टि से 'अशोक की चिंता' की सिद्धि रोमानी कल्पनारंजित विभिन्न तरल-मधुर वर्णों के माध्यम से चित्रात्मक व्यंजना, 'शेरसिंह के शस्त्रसमर्पण' की कारुणिक व्यंजना से सजल ओजोदीप्त लाक्षणिक अभिव्यक्ति तथा 'प्रलय की छाया' की सिद्धि अद्‌भुत रूप से समृद्ध संश्लिष्ट बिंबविधान में निहित है। ये गीतियाँ छायावाद के प्रवर्तक प्रसाद की मुक्त छंदरचना में भी अपूर्व सिद्धि की द्योतक हैं। मुक्त छंद की स्वच्छंदता में भी संगीतात्मक लयमाधुर्य की सुरक्षा करनेवाली इन आख्यानगीतियों का गौरव छायावाद के प्रबंधशिल्प की विकासरेखा के निदर्शन में न होकर उसके चरम विकास एवं समृद्धि में है।

छायावाद के लघु आख्यानक प्रबंधों में निराला की 'राम की शक्तिपूजा' महाकाव्य की उदात्त शैली में रचित एक लघु आकार की काव्यकृति है। रूपविधा की दृष्टि से महाकाव्योचित उदात्त एवं प्राणवंत शैली में राम के जीवन के केवल एक ही महान् प्रकरण को काव्यबद्ध करनेवाली इस काव्यरचना का बहुत कुछ साम्य पाश्चात्य साहित्य में उपलब्ध मैथ्यू आर्नल्ड के 'सोहराब रुस्तम' आदि 'लघु वीरकाव्यों' (हीरोइक पोएम्स) से है। स्पष्ट ही है कि इस काव्य की प्रमुख शैली महाकाव्य की उदात्त शैली ही है—नाटकीय घनत्व, आकस्मिकता, वैषम्य, सक्रियता, अप्रतिहत वेग, कौतूहल, चरम घटना, नाटकीय दृश्यविधान आदि नाट्यगुण उसी औदात्य की सृष्टिहेतु साधक रूप में समाविष्ट हुए हैं। घटनाओं का विराट और विशद फलकाधार उसे अनुकूल वातावरण प्रदान करता है। अभिव्यंजनाकौशल की दृष्टि से इस कविता की चरम सिद्धि विराट चित्रों के ओजस्वी अंकन में है। समग्र रूप में, अंग्रेजी के महाकाव्यात्मक आख्यानक काव्यों अथवा लघु वीरकाव्यों से पर्याप्त साम्य होते हुए भी 'राम की शक्तिपूजा' निराला की मौलिक एवं नूतन प्रातिभ सृष्टि तथा छायावादी कविता की एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

नाट्यकाव्य या काव्यरूपक

काव्य, गीति और नाट्यतत्वों के मिश्रण के विभिन्न अनुपातों को लक्ष्य कर छायावाद के नाट्यकाव्यों को दो रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है--नाटकीय कविता तथा गीतिनाट्य।

अंग्रेजी के ब्राउनिंग आदि कवियों की नाट्यकविताओं की प्रेरणा से प्रसाद ने नाट्यशैली में 'महाराणा का महत्व' तथा निराला ने 'पंचवटीप्रसंग' की रचना की। इनमें समृद्ध काव्यतत्व के प्राचुर्य ने नाट्यतत्व को आच्छादित कर लिया है। 'महाराणा का महत्व' का प्रकाशन सन् १९१४ में हुआ था, फिर भी प्रस्तुत विधा की प्रारंभिक कृति होने के कारण इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसमें नाट्यशैली का उत्कर्ष 'पंचवटीप्रसंग' की अपेक्षा अधिक दृष्टिगत होता है। यद्यपि दोनों ही कविताओं में कथाप्रस्तुति की नाटकीय शैली का प्रयोग हुआ है, तथापि 'महाराणा का महत्व' की घटनाओं की सी दृश्यात्मकता 'पंचवटी-प्रसंग' में उपलब्ध नहीं है। किंतु 'पंचवटीप्रसंग' में प्रयुक्त सामासिक शब्दावली नाटकीय सघनता की सृष्टि में सहायक हुई है और गीतितत्व भी इस कविता में अपेक्षाकृत अधिक मुखर है। समग्र रूप में नाट्यतत्व इनके कवित्व का संवर्धक एवं साधक तत्व मात्र है, वह इनको अभिनेय एवं दृश्य रूप प्रदान करने में समर्थ नहीं है। प्रत्यक्ष दृश्यविधान तथा रंगनिर्देश का अभाव इनके दृश्य की अपेक्षा पाठ्य रूप में रचित होने का सबसे प्रबल प्रमाण है। अतः निष्कर्षतः इनकी शैली गीतिनाट्य की शैली न होकर नाट्यतत्व मिश्रित काव्यमयी शैली है। इन नाटकीय कविताओं द्वारा छायावादी कवियों ने छायावाद के काव्यरूपों के क्षेत्रविस्तार के साथ ही हिंदी में एक नवीन काव्यरूप की उद्भावना भी की।

अँग्रेजी के शेली, कीट्स, बायरन आदि रोमांटिक कवियों की प्रेरणा से प्रसाद ने 'करुणालय' की रचना द्वारा हिंदी में गीति और नाट्यतत्वों के मिश्रण से निर्मित विधा गीतिनाट्य का सूत्रपात किया। पाँच दृश्यों में विभक्त होने पर भी 'करुणालय' में नाटकीय सक्रियता, अंतर्द्वंद्व की सघनता, अप्रतिहत वेग, नाटकीय कौतूहल और कथा की नाटकीय परिणति आदि गुणों का प्रायः अभाव होने के कारण नाट्यतत्व अत्यंत क्षीण है। इसके अतिरिक्त इसमें गीतिनाट्य की भावमयता तो है, किंतु गीतितत्व अत्यंत क्षीण है। अंतःसंघर्ष और समृद्ध बिंब एवं प्रतीक योजनाओं से सुसज्जित समृद्ध अभिव्यंजनाशिल्प के अभाव तथा नाट्यतत्व की परिक्षीणता आदि अपनी समस्त परिसीमाओं के साथ समग्रतः 'करुणालय' एक गीतिनाट्य ही है और हिंदी का सर्वप्रथम गीतिनाट्य होने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण है। इसीलिये छायावादकाल के पूर्व की रचना होने पर भी यहाँ उसका उल्लेख आवश्यक है।

आधुनिक युग में खड़ीबोली के कवियों की प्रबंधरचना की ओर विशेष प्रवृत्ति ने प्रबंध के विविध नवीन एवं पुरातन रूपों के साथ ही खंडकाव्य की परंपरा को भी पुनर्जीवित किया। लेकिन उसके परंपरागत एवं प्रचलित रूप को ग्रहण न कर नवचेतना के संस्पर्श से उसका नवरूपांतर किया। निराला का 'तुलसीदास' इसी प्रकार का खंडकाव्य है जो बाह्य रूपाकार की दृष्टि से परंपरागत बाह्यार्थनिरूपक खंडकाव्यों से स्पष्टतः भिन्न होता हुआ भी इस विधा के समस्त मूलतत्वों के समुचित एवं कुशल संनिवेश के कारण समग्रतः एक खंडकाव्य ही है। एक ओर तो सांस्कृतिक पुनरुत्थान जैसा महान् उद्देश्य, घटनाओं का व्यापक, ओजस्वी एवं विराट आकार तथा शिल्प की अद्भुत समृद्धि निराला के विराट भावनाप्रसूत इस काव्य का साधारण लंबी कविता की एकांगिता से व्यावर्तन करती है और दूसरी ओर शैलीशिल्प तथा कला में महाकाव्योचित औदात्य का समावेश होते हुए भी संपूर्ण जीवन की समग्र व्यापकता एवं आकार की विशदता का अभाव इसे महाकाव्य की परिधि में नहीं आने देता। वस्तुतः तुलसी की आत्म-चेतना के विकास का सूक्ष्म अंतर्विश्लेषण प्रस्तुत करनेवाला यह काव्य उस महान् कवि के जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं महत् घटना का संपूर्ण चित्र उपस्थित करने के कारण एक संक्षिप्त आकार का खंडकाव्य ही है। 'तुलसीदास' के संक्षिप्त आकार में ही विभिन्न घटनाओं के संश्लिष्ट विधान के अतिरिक्त उनके क्रमिक विकास में नाटकीय सक्रियता, आकस्मिकता, तनाव और सघनता तथा आरंभ, विकास, चरम सीमा, निगति, परिसमाप्ति आदि विभिन्न नाट्यस्थितियों का भी कुशल संयोजन हुआ है। प्रासंगिक घटनाओं के अभाव में मूल घटनाप्रसंगों का केंद्रीकरण भी कथानक में घनत्व की सृष्टि में सहायक हुआ है। घटनाओं के सूक्ष्म अमूर्त रूप को ग्रहण कर सीमित आकार में ही महाकाव्योचित प्रबंध एवं नाट्यकौशल की सिद्धि इस काव्य की अनुपम उपलब्धि है। संक्षेप में, शास्त्रीय दृष्टि से खंडकाव्य की परिधि में परिगणित होने पर भी 'तुलसीदास' 'राम की शक्तिपूजा' की भाँति निराला की संक्षिप्त आकार में महाकाव्योचित गरिमा एवं भव्यता की सिद्धि करानेवाली समर्थ कला का अत्यंत सबल प्रतीक है। छायावाद के प्रबंधशिल्प की समृद्धि में इसका योगदान वर्णनातीत है।

छायावाद जैसे समृद्ध काव्य में महाकाव्यकार की विराट एवं महान् प्रतिभा का उन्मेष केवल प्रसाद में हुआ। 'कामायनी' आधुनिक युग का सर्वथा नवीन और अभूतपूर्व प्रयोग होती हुई भी महाकाव्य के समस्त महत्तत्वों से समन्वित है। 'कामायनी' की रचना आद्यंत रूपकात्मक शैली में हुई है। कवि के अंतर्मुख दृष्टिकोण, स्थूल भौतिक कथा की अपेक्षा विचारतत्व का प्राधान्य तथा प्रगीतात्मक संस्पर्शों के कारण इसका साम्य बाह्यार्थनिरूपक महाकाव्यों

की अपेक्षा मिल्टन के 'पैराडाइज लॉस्ट', टेनीसन के 'इडिल्स ऑफ द किंग', हार्डी के 'द डाइनेस्ट्स' तथा ब्राउनिंग के 'द रिंग एँड द बुड' आदि अंग्रेजी के आधुनिक अलंकृत अथवा साहित्यिक महाकाव्यों से है। 'कामायनी' में परंपरागत महाकाव्यों के सदृश बहिर्जीवन की व्यापकता, अनंत विस्तार, वैविध्य और घनत्व का अभाव इसके कथानक में गरिमा और औदात्य का निषेध नहीं करता। इसकी घटनाएँ ध्वंसात्मक एवं रचनात्मक दोनों दृष्टियों से महान् हैं। प्रलय एवं युद्ध जैसे विराट प्रसंगों में अप्रतिहत वेग, त्वरा, महाप्राणता, दुर्दम ओज तथा सघनता का अत्यंत कुशल संनिवेश हुआ है। 'कामायनी' की शैली रूपकात्मक तथा प्रगीतात्मक तत्वों से निर्मित है। इसमें भावप्रवणता, भावोच्छ्वास, भावावेग आदि के रूप में प्रगीत के प्राणतत्व की प्रतिष्ठा हुई है, साथ ही इसमें प्रत्यक्ष गीतों की भी योजना हुई है जो गीतिकाव्य की विशेष विभूति है। इस काव्य की शैली में जीवन के मधुर-विराट, कोमल तथा भव्य—दोनों विरोधी पक्षों और मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा उदात्त से उदात्त मनःस्थितियों को चित्रित करने की अद्भुत क्षमता है। शैली का अलंकरण एवं समृद्धि भी उसे असाधारण रूप प्रदान करती है। संक्षेप में, परंपरा के प्रति प्रसाद का अंध श्रद्धा न होने के कारण 'कामायनी' में भारतीय तथा पाश्चात्य लक्षणों का शतशः निर्वाह खोजना व्यर्थ है, तथापि महाकाव्यों के समस्त महत्तत्वों के सम्यक् समावेश के कारण यह कृति निस्संदेह इस गौरव की अधिकारिणी है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि छायावाद के उक्त काव्यरूपों का प्राणतत्व प्रगीत है—इसके समस्त काव्यरूपों का अभिव्यंजनाशिल्प प्रगीततत्व से ही अनुप्राणित है। काव्यप्रतिभा की प्रौढ़ि के साथ साथ इसका प्रगीतात्मकता से प्रबंधात्मकता की ओर क्रमिक विकास हुआ और इसके प्रबंधशिल्प की समृद्धि का उच्चतम शिखर 'कामायनी' है। छायावाद का काव्यभूमि प्रगीत जैसे अनिबद्ध काव्यरूप से आरंभ होकर विभिन्न लघुप्रबंध एवं नाट्यरूपों तक प्रसृत होता हुई काव्य के भव्यतम रूप महाकाव्य तक विस्तृत हो गई। प्रगीतकाव्य की सीमाबद्ध परिधि में काव्यरूपगत इस वैविध्य की उपलब्धि छायावादी काव्यशिल्प के अपूर्व उत्कर्ष का प्रमाण है।

छायावाद की भाषा

काव्यभाषा के रूप में खड़ीबोली हिंदी का उत्कर्ष छायावाद की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। द्विवेदी युग खड़ीबोली के रूपनिर्धारण का युग था, उसे व्याकरणसंमत परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप देने में ही उसकी सिद्धि है। प्रेमचंद ने खड़ीबोली को जनजीवन की सजीवता प्रदान की, किंतु इस क्षेत्र में कवि के

विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए विशुद्ध सौंदर्यनिष्ठ रसदृष्टि से खड़ीबोली के काव्यभाषा के रूप में संस्कार का श्रेय छायावादी कवियों को ही है।

प्रसाद को छोड़कर छायावाद के शेष सभी कवियों ने निरपवाद रूप से खड़ीबोली में काव्यरचना की, अतः छायावाद की काव्यभाषा विशुद्ध साहित्यिक खड़ीबोली है। यह युग ब्रजभाषा और खड़ीबोली के मध्य प्रतिद्वंद्विताजन्य आंदोलन का युग था। इसीलिये प्रसाद की ब्रजभाषा भी रीतिकालीन काव्य की भाषा की अपेक्षा उनकी अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल है। ब्रजभाषा के शब्दशिल्पी कवि संस्कृत के तत्सम शब्दों को प्रायः ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप ढालकर ही प्रयोग में लाते थे, किंतु प्रसाद की ब्रजभाषा की रचनाएँ संस्कृत शब्दों के तत्सम रूप में प्रयोग के कारण उनकी विशिष्ट भाषा के स्वरूपनिर्धारण में विशेष रूप से सहायक हैं, उदाहरणार्थ :

'ऐरावत करि कुंभ अरुण - सिंदूर - विभूषित।
सम लखात प्राची में तरणि-बिंब अरुणांचित॥'[1]

संस्कृत के तत्सम शब्दों, दीर्घ समासों तथा स्वर की संधि पर आश्रित यह विशाल शब्दयोजना ब्रजभाषा के पदलालित्य एवं मसृणता के अनुकूल नहीं है। वस्तुतः यह भाषा छायावाद की काव्यभाषा के स्वरूपनिर्माण में भूमिका का कार्य करती है। शनैः शनैः खड़ीबोली के निरंतर वर्धमान प्रभाव ने प्रसाद को भी ब्रजभाषा के मोह से मुक्त कर दिया।

ब्रजभाषा के शब्दचयन, पदविन्यास, अभिव्यंजना की भंगिमाओं और छंदयोजना आदि सभी के रूढ़िग्रस्त एवं चमत्कृतिशून्य हो जाने के कारण भारतेंदुयुग के उत्तरार्ध से ही खड़ीबोली में काव्यरचना के द्वारा प्रयास आरंभ हो गए थे, द्विवेदी युग में उनके प्रसार के साथ ही भाषारूपों में परिष्कार, परिमार्जन एवं स्थिरता की सिद्धि हुई, हरिऔध आदि कवियों ने खड़ीबोली के शब्दभांडार को व्यापक बनाने का प्रयास किया, किंतु उनकी तत्समबहुल भाषा में खड़ीबोली का निसर्ग रूप लुप्त हो गया। गुप्त जी की भाषा में रसार्द्रता और रमणीयता का संचार अवश्य हुआ, किंतु उसमें भी कहीं कहीं लोकजीवन से संबद्ध ग्राम्य शब्दावली भाषा की गरिमा एवं समृद्धि में बाधक हुई है। छायावाद में काव्यभाषा की समृद्धि का मूल रहस्य इस वर्ग के कवियों द्वारा शब्दों के नूतन विन्यासक्रम में निहित है।

[1] जयशंकर प्रसाद, 'चित्राधार' (बभ्रुवाहन), पृ० ३५।

(क) काव्यभाषा का स्वरूप :

शब्दसंयोजन : भाषा में श्रुतिमाधुर्य, लालित्य एवं मसृणता की सृष्टि तथा शब्दभांडार की समृद्धि के लिये छायावादी कवियों ने अनेक प्रकार की शब्दयोजनाओं का आश्रय लिया जिनमें से प्रमुख हैं: पूर्वविद्यमान संस्कृत के तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों का नवीन संदर्भ में नूतन विन्यास एवं संयोजन तथा नवशब्दों का निर्माण। छायावाद की काव्यभाषा का शब्दकोश परिमाण की दृष्टि से सर्वाधिक संस्कृत के तत्सम शब्दों से निर्मित है। पुनरुत्थानकाल में बँगला, गुजराती, मराठी आदि अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति हिंदी में भी संस्कृत के तत्सम शब्दों के पुनरुत्थान एवं नवसंस्कार का कार्य प्रारंभ हुआ। हिंदी से पूर्व बँगला में रवींद्रनाथ तथा माइकेल मधुसूदन दत्त जैसे सिद्ध कवियों ने कालिदास आदि सौंदर्यस्रष्टा कवियों के तत्सम शब्दों को नूतन भावसंस्पर्श से जीवंत रूप प्रदान किया, हिंदी में भी आचार्य द्विवेदी और हरिऔध आदि ने इस ओर ध्यान दिया, किंतु छायावादी कवियों के पदविन्यास के मूल में बँगला के रवींद्रनाथ आदि की पदावली का संस्कार अधिक है। इन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों को पुनर्जीवित कर उनमें नवीन अर्थशक्ति का संचार प्रमुखत: चार रीतियों से किया—(१) तत्सम शब्दों के नवीन विन्यासक्रम तथा नूतन भंगिमा द्वारा छायावाद के कवियों ने उनमें अद्भुत चमत्कार तथा नवीन अर्थव्यंजकता उत्पन्न कर दी, उदाहरणार्थ :

> चौंकी निद्रित
> रजनी अलसित,
> श्यामल पुलकित कंपित कर में
> दमक उठे विद्युत् के कंकण।[1]

द्विवेदीयुग की कविता में जहाँ इस प्रकार के तत्सम शब्द किसी बिंब अथवा रमणीय वातावरण की सृष्टि में सर्वथा असमर्थ हैं, वहाँ छायावादी कविता में प्रयुक्त इन शब्दों का वैशिष्ट्य ही एक संमोहक वातावरण अथवा बिंबसृष्टि द्वारा चित्तचमत्कृति में निहित है।

छायावादी कवियों ने संस्कृत के तत्सम शब्दों में नवीन संजीवन शक्ति का संचार (२) उनको सामासिक रूप तथा (३) स्वरसंधि के आधार पर विशालाकार प्रदान करके भी किया है। निराला इस विद्या में विशेष सिद्धहस्त हैं, उनकी कविता से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

[1] महादेवी वर्मा, 'यामा', (नीरजा), पृ० १८२।

आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर, वेग, प्रखर,
शतशेलसंवरणशील, नीलनभ-गर्जित-स्वर,……[१] आदि

शब्दों का यह सामासिक प्रयोग युद्ध के सघन वातावरण तथा क्रिया-व्यापारों की विद्युत्सम त्वरा की मूर्त एवं सचित्र व्यंजना में अद्भुत रूप से सक्षम है। इसी प्रकार 'ग्रीवालिंगन'[२], 'तमसाकार'[३] तथा 'चपलानंदित'[४] जैसे शब्द 'आ' की संधि द्वारा क्रमशः आलिंगन की प्रक्रिया, मेघाच्छन्न आकाश की विकरालता तथा बिजली की कौंध से चमकते हुए गगन की पूर्ण व्यंजना करते हैं।

(४) अप्रचलित प्राचीन एवं आर्ष शब्दावली का प्रयोग छायावादी कवियों में, विशेषतः प्रसाद के काव्य में मिलता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति उत्कट मोह ही उनके काव्य में 'अवभृथ स्नान', 'पुरोडाश', 'वैखानस', 'तिमिंगल' जैसे प्राचीन आर्ष शब्दों के प्रयोग के लिये उत्तरदायी है। निराला ने भी यत्र तत्र 'पुरश्चरण' जैसे सांस्कृतिक शब्दों का प्रयोग किया है। संस्कृत के इन व्यंजनागर्भित तत्सम शब्दों के बाहुल्य ने छायावाद की काव्यभाषा को वैभव एवं समृद्धि के साथ ही जीवन के मधुर और विराट दोनों विरोधी पक्षों एवं भावों की समान कौशल से सशक्त अभिव्यंजना की सामर्थ्य तथा असाधारणता प्रदान की।

संस्कृत के तत्सम शब्दों के अतिरिक्त छायावाद की भाषा में 'कन' (कण), 'नखत' (नक्षत्र), 'लाज' (लज्जा), 'साँझ' (संध्या), 'सुर' (स्वर), 'सूना' (शून्य), 'सूखा' (शुष्क) जैसे तद्भव, 'दोनान', 'ठिठोली', 'हुलास', 'झौंर', 'ठौर', 'हहर', 'बोर', 'मरोर', 'पाहुने' आदि प्रादेशिक भाषाओं के देशज तथा 'दाग', 'नशा', 'मतवाली', 'बेताब', 'ऐयाश', 'याद', 'नादान' 'जालिम' जैसे उर्दू भाषा के विदेशी शब्दरूपों का भी मिश्रण है। छायावाद के निराला को छोड़कर अधिकांश कवियों की प्रवृत्ति तद्भव तथा देशज शब्दों की ओर अपेक्षाकृत अधिक रही है, किंतु निराला के काव्य में 'आस्तीन', 'गुलसिताँ', 'बयाँ' सदृश विदेशी शब्दों का मिश्रण अपेक्षाकृत अधिक है।

[१] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'अनामिका' (राम की शक्ति पूजा), पृ० १४।

[२] सुमित्रानंदन पंत, 'पल्लव', (अनंग), पृ० ४१—'सारस के मृदु ग्रीवालिंगन।

[३] उपरिवत्, 'मौन निमंत्रण', पृ० ४७—'गरजता है जब तमसाकार।

[४] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'तुलसीदास', छं० सं० ७५, पृ० ४८—चपलानंदित वह सघन गगन'।

प्रचलित शब्दों में नवीन अर्थगर्भिता उत्पन्न करने के साथ ही छायावादी कवियों ने अनेक विधियों से अनेकानेक नवीन शब्द गढ़कर अपने शब्दशिल्पी होने का प्रमाण प्रस्तुत किया। इस प्रकार की नूतन शब्दयोजना के अंतर्गत सर्वाधिक संख्या प्रचलित तत्सम एवं तद्भव शब्दों में प्रत्यय के योग से निर्मित 'फेनिल', 'रंगिणि', 'स्वप्निल', 'स्वर्णिम', 'स्वरित', 'धूमिल', 'कलियाई' आदि शब्दरूपों की है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी के (विशेषतः रोमांटिक कविता में प्रयुक्त) शब्दों की अर्थच्छाया को ग्रहण करते हुए उनके रूपांतरण की प्रविधि—उदाहरणार्थ पंत के बहुचर्चित 'अजान' (इनोसेंट), 'स्वर्णिम' (गोल्डन), 'सुनहला स्वप्न' (गोल्डन ड्रीम), 'तंद्रिल' (ड्राउजी) आदि शब्द इसी प्रकार के हैं तथा स्वरसंधि के आधार पर 'मदिराभ', 'कल्मषोत्सार', 'स्वप्नोत्पल', 'शब्दोच्छल', 'मदिरालस' जैसे नूतन शब्दनिर्माण की रीति के आश्रय से भी इन कवियों ने अपने शब्दभांडार को विस्तृत बनाया। इस काव्य में कुछ शब्दों का नवीन अर्थ में असाधारण एवं विलक्षण प्रयोग भी मिलता है, उदाहरणार्थ 'बेगुन', 'आक्रीड़', 'मायाशय', 'भावित' आदि शब्द क्रमशः गुणहीन ('बे' अर्थात् बिना—उर्दू का शब्द है और 'गुन' संस्कृत 'गुण' का तद्भव रूप), क्रीड़ांगण, मायाभिभूत और द्रवित के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

संक्षेप में, छायावादी कवियों ने संस्कृत के तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी शब्दरूपों के अतिरिक्त अनेक नवीन शब्दों का निर्माण कर काव्यभाषा को व्यापकता एवं समृद्धि प्रदान की जिससे भाषा में अर्थव्यंजकता की सृष्टि स्वतः हो गई। शब्दचयन तथा पदविन्यास में इन कवियों की दृष्टि मूलतः रमणीयता एवं लालित्य पर ही केंद्रित रही है जिसका साधक तत्व है—असाधारणता या वैचित्र्य अर्थात् लोक में प्रचलित शब्दावली से भिन्न शब्दों का सुंदर विन्यास। यद्यपि छायावाद के प्रत्येक कवि ने शब्दचयन एवं पदविन्यास अपनी विशिष्ट रुचि के अनुकूल किया है, तथापि समग्र रूप से छायावादी काव्य के शब्दसंयोजन पर एक ओर अंग्रेजी के वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स, बायरन, टेनिसन आदि रोमांटिक कवियों के शब्दचयन एवं ध्वनिबोध तथा दूसरी ओर बँगला के रवींद्रनाथ की शब्दयोजना का न्यूनाधिक मात्रा में प्रभाव स्पष्ट ही है। प्रत्येक छायावादी कवि को कुछ विशिष्ट शब्दों से मोह भी रहा है।

छायावादी कवियों की दृष्टि में भाषाप्रयोग का निर्णायक तत्व व्याकरणिक नियम न होकर शब्दों का मूलवर्ती भाव अथवा राग है। उन्होंने इस क्षेत्र में कवि के विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए व्याकरण के मान्य एवं स्वीकृत नियमों में स्वेच्छानुकूल परिवर्तन करने का अद्भुत साहस

किया। पंत के काव्य में 'प्रभात', 'अनिल' आदि शब्दों, निराला के काव्य में 'स्वप्न', 'गात' तथा प्रसाद के काव्य में 'बीज', 'नशा' आदि पुलिंग शब्दों का स्त्रीलिंग में प्रयोग इसी स्वच्छंद प्रवृत्ति का द्योतक है। व्याकरण की दृष्टि से लिंगदोष के अंतर्गत आ जानेवाले इस प्रकार के प्रयोगों का औचित्य कुंतक ने 'लिंग वैचित्र्यवक्रता'[१] द्वारा सिद्ध कर दिया है। व्याकरणशास्त्रीय नियमों से असंतुष्ट होकर शब्द और अर्थ, राग और शब्द में सामंजस्य स्थापित करने के उद्देश्य से ही इन कवियों ने व्याकरणिक नियमों का उल्लंघन किया। इसी प्रकार पंत के 'मरुताकाश', 'प्रि आह्लाद', 'ज्योतिमयी' तथा निराला के काव्य में उपलब्ध 'निश्चलत्प्राण', 'तमजिज्जीवन', 'प्रभापूर्य', 'तमस्तूर्य' आदि शब्द भी संधि समास-रचना की दृष्टि से व्याकरणसंमत नहीं हैं। 'मरंद' (मकरंद), 'अकाम' (निष्काम), 'निबल' (निर्बल) और 'असंग' (निस्संग) आदि शब्द भी व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हैं। किंतु छायावादी कवियों ने शब्दों के प्रकृत-विशुद्ध रूप में मनोवांछित परिवर्तन उन्हें कोमलतर रूप प्रदान करने के लिये ही किया है—यही कारण है कि व्याकरणसंमत न होते हुए भी इन शब्दप्रयोगों के द्वारा काव्यपक्ष की हानि नहीं हुई है।

समग्रतः छायावादी कवियों द्वारा स्वेच्छापूर्वक किया गया व्याकरणिक नियमों का यह उल्लंघन एक ओर तो कवि को प्राप्त विशेषाधिकार के कारण आक्षेपमुक्त है और दूसरी ओर उनका कवित्व में घातक न होकर साधक होना भी उनकी औचित्य विषयक सभी शंकाओं का समाधान कर देता है।

(ख) सौष्ठव

अलंकरण : रूपसज्जा

भाषाविकास की दृष्टि से यदि द्विवेदी युग भाषा के स्वरूपनिर्माण का युग था, तो छायावादी युग निश्चय ही उसके अलंकरण, रूपसज्जा एवं समृद्धि का युग कहा जा सकता है। भाषा के दो प्रमुख उपकरण हैं— नाद और अर्थ तथा काव्य में नाद या संगीत उत्पन्न करनेवाले तत्व हैं—ध्वनि, लय और गति; इन तीनों के साधक हैं—शब्द। छायावाद के अनुभूतिप्रवण कवियों को विभिन्न प्रकार की वर्णमैत्रियों द्वारा काव्य में संगीतमाधुरी उत्पन्न करने में अद्भुत सफलता मिली है। इन्होंने अनुप्रासगत वर्णमैत्री तथा पाश्चात्य कवियों से प्रेरणा प्राप्त

[१] देखिए—डॉ० नगेंद्र : 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' (भाग २), (आचार्य कुंतक तथा वक्रोक्तिसिद्धांत—वक्रोक्ति के भेद), पृ० २५४।

कर अर्थध्वननकारी सस्वर शब्दों का प्रयोग करते हुए पाश्चात्य अलंकार 'ध्वनि-चित्र' (ऑनोमेटोपिया) के आश्रय से शत शत वर्णमैत्रियों की संयोजना द्वारा अपने काव्य को नादसौंदर्य से समृद्ध किया। छायावाद के इन संवेदनशील कवियों ने ध्वनिबोध को ही शब्दों के अर्थ का निर्णायक तत्व माना। पंत ने भाषा को 'संसार का नादमय चित्र और ध्वनिमय स्वरूप' कहा।[१] इन सभी कवियों में निराला का नादसौंदर्य का सहज बोध अप्रतिम है। उनके अनुसार ध्वन्यात्मक सौंदर्य से ही वर्णयोजना में चमत्कार की सृष्टि होती है :

वर्ण चमत्कार
एक एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार।[२]

यही कारण है कि निराला के काव्य में शब्दसंगीत पर आधृत इस प्रकार की ध्वन्यात्मक वर्णसंगतियों के उदाहरण अपरिमित हैं :

'नूपुरों में भी रुन झुन रुन झुन रुन झुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा 'चुप चुप चुप'
है गूँज रहा सब कहीं—[३]

पदविन्यास में ध्वन्यात्मक नादचमत्कार के प्रति इस तीव्र आग्रह के कारण ही निराला की भाषा का रूप अनेक स्थलों पर अत्यंत असाधारण हो जाता है और इन्हीं विचित्र ध्वन्यात्मक प्रयोगों से उनकी भाषा लोक-प्रचलित भाषाप्रयोगों से बहुत दूर पड़ जाती है। निराला के अतिरिक्त छायावाद के शेष कवियों ने इस प्रकार के अनुकरणात्मक शब्दों में ध्वनि को मूर्त करने की अपेक्षा ऐसे सस्वर शब्दों का प्रयोग अधिक किया है जो नादसौंदर्य उत्पन्न करने के साथ-साथ अर्थव्यंजना में भी समर्थ हैं। प्रसाद, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि ने अर्थव्यंजक सस्वर शब्दों के प्रचुर प्रयोग द्वारा ही नादसौंदर्य की सृष्टि की है :

इस सूखे तट पर छिटक छहर[४]

उक्त उद्धरण में 'छिटक छहर' शब्द 'ध्वनिचित्र' अलंकार के अंतर्गत आनेवाले अनुरणनात्मक शब्द न होकर ऐसे शब्द हैं जो मानससंसर्ग के कारण ध्वनि

[१] सुमित्रानंदन पंत, 'पल्लव' (प्रवेश), पृ० १९।
[२] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'गीतिका', गीत सं० ८७, पृ० ९२।
[३] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'परिमल', (संध्या सुंदरी), पृ० ११३।
[४] जयशंकर प्रसाद, 'लहर', पृ० ६।

मात्र से ही विशिष्ट अर्थ की व्यंजना करते हैं, अर्थात् इनकी अर्थव्यंजक शक्ति की विस्तारसीमा केवल शब्दध्वनि तक ही नहीं है।

कुंतक की 'वर्णवक्रता' के अंतर्गत आनेवाली अनुप्रासगत वर्णावृत्तियाँ भी छायावादी काव्य में नादसौंदर्य उत्पन्न करनेवाले विशिष्ट प्रसाधन हैं। छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास और श्रुत्यनुप्रास के आश्रय से छायावादी कवियों ने व्यंजनों की आवृत्ति से उत्पन्न मीलित झंकार द्वारा काव्य को संगीतात्मक माधुर्य एवं समृद्धि प्रदान की, उदाहरणार्थ :

कंकण क्वणित रणित नूपुर थे[१]

प्रसाद के काव्य में जहाँ पृथक् पृथक् असमस्त पदों में प्रयुक्त वर्णों की आवृत्तियाँ मिलती हैं वहाँ निराला में संधि-समास-युक्त पदों में व्यंजनसंगीत की झंकार उत्पन्न करने की चेष्टा अधिक है :

राघव-लाघव--रावण-वारण--गत युग्म प्रहर'[२]

इस पंक्ति के शब्दों में अंतिम व्यंजनों की आवृत्ति से नियोजित अंत्यानुप्रास से संपूर्ण पदयोजना में एक विशेष अनुक्रम तथा संतुलन आ गया है।

समग्रत: छायावादी कवियों ने काव्य में शब्दसंगीत की सृष्टि के लिये अनुप्रासगत व्यंजनमैत्री की अपेक्षा शब्दों के ध्वनिबोध के आधार पर ध्वन्यात्मक शब्दों का संयोजन अनुपात में अधिक किया है। इस प्रकार विशिष्ट वर्णगुंफन के आश्रय से ध्वन्यर्थव्यंजना द्वारा छायावादी कवियों ने अपने काव्य में वर्णविन्यास वक्रता का अत्यंत कुशल संनिवेश किया।

छायावादी कवियों ने शब्दसंगीत के ध्वन्यात्मक पक्ष के साधक के रूप में जहाँ अनुप्रासगत व्यंजनमैत्री तथा ध्वनिचित्र अलंकार का विधान किया वहाँ काव्य में लय एवं गतिसंचार के लिये लाटानुप्रास, पुनरुक्तिप्रकाश तथा वीप्सागत पदावृत्तियाँ ही उन्हें अधिक उपयोगी प्रतीत हुईं। इनमें से भी भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं में वेग तथा छंद में संगीतात्मक लय एवं गति उत्पन्न करने के लिये इन कवियों ने अधिकतर पुनरुक्ति का ही आश्रय लिया है, उदाहरणार्थ :

[१] जयशंकर प्रसाद, 'कामायनी' (चिंता सर्ग), पृ० १६।

[२] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'अनामिका', (राम की शक्ति पूजा), पृ० १४८।

झुक झुक, तन तन, फिर झूम झूम हँस हँस, झकोर,

+ + +

कर मुहुर्मुहुर, तन गंध विमल बोली बेला—[१]

उपर्युक्त पंक्तियों में निराला ध्वन्यर्थव्यंजना, अनुप्रासगत व्यंजनझंकार तथा पुनरुक्ति तीनों के आश्रय से चित्र की गत्यात्मकता को अद्भुत सफलता के साथ शब्दों में साकार कर देते हैं।

अभिव्यंजना के चमत्कारपूर्ण प्रयोगों तथा उक्तिवैचित्र्य से पराङ्मुख न होने पर भी छायावादी कवियों ने अलंकारों को वाणी के अभिन्न अंग के रूप में ग्रहण किया, इसी कारण श्लेष, यमक जैसे चमत्कारमूलक अलंकारों के प्रति इनकी विशेष रुचि नहीं रही, किंतु फिर भी, उनका निर्देश करना अप्रासंगिक न होगा :

खुलते रहते बहुवर्ण 'सुमन'[२]

अन्याय जिधर है उधर शक्ति[३]

उक्त उदाहरणों में 'सुमन' तथा 'शक्ति' शब्द क्रमशः पुष्प और सुंदर मन तथा दुर्गा देवी और सामर्थ्य—इन दो विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण श्लिष्ट हैं।

अर्थव्यंजना

अर्थव्यंजना में चमत्कार उत्पन्न करने के लिये छायावादी कवियों ने लक्षणाव्यंजना, सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक प्रयोगों तथा चित्रात्मक व्यंजना आदि अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण वचनभंगिमाओं का आश्रय लिया।

लक्षणाव्यंजना

छायावाद में अभिधा पर आश्रित स्थूल एवं प्रत्यक्ष भावाभिव्यंजना का प्रायः अभाव है। अनुभूति, चिंतन और कल्पना की असाधारण सजगता ने छायावाद की भाषा को लक्षणा-व्यंजना-प्रधान भाषा का रूप दे दिया है। स्वयं प्रसाद ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि 'इसी अर्थचमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य

[१] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'अनामिका', (वन बेला), पृ० ८८ ।

[२] जयशंकर प्रसाद, 'कामायनी', काम सर्ग, पृ० ५८ ।

[३] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'अनामिका', (राम की शक्ति पूजा), पृ० १५७ ।

हुए।'[1] स्वभावतः छायावाद के कवियों ने अर्थवैचित्र्य की सृष्टि के लिये लक्षणा और व्यंजना के आश्रित धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग, मानवीकरण और विशेषण विपर्यय अलंकार तथा सांकेतिक प्रतीकात्मक व्यंजना आदि अनेक प्रकार की वचनभंगिमाओं द्वारा भाषा के अर्थआयामों को विस्तार एवं व्यापकता प्रदान करने की चेष्टा की, उदाहरणार्थः

सैकड़ों ही वृश्चिकों का डंक लगा एक साथ[2]

'प्रलय की छाया' की यह पंक्ति, आजीवन दास खुसरू द्वारा सुलतान के वध का समाचार सुनकर गुर्जर प्रदेश की महारानी कमला को कैसी असह्य पीड़ाकर अनुभूति हुई, इसकी लाक्षणिक रूप में अत्यंत समर्थ व्यंजना करती है; यह 'प्रयोजनवती उपादान लक्षणा' का अप्रतिम उदाहरण है, क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ को खींचकर ही लक्ष्यार्थ ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार—

हृदयकुसुम की खिलीं अचानक
मधु से वे भीगी पाँखें॥[3]

यहाँ 'हृदयकुसुम' में हृदय पर कुसुम का आरोप होने से 'गौणी सारोपा लक्षणा' है।

इस वर्ग के कवियों में व्यंजना के आश्रय से की गई सांकेतिक अभिव्यक्ति अनुपात की दृष्टि से सर्वाधिक निराला के काव्य में मिलती है। इन्होंने लक्षणा के आश्रित चित्रात्मक व्यंजना की अपेक्षा अंतःस्फुरित भावों को यथावत् शब्दबद्ध करने की आकुलता में व्यंजना के आश्रय से अर्धस्फुट रूप में ही व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। उनकी कविता से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

'खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगंध के,
प्रथम वसंत में गुच्छ गुच्छ।
दृगों को रँग गई प्रथम प्रणयरश्मि,
चूर्ण हो विच्छुरित
विश्वऐश्वर्य को स्फुरित करती रही
बहु रंग भाव भर

[1] जयशंकर प्रसाद, 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', (यथार्थवाद और छायावाद), पृ० १२२।

[2] जयशंकर प्रसाद, 'लहर', (प्रलय की छाया), पृ० ७६।

[3] जयशंकर प्रसाद, 'कामायनी' (आशा सर्ग), पृ० ३६।

शिशिर ज्यों पत्र पर कनकप्रभात के,
किरणसंपात से ।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में तारुण्य के मुग्धा भाव की 'गौणी साध्यवसाना लक्षणा' ('प्रथम वसंत'—नवयौवन का प्रतीक है तथा 'प्रथम सुगंध के (पुष्प) गुच्छ गुच्छ'—यौवनसुलभ मधुर, मदिर एवं उल्लासपूर्ण भावनाओं के व्यंजक हैं) तथा 'सारोपा लक्षणा' (प्रणयरश्मि में प्रणय पर रश्मि का आरोप) के आश्रय से अत्यंत सांकेतिक अभिव्यक्ति की गई है।

सांकेतिकता—प्रतीकात्मकता

सूक्ष्म एवं वैचित्र्यपूर्ण अभिव्यंजना के प्रति विशेष मोह होने के कारण छायावादी कवियों ने व्यंजनाश्रित अप्रस्तुत कथन की सांकेतिक प्रणाली—'प्रतीक-विधान' को अत्यंत आग्रहपूर्वक अपनाया। प्रसाद ने छायावादी कविता की विशेषताओं के अंतर्गत 'प्रतीकात्मकता' को भी परिगणित किया है।[2] कल्पना, अनुभूति एवं विचार की संमिलित प्रक्रिया से समुद्भूत छायावादी काव्य का कलात्मक सौंदर्य असंदिग्ध है, अतः उसके प्रतीक भी मूलतः कलात्मक प्रतीक ही हैं—कबीर, जायसी तथा पश्चिम के रहस्यवादी कवियों के रहस्यात्मक अथवा आध्यात्मिक प्रतीकों से भिन्न उनमें रहस्य तथा अध्यात्म तत्व की अपेक्षा कलागत मूर्तीकरण की प्रवृत्ति प्रधान है। सूक्ष्म एवं अमूर्त विषय को मूर्तिमंत करने की प्रवृत्ति के कारण इस काव्य में ऐसे स्थूल एवं मूर्त प्रतीकों का ही आधिक्य है जिनका आधार सादृश्य, साधर्म्य अथवा बिंब है। वस्तुतः छायावादी कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रारंभिक अप्रस्तुत एवं बिंब ही प्रयोग की निरंतर पुनरावृत्ति से रूढ़ होकर प्रतीकरूप में पर्यवसित हो गए हैं, उदाहरणार्थ :

तरल मोती से नयन भरे।
\+ + +
तारे मरकत नील तरी से,
सूखे पुलिनों सी वरुणी से फेनिल फूल भरे![3]

'नीलम की नाव' और 'मरकत नील तरी'—छायावादी काव्य के ऐसे

[1] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'अनामिका', ('प्रेयसी'), पृ० १।
[2] जयशंकर प्रसाद, 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', ('यथार्थवाद और छायावाद'), पृ० १२६।
[3] महादेवी वर्मा, 'दीपशिखा', गीत सं० १०, पृ० ८५।

सादृश्यमूलक अप्रस्तुत हैं जो अनेक बार प्रयुक्त होने के कारण रूढ़ होकर प्रतीकात्मक बन गए हैं, अश्रुओं के लिये 'तरल मोती' और 'फेनिल फूल' आदि अप्रस्तुत भी साध्यवसान रूप में प्रयुक्त हुए हैं। अश्रु के ये प्रतीक पर्यवसायी उपमान महादेवी के काव्य की मूलवर्ती वेदना के व्यंजक बन गए हैं, अतः ये केवल सादृश्य प्रतिपादन तक ही सीमित न रहकर संदर्भसापेक्ष व्यापक अर्थव्यंजना की शक्ति प्राप्त कर प्रतीकात्मक गुणसंपन्न हो गए हैं।

छायावाद की भाषा की श्रीसमृद्धि एवं अर्थगर्भिता का सर्वाधिक श्रेय वस्तुतः बिंबमूलक प्रतीकों को है, अर्थात् जिन बिंबों की शक्ति केवल वर्ण्य के मूर्त, इंद्रियबोध्य चित्रात्मक विधान तक ही परिमित न होकर उससे भिन्न किसी सूक्ष्म अमूर्त प्रतीयमान अर्थ की सांकेतिक व्यंजना में निहित है। उदाहरण रूप में देखिए :

आँखों के साँचे में आकर
रमणीय रूप बन ढलता सा,
नयनों की नीलम की घाटी
जिस रसघन से छा जाती हो,

× × ×

हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का
गोधूली की सी ममता हो,
जागरण प्रात सा हँसता हो
जिसमें मध्याह्न निखरता हो।[१]

विभिन्न ऐंद्रिय संवेदनों के संस्पर्शों से सौंदर्य की अमूर्त चेतना को संवेद्य बनानेवाले ये अप्रस्तुत बिंबों के समान ही दृश्यचित्र मन में उभारते हुए सूक्ष्म एवं अमूर्त विषय को अनुभूति का विषय बनाते हैं, अतः ये प्रतीक बिंबाश्रित या बिंबमूलक हैं।

इनके अतिरिक्त छायावाद में अनेक ऐसे प्रतीकों का प्रचुर विधान हुआ है जिनके मूल में विरोध एवं लक्षणा-व्यंजना का चमत्कार प्रधान है। छायावादी काव्यशिल्प से प्रत्यक्ष संबंध इसी प्रकार के सादृश्यमूलक, साधर्म्य-मूलक, बिंबाश्रित, विरोधमूलक, लक्षणा एवं व्यंजनागर्भित स्थूल एवं मूर्त प्रतीकों का है। इस काव्य की भाषा को समृद्धि तथा मन के सूक्ष्म तरल संवेदनों की

१ जयशंकर प्रसाद, 'कामायनी', लज्जा सर्ग, पृ० ८२।

विभिन्न अर्थच्छायाओं की अभिव्यक्तिसामर्थ्य प्रदान करने का श्रेय बहुत कुछ इन्हीं प्रतीकों को है। छायावाद के कवियों में प्रसाद, पंत और निराला की तुलना में महादेवी के काव्य का प्रतीकवैविध्य अत्यंत सीमित है, किंतु उन सीमित प्रतीकों के ही संयोजन में वैविध्य उत्पन्न कर उन्होंने इसकी क्षतिपूर्ति कर ली है। व्यंजना के अतिचार के कारण निराला की प्रतीकात्मक अभिव्यंजना जितनी अर्धस्फुट है उसी अनुपात में अर्थगूढ़ भी है।

चित्रात्मक व्यंजना

चित्रात्मकता भी छायावाद के अभिव्यंजनाशिल्प का एक विशिष्ट गुण है। इस वर्ग के कवियों ने भावों की अमूर्तता एवं सूक्ष्मता को चित्रमय रूप प्रदान कर उन्हें मानसपटल पर मूर्तिमंत करने की अपूर्व शक्ति अर्जित कर ली थी। यद्यपि यह चित्रमयता बिंबविधान का भी अंतरंग एवं मूल तत्व है, तथापि छायावादी कवियों ने अंग्रेजी की रोमांटिक कविता की प्रेरणा से बिंबों से भिन्न एक शब्दचित्र, सचित्र विशेषण और पर्यायवाची शब्दों के साभिप्राय प्रयोग आदि कुछ ऐसे विशिष्ट चमत्कारपूर्ण साधनों का भी आश्रय लिया है जो उनकी भाषा के अभिन्न अंग बन गए हैं। पंत में एक ही शब्द द्वारा वर्ण्य की चित्रात्मक व्यंजना करने में सक्षम सचित्र विशेषणों के प्रति विशेष मोह दृष्टिगत होता है। उनकी 'नक्षत्र', 'बादल' आदि कविताएँ तो ऐसे शब्दचित्रों की शृंखला सी जान पड़ती हैं। 'नक्षत्र' के लिये प्रयुक्त—'निद्रा के रहस्यकानन', 'विश्वसुकवि के सजग नयन' तथा 'बादल' के लिये 'सागर के धवल हास', 'अनिल फेन', 'शशि के यान' - आदि विशेषणों की चित्रव्यंजकता अनुपम एवं अपरिमेय है। ये विशेषण अनेक प्रकार के स्मृति एवं मानसचित्रों (ऐसोसिएशंस) को जगाते हैं।

इसी प्रकार पर्यायवाची शब्दों की परस्पर भिन्न सूक्ष्म अर्थच्छायाओं को ग्रहण करने में भी इन कवियों ने अपने असाधारण अर्थविवेक का परिचय दिया। पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में विभिन्न पर्यायवाची शब्दों के अद्भुत अर्थच्छायागत अंतर का विशद विश्लेषण करते हुए अपने शब्दों के अद्भुत अंतर्बोध को प्रकाशित किया है। उनके इस अर्थविवेक का आधार शब्दकोश न होकर उन विशिष्ट शब्दों की ध्वनि अथवा नाद का मानससंसर्ग है :

रजनी के रंजक उपकरण बिखर गए,
घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर।
अरुण अपांगों से देखा, कुछ हँस पड़ी,[1]

[1] जयशंकर प्रसाद, 'झरना', ('पावस प्रभात'), पृ० ८।

यहाँ 'रंजक' में सुंदर आभरणों की जगमगाहट, चमक दमक तथा 'अपांग' में अरुणिम चितवन की बंकिमता एवं कटाक्ष की अर्थध्वनि अत्यंत मुखर है।

संक्षेप में, छायावादी कवियों में महादेवी के काव्यचित्र तरल-कोमल गीतिमय चित्र हैं, पंत के चित्रों का वैशिष्ट्य उनके 'बारीक जड़ाव कढ़ाव'[१] में निहित है तथा प्रसाद और निराला के चित्रों का आधारफलक इन दोनों से भिन्न, विराट और व्यापक है। निराला के चित्र प्रायः रेखाचित्र होने के कारण अस्पष्ट, धूमिल तथा सांकेतिक हैं, गत्यात्मकता में उनका अद्भुत वैशिष्ट्य निहित है :

चुंबनचकित चतुर्दिक् चंचल
हेर, फेर मुख, कर बहु सुख छल,
कभी हास, फिर त्रास, साँस बल
उर सरिता उमगी।[२]

इस प्रकार छायावादी कवियों ने बिंब एवं अलंकारयोजना से भिन्न कुछ स्वतंत्र भाषागत उपकरणों के आश्रय से अनेक सूक्ष्म-अमूर्त, तरल-कोमल संवेदनों की चित्रात्मक व्यंजना द्वारा उनको अनुभूतिगम्य बनाने की क्षमता प्रदान कर अपनी अपूर्व सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का परिचय दिया।

निष्कर्षतः छायावादी काव्य का गौरव खड़ीबोली के स्वरूपनिर्माण में न होकर उसके अलंकरण, समृद्धि तथा उसमें अर्थव्यंजकता की अपूर्व शक्ति उत्पन्न करने में निहित है। व्याकरणबद्ध शास्त्रीय दृष्टि के अभाव में भी अभिनव सौंदर्य-दृष्टि के आलोक में एक ओर तो हृदय के राग के विविध तरल-कोमल मोहक रंगों में अलंकरण एवं रूपसज्जा तथा दूसरी ओर अर्थगौरव की सृष्टि द्वारा छायावादी कवियों ने खड़ीबोली को काव्यभाषा के पद पर अधिनिष्ठित करने का महदनुष्ठान किया।

अभिव्यंजना के विविध प्रसाधन

अभिव्यंजना में वैचित्र्य उत्पन्न करनेवाले प्रमुख प्रसाधन हैं :

(१) अप्रस्तुतविधान अथवा अलंकारयोजना

(२) बिंबविधान

(३) उक्तिवक्रता

[१] डॉ॰ नगेंद्र, वक्तव्य से उद्धृत।

[२] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'गीतिका', गीत सं॰ २८, पृ॰ ३१।

ये सभी प्रसाधन निस्संदेह कल्पना के आश्रित हैं। अँग्रेजी की रोमांटिक कविता की भाँति छायावादी काव्य का कल्पनातिरेक एक सहज स्वीकृत तथ्य है जिसके लिये इस वर्ग के कवियों की अंतर्मुख प्रवृत्ति उत्तरदायी है। स्वभावतः इन कवियों ने अपनी अभिव्यंजना में वैचित्र्य एवं सौंदर्य की सृष्टि के लिये निर्दिष्ट समस्त कल्पनाश्रित प्रसाधनों की समुचित योजना की है।

(१) अप्रस्तुतविधान या अलंकरण

छायावादी कवियों ने प्रस्तुत के समग्र स्वरूप को संवेद्य बनाने के लिये तथा अभिव्यंजना की रूपसज्जा एवं अलंकरण के लिये यद्यपि अन्य युग के कवियों की भाँति ही साम्य का पर्याप्त आश्रय लिया, तथापि उनकी अप्रस्तुत-योजना रीतिकालीन और द्विवेदीयुगीन अप्रस्तुतयोजना से अपनी बिंबविधायिनी शक्ति तथा रोमानी कल्पनाप्रसूत सूक्ष्म, अमूर्त एवं वायवी अप्रस्तुतों के संयोजन के कारण विशिष्ट है। इसी कारण इस काव्य में बिंब-प्रतिबिंब-रूप सादृश्य तथा वस्तु-प्रति-वस्तु-रूप धर्म के आश्रित साधर्म्य की अपेक्षा आभ्यंतर प्रभावसाम्य के प्रति विशेष आग्रह परिलक्षित होता है, उदाहरणार्थ :

यह सागर का मृगछौना,
नाप शून्य का कोना कोना,
पद भू का संकेत
धूलि में मोती बन आता है
रूप का अंबर फैलाता है।[१]

महादेवी की इन पंक्तियों में मेघों के रूपायन की प्रक्रिया के काव्यमय विश्लेषण द्वारा प्राकृतिक वैभवप्रसार के समग्र आभ्यंतर प्रभाव को मूर्तिमंत करने का प्रयास है।

साम्य के अतिरिक्त छायावादी कवियों ने अभिव्यंजना में वैचित्र्य की सृष्टि के लिये मूर्त-अमूर्त अप्रस्तुतयोजना तथा मानवीकरण, विशेषणविपर्यय जैसे नवीन पाश्चात्य अलंकार आदि की अनेकविध अभिनव अभिव्यंजनाप्रणालियों का आश्रय लिया। इन कवियों ने अमूर्त भावना को स्पष्ट रूपाकार प्रदान कर उसे मूर्तिमंत करने के लिये तथा मूर्त की अनुभूति को अमूर्त उपमानों के आश्रय से तीव्रतर एवं संवेद्य बनाने के लिये विविध प्रकार के रम्याद्भुत मूर्त-अमूर्त अप्रस्तुतों का संयोजन किया। उदाहरण के लिये—

१ महादेवी वर्मा, 'दीपशिखा', गीत सं० ४७, पृ० १४६।

कल्पना से कोमल
ऋजु कुटिल प्रसारकामी केशगुच्छ ।[1]

यहाँ केशों (मूर्त वस्तु) के समग्र प्रभाव (उनकी कोमलता, ऋजु कुटिलता तथा प्रसार पाने की प्रवृत्ति) को कल्पना जैसे अमूर्त विषय के समकक्ष रखकर संवेद्य बनाया गया है।

पाश्चात्य काव्य में नियोजित 'मानवीकरण' तथा 'विशेषण विपर्यय' अलंकारों ने छायावादी कवियों को विशेष रूप से आकर्षित किया। विशेषण-विपर्यय का एक उदाहरण देखिए :

जग के निद्रित स्वप्न संजनि ![2]

पंत के काव्य में कुंतक की दृष्टि से 'विशेषणवक्रता' के अंतर्गत आनेवाले विशेषणों के इन वैचित्र्यपूर्ण प्रयोगों का अत्यधिक प्राचुर्य है।

इसी प्रकार बिंबसृष्टि के साधक रूप में छायावादी कवियों ने प्रकृति तथा अमूर्त-अरूप भावनाओं के 'मानवीकरण' द्वारा भी अभिव्यंजना में वैचित्र्य की सृष्टि की। अत इस काव्य में 'मानवीकरण' अलंकार के भी अनेकानेक उदाहरण उपलब्ध हैं, यथा :

वह लाजभरी कलियाँ अनंत
परिमल घूँघट ढँक रहा दंत
कँप-कँप चुप चुप-कर रही बात,[3]

इस प्रकार छायावादी कवियों ने विविध प्रकार की अप्रस्तुतयोजनाओं द्वारा अभिव्यंजना में अर्थसंवेदन की शक्ति द्वारा अर्थगौरव की सृष्टि तथा मूर्तिमत्ता, वैचित्र्य एवं समृद्धि का समावेश किया।

(२) बिंबविधान

छायावादी काव्य का अभिव्यंजनाशिल्प मूलतः बिंबाश्रित है, अभिव्यंजना-शिल्प के अप्रस्तुतयोजना, लाक्षणिक एवं अभिव्यंजनागर्भित भाषाप्रयोग तथा प्रतीकादि अन्य सभी उपकरण बिंबों के उपधर्मी एवं अंगरूप में ही उसकी समृद्धि में योग देते हैं। छायावाद के काव्यबिंब अधिकांशतः सूक्ष्मसंवेदनात्मक बिंब ही हैं। स्थूल ज्ञानेंद्रियों की अपेक्षा उनका संवेदन मूल रूप में सूक्ष्मेंद्रिय मन के प्रति

[1] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'परिमल', (जागो फिर एक बार), पृ० १७२।
[2] सुमित्रानंदन पंत, 'पल्लव', (स्वप्न), पृ० ५८।
[3] जयशंकर प्रसाद, 'लहर', पृ० २५।

है। अन्य ज्ञानेंद्रियों के बोध से प्रत्यक्षतः संबद्ध होते हुए भी वे अंततः मानस-संवेदनों को ही जगाते हैं, उदाहरणार्थ :

और उस मुख पर वह मुसक्यान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम,
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम ।[१]

श्रद्धा के रक्तिम अधरों पर खेलती हुई उज्वल मुस्कान के संपूर्ण प्रभाव-संवेदन को स्पष्ट कर कल्पना में साकार करने के लिये प्रसाद ने इन पंक्तियों में उत्प्रेक्षा के आश्रय से एक संश्लिष्ट बिंब का कुशल विधान किया है। प्रत्यक्षतः चक्षुरिंद्रिय से संबद्ध होते हुए भी यह बिंब अंत में मन का विषय बन जाता है। छायावाद के चाक्षुष् बिंब वर्ण्य के रूप, रेखा, वर्ण, आकार आदि के साथ ही उसकी गति एवं समग्र प्रभाव को भी भास्वर कर कल्पना में साकार कर देते हैं।

छायावादी कवियों में पंत और निराला के काव्य में शब्दों के ध्वन्यात्मक सौंदर्य पर आश्रित श्रावणिक बिंबों का भी अत्यंत कुशल संयोजन हुआ है, उदाहरणार्थ देखिए :

द्रुम समीर कंपित थर–थर–थर
झरतीं धाराएँ झर-झर-झर
जगती के प्राणों में स्मर शर
बेंध गए कसके ।[२]

इन पंक्तियों में प्रयुक्त थर-थर-थर' तथा 'झर-झर-झर' शब्दों में 'समीरकंपित द्रुम' तथा झरती हुई धाराओं के श्रावणिक बिंब अंकित हैं।

इस मुस्क्यान के, पद्मराग उद्‌गम से
बहता सुगंध की सुधा का सोता मंद मंद ।[3]

इस उद्धरण में विभिन्न ऐंद्रिय बोधों से संबद्ध बिंबों को पृथक् करना दुःसाध्य-सा जान पड़ता है। सुवासित मुख की मंदमधुर मुस्कान के समग्र प्रभाव को 'बहता सुगंध की सुधा का सोता मंद मंद' कहकर स्पष्ट किया गया है। साथ ही 'पद्मराग उद्‌गम' द्वारा माणिक के समान

[१] जयशंकर प्रसाद, 'कामायनी', श्रद्धा सर्ग, पृ० ४३।
[२] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'अपरा', ('आए घन पावस के—'), पृ० ६४।
[३] जयशंकर प्रसाद, 'लहर', ('प्रलय की छाया'), पृ० ७७।

अरुणिम अधरसंपुट का भी स्पष्ट बिंब अंकित हो जाता है जो शेष बिंब को पूर्णता प्रदान करता है। इस प्रकार के बिंब काव्य में स्वतंत्र रूप से जीवित नहीं रहते, अपितु एक संपूर्ण बिंब की सृष्टि में परस्पर एक दूसरे के पूरक बनकर वर्ण्य विषय के समग्र प्रभाव को उभारकर एक साथ संवेद्य बना देते हैं। छायावादी कवियों की सफलता का रहस्य वस्तुतः इसी प्रकार की संश्लिष्ट बिंबरचना में निहित है।

छायावादी कवियों के काव्यबिंबों में पर्याप्त वैविध्य भी है, प्रत्येक कवि ने अपने रुचिवैचित्र्य के अनुरूप ही विविध प्रकार के बिंबों का विधान किया है। पंत और निराला के काव्यबिंबों में प्रसाद और महादेवी की अपेक्षा ऐंद्रिय संस्पर्शों का आधिक्य है। कुशल चित्रकार होने के कारण महादेवी के बिंब चित्रात्मक गुणविशिष्ट एवं चाक्षुष् अधिक हैं, निराला के बिंब यदि विराट और दिगंतव्यापी हैं तो पंत लघु एवं मसृण बिंबों की रचना में सिद्धहस्त हैं :

......सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म तृण से श्यामल सुंदर,
पार्वती कल्पना हैं इसकी, मकरंदविंदु,
गरजता चरणप्रांत पर सिंह, वह, नहीं सिंधु,
दशदिक् समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अंबर में हुए दिगंबर अर्चित शशि शेखर,
लख महाभाव मंगल पद तल धँस रहा गर्व—
मानव के मन का असुर मंद, हो रहा खर्व।[1]

निराला के इस दिगंतव्यापी विराट बिंब की तुलना में पंत के निम्न पंक्तियों में संयोजित बिंब की लघु मसृणता द्रष्टव्य है :

मृदु मंद मंद, मंथर मंथर, लघु तरणि हंसिनी सी सुंदर,
तिर रही, खोल पालों के पर![2]

इस प्रकार छायावादी काव्य के बिंबविधान में जीवंतता, भावोद्‌बोधन की शक्ति और समृद्धि के साथ-साथ पर्याप्त वैविध्य भी है। इस काव्य की शैल्पिक रूपसज्जा का श्रेय अन्य प्रकार की अलंकरणसामग्री को न होकर संश्लिष्ट बिंबविधान को प्राप्त है।

[1] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'अनामिका', ('राम की शक्ति पूजा'), पृ० १६०-६१।

[2] सुमित्रानंदन पंत : 'गुंजन', ('नौका विहार'), पृ० १०२।

(३) वक्रताएँ

प्रसाद ने अपने 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक निबंध में छायावाद का स्वरूपविश्लेषण करते समय इसके आधारभूत 'छाया' शब्द का संबंध 'वक्रोक्ति' से स्थापित किया है।[1] आगे चलकर उन्होंने 'उपचारवक्रता' को छायावाद की आधारभूत विशेषताओं में स्थान दिया है।[2] अतः स्पष्ट है कि वक्रता छायावाद के अभिव्यंजनाशिल्प का एक अभिन्न तत्व है। इस काव्य की अभिव्यंजना द्विवेदीयुगीन कविता की ऋजुसरल शैली से भिन्न वक्रतापूर्ण है, कथन की प्रत्यक्ष शैली की अपेक्षा इस वर्ग के कवियों को उक्ति की वक्र भंगिमा ही सदैव रुचिकर प्रतीत हुई।

वक्रोक्ति के विभिन्न भेदोपभेदों में से छायावाद की प्रकृति के सर्वाधिक अनुकूल वक्रताएँ—उपचारवक्रता, पर्यायवक्रता एवं विशेषणवक्रता हैं। 'उपचार-वक्रता' का एक उदाहरण प्रस्तुत है :

पुलकित स्वप्नों की रोमावलि,
कर में हो स्मृतियों की अंजलि,
मलयानिल का चल दुकूल अलि,
घिर छाया सी श्याम विश्व को
आ अभिसार बनी
सकुचती आ वसंत रजनी!

इन पंक्तियों में रजनी (अचेतन पदार्थ) पर चेतन मानव के धर्मों (स्वप्न, स्मृति, अभिसार, संकोच) का आरोप किया गया है, अतः प्रमुखतः मानवीकरण तथा 'पुलकित स्वप्नों में विशेषणविपर्यय अलंकार के रूप में ही यहाँ 'उपचारवक्रता' का समावेश हुआ है—'पुलकित स्वप्नों' में विशेषण के वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग के कारण 'विशेषणवक्रता' भी है जो 'उपचारवक्रता' के संवर्धक अंग के रूप में ही सनिविष्ट है।

शब्दों की अंतरात्मा का सहज ज्ञान होने के कारण छायावादी कवियों ने शब्दों के विशिष्ट पर्यायों के साभिप्राय विदग्धतापूर्ण प्रयोगों द्वारा भी अपने काव्य में अर्थगर्भत्व का समावेश किया, उदाहरणार्थ :

[1] जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पृ० १२२-२३।
[2] उपरिवत्, पृ० १२६।
[3] महादेवी वर्मा, 'नीरजा', गीत सं० २—'धीरे धीरे उतर क्षितिज से'।

'स्मरहर को वरेगी।
वसन वासंती लेगी।[१]

इस गीत में पार्वती का रूपक बाँधा गया है—शिव के लिये 'स्मरहर' शब्द का प्रयोग वक्रतापूर्ण है—स्मर अर्थात् कामदेव को भी पराजित करनेवाले शिव का वरण करेगी। इसी शब्द के वक्रतापूर्ण विदग्ध प्रयोग पर संपूर्ण अनुच्छेद का सौंदर्य निर्भर है।

इस प्रकार छायावादी काव्य की सर्वप्रमुख वक्रता 'उपचारवक्रता' है; 'पर्याय' एवं 'विशेषणवक्रता' अंगरूप में उसी की संवृद्धि करती हैं। इन वक्रताओं के द्वारा छायावाद के इन प्रतिभासंपन्न कवियों ने खड़ीबोली के काव्य को अर्थ-व्यंजना की अपूर्व शक्ति, अर्थगर्भत्व एवं समृद्धि प्रदान कर हिंदी साहित्य में उसे विशेष गौरव का अधिकारी बनाया।

छंदयोजना

छायावाद युग ने खड़ीबोली काव्य को भाव और भाषा के साथ ही छंद के बंधनों से भी मुक्तिलाभ कराया। किंतु छंदशास्त्र के रूढ़िबंधनों का तिरस्कार करते हुए भी इस वर्ग के कवियों ने कविता और छंद के अंतरंग संबंध की प्रबल पुष्टि की। यही कारण है कि छंदरचना के मात्रा, गण, गति-यति-विषयक बाह्य एवं स्थूल नियमों की अपेक्षा इन्होंने संगीतात्मक लय को उसके मूलाधार के रूप में ग्रहण किया।

शास्त्रीय छंद

छायावादी कवियों ने पिंगलशास्त्र में वर्णित शास्त्रीय छंदों में सर्वाधिक प्रयोग रोला, रूपमाला, शृंगार, सखी, पीयूषवर्ष, चौपाई, पद्धरि आदि सममात्रिक छंदों का किया है। लेकिन उनकी गतियति एवं लय आदि में स्वेच्छानुसार भावानुकूल परिवर्तन कर लेने के कारण ये छंद इस काव्य की छंदविषयक रूढ़िबद्धता के परिचायक नहीं हैं। परिणाम की दृष्टि से प्रसाद के काव्य में इस प्रकार के परंपरागत छंदप्रयोगों की संख्या सबसे अधिक है। उनके काव्य से रूपमाला छंद का एक उदाहरण प्रस्तुत है :

१ सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'गीतिका', गीत सं० १४, पृ० १४।

ऽ।
मधु बरसती विधु किरन हैं काँपती सुकुमार।
ऽ।
पवन में है पुलक मंथर, चल रहा मधुभार।[1]

२४ मात्राओं के इस रूपमाला छंद की तीसरी, दसवीं और सत्रहवीं मात्राएँ लघु हैं और चरणांत में गुरु-लघु (ऽ।) का विधान है, किंतु प्रथम चरण में नियमानुकूल १४ मात्राओं पर यति की योजना नहीं हुई है, अंत्यानुप्रास युग्मक है।

१६ मात्राओं के शृंगार छंद का प्रयोग छायावादी कवियों में सर्वाधिक पंत ने किया है। उनकी कविता से इस छंद का एक युग्मक अंत्यानुप्रासयुक्त उदाहरण देखिए :

ऽ। ऽ।
आज गृह-वन-उपवन के पास
ऽ। ऽ।
लोटता राशि राशि हिमहास[2]

प्रत्येक चरण का आरंभ एक त्रिकल तथा अंत गुरु-लघु (ऽ।) से हुआ है।

छायावाद के प्रायः सभी कवियों के काव्य में यद्यपि इन शास्त्रीय छंदों का किंचित् परिवर्तन के साथ समधिक मात्रा में विधान हुआ है, तथापि ये छंद छायावाद की छांदस् योजनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

नवीन छंदयोजनाएँ

छायावादी काव्य का वैशिष्ट्य वस्तुतः विभिन्न प्रकार की नूतन छंद-योजनाओं में ही निहित है। इस वर्ग के कवियों ने हिंदी भाषा की प्रकृति के अनुकूल परंपरागत शास्त्रीय छंदों का लयाधार ग्रहण करते हुए तथा स्वतंत्र रूप से भी विभिन्न विधियों से भाव तथा विचारानुरूप मात्रिक छंदों की असंख्य संयोजनाएँ प्रस्तुत कीं।

पारंपरिक छंदों का नवरूपांतरण

प्राचीन शास्त्रीय छंदों का नवरूपांतरण छायावादी कवियों ने प्रमुखतः चार रीतियों से किया – एकाधिक शास्त्रीय छंदों के मिश्रण द्वारा, सममात्रिक

[1] जयशंकर प्रसाद, 'कामायनी', (वासना सर्ग), पृ० ७५।
[2] सुमित्रानंद पंत, 'गुंजन', पृ० ४६।

छंदों में अर्धसम प्रयोग, तुकांत छंदों के अतुकांत प्रयोग तथा प्राचीन छंदों की प्रचलित लय एवं अंत्यक्रम के आधार पर छंदों के नूतन क्रमायोजन द्वारा।

इन कवियों ने एकाधिक शास्त्रसंमत छंदों के चरणों को सम-विषम-क्रम से मिलाकर भावानुरूप नवीन छंदयोजनाएँ प्रस्तुत कीं। इस काव्य में गोपी तथा शृंगार छंदों के चरणों का विभिन्न प्रकार से संमिश्रण हुआ है। निराला के काव्य से एक उदाहरण देखिए :

IS SI
हमें जाना है जग के पार। — १६ मात्राएँ : शृंगार छंद

IS S
जहाँ नयनों से नयन मिले, — १५ मात्राएँ : गोपी छंद
SI S
ज्योति के रूप सहस्र खिले, — १५ ,, : ,,
IS SI
सदा ही बहती नव-रस-धार — १६ ,, : शृंगार ,,

IS SI
वहीं जाना, इस जग के पार।[1] — १६ ,, : ,, ,,

इस मिश्रित छंद के प्रथम, चतुर्थ और पंचम चरण शृंगार छंद तथा द्वितीय और तृतीय चरण गोपी छंद के हैं। इसके पश्चात् निराला के इस गीत में गोपी और शृंगार छंद के चरणों के मिश्रण का क्रम परिवर्तित हो गया है, लेकिन फिर भी इसके छंदविधान का वैशिष्ट्य इस बात में निहित है कि छंदचरणों का मिश्रण विषमाधार पर होते हुए भी इसमें लयगत वैषम्य अथवा विस्वरता उत्पन्न नहीं हुई। शृंगार के अंतिम लघु को हटा देने से गोपी छंद बनता है, दोनों ही छंदों के आरंभ में एक त्रिकल आता है, अतएव दोनों छंदों की लय परस्पर मीलित होती जाती है।

इनके अतिरिक्त पद्धरि और पादाकुलक, चौपाई और ताटंक, रूपमाला और उर्मिला, पद्धरि और चौपाई तथा चौपाई और सरसी आदि विभिन्न छंदों के चरणों के अनेक प्रकार से परस्पर मिश्रण द्वारा इन कवियों ने अनेक नवीन छंद गढ़े।

[1] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'परिमल', पृ० ९३।

छायावादी काव्य में ताटंक, वीर, रूपमाला और सार आदि सममात्रिक छंदों के अर्धसम प्रयोग द्वारा नूतन छंदरचना की पद्धति भी प्रचलित रही। प्रसाद की 'कामायनी' में इस प्रकार के अनेक छंदप्रयोग उपलब्ध हैं।

लय एवं अंत्यक्रम को छंदरचना के स्थायी आधार के रूप में ग्रहण करते हुए प्रचलित छंदों के नूतन क्रमायोजन द्वारा भी इस काव्य में अनेकानेक नवीन छंदों का विधान हुआ।

छायावादी कवियों में निराला को छंदरचना की आंतरिक सूक्ष्मताओं का अद्भुत सहज ज्ञान था। उन्होंने 'गीतिका', 'गीतगुंज' आदि के गीतों में असंख्य प्रकार की नूतन छंदसंयोजनाएँ प्रस्तुत कीं। एक उदाहरण देखिए :

नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे, खेली होली।
— २८ मात्राएँ—क

\+ \+ \+

बीती रात सुखद बातों में प्रात पवन प्रिय डोली;
— २८ मात्राएँ — क

उठी सँभाल बाल, मुख लट, पट, दीप बुझा हँस बोली
— २८ मात्राएँ — क

रही यह एक ठिठोली।[१] — १३ मात्राएँ — क

इस गीत में सार छंद के चरण की छंदक के रूप में योजना की गई है—आगामी मध्यवर्ती चरण भी सार छंद के हैं। अंतिम चरण सार छंद के उत्तरार्ध अर्थात् १२ मात्राओं के आरंभ में एक मात्रा के योग से निर्मित है—इस प्रकार अन्य चरणों के लयनिपात का छंदक के लयनिपात से साम्य स्थापित हो गया है। इस छंद का वैशिष्ट्य समस्त चरणों के समान अंत्यक्रम में निहित है।

अभिनव छंदरचना

छायावाद ऐसी छांदस् योजनाओं में भी समृद्ध है जो मात्राक्रम, अंत्यक्रम, यति, गति, चरणसंख्या आदि सभी दृष्टियों से इन कवियों की मौलिक सृष्टि हैं तथा जिनके निश्चित मात्राक्रम एवं अंत्यक्रम आदि में इनकी विशेष भावस्थितियाँ स्वतः मूर्तिमंत हो गई हैं, इसीलिये इस प्रकार की छंदयोजनाओं में आयास की मात्रा बहुत कम है, उदाहरणार्थ :

[१] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'गीतिका', गीत सं० ४१, पृ० ४४।

बाँसों का झुरमुट	क	१० मात्राएँ
संध्या का झुटपुट	क	१० ,,
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ	ख	१२ ,,
टी–वी–टी—टुट्–टुट्![1] —क		१० मात्राएँ

इसके प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ चरण १०–१० मात्राओं के हैं, इनका अंत्यक्रम भी समान है। तृतीय चरण मात्राक्रम तथा अंत्यक्रम दोनों में भिन्नता उत्पन्न करता है।

निराला ने अपनी दोनों शक्तिसंपन्न कृतियों—'राम की शक्तिपूजा' तथा 'तुलसीदास' में दो अभिनव छंदों की योजना की है। 'राम की शक्तिपूजा' का छंद २४ मात्राओं का सममात्रिक छंद है जिसके चरण प्रायः युग्मक अंत्यानुप्रास से परस्पर गुंफित हैं :

रवि हुआ अस्त : ज्योति के पत्र में लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर[2]

छंदयोजना की दृष्टि से भावानुरूप गति, यति एवं लयविधान इस कविता की विशिष्टता है। कहीं कहीं भाव की अखंडता को अक्षुण्ण रखने के लिये पूरी पंक्ति में यति की योजना नहीं हुई और कहीं प्रभाव की क्षणिकता के कारण एक ही पंक्ति में अनेक बार यतिविधान हुआ है; यत्र तत्र मध्यवर्ती तुक का संयोजन भावप्रवाह में वेग उत्पन्न करने के लक्ष्य से हुआ है, जैसे—

करता मैं योजित बार बार शर-निकर निशित[3]

'तुलसीदास' में निराला ने १६ और २२ मात्राओं के दो छंदों के योग से एक नूतन छंद की सृष्टि की है। छह चरणों के इस छंद के तृतीय और षष्ठ चरण २२ मात्राओं के हैं तथा शेष चरण १६ मात्राओं से निर्मित हैं। प्रथम और द्वितीय, चतुर्थ और पंचम तथा तृतीय और षष्ठ चरण समान अंत्यक्रम से नियोजित हैं। तृतीय चरणांत की यति एक भावखंड की समाप्ति की सूचक है; द्वितीय भावखंड १६ मात्राओं के छंद के पुनरावर्तन से प्रारंभ होकर अंतिम चरण तक चलता है। निश्चित मात्राओं एवं अंत्यानुप्रास तथा गति-यति की सीमा के भीतर रहकर भी

[1] सुमित्रानंदन पंत, 'युगांत', पृ० १६।
[2] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'अनामिका' ('राम की शक्ति पूजा'), पृ० १४८।
[3] उपरिवत्, पृ० १५८।

भावप्रवाह की अखंडता की सुरक्षा निराला द्वारा आविष्कृत इस नूतन छंद की अपूर्व सिद्धि है ।

अंग्रेजी और बँगला काव्य के छंदविधान से प्रभावित होकर छायावादी कवियों ने जो अभिनव छंदयोजनाएँ कीं उनमें प्रमुख 'अतुकांत छंद' और 'मुक्त छंद' हैं ।

अतुकांत छंद

अंग्रेजी के 'ब्लैंक वर्स' और बँगला के अमित्राक्षर छंद से प्रेरणा प्राप्त कर छायावादी कवियों में प्रसाद ने 'महाराणा का महत्व', 'प्रेमपथिक' और 'झरना' की कुछ कविताओं तथा पंत ने 'ग्रंथि' की रचना अंत्यानुप्रासमुक्त अतुकांत छंद में की, किंतु इन्होंने अंग्रेजी काव्य में प्रयुक्त लघु-गुरु की पंचावृत्ति से युक्त 'आयंबिक पेंटामीटर' अथवा हरिऔध आदि हिंदी के द्विवेदीयुगीन कवियों की भाँति संस्कृत के भिन्न-तुकांत वर्णवृत्तों की हिंदी के अवतरण के स्थान पर प्लवंगम, पीयूषवर्ष और ताटंक आदि मात्रिक छंदों का अंतमुक्त प्रयोग किया ।

छंदबंधनों से हिंदी कविता की मुक्ति की साधना के लिये काव्यजगत् में जो प्रयत्न हुए उनका समारंभ अतुकांत छंदरचना से हुआ । युगीन प्रभाव के कारण यद्यपि छायावादी कवियों ने भी इस छंद को साग्रह अपनाकर इसको प्रकृति के अनुकूल पदांतरप्रवाही वाक्यों और अंतर्यति आदि के यथानियम प्रयोग के अनेक प्रयत्न किए, तथापि वे उसके द्वारा काव्य में अँग्रेजी के शेक्सपियर, मिल्टन आदि कवियों जैसा निर्बाध प्रवाह और प्रभाव उत्पन्न करने में द्विवेदीयुगीन कवियों की भाँति ही असमर्थ रहे । वर्णवृत्तों के समान ही अतुकांत छंदरचना को हिंदी की प्रकृति के अनुकूल न पाकर ये कवि भी इससे हटकर मुक्तछंद की रचना में प्रवृत्त हो गए ।

मुक्त छंद

अँग्रेजी की रोमांटिक कविता और बँगला काव्य के निकट संपर्क से प्रेरणा प्राप्त कर छायावादी कवियों में प्रसाद ने 'लहर' में संकलित 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया' शीर्षक कविताओं में तथा निराला ने विशेष रूप से 'मुक्त छंद' में काव्यरचना की ।

पाश्चात्य साहित्य में गुस्टाव काहन की भाँति हिंदी में सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में मुक्त छंद को प्रतिष्ठित करने का श्रेय निराला को है । उन्होंने 'परिमल' की भूमिका में मुक्त छंद की स्वरूपव्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि मुक्त छंद मात्रा, गण, गति, यति, तुक और गुरु-लघु आदि के समस्त छंदशास्त्रीय बंधनों से मुक्त रहता हुआ भी प्रत्येक पंक्ति के रूपगत आंतरिक

ऐक्य पर बल देने के कारण संगीतात्मक लय को सुरक्षित रखता है—यही लयात्मक प्रवाह उसे अन्य सभी रूपों में स्वच्छंद रखता हुआ भी छंद की संज्ञा प्रदान करता है : 'मुक्त छंद तो वह है, जो छंद की भूमि में रहकर भी मुक्त है।+ + + मुक्त छंद का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छंद सिद्ध करता है, और उसका नियमराहित्य उसकी मुक्ति।'[१] इसके अतिरिक्त 'जागरण' शीर्षक मुक्त छंद में ही रचित एक कविता में उन्होंने मुक्त छंद के स्वरूप को प्रकाशित करते हुए कहा है :

मुक्त छंद
सहज प्रकाशन वह मन का—
निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र।[२]

निराला ने कवित्त की लय को मुक्त छंद का प्रमुख आधार माना है—प्रसाद की मुक्त छंद में रचित कविताओं का लयाधार भी वर्णिक है, वर्णों का क्रम, सामान्यतः ७–८ वर्णों के लयखंडों में विभाजित है :—

थके हुए दिन के / निराशा भरे जीवन की / ७+९=१६ वर्ण
संध्या है आज भी तो / धूसर क्षितिज में ! / ७+७=१४ वर्ण
और उस दिन तो; / ७ वर्ण
निर्जन जलधिवेला रागमयी संध्या से १५ वर्ण
सीखती थी सौरभ से / भरी रँगरलियाँ।[३] / ८+७=१५ वर्ण

इस प्रकार के कवित्त के लयाधार पर रचित मुक्त छंदों में वर्णक्रम को आधार रूप में स्वीकार करते हुए भी छंद का प्रवाह अबाधित ही रहता है, वर्णों को भावानुरूप विभिन्न लयों में ढाल लिया गया है।

इसके अतिरिक्त मात्रिक लयाधार पर निर्मित मुक्त छंद का विधान भी छायावादी काव्य में हुआ है, उदाहरणार्थ :

यौवन के / तीर पर / था आया / जब / ६, ५, ६, २ मात्राएँ
स्रोत / सौंदर्य का, /[४] ३, ७ मात्राएँ

[१] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'परिमल', (भूमिका), पृ० १९।
[२] उपरिवत्, (जागरण), पृ० २३९।
[३] जयशंकर प्रसाद, 'लहर' (प्रलय की छाया), पृ० ५९।
[४] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'अनामिका' (रेखा), पृ० ६९।

इस मुक्त छंद की रचना प्रमुखतः सप्तक और षष्ठक में अन्य मात्राओं को जोड़कर की गई है। यह अंत्यानुप्रास और अंतरनुप्रास दोनों से मुक्त है।

छायावाद में मुक्त छंद का सर्वाधिक व्यापक प्रयोग निराला के काव्य में उपलब्ध होता है। मुक्त छंदरचना में यद्यपि प्रसाद को भी पर्याप्त सफलता मिली है, तथापि भावों के उत्थान-पतन को छंदलय के आरोहावरोह में यथानुरूप प्रतिच्छायित करने के कारण अंत्यानुप्रासविहीन अंतमुक्त छंद की रचना में जो सहज सिद्धि निराला को प्राप्त हुई, वह छायावाद में ही नहीं, हिंदी की अन्य काव्यधाराओं में भी किसी कवि को सुलभ न हो सकी।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि छायावादी कवियों ने छंद के क्षेत्र में भी युगांतर प्रस्तुत किया। इन्होंने संगीतात्मक लय को सुरक्षित रखते हुए छंदशास्त्रीय रूढ़िबंधनों से मुक्त अनेकानेक नवीन भावानुवर्तिनी छांदस् संयोजनाओं द्वारा खड़ीबोली काव्य की विकाससंभावनाओं का मार्ग प्रशस्त किया।

मूल्यांकन

छायावाद ने लगभग पच्चीस वर्षों की जीवनावधि में जो उत्कर्ष और सिद्धि प्राप्त की, वह अद्वितीय है। लेकिन विषय और शिल्प दोनों की यह अनुपम समृद्धि असमय में ही काल का ग्रास बन गई—यह भी इतिहासप्रसिद्ध है। छायावाद के इस अकालपतन के लिये कल्पनातिरेक, सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक व्यंजना तथा सूक्ष्मताप्रेम आदि इस काव्य की कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्तरदायी हैं जो प्रारंभ में श्रीसंवर्धक होती हुई भी कालांतर में अपनी अतिवादिता के कारण चित्रमोह, कल्पनामोह, अस्पष्टता एवं दुरूहता आदि दोषों में पर्यवसित हो गईं। इन सभी शिल्पसंबंधी प्रमुख दोषों का जन्म छायावादी कवियों के कल्पनामोह से हुआ और वही इस काव्य के अर्धस्फुट कल्पनाचित्रों तथा अभिव्यक्ति की अतींद्रिय वायवीयता के लिये भी उत्तरदायी है।

खड़ीबोली का स्वरूपनिर्माण भले ही द्विवेदीयुग की महत्वपूर्ण उपलब्धि हो, लेकिन कवित्व की दृष्टि से उसकी रसहीनता एवं शिल्पगत असिद्धि को २०–२५ वर्ष की सीमित अवधि में ही सिद्धि एवं समृद्धि में बदल देने का श्रेय छायावाद को ही है। छायावाद के समृद्ध काव्यशिल्प का हिंदी की परवर्ती काव्यधाराओं पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा। छायावाद के परवर्ती कवियों—नरेंद्र शर्मा, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन आदि का काव्यशिल्प तो छायावाद के शिल्प से प्रत्यक्षतः प्रभावित है। इस दृष्टि से नरेंद्र शर्मा की प्रस्तुत पंक्तियाँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं :

आपुलक गात में मलयवात,
में चिर मिलनातुर जन्मजात,
तुम लज्जाधीर शरीर प्राण
थर थर कंपित ज्यों स्वर्णपात,
कँपती छायावत् रात काँपते तम-प्रकाश आलिंगन भर।[१]

इस कविता के छंद का लयनिपात, शब्दयोजना, वचनभंगिमा आदि समस्त शैल्पिक उपकरण छायावादी शिल्प के ही अंतरंग तत्व हैं, मूलवर्ती भावना में भी रोमानी तत्व का संस्पर्श विद्यमान है।

वर्तमान नई कविता का मूल स्वर यद्यपि छायावाद के आस्थावादी स्वर से सर्वथा भिन्न है—उसकी बौद्धिक निबिड़ता, अनास्था, सौंदर्यविहीन अद्भुत तत्व तथा सघन मूर्तता आदि प्रमुख प्रवृत्तियाँ उसे छायावाद से बहुत दूर ले जाती हैं, तथापि नई कविता को छायावाद से प्रमुखतः कल्पनातिरेक और अद्भुत तत्व उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ है। उसका रोमानी तत्व भी कहीं कहीं इसमें अनायास ही अभिव्यक्ति पा जाता है, उदाहरणार्थ :

'+ +
मैं मात्र एक सुगंध हूँ—
आधी रात महकनेवाले इन रजनीगंधा के फूलों
की प्रगाढ़, मधुर गंध—
आकारहीन, वर्णहीन, रूपहीन[२]

इन पंक्तियों में रोमानी तत्व के साथ व्यंजित 'आकारहीन, वर्णहीन, रूपहीन' की कल्पना निस्संदेह छायावाद की ही रूपविषयक अमांसल एवं अतींद्रिय कल्पना है।

नई कविता की नूतन शब्दनिर्माण, प्राचीन प्रतीकों एवं उपमानों में नवीन अर्थों का अनुसंधान कर उनके पुनराख्यान एवं नवरूपांतरण तथा नूतन प्रतीकों एवं बिंबों की सृष्टि आदि शिल्पसंबंधी प्रवृत्तियों के विकास में छायावादी काव्य-शिल्प की प्रेरणा और योगदान तर्कातीत है। इस प्रकार यह कविता अपने मूल रूप में छायावाद के नवोन्मेष का ही प्रसार है।

[१] नरेंद्र शर्मा, 'कविभारती', पृ० ५९१।
[२] धर्मवीर भारती, 'कनुप्रिया', पृ० ३०।

संपूर्ण हिंदी साहित्य में छायावादी काव्य के शिल्पवैभव का प्रतिद्वंद्वी केवल भक्तिकाव्य और एक सीमा तक अलंकृत रीतिकाव्य ही हो सकता है। लेकिन कलात्मक दृष्टि से छायावाद का शिल्पवैभव भक्तिकाव्य के शिल्प की अपेक्षा अधिक नूतन आभा से प्रदीप्त एवं समृद्ध तथा रीतिकाव्य की अपेक्षा अधिक अंतःस्फूर्त, जीवंत एवं सप्राण है।

इस प्रकार कल्पनाधिक्यजन्य शब्दमोह, चित्रमोह, बिंबमोह, अस्पष्टता एवं दुरूहता आदि समस्त न्यूनताओं के साथ छायावाद का समृद्ध काव्यशिल्प भावानुरूप कोमल, मसृण एवं गीतात्मक शब्द-विन्यास-क्रम, नूतन एवं रम्याद्भुत अप्रस्तुत-योजना, समृद्ध बिंब एवं प्रतीकविधान, लक्षणा-व्यंजना-वैभव तथा नूतन छंदयोजनाओं के कारण अपने युग की ही चरमोपलब्धि का प्रतिमान नहीं है, अपितु वह उसी के बल पर अनागत भविष्य के गर्भ में निहित काव्यधाराओं का भी दिशानिर्देशक एवं प्रेरणास्रोत बना रहेगा, इसमें संदेह नहीं। आधुनिक काव्यशिल्प के विकास में इसका योगदान भावात्मक और अभावात्मक दोनों दृष्टियों से माना जा सकता है—एक ओर जहाँ अपने कल्पना एवं शिल्पवैभव से छायावाद ने आधुनिक काव्यशिल्प को अनुपम उत्कर्ष प्रदान किया, वहाँ दूसरी ओर उसकी परिसीमाएँ भावी काव्य के लिये प्रेरणास्रोत बन गईं।

५

पाश्चात्य प्रभाव

छायावाद पर पाश्चात्य प्रभाव का सम्यक् वस्तुपरक एवं वैज्ञानिक आकलन कई कारणों से असुकर तथा कृच्छ्रसाध्य हो गया है। कतिपय विद्वानों ने इसकी अभिव्यक्तिप्रणाली पर केवल प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र का प्रभाव देखा है और इसे 'एतद्देशप्रसूत' सिद्ध करने के लिये 'वक्रोक्ति' तथा 'ध्वनि' की प्राचीनता की ओर इंगित करते हुए घोषणा की है कि छायावाद के लाक्षणिक प्रयोगों, अमूर्त उपमानों या अप्रस्तुत विधानों की चित्रभाषामयी शैली हमारे यहाँ की प्राचीन वस्तु है। प्रसाद जी ने कहा है कि 'हिंदी ने आरंभ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया है।'[१] उनके लिये छायावाद अभिव्यक्ति का ही एक 'ढंग' है, 'नवीन शैली' और 'नया वाक्यविन्यास' है जो 'सूक्ष्म आभ्यंतर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना की असफलता के कारण प्रयुक्त होने लगा था। छायावादी काव्य को नवीन मूल्यपरक काव्य न मानकर रहस्यवाद तथा शैली के अर्थ में स्वीकार करते हुए आचार्य शुक्ल ने इसकी भाववस्तु को शुद्ध विदेशी अनुकरण कहा है और इसमें 'विलायती अभिव्यंजनावाद के आदेश पर रची हुई बँगला कविताओं की नकल' देखी है। उनके विपरीत कुछ समीक्षक अब इस बात पर जोर देने लगे हैं कि छायावाद न तो विदेशी भावों का विजृंभण है और न अनोखे अनोखे उपनामों के लांगूल से विभूषित कवियों का 'आडंबरजाल', 'बेतुकी पद्यावली' या 'गोरखधंधा' ही। यह तो शुद्ध रूप से अपने जीवन के नए मूल्यों की कलात्मक अभिव्यक्ति है और इसका उद्भव अपने देश, साहित्य तथा युग की आंतरिक प्रेरणाओं के कारण हुआ है। इसके पीछे उस सांस्कृतिक नवोन्मेष की संपुष्ट वैचारिक भूमिका है जिसका संचालन ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज; थियोसॉफिकल सोसायटी, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, अरविंद प्रभृति ने किया था। कुछ आलोचकों ने छायावादी कविता के कलापक्ष और सामान्य भावपक्ष पर अँगरेजी रोमांटिक कविता का 'आंशिक प्रभाव' देखा है और कुछ ने इस मान्यता को स्वीकृति दी है कि छाया-

[१] जयशंकर 'प्रसाद', काव्य और कला तथा अन्य निबंध (इलाहाबाद, सं० १९९६), पृ० १४८।

युग में 'पहली बार साहित्य में पाश्चात्य साहित्य का व्यापक प्रभाव तथा नवीन विधाएँ मूर्त रूप में पुष्पित पल्लवित दिखाई पड़ती हैं।'[1]

छायावाद के प्रति इन परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों से कई निष्कर्ष उपस्थित होते हैं। सर्वप्रथम यह स्पष्ट हो जाता है कि कतिपय समीक्षकों की अंतश्चेतना में प्रभावित होना अपनी वैयक्तिकता और विशिष्टता से वंचित होने का पर्याय बन गया है और इसी कारण वे पाश्चात्य विचारधाराओं से छायावाद के प्रभावित होने की बात से क्षुब्ध हो उठते हैं। ज्ञातव्य है कि प्रभावित होना न तो अनुकरण करना है और न अपनी हीनता का द्योतन करना ही। प्रभावित होनेवाला साहित्य और संस्कृतियाँ जीवंत होती हैं और उनमें विकास की अपरिमित संभावनाएँ वर्तमान होती हैं। अतः पंत जी का यह कथन कि 'हिंदी का हिंदी के ही भीतर से विकास हो, वह बाहरी प्रभाव आत्मसात् न करे, यह स्वस्थ दृष्टि नहीं है'[2] सर्वथा समीचीन है और यह द्योतित करता है कि छायावाद भारतेतर प्रभावों से अछूता नहीं है। दूसरी बात जो पूर्वोक्त दृष्टिकोणों से प्रकट होती है, यह है कि प्रभावों के अनुसंधान, विवृति और विश्लेषण में असंतुलित हो जाने की सहज प्रवृत्ति मिलती है और समीक्षक या तो प्रभावों का आतिशय्य दिखलाते हैं या उनका नितांत अभाव। आधुनिक युग में जब विचारों का आयात निर्यात कल्पनातीत त्वरा से हो रहा है और जब विश्व के सभी देश किसी न किसी रूप से अन्योन्याश्रित तथा अंतःसंपृक्त हो रहे हैं तब यह कहना कि छायावाद पश्चिम से बिलकुल प्रभावित नहीं हुआ, तथ्यानुमोदित नहीं दीखता। वस्तुतः जिस युग में छायावाद का अभ्युदय हुआ उस संपूर्ण युग की भावभूमि पर पश्चिम के वैज्ञानिक शोधों तथा अँग्रेजी भाषासाहित्य का परोक्ष ही नहीं, प्रत्यक्ष प्रभाव भी अंकित है, यहाँ तक कि तद्‌युगीन साहित्य में पलायन, नैराश्य और नियतिवाद की जो भावनाएँ दृष्टिगत होती हैं, वे भी उस युग की परिस्थितियों में व्यक्त हैं और उन परिस्थितियों पर पश्चिम का प्रभाव असंदिग्ध है।

परंतु साथ ही जहाँ हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि साहित्यकारों की चेतना पर युगसत्य का प्रभाव पड़ता है, वहाँ हमें इस मान्यता को भी स्वीकृति देनी होगी कि सभी सर्जक साहित्यकारों पर प्रभाव की मात्रा समान नहीं हुआ करती। कुछ साहित्यकार प्रभावग्रहण में उदार और अतिसंवेदनशील होते हैं और किसी किसी की चेतना प्रभावनीयता की दृष्टि से काष्ठकुड्याश्मसंनिभ हुआ

[1] सुमित्रानंदन पंत, कला और संस्कृति (इलाहाबाद, १९६५), पृ० १५।

[2] सुमित्रानंदन पंत, छायावाद, पुनर्मूल्यांकन (इलाहाबाद, १९६५), पृ० ३१

करती है। कभी कभी निज के संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि वे साहित्यकार को बाह्य प्रभावों से सर्वथा मुक्त रखते हैं। इसी प्रकार अपनी ही परंपराओं और संस्कृति की सर्वांगीण वरिष्ठता एवं गरिमा में इतनी गहरी आस्था होती है कि कुछ लेखक बाह्य प्रभावों से अपने को यथाशक्ति बचाने का ही यत्न करते हैं। छायावादी कवियों और पश्चिम के रोमांटिक कवियों में जो वस्तुगत तथा रूपगत समानताएँ मिलती हैं उनके आधार पर यह कहना कि छायावाद पर उन्नीसवीं शती के पाश्चात्य 'रोमांटिसिज्म' का प्रभाव है, युक्तियुक्त नहीं दीखता। भावसाम्य अथवा विषयसाम्य से ही प्रभाव का द्योतन नहीं होता। जीवन की तरह साहित्य की भी भिन्न भिन्न धाराएँ स्वतंत्र रूप से गतिशील हो सकती हैं और जीवन की भाँति साहित्य के क्षेत्र में भी संयोग बड़े महत्व का होता है। हो सकता है कि छायावाद और पाश्चात्य रोमांटिसिज्म की समानताएँ संयोगजन्य हों। संभवतः छायावाद और रोमांटिसिज्म इस कारण समान दीखते हों कि दोनों की पृष्ठभूमि में जो शक्तियाँ क्रियाशील थीं वे बहुत कुछ समान हों। विस्मयमिश्रित कौतूहल, सौंदर्य की बुभुक्षा, प्रकृतिप्रेम, सूक्ष्म स्वानुभूतिमयी रहस्यात्मक अभिव्यक्ति, जीवन की सरलता के प्रति सहज स्वाभाविक दृष्टिकोण, स्वच्छंदता और आदर्शवादिता दोनों आंदोलनों में दृष्टिगत होती है। दोनों यथार्थ से कल्पना, स्थूल से सूक्ष्म, रूप से अरूप, व्यक्त से अव्यक्त एवं सत्य से स्वप्न की ओर प्रवृत्त होते हैं और दोनों में कल्पना, अनुभूति और चिंतन का लवण-नीर-संयोग उपलब्ध होता है। स्थूल का वायवीकरण केवल छायावादी दृष्टि की ही प्रधान विशेषता नहीं, अँग्रेजी की रोमानी कविता की भी प्रधान विशेषता है और आचार्य नगेंद्र के शब्दों में कहा जा सकता है कि रोमानी काव्य की तरह छायावाद व्यक्ति की दमित और कुंठित कामभावना से उत्पन्न होनेवाली व्यक्तिपरक कविता का नाम है। दोनों नीतिमूलक शुष्कता एवं इतिवृत्तात्मक शास्त्रवादिता का विरोध करते हैं, दोनों 'जड़तावादी साहित्य के रेगिस्तान में शाद्वल' बसाते हैं, दोनों अपने अपने देश के औद्योगीकरण के प्रति विक्षोभ की भावना से प्रेरित हैं, दोनों के आदर्श तद्युगीन राजनीतिक घटनाओं से प्रभावित और अनुप्राणित हैं। इस कारण दोनों में पर्याप्त साम्य है और ऐसा भासित होता है कि जब जब इन दोनों के जन्म की परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी तब तब भविष्य में भी छायावादी और रोमानी साहित्य का अवतरण होता रहेगा। इसमें संदेह नहीं कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है और जहाँ कहीं वे शक्तियाँ क्रियाशील होती हैं जिन्होंने भारत में छायावाद तथा इंग्लैंड में रोमांटिक नवजागरण को जन्म दिया था, वहाँ वहाँ छायावाद और रोमांटिसिज्म का उन्मेष होता है।

यद्यपि छायावादी निकाय के साहित्यकारों ने द्विवेदी युग की शुष्क,

उपदेशपरायण और इतिवृत्तात्मक शैली से क्षुब्ध हो अपनी भाषा और वर्ण्य विषय में आमूल परिवर्तन करने का संकल्प किया था, फिर भी उनका छायावाद प्रतिक्रिया मात्र नहीं है। वे नवयुग के परिवर्तित परिवेश और भावसंपदा के प्रति जागरूक थे। वे जानते थे कि नई परिस्थितियों में नवीन कथ्य के लिये प्राचीन परिपाटीबद्ध शिल्प और प्राचीन वाद—चाहे उनका संबंध मध्ययुगीन संतों और साधकों के रहस्यवाद से हो या पश्चिम के स्वच्छंदतावाद और प्रतीकवाद से—समीचीन नहीं हो सकते। वे अपने युग की विशिष्टता के प्रति सचेत थे और इसी विशिष्टता को अक्षुण्ण रखने के लिये उन्होंने जिस साहित्य की सर्जना की वह छायावाद के नाम स अभिहित हुआ। निस्संदेह इस वाद के प्रवर्तन के मूल में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक प्रेरणाएँ ही क्रियाशील थीं, परंतु जिन कारणों स कथ्य में नवीनता आई और युग को उसका वैशिष्ट्य मिला उनमें पश्चिम का भी न्यूनाधिक योगदान स्मर्तव्य है। छायावादी हिंदी कवियों और गद्यकारों की चतना उतनी ही संश्लिष्ट है जितनी उच्च कोटि के मौलिक साहित्यकारों की चेतना हुआ करती है और वह युगसत्य से उतनी ही प्रभावित है जितना पश्चिम के रोमांटिक कवि और गद्यकार अपने युग की जीवनपरिस्थितियों से प्रभावित थे। इन सबकी तथाकथित पलायनवादिता भी युगसत्य के प्रति प्रबल जागरूकता से उद्बुद्ध हुई है। उस नए युगसत्य के निर्माण और छायावादयुगीन राष्ट्रीय नवजागरण को बल प्रदान करने में पश्चिम का भी कहीं परोक्ष, कहीं प्रत्यक्ष योगदान रहा है।

कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य में नई सांस्कृतिक चेतना का सूत्रपात भारतेंदुयुग में हुआ है और 'पाश्चात्य जीवनपद्धति तथा शासनप्रणाली का भारतीय जीवनचेतना में अविराम प्रभाव पड़ते रहने के कारण धीरे धीरे परवर्ती साहित्य में यह दृष्टि विकसित होती रही है।'[१] छायावाद इसी चेतना की, इसी नई मानवता की अभिव्यक्ति का प्रयास है जिसका अवतरण 'भारत-यूरोप-संपर्क से हुआ था और जो अँग्रेजी शिक्षा के कारण स्वाधीनता, उदारता, वैज्ञानिकता और बुद्धिवाद विषयक यूरोपीय विचारधाराओं को सहज उत्तराधिकारिणी हो गई थी।'[२] यह नया मानव न तो पूर्ण भारतीय था और न 'विलायती चीजों का मुरब्बा'। भारोपीय तत्वचिंतन एवं काव्यपरंपरा के मानवतावादी तत्वों से निर्मित इस चेतनात्मा में एक ओर तो 'उपनिषद् की जिज्ञासा, बुद्ध की करुणा और

[१] कला और संस्कृति, पृ० २९।

[२] रामधारीसिंह 'दिनकर', काव्य की भूमिका (पटना, १९५८), पृ० ३८।

दुःखवाद की भावना, सेगाँव के संत की विश्वमैत्री की भावना तथा तिलक की नैतिकता' मिलती है और दूसरी ओर 'रवींद्र और हीगेल के सौंदर्यवाद, डार्विन के विकासवाद, रूसो के जनतंत्रानुमोदित व्यक्तिस्वातंत्र्य और समानता की भावना तथा अँगरेजी रोमांटिक काव्यधारा की कल्पना की उड़ान के एक साथ दर्शन होते हैं।' नवजागरण के आदि नेताओं में स्वामी दयानंद एक ओर अपनी संस्कृति और सभ्यता को ग्रहण करने की सलाह देते थे और दूसरी ओर वर्तमान युग के प्रवाहों से परिचित होने के कारण होनहार विद्यार्थियों को विविध प्रकार के उद्योगधंधों की शिक्षा प्राप्त करने के लिये इंग्लैंड और जर्मनी भेजना चाहते थे। इसी प्रकार राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने, हिंदुओं के परंपरागत संस्कारों की पुष्टि करने और अपनी अद्भुत तर्कशक्ति से यह दिखलाने में एनी बेसेंट किसी से पीछे न थीं कि हिंदू धर्म विज्ञान के प्रतिकूल नहीं है। इंग्लैंड की इस विदुषी महिला ने शिक्षित समाज में धर्माभिमान और स्वाभिमान जाग्रत किया था, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हिंदू धर्म के भिन्न भिन्न पक्षों का विवेचन किया था तथा भारतीय संस्कृति को सुंदर और स्वस्थ सिद्ध करके ग्राह्य बनाया था। स्वामी विवेकानंद के प्रयत्नों के फलस्वरूप पश्चिमी देश भी भारतीय संस्कृति का आदर करने लगे थे और दुराग्रही यूरोपीय पादरियों की अनर्गल बातें बंद हो गई थीं। स्वामी जी ने अमरीका और यूरोप के जातीय अहंकर एवं अमर्यादित अर्थपरायणता की निंदा की और बतलाया कि धार्मिकता के बिना मानवजीवन निस्सार है, प्रत्येक व्यक्ति में देवत्व है जिसके विकास की आवश्यकता है। बंगाल में नवजागरण का चिरज्वलंत रूप ब्रह्मसमाज था जिसमें ईसाई भक्ति और हिंदू वेदांत दोनों का तडित्-तोयद-संयोग मिलता है। इस समाज के अनुयायियों में भक्ति का गहरा पुट था, रहस्यवाद की प्रेरणा थी और वे यूरोपीय संस्कारों को हिंदुत्व में आत्मसात् करना चाहते थे। इन सारी शिक्षाओं के फलस्वरूप लोगों ने भारत के गौरवमय अतीत का साक्षात्कार किया था, परंतु जहाँ भी उनकी दृष्टि जाती, वे समकालीन पश्चिमी सभ्यता के गौरवचिह्न देखते और उनके मन में प्रतिस्पर्धा की भावना उन्मीलित हो उठती। उन्नीसवीं शती के देशभक्तों ने अतीत के रजकणों द्वारा जिस नए भारत के निर्माण की कल्पना की थी, वह नवभारत नहीं बनता था। इसकी जगह उसका निर्माण समकालीन पश्चिम से निरंतर प्राप्त होनेवाली प्रेरणा के आधार पर हो रहा था। जुलाई, १९१५ में 'हमारे सामाजिक ह्रास के कुछ कारणों का विचार' करते हुए माधवराव सप्रे ने 'सरस्वती' में लिखा था कि 'पश्चिमी सभ्यता की आश्चर्यजनक बातों से' हमारा मन उन दिनों इतना मुग्ध हो गया था कि हम पश्चिम की 'अंधी नकल' करने लग गए थे—पश्चिमी देशों की प्रायः सभी बातें हमें 'प्रशंसनीय और अनुकरणीय'

मालूम होने लगी थीं।[१] उसी वर्ष सितंबर में प्रकाशित 'सरस्वती' में 'आधुनिक शिक्षा और बुद्धिस्वातंत्र्य' पर विचार करते हुए उन्होंने कहा कि 'देशी शिक्षा और देशी भाषा को उत्तेजन देना संकुचित दृष्टि का लक्षण' माना जाने लगा था और पश्चिमी शिक्षा दीक्षा के रूप में लोग 'आत्मभाव' को कम कर डालनेवाले तथा 'अपने समाज का ह्रास करनेवाले कार्य करने लगे थे। इस शिक्षा के प्रभाव के कारण भारतवासियों को 'अपना हिंदुस्तानीपन निंद्य, तिरस्करणीय और त्याज्य मालूम होने लगा था।[२] 'आधुनिक हिंदी कविता' की 'अधोगति' के कारणों का विश्लेषण करते हुए कामताप्रसाद गुरु ने 'सरस्वती' के जून, १९१६ वाले अंक में पाश्चात्य प्रभाव की ओर ही इंगित किया था और कहा था कि 'जिस प्रकार विद्यार्थी किसी भाषा का नया शब्द, वाक्यांश, अथवा वाक्य सीखकर अपनी बोलचाल में 'येन केन प्रकारेण' उसका प्रयोग कर देते हैं उसी प्रकार हमारे हिंदीभाषी भाई उर्दू अथवा अँगरेजी भाषा बोलने में अपनी विद्वत्ता और बड़ाई समझते हैं।'[३] लोग 'स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावहः' का उपदेश भूल रहे थे। राष्ट्रनिर्माण में योगदान करने की बात तो दूर रही, वे रात दिन पश्चिमी सभ्यता की प्रशंसा के ही गीत गाने लग गए थे।[४]

यह सत्य है कि सीधे तौर पर यूरोपीय विचारों से तत्कालीन भारत का एक बहुत छोटा सा समुदाय ही प्रभावित हुआ था, फिर भी इस समुदाय का प्रभाव उन लोगों की अपेक्षा अधिक था जो भारतवर्ष की दार्शनिक पृष्ठभूमि से चिपके थे और जिसे वे पश्चिमी पृष्ठभूमि से अपेक्षाकृत अधिक उन्नत समझते थे। अतः पश्चिम का सर्वाधिक प्रभाव और आघात जनजीवन के उस पहलू पर हुआ जो प्रत्यक्षतः पूर्व की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ था। नए वैज्ञानिक आविष्कारों की अवहेलना नहीं की जा सकती थी। ये आविष्कार 'परोक्ष रूप से पुराने तरीकों को ढकेलकर ऊपर आ गए और हिंदुस्तान के दिमाग में संघर्ष पैदा हुआ।'[५] इस संघर्ष और राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक प्रगति के घात प्रतिघात की चिनगारी से जो प्रकाश फैला वह नवयुग का प्रकाश था। इसके चाकचिक्य में प्राचीन मूल्य मान्यताएँ और

[१] **सरस्वती**, जुलाई १९१५, पृ० ३५।

[२] **सरस्वती**, सितंबर १९१५, पृ० १७१।

[३] **सरस्वती**, जून १९१६, पृ० ३८१–३८२।

[४] द्रष्टव्य—माधवराव सप्रे लिखित 'पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं में विभिन्नता तथा स्वदेशी साहित्य का महत्व', **सरस्वती**, फरवरी १९१८।

[५] जवाहरलाल नेहरू, **हिंदुस्तान की कहानी** (१९४७), पृ० ३८७।

परंपरागत संस्कार ठहर न पाए, परंतु उनकी जगह नवीन मूल्यों की भी प्रतिष्ठा नहीं हुई। छायावादी युग में विश्वविद्यालयों में सहशिक्षा प्रारंभ हो चुकी थी और 'निखिल छबि की छवि' नारी के प्रति पारंपरीण मनोदृष्टि में परिवर्तन होने लगा था। इस कारण अब वह भोगविलास तथा अधिकार की वस्तु न रहकर 'कल्पना के शीशमहल की परी' हो गई। रीतिकाल में जहाँ उसका मापदंड रीतिशास्त्र था, छायावाद के युग में उसका मापदंड मनोविज्ञान और कामशास्त्र बन गया।

वस्तुतः भारतेंदुयुग से ही हिंदी साहित्य पर पश्चिम का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगत होने लगता है। हमारे साहित्यकार जानते थे कि 'भाषा का विकास और उन्नति नवीन भावों और विषयों के संनिवेश से ही होती है।'[१] नवीन उपयोगी छंदों की तलाश करते करते वे बँगला, मराठी और फारसी तक ही नहीं पहुँचे, बल्कि उन्होंने अँगरेजी आदि भाषाओं के भी छंदों के उपयोग की पुरजोर सिफारिश की।[२] उनके लिये अँगरेजी साहित्य ऐश्वर्यवान् था, अँगरेजी भाषा संवर्धनशील थी और इसके बोलनेवाले लोग भारतवासियों के शासक थे। अँगरेजी शिक्षा में स्वाभाविक आकर्षण था, उसमें अध्यात्म अत्यल्प, पर ऐहिक तत्व सर्वाधिक थे। उसमें बहिर् पर अधिक बल था, अंतर् की प्रायः उपेक्षा थी। इसके अतिरिक्त नई शिक्षा आधुनिक थी, देशी शिक्षा पुरातन एवं रूढ़। जहाँ ज्ञानविज्ञान पर आश्रित नई शिक्षा ने अलीबाबा के 'खुल समसम' की तरह पश्चिम को धन ऐश्वर्य से परिपूर्ण कर दिया था वहीं दूसरी ओर गतानुगतिक और संकीर्णता पर आश्रित देशी शिक्षा भारतवासियों को दिन-प्रति-दिन जर्जर तथा दरिद्र बनाती जा रही थी। जिस स्वर्ग की ओर इनकी आँखें टकटकी लगाए रहतीं उससे इनके नित्यपूजित देवगण स्वर्णरजत की वर्षा नहीं करते और न अपने बुभुक्षित पिपासित भक्तों के लिये शीतल मधुर स्वातिसुख बरसाते। उलटे दुर्भिक्ष, दारिद्र्य, अज्ञान और अंधविश्वास ने इनके जीवन को नानाविध संकटों से आक्रांत कर रखा था। नई शिक्षा विज्ञान पर आधृत थी, उसमें नया जाज्वल्यमान ज्ञानालोक था और उसमें पार्थिव सुख की आह्लादजनक संभावनाएँ थीं। उच्चाकांक्षी नवयुवकों के लिये उसमें नौकरी थी तो इसमें—देशी शिक्षा में—बेकारी। अँगरेजी भाषा से ही हिंदी

[१] मर्यादा, नवंबर १९१०, पृ० २५। (द्रष्टव्य—श्रीधर पाठक लिखित 'खड़ी बोली की कविता'।)

[२] उपरिवत्, पृ० २६।

भी सर्वाधिक उपकृत हो सकती थी। देशी भाषाओं में अभी वह औदार्य और बल न था जिससे वे हिंदी के पोषण संवर्धन में योगदान कर सकें। अतः यह स्वाभाविक है कि हिंदी साहित्य पर पाश्चात्य भाषाओं में सर्वाधिक प्रभाव अँगरेजी भाषासाहित्य का ही पड़े। छायावाद पर अँगरेजी साहित्य के प्रभाव का आयात कभी तो सीधे अँगरेजी साहित्य से होता है और कभी बँगला साहित्य के माध्यम से। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि छायावाद का पश्चिम से प्रभावित होना कोई चमत्कार नहीं है और न हिंदी साहित्य के विकास से इस घटना की कोई पृथक् सत्ता ही है। यह प्रभाव ऊपर से जोड़ी गई चकती या पैबंद नहीं है और न अस्वाभाविक ही। यह तो हिंदी भाषासाहित्य के स्वाभाविक विकास की ही एक अविच्छिन्न कड़ी है और इसकी परंपरा हिंदी साहित्य के विकास की उस सतत परंपरा की ही उपशाखा है जिसके निर्माण में भिन्न भिन्न देशी विदेशी प्रभावों का प्रभूत योगदान है। विश्व का कोई भी साहित्य अन्य साहित्यों से सर्वथा पृथक् रहकर विकसित नहीं हो सकता। वह जिस चेतना की अभिव्यक्ति होता है वह आप ही भिन्न भिन्न प्रभावों को आत्मसात् किए होती है। अतः साहित्य की अभिवृद्धि प्रभावों के सम्यक् आत्मसात्करण पर भी निर्भर होती है। छायावाद पर पाश्चात्य प्रभाव हिंदी साहित्य की इसी समीकरण शक्ति का परिचायक है।

पश्चिम की जिस साहित्यधारा से छायावाद प्रभावित हुआ वह प्रधानतः उन्नीसवीं शती के रोमांटिक नवजागरण की ही प्राणवती धारा थी। पश्चिम में नई कविता का प्रचलन बढ़ चला था, सन् १९१२ से ही इंगलैंड में ह्यूम, एजरा पाउंड, रिचर्ड आल्डिंटन, हिल्डा डूलिट्ल प्रभृति ने बिंबवादी कविताधारा का सूत्रपात कर दिया था। यद्यपि सन् १९२० में पाउंड लिखित 'मॉब्लें' का तथा सन् १९२२ में इलियट विरचित 'द वेस्टलेंड' का प्रकाशन हो चुका था, फिर भी छायावाद के कवि पाश्चात्य रोमांटिकों से ही अधिक प्रभावित हुए। यूरोप की नई कविता उन्नीसवीं शती की रोमांटिक काव्यधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, परंतु हिंदी की छायायुगीन कविता इसी काव्यधारा से प्रभावित हुई। इसके कई कारण हैं : (१) विदेशी मतवाद हमें तब तक ग्राह्य नहीं होते जब तक उनके लिये उपयुक्त भूमिका नहीं बन जाती। अपनी अंतरराष्ट्रीय दौड़ में साहित्यिक वाद कभी तेज, कभी धीरे धीरे चलते हैं। एक देश में उत्पन्न होकर वे दूसरे देशों पर कभी तो तत्काल छा जाते हैं और कभी विलंब से। इटली में यूरोपीय नवजागरण का आरंभ चौदहवीं शती में ही हो चुका था, पर इंगलैंड में उसके प्रभाव का प्रसार पंद्रहवीं शती में हुआ। (२) उन्नसवीं शती का पाश्चात्य रोमांटिसिज्म भारतीय सर्वात्मवाद से प्रभावित था। इसेलिये छायावादी कवियों ने

वर्ड्स्वर्थ, शेली, कीट्स, बायरन आदि के काव्य को मनोनुकूल पाया। (३) वर्तमान शती के चौथे दशक तक हमारे विश्वविद्यालयों में रोमांटिक और विक्टोरियाकालीन कवियों का ही सर्वाधिक अध्ययन अध्यापन होता था। उनके पाठ्यक्रम में अधिक से अधिक जार्जियन कवियों की ही रचनाएँ प्रविष्ट और लोकप्रिय थीं। जब नए मतवादों में अभी स्थायित्व का अभाव था और जब उन्नीसवीं शती की रोमानी भावगत परंपराएँ बलवती थीं, छायावादी कवियों का अँगरेजी काव्य विषयक अध्ययन उन्नीसवीं शती तक तो रहा ही होगा। (४) उन्नीसवीं शती तक का अँगरेजी साहित्य नवशास्त्रवादी युग की 'परिपाटीबद्ध रसज्ञता, परिपाटीबद्ध शिल्प, परिपाटीबद्ध दृष्टि' के प्रति विद्रोह था। छायावादी कवियों को भी द्विवेदीकालीन परिपाटीबद्धता से विद्रोह करने की आवश्यकता थी। (५) इंगलैंड में वैज्ञानिक आविष्कारों तथा दिन दिन होनेवाले औद्योगिक विकास के फलस्वरूप रोमांटिसिज्म का उदय हुआ था। भारतवर्ष का भी औद्योगीकरण हो रहा था और वैज्ञानिक साधनों के आविष्कार तथा उपयोग से नागरिक सभ्यता विकसित हो रही थी। (६) अठारहवीं शती के नव्यशास्त्रवाद में पुरातन अभिजात मूल्यों का अत्यधिक स्वीकरण हुआ था, इसलिये स्वच्छंदतावाद में नव्यता पर बल दिया गया था और नवनवोन्मेषक्षम कविप्रतिभा को काव्य का अजस्र उद्‌गमस्रोत माना गया था। छायावादियों में भी नवीनता के प्रति ऐसा ही प्रबल, व्यापक राग दृष्टिगत होता है। (७) उन्नीसवीं शती के रोमांटिक कवि प्रकृति के अनन्य प्रेमी थे। छायावादी कवि भी 'सामाजिक ढाँचे के बासी सौंदर्य' से ऊब चुके थे। (८) अपनी अतिशय कोमलमृदु संवेदनशीलता और अनुपलब्ध आदर्शों के कारण रोमांटिक कवि सदैव क्षुब्ध, अतृप्त एवं वेदनाकुल रहते थे। छायायुगीन साहित्यकार भी अपनी अंतर्मुखी एकांतप्रियता और शून्यता को वाणी देना चाहते थे। युद्धोत्तरकालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों ने एक अवसादमय वातावरण का निर्माण कर दिया था। (९) रोमांटिक गीत अपने रचयिताओं के आत्मनिवेदन मात्र थे। उनकी उद्दाम वैयक्तिकता नव्यशास्त्रवादी कवियों की निर्वैयक्तिकता के प्रति विद्रोह थी। छायावाद ने भी भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन कवियों की रूढ़िगत तटस्थता के प्रति विद्रोह किया था और 'स्वानुभूतिमयी लाक्षणिक अभिव्यक्ति' को अपना आदर्श बनाया था। (१०) रोमांटिक कवियों में मानवता के लिये संदेश था। भारत के छायायुग में इसकी राजनीतिक भूमिका पर गांधी जी का अवतरण हो चुका था और उनके आदर्शों में हिंदूवाद के स्थान पर विश्वमानवतावाद को प्रश्रय मिला था। (११) नव्यशास्त्रवाद ने बुद्धि और तर्कणा को काव्य का हेतु माना था, इसलिये रोमांटिकों ने कल्पना को दिव्य और ईश्वरीय माना। छायावाद

ने द्विवेदीकालीन स्थूलता, रुक्षता और इतिवृत्तकथन के प्रति विद्रोह किया था, इसलिये उसने 'कल्पना की सुकुमार तूलिका से मादक सौंदर्यप्रतिमा का सर्जन किया'[1] और सूक्ष्म भावव्यंजक शैली की स्थापना की। (१२) रोमांटिक कवियों ने नव्यशास्त्रवादी छंदों—विशेषतः 'कप्लेटों'—की उपेक्षा की थी और उनकी जगह नए नए छंद रचे थे। छायावादी कवि भी नूतन छंदविधान और मुक्तछंदता के समर्थक और प्रयोक्ता थे। (१३) रोमांटिक साहित्य में जीवन के परिवर्तित मूल्यों के प्रति आस्था थी और रूढ़, जर्जर एवं गतानुगतिक मानों के प्रति अनास्था। छायावादी कवियों में भी शास्त्रीय रूढ़ियों के प्रति अनास्था थी।

छायावाद का पश्चिम से प्रभावित होना कुछ साहित्यकारों को भले ही अप्रिय लगे, पर इस संप्रदाय के कवियों ने आप ही इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। पंत जी ने स्वीकार किया है कि छायावाद का सौंदर्यवादी प्रभाव पश्चिम से और रहस्यवादी प्रभाव कवींद्र रवींद्र से आया है।[2] स्वयं रवींद्र की प्रतिभा प्राणवती एवं सर्वातिशायिनी तो थी ही, वह भारतीय औपनिषदिक चेतना के साथ पाश्चात्य जीवनसौंदर्य के सांस्कृतिक समन्वय से बनी थी। जिन दिनों छायावाद का अभ्युदय हुआ, उन दिनों देश में व्याप्त वातावरण से अँगरेजी कवियों के 'मशीनयुग के सौंदर्यबोध तथा स्वच्छंदता का स्वर्णिम गंधपराग लिपटा था।'[3] साथ ही पंत जी यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रसाद जी पर भारतीय दार्शनिक चेतना, बौद्धयुग के कारुण्य और विशेषतः शैवागम के सामरस्य का ही सर्वाधिक प्रभाव था, न कि उन नए मूल्यों का जिनके रसचैतन्य में उनकी कविदृष्टि निमग्न न हो सकी थी। पंत जी किशोरावस्था से ही रवींद्रनाथ के प्रभाव में आ चुके थे। जिन दिनों उनका बँगला का ज्ञान नहीं के बराबर था, उन दिनों वे अपने भाई के सहपाठी मि० मुखर्जी से कवि ठाकुर की रचनाओं का लययुक्त पाठ सुनते थे। अतः आश्चर्य नहीं कि 'वीणा' की कुछ रचनाओं में रवींद्रनाथ के भावलोक की अस्पष्ट छाया हो और 'मम जीवन की प्रमुदित प्रात सुंदरि नव आलोकित कर' पर रवींद्रनाथ के 'अंतर मम विकसित कर अंतरतर हे' की छाप मिलती हो।[4] आरंभ में पंत जी को कलाशिल्प संबंधी प्रेरणा मुख्यतः अँगरेजी कवियों से और

[1] रामयतन सिंह 'भ्रमर', आधुनिक हिंदी कविता में चित्रविधान (दिल्ली, १९६५), पृ० ८५।

[2] छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृ० ३२।

[3] उपरिवत्, पृ० ३७।

[4] सुमित्रानंदन पंत, साठ वर्ष एक रेखांकन (दिल्ली, १९६०), पृ० २८।

भावना संबंधी उन्मेष रवींद्रनाथ और शेली से मिला।[१] कॉलेज छोड़ने के बाद उन्होंने उपनिषद्, गीता, रामायण आदि का ही अध्ययन नहीं किया, इन ग्रंथों के साथ रस्किन, टालस्टाय, कार्लाइल, थोरो, इमर्सन आदि की रचनाओं का भी गंभीर, ध्यानपूर्वक पारायण किया। जब वे अल्मोड़ा में थे, तभी उन्होंने मार्क्स तथा फ्रायड को पढ़ने का विशेष अवसर पाया और उन्हें अपने भाई तथा श्री पी० सी० जोशी से मार्क्स के आर्थिक पक्ष को समझने में भी सहायता मिली। सन् १९३६ से १९४० तक विश्वसाहित्य, आधुनिक काव्य तथा पूर्व पश्चिम की प्राचीन नवीन विचारधाराओं में जो भी संग्रहणीय था, उसे उन्होंने आत्मसात् किया और बतलाया कि 'पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन से—जिससे तर्क-बुद्धि की क्षमता तथा विश्लेषण करने की शक्ति मिली है—मुझे अपने देश के सामंजस्यवादी दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिली।'[२]

आरंभ से ही पंत जी के 'पल्लव बाल' अपने 'विस्मित चितवन' से इस देश को ही नहीं, संपूर्ण विश्व को देखते हैं। उनका कवि इस तथ्य को हृदयंगम कर चुका है कि 'पुराना जीर्ण पतझड़' 'नवजात बसंत के लिये बीज तथा खाद्य स्वरूप बन जाता है' तथा नवीन युग की नवीन आकांक्षाओं की वीणा से 'नए गीत, नए छंद, नए राग, नई रागिनियाँ, नई कल्पनाएँ तथा भावनाएँ फूटने लगती हैं।'[३] इस नवीनता के प्रसार में अँगरेजी ही सुयोग्य माध्यम होगी, इसमें संदेह नहीं, इसलिये पंत जी को यह देखकर हर्ष होता है कि 'अब हिंदी युनिवर्सिटी की चिरवंचित उच्चतम कक्षाओं में भी प्रवेश पा गई, वहाँ उसे अपनी बहन अँगरेजी के साथ वार्तालाप तथा हेल मेल बढ़ाने का अवसर तो मिलेगा ही, उनमें घनिष्ठता स्थापित हो जायगी।'[४] इसी प्रकार निराला जी भी नवीनता का समर्थन करते हैं और चाहते हैं कि हिंदी अपने चारों ओर बने परकोटे से घिर न जाए और न इससे अन्य देशों तथा अन्य जातियों की भावशक्ति रोक रखी जाय। व्यापक साहित्य के युग में हिंदी का भाग्य तभी चमकेगा जब ब्रजभाषा के प्रेमी अपने ही घर को संसार की हद समझना छोड़ देंगे। निराला जी के मतानुसार व्यापक साहित्य किसी खास संप्रदाय का साहित्य नहीं होता। शेक्सपियर की नायिकाओं

[१] सुमित्रानंदन पंत, **साठ वर्ष एक रेखांकन** (दिल्ली, १९६०), पृ० ३४

[२] उपरिवत्, पृ० ५६।

[३] **पल्लव** (दिल्ली, १९६७), भूमिका, पृ० २७।

[४] उपरिवत् पृ० ५०।

के परिच्छेद एकदेशीय हो सकते हैं, पर उनकी आत्मा, प्यार और भाव सार्वभौम हैं।[१] साहित्य अनेक भावों और चित्रों को पाकर ही जीवित रह सकता है, इसलिये 'हमारे काव्यसाहित्य की दृष्टि बहुत व्यापक होनी चाहिए तभी उसका कल्याण हो सकता है।'[२] और इसी कारण पश्चिम से प्रभाव ग्रहण करना कोई अपराध नहीं है—पश्चिम तो आप ही हमारा ऋणी है। वर्ड्स्वर्थ, शेली, कीट्स, बायरन, टेनिसन आदि कवियों की रचनाएँ भारतीय एवं प्राच्यज्ञान से ओतप्रोत हैं। 'पर हमारे साहित्य में क्या हो रहा है—यह भारतीय है, यह अभारतीय, असंस्कृत। नस नस में शरारत भरी, हजार वर्ष से सलाम ठोंकते ठोंकते नाक में दम हो गया और अभी संस्कृति लिए फिरते हैं।'[३] इसी अनुदारता का परित्याग करते हुए निराला जी ने अँगरेजी संगीत, शेक्सपियर, मार्क्सवाद, वर्ड्स्वर्थ, शेली, कीट्स आदि से प्रभाव स्वीकार किया, उन्होंने अँगरेजी के संबोधन गीतों की तरह 'वसंत समीर' जैसे गीत रचे, शेली के 'ऐडोनेइस' तथा टेनिसन के 'इन मेमोरियम' जैसे शोकगीतों के अनुकूल शोकगीतों की रचना की, वर्ड्स्वर्थ की तरह प्रकृति का मानवीकरण किया, शेली और बायरन की तरह 'बादल', 'देवी तुम्हें क्या दूँ' जैसी विद्रोहात्मक कविताएँ रचीं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' के निवेदन में यह स्वीकार किया कि 'मैंने साहित्य की संस्कृति आदर्श सुरक्षित रखते हुए पश्चिम की आलोचनाशैली को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है।'[४] उनके अनुसार रहस्यात्मक कविताओं के दो प्रमुख आधार हैं: प्रथम आधार औपनिषदिक विचारधारा का है और दूसरा पाश्चात्य भावधारा का जिसके अंतर्गत अँगरेजी के युगांतरकालीन कवि शेली, कीट्स, बायरन और वर्ड्स्वर्थ की रचनाएँ तथा विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर की काव्यपुस्तकें आती हैं। पल्लवकाल में सुमित्रानंदन पंत उन्नीसवीं शती के इन्हीं अँगरेजी कवियों से विशेष रूप से प्रभावित थे, क्योंकि इन कवियों ने उन्हें मशीनयुग का सौंदर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवनस्वप्न दिया था।'[५] महादेवी वर्मा और इलाचंद्र जोशी भी छायावाद को इन कवियों से प्रभावित मानते हैं।

[१] **चाबुक** (इलाहाबाद, १९६२), पृ० ५४।
[२] उपरिवत्, पृ० ६०।
[३] उपरिवत्, पृ० ६१।
[४] **हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास** (प्रयाग, १९४८), पृ० २।
[५] **आधुनिक कवि** २, (प्रयाग, सं० २००३), पृ० ११-१३।

अब प्रश्न उठता है कि यदि छायायुगीन हिंदी साहित्य पाश्चात्य रोमांटिक साहित्य से प्रभावित है तो इस प्रभाव का स्वरूप क्या है। निश्चय ही यह प्रभाव वैसा ही स्वाभाविक है जैसा दो संस्कृतियों के सांनिध्य के कारण परस्पर संक्रमित हुआ करता है। प्रभाव ग्रहण करनेवाले हिंदी कवि अपने ही देश और युग की परिवर्तित चेतना से अनुप्राणित हुए थे, न कि उन्होंने अनुकरण की लालसा से रोमांटिक काव्य का अध्ययन किया था। प्रकृति को आलंबन रूप में चित्रित करने का कारण यह न था कि वर्ड्स्वर्थ, शेली और कीट्स ने प्रकृति को सहृदय और व्यक्तित्वपूर्ण माना था, उन्होंने प्रकृति में आलंबनत्व का आरोप किया था जिससे उसके साथ उनके हृदय की एकात्मकता स्थापित हो, उन्होंने प्राकृतिक रूपों और व्यापारों पर स्त्रीसौंदर्य का समारोप किया था जिससे उसकी सौंदर्यभावना में तीव्रता आए और माधुर्य की सृष्टि हो। उन्होंने उस काव्यधारा का विरोध किया था जो प्रकृति का स्वतंत्र और प्रकृत चित्रण न कर आलंकारिक वर्णनों से ही संतुष्ट हो रही थी। इसलिये उन्होंने स्वच्छंद काव्य की सृष्टि की, काव्य की परंपरा और बंधन को, रूढ़ियों और मान्यताओं को तोड़ने में संकोच न किया। उनका अवसाद या नैराश्य भी वर्ड्स्वर्थ, शेली और कीट्स के अवसाद और नैराश्य का अनुकरण नहीं है, वह स्वानुभूतिजन्य एवं वैयक्तिक है—उसमें उनके ही जीवन का अंतर्नाद मुखरित है। जिस संक्रांतिकाल में छायावाद का उदय हुआ था, उसके संपूर्ण वातावरण में कठोरता और कटुता व्याप्त थी। कृषिप्रधान आर्थिक व्यवस्था का पुरातन प्रासाद ढह रहा था और उसकी नींव पर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की इमारत खड़ी की जा रही थी। हिंदू दर्शन तथा बौद्ध दर्शन ने जगत् को दुःखमय बतलाया था। यदि छायावादयुग के कवि दूसरों की अनुभूतियों को वाणी देने और केवल अनुकरण करने में ही अपनी सर्जनात्मक ऊर्जा का अपव्यय करते तो उनकी कविताओं में वह आर्जव और मर्मस्पर्शिता न होती जिससे वे ओतप्रोत हैं। 'दीपशिखा' की भूमिका ('चिंतन के कुछ क्षण') में महादेवी जी की ये पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं :

"साधारणतः गीत वैयक्तिक अनुभूति पर इतना आश्रित है कि कथागीत और नीतिपद तक अपनी संवेदनीयता के लिये व्यक्ति की भावभूमि की अपेक्षा रखते हैं। अलौकिक आत्मविषाद हो या लौकिक स्नेहनिवेदन, तात्कालिक उल्लास विषाद हो या शाश्वत सुख दुःखों का अभिव्यंजन, प्रकृति का सौंदर्यदर्शन हो या उस सौंदर्य में चैतन्य का अभिनंदन, सबमें योग्यता के लिये हृदय अपनी वाणी में संसारकथा कहता चलता है।"

दूसरों की अनुभूति और व्यथा को अपनी अनुभूति और व्यथा में रूपांतरित किए बिना गीतकार उच्चकोटि के गीतों की रचना नहीं कर सकता। चाहे तो वह

युग के अवसाद के साथ तादात्म्य कर ले या आत्मानुभूत वेदना को ही वाणी दे। पराए भावों को अपहृत कर पराए स्वर और शैली में उच्च कोटि के गीतों की संसृष्टि नहीं हो सकती। छायावाद को रोमांटिसिज्म का अनुकरण कहनेवाले समीक्षकों को यह बात स्मरण रखनी चाहिए। सच तो यह है कि छायावादियों की अंतश्चेतना में पाश्चात्य साहित्य का जो भी प्रभाव रहा हो, वह उनकी रचनाओं में प्रायः घुल मिलकर अदृश्य सा हो गया है। यदि निराला जी की 'भाषा में एक ओर मिल्टन की शब्दावली की भास्वरता' और 'कीट्स के मधुर शब्दसंगीत की भी मीठी ध्वनि' है तो इसका यह अर्थ नहीं कि निराला जी मिल्टन और कीट्स से प्रभावित थे। वस्तुतः इन सारे छायावादी कवियों पर पाश्चात्य प्रभाव देखने का एक बहुत बड़ा कारण यह है कि ये कवि मूलतः उसी अर्थ में 'रोमांटिक' हैं जिस अर्थ में ब्लेक, वर्ड्स्वर्थ, शेली, ह्यूगो, बायरन, पुश्किन प्रभृति रोमांटिक थे। इस कारण यदि इनकी रचनाओं में पाश्चात्य प्रभाव का लेश भी न होता तो भी ये रोमांटिक कवियों के समान प्रकृति का वैसा ही शब्दमूर्त वर्णन करते जैसा रोमांटिक रचनाओं में सर्वत्र मिलता रहा है, ये उतना ही स्वच्छंद होते जितना विश्व का कोई भी रोमांटिक कवि होता है, ये उतना ही भावाकुल और आत्मनिष्ठ दीखते जितना शेली दीखता है। हिंदी के छायावादी कवि कम से कम अँगरेजी के रोमांटिक कवियों से परिचित तो थे ही। इसलिये इनकी चेतना में—कम से कम पंत जी के 'उपचेतन' में—उनकी पंक्तियाँ अंकित थीं ही, इसलिये कहीं कहीं इन कवियों का पाश्चात्य रोमांटिकों से प्रभावित होना असंभव प्रतीत नहीं होता। इस मान्यता का एक और आधार, जिसकी ओर पहले संकेत किया जा चुका है, यह है कि भारतीय नवोत्थान के मूल में पूर्व और पश्चिम का सांस्कृतिक संपर्क था जिसे अँगरेज शासकों ने स्थापित किया था और जिसे स्वामी विवेकानंद, राजा राममोहन राय प्रभृति ने दृढ़तर बनाने की सफल चेष्टा की थी।

स्मरण रखना होगा कि छायावाद को अपने ही देश, काल और साहित्य ने मिलकर रोमांटिक बनाया था। और चूँकि उसके साहित्यकार रोमांटिक थे, उन्होंने उसी प्रकार के साहित्य की सर्जना की जिस प्रकार के साहित्य का प्रणयन विश्व के अन्य रोमांटिक कलाकार करते रहे हैं। यहाँ सबसे महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उन्नीसवीं शती का पाश्चात्य रोमांटिक साहित्य आप ही पौरस्त्य वाङ्मय से यत्किंचित् प्रभावित था।[१] सर विलियम जोन्स के माध्यम से

[१] उदाहरणार्थ—शेली रचित 'हिम टु इंटेलेक्चुअल ब्यूटी' और टेनिसन रचित 'लाक्सले हॉल'।

पौरस्त्य साहित्यिक निधियों का निर्यात शुरू हो गया था और शेली, सदे, गेटे, टेनिसन प्रभृति भारतीय विचारधारा से प्रभावित हो चुके थे। अतः छायावादियों को उन्नीसवीं शती का अँगरेजी साहित्य—अँगरेजी साहित्य ही, क्योंकि वे संपूर्ण पाश्चात्य साहित्य से पूर्णतया परिचित न थे—अपनी रुचियों और मनोवृत्तियों के अनुकूल लगा था। उनकी साहित्यिक मान्यताओं के अनुशीलन से यह प्रमाणित होता है कि वे उन्हीं अवधारणाओं को लेकर चले थे जो रोमांटिक कवियों में पाई जाती हैं। रोमांटिक कवि आलोचक के लिये प्रतिभा पर बल देना स्वाभाविक होता है; निराला जी भी कवि के लिये प्रतिभा की अनिवार्यता घोषित करते हैं। रोमांटिक कवि आलोचक काव्य को आत्माभिव्यक्ति और हृद्गत आवेगों का सहज उच्छलन मानता है, निराला जी कवियों द्वारा प्रस्तुत आत्म-परिचय को उतना ही स्वाभाविक उद्गार कहते हैं जितना कवियों द्वारा किया गया प्रकृतिवर्णन स्वाभाविक होता है। रोमांटिक आलोचना पूर्वनिर्धारित मानदंडों से काव्यकृति का समीक्षण नहीं करती, प्रत्युत कवि के मनोभावों का, रोमांटिक भाषाशैली में, विश्लेषण करती हुई गद्यकाव्य रचती है, निराला जी की समीक्षा यही करती है। 'रवींद्र - कविता - कानन' का कविसमीक्षक पेटर, कार्लाइल, सेंट्सबरी और ह्यू वाकर की शैली में सतर्क दुरूह समीक्षा नहीं, स्निग्ध सर्जना करती है और आलोचना न लिखकर गद्यकाव्य की सृष्टि करती है। ये सभी पाश्चात्य लेखक समालोचक में आलोच्य कृति के प्रति प्रबल औत्सुक्य का उद्रेक अत्यंत वांछित समझते हैं। निराला जी की भावयित्री प्रतिभा कार्लाइल की 'टिउटानिक' प्रतिभा के समकक्ष है और 'रवींद्र-कविता-कानन' के भावोद्गार पेटर तथा स्विनबर्न की प्रभावाभिव्यजक समीक्षाओं की याद दिलाते हैं।

यदि हम निराला जी द्वारा स्थापित प्रभाव संबंधी तथ्यों का सम्यक् परीक्षण करें तो यह मान लेने को बाध्य होना पड़ेगा कि वे उन देशों की सभ्यता-संस्कृति को वेदांतिक भावों से अनुप्राणित मानते हैं जिनसे अँगरेज प्रभावित हुए हैं। अतः रहस्यवाद और छायावाद पश्चिम से प्रभावित होकर भी मूलतः भारतीय परंपराओं में ही अंतःप्रतिष्ठित हैं। प्रभावों का संक्रमण चक्र क्रम से हुआ है। भारत ही वेदांतिक भावों का उद्गम स्थान है। यहाँ से वेदांतिक भावधारा मिस्र, फारस, ग्रीस और रोम पहुँची और 'सुकृत या विकृत रूप से उनके साहित्य में ठहर' गई। इन देशों के साहित्य ने अँगरेजी साहित्य को प्रभावित किया है, जिससे होकर वेदांतिक चिंतन पुनः उस भूमि को लौट आए हैं जहाँ उनका आविर्भाव हुआ था।

चूँकि निराला जी छायावाद के मूर्धन्य कलाकार हैं, उनके अनेकशः काव्यसिद्धांत इस संप्रदाय के अन्य साहित्यकारों द्वारा भी प्रतिपादित हुए हैं।

पौरस्त्य एवं पाश्चात्य रोमांटिक विचारधारा के अनुसार कवि एक अत्यंत कोमल प्राणी होता है जो दूसरों के साथ सहानुभूति करते करते इतना कोमल हो जाता है कि किसी भी चित्र की छाप उसके हृदय में ज्यों की त्यों पड़ जाती है। इसके लिये उसे कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वर्ड्स्वर्थ, शेली और कीट्स की कितनी ही पंक्तियाँ इस कथन का सशक्त समर्थन करती हैं। 'लिरिकल बैलड्स' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में वर्ड्स्वर्थ ने भी कवि को एक सुकोमल तथा अत्यंत संवेदनशील प्राणी कहा है : 'अ मैन··· एनडाउड विद मोर लाइव्ली सेंसिबिलिटी, मोर इनथुजिऐजम ऐंड टेंडर्नेस···दैन आर सपोज्ड टु बि कॉमन अमंग मैनकाइंड'। निराला जी के अनुसार कविता भावात्मक शब्दों की ध्वनि है। टॉमस हार्डी की इस पंक्ति में यही भाव व्यंजित है : 'पोयट्री इज इमोशन पुट इनटु मेज़र'। एडगर ऐलन पो ने यह कहकर अनावश्यक संक्षिप्तता की गर्हणा की है कि 'अनड्यू ब्रेविटी डिजेनरेट्स इंटु मिअर एपिग्रमैटिज्म'। निराला जी भी यह नहीं मानते कि कविता तभी सुंदर होती है जब उसमें शब्द थोड़े हों और भाव अधिक। उनके लिये इस तथ्य का कोई आधार नहीं कि 'सौंदर्य बिंदु में ही हुआ करता है।' 'प्रबंधप्रतिमा' में उन्होंने उपदेश को कवि की कमजोरी कहा है। जॉन हैमिल्टन रेनल्ड्स के नाम लिखे गए एक पत्र में कीट्स ने भी यही बात कही है : 'वी हेट पोयट्री दैट हैज अ पैलपेब्ल डिजाइन अपान अस'। 'माधुरी' के अगस्त, १९२३ वाले अंक में निराला जी ने उद्घोषणा की है कि कवि के 'हृदयनिर्गत कविता रूपी उद्गार में इतनी शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी गति की ओर खींच लेता है।' शेली के 'अ डिफेंस आव् पोएट्री' शीर्षक निबंध में इन पंक्तियों का भावार्थ वर्तमान है। इसी प्रकार वर्ड्स्वर्थ का यह कथन कि 'पोयट्री इज दि इमेज आव् मैन ऐंड नेचर' 'रवींद्र-कविता-कानन' की इन पंक्तियों में प्रतिध्वनित हुआ है : '·······जड़ और चेतन, सबकी प्रकृति कवि को अपना स्वरूप दिखा देती है। वे दर्पण हैं और प्रकृति का प्रत्येक विषय उनपर पड़नेवाला सच्चा बिंब।' ध्यातव्य है कि निराला जी के उपर्युक्त कथन पाश्चात्य कवियों और आलोचकों की मान्यताओं के अनुरूप होकर भी अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। उनमें अधिकांश समचिंतन पर आधृत प्रतीत होते हैं और कहीं भी अँगरेजी काव्यसमीक्षा से अपहृत होने का द्योतन नहीं करते। वस्तुतः हमारी यह निश्चित धारणा है कि निराला जी के साहित्यिक सिद्धांतों एवं पाश्चात्य मान्यताओं में जो साम्य दीखता है वह नितांत तलोपरिक है। साथ ही यह भी निर्विवाद है कि उनके वर्चस्वी पांडित्य में मिलकर जो अन्यदेशीय तत्व एकीभूत हो गए थे उनमें कुछ का उत्स ह्विटमन तथा लारेंस की कृतियों में भी पाया जाता है। वे दोनों कवि आलोचक मूलतः स्वच्छंदतावादी और निराला जी की तरह ही 'कवित्व के पुरुषगर्व' के प्रस्तोता थे। ह्विटमन ने 'लीव्ज

आव ग्रास' की भूमिका में मुक्त काव्य का वैसा ही स्तवन किया है जैसा 'परिमल' में निराला जी ने।

पंत जी की विचारधारा स्वच्छंद एवं व्यक्तिवादी काव्यसिद्धांतों तथा प्रतिमानों से प्रभावित है और ये एक ऐसे विशिष्ट काव्य का समर्थन करते हैं जिसके मूलाधार प्रकृतिवाद और 'हृदयवाद' हैं और जिसमें अध्यात्मतत्व तथा रहस्य का भी समाहार और प्रतिपादन हुआ है। उन्होंने वर्ड्स्वर्थ के प्रकृति-सिद्धांतों को ही आत्मसात् नहीं किया है, बल्कि प्राच्य अध्यात्मवाद, महात्मा बुद्ध के मध्यम मार्ग तथा रवींद्र की बंधनमुक्ति से भी प्रभाव ग्रहण करते हुए हीगेल के सौंदर्यवाद तथा बर्गसाँ के जीव-चैतन्य-वाद को अपने दर्शनचिंतन का अनुपेक्षणीय अंग बनाया है। उनका खयाल है कि प्राच्य प्रतीच्य का संयोग मानवता के कल्याण के लिये नितांत आवश्यक है। प्रकृति एवं पुरुष के प्रतिनिधि पश्चिम तथा पूर्व, यूरोप तथा भारत, एक दूसरे से पृथक् रहकर अपूर्ण हैं। जहाँ भारतीय अध्यात्म पाश्चात्य सभ्यता को लक्ष्य और दृष्टि दे सकता है वहाँ पाश्चात्य सभ्यता हमारे अध्यात्म को प्राणवत्ता, संगठन तथा वैज्ञानिक साधन आदि देकर इसे जीवनमूर्त कर सकने में समर्थ है। इस कारण अपनी समीक्षाओं और प्रगीतों में पंत जी प्राच्य प्रतीच्य प्रभावों का समन्वय घटित करते हैं। वे धर्म और विज्ञान में किसी प्रकार का अंतर्विरोध नहीं देखते। इसलिये उनका 'धर्म' पश्चिम के विज्ञान का स्वागत करता है। वे विज्ञान के उन विश्वव्यापी चमत्कारों से अवगत हैं जिन्होंने देश काल को हस्तामलकवत् कर दिखाया है और प्रकृति के विभिन्न रहस्यों को उद्घाटित कर मानवज्ञान के आयाम का आशातीत विस्तार किया है। यह पाश्चात्य विज्ञान की ही महत्वपूर्ण देन है जिसके फलस्वरूप मानवता ऐकदेशीयता तथा एकजातीयता के नागपाश से मुक्त होकर विश्वव्यापी नव्यनिर्माण के पथ पर अग्रसर हो सकी है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रतिपादित पाश्चात्य स्थापनाओं के आलोक में ही आज का मानव 'अपनी अंतश्चेतना के सूक्ष्म रुपहले सोपानों तथा स्वर्ण-रश्मि-मंडित शिखरों पर भी नवीन साहस, नवीन आस्था तथा विश्वास के साथ अश्रांत आरोहण का प्रयास कर रहा है।'[१]

पंत जी के विचार शेली के विचारों से प्रभावित भले ही न हों, परंतु वे विचार पाश्चात्य कवि के काव्यप्रयोजनादि से संबद्ध विचारों से मिलते जुलते हैं। शेली की आशावादिता 'प्रमीथियस अनबाउंड' और 'वेस्ट विंड' सरीखी कविताओं

[१] कला और संस्कृति, पृ० ६।

में शब्दमूर्त हुई है। यदि पंत जी के अनुसार साहित्यकार शांति, विश्वप्रेम और मानवमूल्यों का संरक्षक है तो शेली के अनुसार कवि नियमों का प्रतिष्ठापक, नागर समाज का जन्मदाता, जीवनकलाओं का आविष्कर्ता तथा अदृश्य जगत् की शक्तियों के आंशिक बोध को सत्य और सुंदर के विशेष सांनिध्य में ले जानेवाला गुरु भी होता है। पंत जी के प्रकृतिप्रेम की उत्कटता वर्ड्स्वर्थ की याद दिलाती है। पंत जी वर्ड्स्वर्थ की भाँति नैसर्गिक सौंदर्य की प्रेरणा से काव्यसृजन की ओर उन्मुख हुए हैं। छायावाद सामाजिक ढाँचे के बासी सौंदर्य से ऊबकर पाश्चात्य स्वच्छंदतावाद की तरह प्रकृति की ओर मुड़ा है और प्रकृति से ही नव्य-सौंदर्य-वैभव लेकर कला को सौरभमंडित तथा भावनाजगत को सद्यःप्रस्फुटित कर सका है। वर्ड्स्वर्थ और पंत, दोनों ही एकांतप्रिय, भावुक कवि हैं, दोनों का बचपन प्रकृति के आँगन में खेलते कूदते बीता है। (मेरा जन्म प्रकृति की गोद में हुआ। उसी के आँगन में मैं खेला कूदा और बड़ा हुआ। —पंत) वर्ड्स्वर्थ की तरह पंत जी फूलों के अनन्य प्रेमी हैं। वर्ड्स्वर्थ की 'डैफोडिल्स' शीर्षक कविता देखिए और 'ग्राम्या' की इन पंक्तियों पर विचार कीजिए—

रंग रंग के खिले फ्लाक्स, वरबीना, छपे डियाथस,
नत दृग ऐंटिह्निनम, तितली सी पैंजी, पॉपी सालस,
हँसमुख कैंडीटफ्ट, रेशमी चटकीले नैशटरशम,
खिली स्वीट पी, – एवंडस, फिल बास्केट औ ब्लू बैंटम।

आधुनिक कवि के पर्यालोचन में उन्होंने कहा है कि कविजीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। प्राकृतिक दृश्यों के अवलोकन से वर्ड्स्वर्थ की चेतना भी इसी प्रकार तन्मय हो जाती थी, उसमें एक ऐसा अद्भुत अकथ भाव ('ब्लेसेड मूड') भर आता था जिसमें

······द बर्डन ऑव द मिसटरी
ऑव् ऑल दिस अनइंटेलिजिबल् वर्ल्ड,
इज लाइटेड·········

(टिंटर्न ऐबि, १७९८, ३८–४०)

जब पंत जी ने यह लिखा था कि 'जब कभी मैं आँख मूँदकर लेटता था, तो वह दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँखों के सामने घूमा करता था,' उस समय उनके मन में 'डेफोडिल्स' की अंतिम पंक्तियाँ, निश्चय ही, वर्तमान रही होंगी। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि 'प्रकृति का उग्र रूप मुझे कम रुचता है'। यह भी वर्ड्स्वर्थ की प्रकृतिविषयक अभिरुचि के समरूप है।

पंत जी ने पाश्चात्य मनोविज्ञान और दर्शन का भी अध्ययन किया है जो उनके द्वारा इतस्ततः प्रयुक्त मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक तथ्यों और शब्दों से द्योतित होता है। 'उत्तरा' और 'आधुनिक कवि' की भूमिकाएँ तथा 'ऊर्ध्व चेतना' जैसे निबंध उनके पाश्चात्य इतिहासदर्शन के गंभीर अध्ययन का द्योतन करते हैं। उन्होंने बार बार इस देश की महान् विभूतियों और हिमालयतुल्य उनके मनः-शिखर की प्रशंसा की है और अपने तरुण बुद्धिजीवियों को सचेत करते हुए कहा है कि उन्हें अन्य दर्शनों के साथ अपने देश के दर्शन का भी सांगोपांग तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। छोटी छोटी बातों के लिये पाश्चात्य विचारकों का मुँह जोहना अशोभन है, परंतु साथ ही, पंत जी के मतानुसार, यह भी आवश्यक है कि हम किपलिंग के पदचिह्नों पर न चलकर 'धीरे धीरे विश्वक्रांति की बहुमुखी गुरुता से परिचित होकर विश्व सांस्कृतिक संगठन अथवा विश्व सांस्कृतिक द्वार की ओर अग्रसर हों'। 'चिदंबरा' के 'चरणचिह्न' में उन्होंने कहा है: 'मेरी प्रेरणा के स्रोत निस्संदेह मेरे ही भीतर रहे हैं, जिन्हें युग की वास्तविकता ने खींचकर समृद्ध बनाया है। मैंने अपने अंतर के प्रकाश में ही बाह्य प्रभावों को ग्रहण तथा आत्मसात् किया है'। स्पष्ट है कि 'अंतर के प्रकाश' में बाह्य प्रभावों को ग्रहण तथा आत्मसात् करनेवाला कवि हिंदी का शेली और लारेंस है। स्वच्छंदतावादी कवियों की तरह ही उसने भी कल्पना के पंखों से सौंदर्यक्षितिजों का स्पर्श किया है। (नव्यशास्त्र-वादी कवि उछल कूद सकते हैं, परंतु उन्हें पीछे लौट आना पड़ता है, वे सौंदर्य-क्षितिजों को स्पर्श करने का प्रयत्न नहीं करते।)[१]

महादेवी वर्मा की रोमांटिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति जिस शैली में हुई है वह आप ही अत्यंत व्यक्तिनिष्ठ एवं रसदीप्त है। जिस निबंध में 'क्षितिज', 'कल्पना', 'स्वप्न', 'अनुभूति', 'रागात्मिका वृत्ति', 'सूक्ष्म', 'असीम', 'आकाश', 'भावना' जैसे शब्द न हों, उसे, ऐसा लगता है, हम महादेवी का निबंध नहीं कह सकते। इनमें भी 'अनुभूति' और 'स्वप्न' जैसे शब्दों का विशेष महत्व है। उनकी 'छायावादी' समालोचना कला है, विज्ञान नहीं और वह कलाओं की तरह 'सत्य का ज्ञान के सिकताविस्तार में नहीं खोजती, अनुभूति की सरिता के तट से एक विशेष बिंदु पर ग्रहण करती है। महादेवी जी यह भी स्वीकार करेंगी कि ऐसी आलोचना में 'गणित के अंकों में बँधी नाप जोख के लिये स्थान नहीं' रहता। वह आलोचक की अनुभूति से उसी प्रकार सृष्ट होती है जिस प्रकार

[१] ही मे जंप, बट ही ऑलवेज रिटर्न्स बैक, ही नेवर फ्लाइज अवे इनटु द सर्कमएंबिएंट गैस।– टी० ई० ह्यूम, स्पेक्युलेशंस (१९६०), पृ० १२०।

कविता; इसलिये महादेवी का कलाकार समीक्षक जीवन का ऐसा संगी जान पड़ता है, जो अपनी समालोचनाओं में हृदय की कथा कहता है। वह अपने हृदय में उत्थित भावोद्गारों के स्फुलिंगआलोक में तत्काल नई परिभाषाएँ और नए निष्कर्ष उपस्थित करता है। 'यामा' में 'अपनी बात' कहने के क्रम में उन्होंने एक स्थल पर लिखा है कि 'पहले बाहर खिलनेवाले फूल को देखकर मेरे रोम रोम में ऐसा पुलक दौड़ जाता था मानो वह मेरे ही हृदय में खिला हो, परंतु उसके अपने से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव में एक अव्यक्त वेदना भी थी, फिर यह सुख-दुःख-मिश्रित अनुभूति ही चिंतन का विषय बनने लगी और अंत में अब मेरे मन ने, न जाने कैसे, उस बाहर भीतर में एक सामंजस्य सा ढूँढ़ लिया है जिसने सुख दुःख को इस प्रकार बुन दिया कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है। यहाँ यह कहना न्यायसंगत नहीं जँचता कि इन पंक्तियों को लिखते समय लेखिका के मन में वर्ड्स्वर्थ का एक ऐसा ही कथन वर्तमान रहा होगा, परंतु इसमें संदेह नहीं कि इनमें वर्ड्स्वर्थ की निम्नलिखित पंक्तियों का ही भाव प्रतिध्वनित है। वर्ड्स्वर्थ ने कहा है—'कभी कभी मैं यह सोचने में असमर्थ था कि बाह्य पदार्थों का मुझसे बाहर भी कोई अस्तित्व है और मैंने उन सभी चीजों के साथ संपर्क स्थापित कर लिया था जिन्हें मैं देखता था, मानो वे मुझसे पृथक् न होकर मेरी अमूर्त आत्मा में ही संयोजित हों।' हर्बर्ट रीड ने इन पंक्तियों से यह निष्कर्षित किया है कि वर्ड्स्वर्थ बाह्य जगत् और अपने आपमें कोई भिन्नता नहीं देखता था। इस मनोवृत्ति से उसे घोर संघर्ष करना पड़ा था और इस कारण उसे वास्तविक जगत् को अपने लिये उतना ही यथार्थ बनाना पड़ा जितना वह बना सकता था।[1]

हर्बर्ट रीड ने वर्ड्स्वर्थ के सिद्धांतों के संबंध में कहा है कि ये उसकी संवेदनाओं पर ही आधृत थे। स्वयं वर्डस्वर्थ ने 'लिरिकल बैलड्स' की भूमिका में कहा है कि कवि 'अपने राग और अपने संकल्प में ही प्रफुल्लित रहता है, अपने अंतस् में विद्यमान जीवन के प्राणतत्व में वह अन्यों की अपेक्षा अधिक रस लेता है और सृष्टि के क्रियाकलाप में जहाँ वैसे ही संकल्प एवं राग दृष्टिगोचर होते हैं, उनका विचार कर वह हर्षित होता है—जहाँ वे नहीं होते वहाँ स्वभाववश वह उनकी सृष्टि करने के लिये बाध्य होता है।' महादेवी जी के साहित्यिक सिद्धांत भी उनकी अनुभूतियों से ही निस्सृत हुए हैं और उनकी संवेदनाओं पर ही आश्रित हैं। उनकी कविता में बुद्धि ही 'हृदय से अनुशासित' नहीं होती, बल्कि

[1] हर्बर्ट रीड, वर्ड्स्वर्थ (लंदन, १९५८) पृ० १२४।

उनकी समीक्षा भी हृद्गत आवेगों से उद्भूत होती है। उनके अनुसार 'जीवन की गहराई की अनुभूति के कुछ क्षण होते हैं, वर्ष नहीं'।[१] तत्वतः इस प्रकार की धारणा रोमांटिक है और क्षणिक अनुभूतियों पर रचे गए प्रगीतों का मूलाधार होती है। शेली और पो की रचनाओं में भी इस धारणा की विशद अभिव्यक्ति हुई है। शेली ने कहा है कि 'विचारों और भावों की क्षणिक उद्भावना होती है—कभी वे किसी स्थान अथवा व्यक्ति से संपृक्त होते हैं, कभी अपने ही मन से संबद्ध। वे अनायास आते हैं और सहसा विलीन हो जाते हैं।' प्रेरणावाले रोमांटिक सिद्धांत का यह धुर मूल है जिसे आभिजात्यवादी समीक्षक स्वीकार नहीं करता। अठारहवीं शती में इंगलैंड में नव्यशास्त्रवादियों ने लंबी लंबी कविताएँ लिखी थीं और प्रेरणावाले सिद्धांत का निराकरण किया था, परंतु रोमांटिक युग में पो ने 'पैराडाइज लास्ट' जैसी लंबी कविताओं को छोटी छोटी कविता का सुश्रृंखल रूप कहा और लघुकाव्य एवं प्रगीतों के ही अस्तित्व को स्वीकार किया। काव्य द्वारा प्राप्त होनेवाली करुणानुभूति के विषय में महादेवी जी ने कहा है कि 'काँटा चुभाकर काँटे का ज्ञान तो संसार दे ही देगा, परंतु कलाकार बिना काँटा चुभने की पीड़ा दिए हुए ही उसकी कसक की तीव्र मधुर अनुभूति दूसरे तक पहुँचाने में समर्थ है'।[२] 'काँटा', 'पीड़ा', 'कसक', 'तीव्र मधुर अनुभूति' आदि छायावादी काव्य एवं काव्यालोचन के लिये अनुपेक्षणीय हैं। इसी प्रकार वर्ड्स्वर्थ, कीट्स, शेली, बायरन की कविताओं में करुणारस का जैसा परिपाक हुआ है, वैसा किसी अन्य काव्योद्भूत रस का नहीं। इन कवियों की मनोवृत्ति का प्रतिफलन कीट्स की इन पंक्तियों में होता है :

प्लेजर इज ऑफ्ट अ विजिटेंट, बट पेन
क्लिंग्स क्रुएली टु अस।

(एंडिमियन, १, ६०६)

'यामा' की 'अपनी बात' में महादेवी जी ने यह स्वीकार किया है कि वेदना उन्हें अत्यंत मधुर लगती है और 'केवल दुःख ही गिनते रहना' उन्हें बहुत प्रिय है। उनके मतानुसार जब कवि का वेदांतज्ञान अनुभूतियों से रूप, कल्पना से रंग और भावजगत् से सौंदर्य पाकर साकार होता है, तभी उसके सत्य में जीवन का स्पंदन मिलता है, 'बुद्धि की तर्कश्रृंखला नहीं'। जान कीट्स के इस कथन में कि 'एक्सिअम्ज इन फिलासफी आर नाट एक्सिअम्ज अंटिल दे आर प्रूव्ड अपॉन

[१] साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध (इलाहाबाद, १९६६), पृ० ३८।
[२] उपरिवत्, पृ० ४१।

आवर पल्सेज', अनुभूति का ही कीर्तिगान है। शेली ने 'प्रमीथियस अन्बाउंड' की भूमिका में उपदेशात्मक रचनाओं के प्रति अपनी घृणा ज्ञापित की है। ए० सी० ब्रैडले और आर० डब्ल्यू० एमर्सन जैसे समीक्षकों ने भी यह स्वीकार किया है कि कवि का लक्ष्य किसी को आदेश या उपदेश देना नहीं है। गेटे ने भी कहा है कि कलाकृतियों का प्रभाव नैतिक हो सकता है, किंतु उनसे नैतिकता की माँग करना कविकर्म को नष्ट करना है। काव्य के महत्व का निदर्शन करते हुए शेली ने कविता को, सामान्य अर्थ में, कल्पना की अभिव्यक्ति कहा है और बतलाया है कि इसका उद्भव मानव के साथ ही सहज रूप में हुआ है। महादेवी जी ने भी यह उद्घोषित किया है कि कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन और मानवज्ञान की अन्य शाखाओं की अग्रजा रही है। वे दर्शन और कवि की स्थिति में कोई विरोध नहीं मानतीं, 'कोई भी कलाकार दर्शन ही क्या, धर्म, नीति आदि का विशेषज्ञ होने के कारण ही कलासर्जन के उपयुक्त या अनुपयुक्त नहीं ठहरता।' क्लाइव सैन्सम ने भी यह स्वीकार किया है कि कल्पना और तर्क या बुद्धि में कोई तात्विक विरोध नहीं है, किंतु कल्पना का आरंभ वहाँ होता है जहाँ से तर्क निष्क्रिय हो जाता है। सैन्सम ने यह भी कहा है कि तर्क का कविता में होना अनिवार्य है, परंतु यह तर्क वर्ड्स्वर्थ का 'डिवाइन रीजन्' हो—ऐसा दिव्य तर्क हो जिसमें तरलता रहे, जो ठंढा न हो और जो कल्पना का अनुसरण करने के लिये सदैव तत्पर रहे।[१] महादेवी की एक पंक्ति इस अंतिम वाक्यांश का हू-ब-हू रूपांतर है: 'मेरा प्रत्यक्ष ज्ञान मेरी कल्पना के पीछे सदा ही हाथ बाँधकर चलता रहा है' ('यामा', पृ० ७)। यह भी स्मरणीय है कि बचपन का गुणगान, विगत दिनों की याद और शैशव के निर्दोष जीवन के प्रति अगाध प्रेम रोमांटिक चित्तवृत्ति से उद्भूत माने गए हैं। अठारहवीं शती के कवियों के विपरीत ब्लेक और वर्ड्स्वर्थ की कितनी ही कविताएँ निर्दोष शैशव के गीत हैं तथा इनमें बुद्धिजनित ज्ञान को निर्दोष बाल्यावस्था का शत्रु कहा गया है। इनके भावों की प्रतिध्वनि कवयित्री के इन शब्दों में सुनाई पड़ती है: 'साधारणतः किशोर अवस्था में स्नेह के कोमल और जीवन के आदर्श सुंदर ही रहते हैं—उनमें न वासना की उत्कट गंध स्वाभाविक है और न विकृत मनोवृत्तियों की पंकिलता' (दीपशिखा', पृ० १६-२०)। ध्यातव्य है कि ब्लेक, वर्ड्स्वर्थ, कोलरिज और बायरन ने बाल्यावस्था तथा कौमार्य को वृद्धावस्था से श्रेष्ठतर घोषित किया था और जहाँ बुढ़ापे की विकृत मनोवृत्तियों में

[१] क्लाइव सैन्सम, द वर्ल्ड ऑव् पोयट्री [लंदन, १९५९], पृ० ४४।

पंकिलता पाई थी, वहीं किशोरावस्था के स्नेहस्वप्न में कोमलता के दर्शन किए थे। महादेवी जी की संप्रेषण संबंधी मान्यताओं से, जो 'यामा' और 'सप्तपर्णा' की 'अपनी बात' में मिलती हैं, टालस्टाय के प्रभाव का या समचिंतन से उत्पन्न संयोग का आभास मिलता है।

हम जानते हैं कि हमारे अवचेतन में, जहाँ जीवन की भिन्न भिन्न स्मृतियाँ एकत्र होती हैं और संस्कारगत प्रेम तथा घृणा का वास होता है, अधीत ग्रंथों के ऐसे भाव, बिंब, वाक्यखंड या शब्द आदि भी गड़े होते हैं जिनके अस्तित्व का हमें बोध तक नहीं रहता। परंतु प्रेरणा के क्षणों में जब कवि अपनी अनुभूतियों से आविष्ट ('पजेस्ड') होकर उन्हें अपनी वाणी देने लगता है तब वे भाव, बिंब और शब्द प्रकट होने लगते हैं। ये भाव, बिंब और शब्द कवि की अपनी संपदा न होकर भी उसकी अपनी निधि बन जाते हैं, प्रभाव प्रभाव न रहकर कवि की नवनवोन्मेषक्षमा प्रतिभा का ही एक अनिवार्य अंग बन जाता है। कहीं कहीं छायावादी कवियों पर भी पराए भावों का ऐसा ही प्रभाव दृष्टिगत होता है। रामकुमार वर्मा की यह पंक्ति—

'आओ, चुंबन सी छोटी है यह जीवन की रात'

(चित्ररेखा, १)

शेक्सपियर और शेली के युगपत् प्रभाव से उत्पन्न हुई जान पड़ती है। शेक्सपियर की इस पंक्ति से—

'आवर लिट्ल लाइफ
इन राउंडेड विद अ स्लीप।'

जीवन की रात का बिंब निकला है और शेली रचित प्रमीथियस अन्बाउंड की इन पंक्तियों से—

'लाइफ ऑव लाइफ ! दाइ लिप्स एन्किंडल्
विद देअर लव द ब्रेथ बिट विन देम,
ऐंड दाइ स्माइल्स बिफोर दे ड्विंडल्... ।'

जीवन और चुंबन की क्षणिकता का भाव गृहीत हुआ है। चित्ररेखा की पहली कविता की ही ये पंक्तियाँ—

'यह ज्योत्स्ना तो देखो, नभ की
बरसी हुई उमंग,
आत्मा सी बनकर छूती है
मेरे व्याकुल अंग।'

'मर्चेंट ऑव वेनिस' (अंक ५, दृश्य १) की 'हाउ स्वीट द मूनलाइट स्लीप्स अपान दिस बैंक' आदि की याद दिलाती हैं। इस संग्रह की दूसरी कविता 'आज केतकी फूली' वर्ड्स्वर्थ की प्रसिद्ध कविता 'डैफोडिल्स' से प्रभावित जान पड़ती है। तीसरी कविता की ये पंक्तियाँ—

'यह तुम्हारा हास आया।
इन फटे से बादलों में कौन सा मधुमास आया ?'

जो बिंब प्रस्तुत करती हैं उससे मिलते जुलते बिंब के लिये निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'फ्रॉम वन लोनली क्लाउड
द मून रेंस आउट हर बीम्स, ऐंड हेवन् इज ओवरफ्लोड।'

इसी प्रकार 'एक रागिनी चातकस्वर में सिहर सिहर गाती है'—वर्ड्स्वर्थ रचित 'द रीपर' की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है और इन पंक्तियों से—

'यह निर्झर मेरे ही समान
किस व्याकुल की है अश्रुधार।'

(चित्ररेखा, ५)

शेक्सपियर का स्मरण हो आता है—

'माइ माइंड इज ट्रबल्ड, लाइक अ फाउंटेन स्टर्ड'

(ट्रॉयल्स ऐंड क्रेसिड, अंक ३, दृश्य ३)

वस्तुतः अंगरेजी में ऐसी अनेक कविताएँ हैं जिनमें निर्झर को अश्रुधार कहा गया है। किसी अज्ञात कवि ने कहा है—

'वीप यू नो मोर, सैड फाउंटेंस;
ह्वाट नीड यू फ्लो सो फास्ट ?'

'व्याकुल' और 'निर्झर' का विनियोग शेक्सपियर रचित 'द टेमिंग अव द श्रू (अंक ५, दृश्य २, १४३)' में इस प्रकार हुआ है—'अ वुमन मूव्ड इज लाइक अ फाउंटेन ट्रबल्ड (वह स्त्री जिसका हृदय विचलित हो चुका है, व्याकुल निर्झर के समान होती है)। रामकुमार जी की यह उपमा—

'एक उज्ज्वल तीर सा रविरश्मि का उल्लास आया'

(चित्ररेखा, ३)

शेली की 'टु अ स्काईलार्क' शीर्षक कविता में भी वर्तमान है :

'कीन ऐज आर द ऐरोज
ऑव दैट सिल्वर स्फिअर'

और इस पंक्ति में भी 'अ शाफ्ट ऑव लाइट अपान इट्स विंग्ज डिसेंडेड'। उन्नीसवीं शती के अँगरेज रोमांटिक कवियों के प्रभाव के फलस्वरूप भी महादेवी जी तथा अन्य छायावादी कवियों ने पुराने रूढ़िभक्त रूपविन्यास को त्याग कर आधुनिक सौंदर्यभावना के अनुरूप नए नए छंदबंधों और अलंकारों का प्रयोग किया है। रोमांटिक कवियों की तरह हिंदी के इन 'मुक्त' कवियों ने भी शास्त्रीय छंदों की जगह नवीन अभिव्यक्तिभंगिमा को प्रश्रय दिया है, भावस्वच्छंदता की आवश्यकता से प्रेरित होकर तथा 'बंधनमय छंदों की छोटी राह' छोड़कर स्वच्छंद एवं मुक्त छंदों की सृष्टि की है, चरणों का नवीन क्रमायोजन प्रस्तुत किया है और ऐसे पदांतरप्रवाही प्रयोगों की प्रतिष्ठा की है जिनमें कवि के मनोभाव एक चरण से प्रवाहित होते हुए आनेवाले चरणों में समाप्त होते हैं। हिंदी के मुक्त छंदों में चरणों की असमानता तथा उनका अतुकांत प्रयोग अँगरेजी के 'ब्लैंक वर्स' से प्रभावित है और कहा जाता है कि परंपरित दोहा सोरठा जैसे अर्धसम छंदों से भिन्न नए छायावादी अर्धसम छंदों पर, या सम छंदों को अर्धसम बनाकर लिखने की प्रवृत्ति पर भी, अँगरेजी काव्य का प्रभाव पड़ा है। रोमांटिक कवियों की तरह हिंदी के छायावादी कवि भी अपने मुक्त भावों को पूर्वनिश्चित रूढ़ ढाँचे में कसने का प्रयास नहीं करते। उनके लिये न तो परंपरागत छंदों के पूर्वनिर्धारित ढाँचे ही मान्य हैं और न इन ढाँचों की रक्षा के लिये अपने भावों की बलि चढ़ाया जाना ही स्वीकार्य है। इस कारण वे हिंदी में नए नए छंदों की प्रतिष्ठा ही नहीं करते, बल्कि प्राचीन काव्यपरंपराओं से भिन्न विशुद्ध आभ्यंतरिक प्रगीतकाव्य, संबोधगीति ('ओड') और चतुर्दशपदी ('सॉनेट') की रचना करते हैं। इन नए काव्यरूपों और छंदबंधों की सृष्टि में केवल अँगरेजी साहित्य का ही नहीं, अपितु बँगला साहित्य का भी योगदान स्मर्तव्य है। बँगला में मुक्तक वर्णिक छंद के अनेक भेदों का प्रयोग हो रहा था और नवीनचंद्र सेन, गिरीशचंद्र घोष, रवींद्रनाथ ठाकुर प्रभृति की रचनाओं में 'पयार' छंद पर आधृत स्वच्छंद छंदों के नानाविध प्रयोग हो चुके थे। निराला जी के स्वच्छंद छंदों पर बँगला के 'पयार' का प्रभाव असंदिग्ध है। अँगरेजी पद्धति पर बनाए गए कुछ शब्दों का प्रयोग भी छायावादी काव्य में मिलता है। 'ड्रीमी स्माइल' से 'स्वप्निल मुस्कान', 'गोल्डेन टच' से 'सुनहला स्पर्श', 'साइलेंट साई' से 'नीरव उच्छ्वास', 'स्लीपिंग वेव्ज' से 'सुप्त तरंग', 'ड्राइ लव' से 'सूखे अनुराग', 'मेल्टिंग आइज' से 'पिघलती आँखें', 'गोल्डेन मार्निंग' से 'कनक प्रभात' आदि बनाए गए हैं। ऐसे ही असंख्य विशेषण विपर्यय सारे रोमांटिक और छायावादी काव्य में परिव्याप्त हैं—

(क) साँसों के चचल समीर में
जीवनदीप जलाऊँ।

—आधुनिक कवि, ३, पृ० ७।

(ख) साथ ले सहचर सरस बसंत,
चक्रमण करता मधुर दिगंत.........

—लहर, पृ० २०।

(ग) चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृंदाधाम ?

—परिमल, पृ० २०।

(घ) वेदी की निर्मम प्रसन्नता.........

—कामायनी, पृ० ११६।

हिंदी में जहाँ जहाँ रोमांटिक काव्य का प्रभाव गया है, वहाँ वहाँ ऐसे रूपकालंकारों की भरमार देखने को मिलती है। अपने सर्वात्मवादी दर्शन तथा व्यक्तिवादी कल्पनातिरेक के कारण रोमांटिक कवियों की तरह छायावादी कवि भी मानवीकरण में बड़े ही निपुण होते हैं—

(क) मौन में सोता है संगीत—
लजीले मेरे छोटे दीप।

—यामा, पृ० ५३।

(ख) जगती की मंगलमयी उषा बन
करुणा उस दिन आई थी।

—लहर, पृ० ३१।

(ग) निस्तब्ध मीनार,
मौन हैं मक़बरे :—
भय में आशा को जहाँ मिलते थे समाचार,
टपक पड़ता था जहाँ आँसुओं में सच्चा प्यार।

—अनामिका, पृ० ६३।

पाश्चात्य अलंकारों में ध्वन्यर्थ व्यंजना (ऑनोमेटोपीआ) भी बड़ी ही लोकप्रिय रही है और इससे उद्भूत नादमय चित्रों से रोमांटिक काव्य भरा पड़ा है। छायावादी कवियों ने भी इसका सफल प्रयोग किया है :

(क) कण कण कर कंकण, प्रिय
किण किण रव किंकिणी
रणन रणन नूपुर, उर लाज
लौट रंकिणी

—गीतिका, गीत सं० ६।

(ख) धँसता दलदल
हँसता है नद खल् खल्
बहता कहता कुलकुल कलकल कलकल
—परिमल : बादल राग, पृ० १५० ।

सुमित्रानंदन पंत, इलाचंद्र जोशी, रामकुमार वर्मा, प्रभृति ने रोमांटिक काव्य के अनुशीलन में विशेष अभिरुचि का प्रदर्शन किया है। निराला जी ने शेली रचित 'अलास्टर' नामक कविता के प्रत्येक पृष्ठ के हाशिए को अर्थ से रँग दिया था और रामकुमार वर्मा ने पालग्रेव द्वारा संपादित 'गोल्डेन ट्रेजरी' का कई बार मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था। 'गोल्डेन ट्रेजरी' पालग्रेव और टेनिसन की रोमांटिक अभिरुचि की परिचायिका है और जिस प्रकार पालग्रेव के प्रिय कवियों में ब्लेक, वर्ड्स्वर्थ, शेली, बायरन और कीट्स शीर्षस्थ थे, उसी प्रकार रामकुमार वर्मा के लिये भी, विशेषतः 'रूपराशि' के रचनाकाल में, बायरन और कीट्स का स्थान बड़े महत्व का था।

प्रसादजी की पलायनवादी प्रवृत्ति, जो 'ले चल मुझे भुलावा दे कर, मेरे नाविक धीरे धीरे' में रूपायित हुई है, कीट्स के उस 'ओड' की याद दिलाती है जिसमें कवि अपनी कविता के अदृश्य पंखों पर चढ़कर बुलबुल के लोक में उड़ जाने की आकांक्षा प्रकट करता है। पलायनवादिता को सर्वसम रोमांटिक प्रवृत्ति के कारण ही यहाँ भावसाम्य है; परंतु ऐसा जान पड़ता है कि पंत जी पर रोमांटिक कवियों का प्रभाव अवश्य पड़ा है। वे अपने 'मधुप कुमारी' से गीत सीखने को आतुर हैं। वर्ड्स्वर्थ में ऐसी ही आतुरता की अभिव्यक्ति हुई है जिसका एक ज्वलंत प्रमाण उसकी लूसी की शिक्षा दीक्षा है जो प्रकृति की पावन गोद में, प्रकृति से ही, हुई थी। शेली ने भी 'स्काईलार्क' से प्रार्थना करते हुए कहा था—

'टीच मी हाफ द ग्लैडनेस
दैट दाइ ब्रेन मस्ट नो,
सच हार्मोनियस मैडनेस
फ्राम दाइ लिप्स वुड फ्लो।'

इसी प्रकार निराला जी का 'निर्बंध', 'स्वच्छंद' बादल शेली के उच्छृंखल पश्चिमी प्रभंजन की याद दिलाता है और जब पंत जी कहते हैं—

'कलकंठिनि ! निज कलरव में भर
अपने कवि के गीत मनोहर
फैला आओ बन बन घर घर'
—पल्लविनी, पृ० ८९ ।

तब इस बात का स्मरण हो आता है कि शेली ने भी पश्चिमी प्रभंजन से कुछ इसी प्रकार की प्रार्थना की थी।

कभी कभी दूर के मिलते जुलते एकाध भाव को देखकर यह स्थापित करने का प्रयास किया जाता है कि छायावाद निकाय के कवि पाश्चात्य रोमांटिक कवियों से प्रभावित थे। उदाहरणार्थ, प्रसाद की इन पंक्तियों पर

'तुम कनक किरण के अंतराल में
लुक छिपकर चलते हो क्यों ?'

बायरन के 'डान जूअन्' के प्रथम सर्ग (छंद संख्या ७२) का प्रभाव देखा जाता है जो सर्वथा निराधार है। इसी प्रकार जहाँ भी बचपन की दिव्य निरीहता का वर्णन पढ़ने को मिलता है, पाठक उसपर वर्ड्स्वर्थ रचित 'इमॉर्टलिटी ओड' का प्रभाव देखने लगते हैं।

प्रसाद जी की रचनाओं के अनुशीलन से ऐसा ज्ञात होता है कि चूँकि वे भारतीय दर्शन एवं साहित्यशास्त्र के श्रमशील अध्येता ही नहीं, इनके आदर्श के प्रति आस्थावान् भी थे उन्होंने किसी भी वाद का अंधाधुंध अनुसरण नहीं किया और न अपने निजी दृष्टिकोण को तिलांजलि ही दी। यहाँ जो तथ्य प्रभाव-निरूपण के कार्य को और भी कठिन बना देता है, वह प्रसाद जी का यह कथन है कि 'ज्ञान और सौंदर्यबोध विश्वव्यापी वस्तुएँ हैं, इनके केंद्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानतः संस्कृति के कारण भिन्न भिन्न अस्तित्व रखते हैं।' वस्तुतः 'खगोलवर्ती ज्योतिर्केंद्रों की तरह आलोक के लिये इनका परस्पर संबंध हो सकता है'। इसलिये भारतीय काव्यशास्त्र की अनेक मान्यताएँ पाश्चात्य साहित्यकारों की रचनाओं में रूपायित मान्यताओं के सदृश जान पड़ती हैं और इन साहित्यकारों के विचार हमारे काव्यशास्त्रीय चिंतन में प्रतिबिंबित दिखलाई पड़ते हैं। प्रसाद जी ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' का आरंभ इस स्वीकृति के साथ किया है कि पाश्चात्य प्रभाव के कारण आधुनिक समीक्षकों का दृष्टिकोण परिवर्तित दिखलाई पड़ता है। उनकी आलोचनाओं का क्षेत्र-उस क्षेत्र से 'कुछ भिन्न' है जिसमें प्राचीन भारतीय साहित्य के आलोचकों की विचारधारा काम करती थी। उनके हृदय पर पाश्चात्य 'विवेचनशैली का व्यापक प्रभुत्व क्रियात्मक रूप में दिखाई देने लगा है।' प्रसाद जी के मतानुसार हमारी विचारधारा अव्यवस्थित हो उठी है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे कतिपय समीक्षक अपनी रचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई देते हैं। इस प्रकार उनमें मिश्रित विचारों का समावेश होता है और समालोचना 'अव्यवस्था के दलदल' में जा पड़ती है। प्रसाद जी ने आधुनिक हिंदी समीक्षा पर हीगेल के प्रभाव का उदाहरण उपस्थित करते हुए कहा है कि हीगेल से प्रभा-

वित हमारे आलोचक सर्वप्रथम काव्य का वर्गीकरण ही प्रस्तुत नहीं करते, उसे कला के अंतर्गत भी मानने लगे हैं। भारतवर्ष में काव्य की गणना विद्याओं की गई है और कलाओं का वर्गीकरण उपविद्या में हुआ है। भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों में यही तात्विक अंतर है। इसी प्रकार ज्ञान के वर्गीकरण में भी पूर्व एवं पश्चिम का सांस्कृतिक वैमत्य स्पष्ट है। परंतु आज की समीक्षा पश्चिम से इतनी प्रभावित है कि उसका आरंभ कला से होता है और हम हागेल के मतानुसार मूर्त और अमूर्त विभागों के द्वारा कलाओं में लघुत्व और महत्व की प्रतिष्ठा करते हैं। प्रसाद जी यह स्वीकार नहीं करते कि वर्तमान हिंदी कवियों ने अचेतनों या जड़ों में चेतनता आरोपित करना अँगरेजी के कवियों से सीखा है। हमारे अनेक समीक्षक, जिनकी अधिकांश भावनाएँ विचारों की संकीर्णता और अपनी स्वरूपविस्मृति से उत्पन्न होती है, अँगरेजी में 'गाड इज लव' लिखा पाकर हिंदी साहित्य में पाए जानेवाले ईश्वर के प्रेमरूप के वर्णन को अनुवाद या अनुकरण घोषित कर बैठते हैं। वे नहीं जानते कि जिसे ये पाश्चात्य साहित्य की देन समझते हैं वह प्रसिद्ध वेदांतग्रंथ 'पंचदशी' के इस कथन पर आधारित है कि 'अयमात्मा परानंदः परप्रेमास्पदं यतः'। आनंदवर्धन ने हजारों वर्ष पहले लिखा था :

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्,
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतंत्रतया।

स्पष्ट है कि प्रसाद जी का लक्ष्य भारतीय समीक्षा को पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त करना है, न कि स्वयं पाश्चात्य भाषा, साहित्य और समीक्षा से प्रभावित होना। उनकी काव्यपरिभाषा, उनका रहस्यवाद, उनका काव्यशास्त्रीय चिंतन स्वच्छंदतावादी परंपरा के अनुकुल है, परंतु उनका मौलिक दर्शनचिंतन भारतीय है और भारतीय परंपराओं से प्रभावित भी। यहाँ तक कि जो स्थल पाश्चात्य विचारसरणियों से प्रभावित भी लगते हैं वे सूक्ष्म परीक्षण और अध्ययन के अनंतर भारतीय तत्वों से ही संपोषित तथा अनुप्राणित प्रकट होते हैं। यदि प्रसाद जी पर पश्चिम का प्रभाव देखना हो तो उनकी कृतियों में इतस्ततः पाई जानेवाली मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं पर ही देखा जा सकता है, अन्यत्र नहीं।

———

षष्ठ अध्याय

प्रेम और मस्ती के कवि

रामचंद्र शुक्ल ने जिसे आधुनिक काल के तृतीय उत्थान की संज्ञा दी है उसमें छायावाद के समानांतर एक और काव्यधारा प्रवाहित मिलती है जो यद्यपि छायावाद की ही भाँति हिंदी स्वच्छंदतावाद का ही प्रकाश है तथापि वह अपने रंग, प्रभाव और उपलब्धि में छायावाद से स्पष्ट रूप में भिन्न है। इस धारा को विद्वान् आलोचकों ने कभी छायावाद के ही अंतर्गत विवेचित कर दिया है तो कभी उसे 'पलायनवाद', 'हृदयवाद' या 'हालावाद' की संज्ञाओं से अभिहित किया है। पर ये नाम उस काव्यधारा की कुछ प्रवृत्तियों का संकेत भले ही कर सकें, उसे पूरी तौर से परिभाषित नहीं करते। अतः अन्य किसी स्पष्ट संज्ञा के अभाव में हम इस धारा को 'मस्ती और यौवन की कविता' ही कह सकते हैं।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि इस धारा की सामाजिक पृष्ठभूमि वही थी जो छायावादी काव्य की थी और इसके प्रमुख कवि उसी काल में विशेष सक्रिय थे जिसमें छायावादी कवि अपने उत्कर्ष पर पहुँचे थे। इसलिये इन दो धाराओं का काव्यगत भेद किसी परिस्थितिगत भेद से परिभाषित नहीं किया जा सकता। हमारे विचार से उस भेद का मूल स्रोत बाह्य परिवेश में न होकर उस परिवेश के प्रति कविगण की प्रतिक्रियाओं में है। दूसरे शब्दों में, उस भेद का जन्म कवियों के व्यक्तित्व के भेद में हुआ है। हिंदी के आलोचक काव्य के विवेचन में प्रायः व्यक्तित्व की विशेषताओं को अनदेखा करते रहे हैं, और सामाजिक परिस्थितियों की समानता पर बल देते रहे हैं। इस प्रकार के दृष्टिकोण से जो क्षति होती है उसका एक छोटा सा उदाहरण हमारे इन कवियों के महत्व का विस्मरण भी है जो छायावाद के साथ साथ चलते हुए भी अपनी एक निराली ही लीक पकड़े रहे। फलस्वरूप इन दोनों समानांतर धाराओं में कुछ तत्व यदि समान रूप से प्रकट हुए हैं, तो कुछ अन्य तत्व उन्हें एक दूसरे से अलग करते हैं और उनकी पहचान बन जाते हैं।

छायावाद में जड़ता और रूढ़िवादिता के प्रति विद्रोह की जो भावना गूढ़ दार्शनिकता से प्रारंभ होकर पीड़ा के आग्रह की परिणति तक पहुँची है वह हमारे इन मस्ती के कवियों में अधिक स्थूल और साकार रीति से प्रकट हुई है। इनमें से

प्राय: सभी कवि प्रत्यक्ष जीवन में कर्मठ देशभक्त और समाजसेवी रहे हैं और उनमें से अधिकांश राष्ट्रीय मुक्ति के संग्राम में भाग लेने के कारण नाना प्रकार के कष्ट, अभाव और राजदंड एवं कारावास भी भोगते रहे हैं। उनकी इस चर्या ने उनकी कविता को सामाजिक जीवन का स्थूल सामीप्य भी दिया है और उनकी भाषा को बोलचाल के प्रति ग्रहणशील भी बनाया है। माखनलाल चतुर्वेदी से लेकर नरेंद्र शर्मा तक की कृतियों में प्रवाहित काव्य की धारा और कुछ नहीं तो अपनी भाषा की विशेषताओं के ही कारण पहचानी जा सकती है। इनकी भाषा में छायावाद की वायवीयता एवं अलंकरणलालित्य का अभाव है, वह अधिक सहज और नुकीली है, यहाँ तक कि माखनलाल और नवीन में तो वह ऊबड़ खाबड़ भी मिलती है। पर उसके इस रूप के ही कारण उसमें सर्वत्र समकालीन जीवन की धड़कनें अधिक आसानी से बज उठती हैं। सच तो यह है कि इन कवियों की रचनाओं का एक बड़ा अंश तो नितांत सामयिक ही है और आज उसे काव्य से भी अधिक तत्कालीन परिवेश के आलेख के रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है। छायावाद के कवियों ने काव्य के स्थायित्व की खोज में लगे रहने के कारण इस तात्कालिकता को सीधे रूप में कभी कभार ही व्यक्त किया होगा। और वह भी सन् १९३६ के बाद ही, जब समस्त हिंदी साहित्य में सामाजिक उद्देश्य का आग्रह बड़ा बलवान हो उठा था।

यह ठीक है कि मस्ती के इन कवियों ने यदि एक ओर कुछ ऐसी रचनाएँ की हैं जिन्हें विद्वान् सहज ही छायावाद के अंतर्गत संमिलित कर लेते हैं तो दूसरी ओर उन्होंने ऐसी भी रचनाएँ की हैं जो उस विशुद्ध राष्ट्रीय काव्यधारा के अंतर्गत समेटी जा सकती हैं जिसका सर्वोच्च प्रकाश मैथिलीशरण गुप्त में मिलता है। यह प्रवृत्ति विशेष रूप से माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन में दिखाई देती है। शायद यही कारण हो कि ये दो कवि जीवन में भी मैथिलीशरण गुप्त के निकट रहे। पर उनका अधिकांश सर्जन न छायावाद का अंग है, न राष्ट्रीय काव्यधारा का। उसमें हमें यथार्थ जीवन की विषमताओं के प्रति सचेत मानस की बेचैन प्रतिक्रियाएँ मिलती हैं जो राष्ट्रीयता की सरल स्थिति से बढ़कर वर्गीय विषमताओं की सीमाएँ छूने लगती हैं और उन विषमताओं से मुक्ति की कामना में ध्वंस और विनाश का भी आह्वान कर उठती हैं। ध्वंस की यह प्रवृत्ति न्यूनाधिक रूप में हम इन सभी कवियों में पाते हैं। यद्यपि प्रकट रूप में यह प्रवृत्ति उन गांधीवादी सिद्धांतों के विरुद्ध प्रतीत होती है जो अहिंसा और हृदयपरिवर्तन पर टिके हैं, तथापि अपने आंतरिक रूप में यह गांधी जी के सत्याग्रह संग्राम को ही पुष्ट करती है। जिस प्रकार युद्ध के विरुद्ध होते हुए भी गांधी जी अपने अभियान में युद्ध की शब्दावली का प्रयोग करते थे—'सेना', 'कूच', 'संग्राम' शब्द बराबर सुने जाते

रहे, उसी प्रकार 'जल उठ, जल उठ, अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग' (भगवतीचरण वर्मा) या 'कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाए' (नवीन) आदि भावनाएँ आक्रामक नहीं हैं, वे केवल भारतीय युवा मानस की बेचैनी की ही अतिरंजित अभिव्यक्तियाँ हैं। स्वतंत्रतासंग्राम के उस दौर में भारतीय मानस विदेशी की गुलामी से, उसके अन्याय अत्याचार से, उसके शोषण उत्पीड़न से इतना विकल और बेचैन हो उठा था कि उसकी यंत्रणा से छुटकारा पाने के लिये वह विषमताओं को ही नहीं, उनके आधार इस समाज और विश्व को भी नष्ट करने की सोच बैठा था। और यद्यपि उसका आक्रोश प्रमुख रूप से विदेशी शासक सत्ता के ही प्रति था, तथापि अपने समाज में उपस्थित जड़ता, अविद्या, दैन्य और अभाव भी उसके इस क्रोध को भड़काने में सहायक होते थे। कभी वह विधवा के दुर्भाग्य को लक्ष्य करता था, कभी किसानों मजदूरों से सहानुभूति प्रकट करता था, तो कभी धनकुबेरों पर बरसता था। उसकी बेचैनी के मूल में अपने वर्तमान के प्रति यही असंतोष काम कर रहा था। यही कारण है कि उसकी वाणी में ओज का प्राबल्य था, उसकी भंगिमा में अमर्ष का पुट था और उसकी भाषा में परुषता थी। छायावाद की कोमलकांत पदावली उसके भावों को वहन करने में असमर्थ थी। छायावाद का यदि प्रमुख लगाव था सौंदर्य से तो इस वर्ग के कवि का प्रमुख लगाव था—परिवर्तन से, क्रांति से। यद्यपि क्रांति का यह भाव अभी प्रौढ़ और वास्तव रूप ग्रहण न कर पाया था और इसलिये उसमें निर्ममता के स्थान पर उच्छ्वास और अतिरेक का ही प्रकाश है।

यौवन और प्रेम के प्रति इन कवियों के दृष्टिकोण को इसी पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है। छायावाद में भी प्रेम की अत्यंत मार्मिक और प्रभावी अभिव्यक्ति मिलती है पर मस्ती और यौवन के इन कवियों की प्रेमाभिव्यक्ति उसकी सी कोमल, निभृत और सूक्ष्म नहीं है। इनका प्रेम अधिक मुखर, स्थूल और कोलाहलपूर्ण है। एक ओर यदि इनके कर्मजीवन की व्यस्तता का प्रतिफलन है तो दूसरी ओर यह सामाजिक रूढ़ियों, बाधाओं से टकराने को उद्यत उद्दंडता का भी। अपनी चर्या के प्रारंभ में ही नवीन ने प्रेम की अभिव्यक्ति के माध्यम से इन सामाजिक रूढ़ियों को चुनौती दी थी। उन्होंने एक कविता में स्पष्ट कहा था—'यों भुज भर के हिये लगाना है क्या कोई पाप? या अधखिले दृगों का चुंबन है क्या पाप कलाप'।

अथवा, एक अन्य कविता में उन्होंने कहा—

'संयम? मेरी प्राण, जरा तो आज असंयम में बहने दो।'

उसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा ने भी ताल ठोकी थी—

'हाँ, प्यार किया है, प्यार किया है मैंने
वरदान समझ अभिशाप लिया है मैंने!'

और आगे चलकर बच्चन ने भी रूढ़ियों को चुनौती देते हुए कहा—

'मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता !'

या

'वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी ?'

इसमें संदेह नहीं कि हमारे इन कवियों की रचनाओं में प्रेम की नाना अनुभूतियाँ अपने पूरे वैविध्य में व्यक्त हुई हैं और प्रत्येक कवि का अपना निजी व्यक्तित्व उनमें पूरे निजीपन से प्रकट हुआ है, पर इस बात में वे सब समान हैं कि उनका प्रेम घोषित रूप में लौकिक प्रणय है, वह समाज की परिपाटी या मर्यादाओं की परवाह नहीं करता और वह सर्वत्र एक पौरुषपूर्ण कामना के रूप में प्रकट हुआ है, उसका प्रमुख स्वर आत्मनिवेदन का नहीं अपितु आत्माधिकार का है। प्रेम के प्रति कवि का यह दृष्टिकोण ही उस द्वैत अथवा द्वंद्व का मूल है जो इन कवियों को छायावादी अद्वैत से भिन्न करता है, और अंत में उन्हें मस्ती या फक्कड़पन अपनाने की अथवा निराशा और मृत्यु का वरण करने की ओर ले जाता है। छायावाद की चरम परिणति है एक अनंत अलौकिक सत्ता के प्रति एकात समर्पण जो महादेवी वर्मा के शब्दों में यह रूप ले उठता है—

तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा।

इन हृदयवादी कवियों की चरम परिणति है बच्चन के इन शब्दों में—

आओ, सो जाएँ, मर जाएँ !

अपने उन्मेष के काल में यह द्वंद्व इन कवियों को असाधारण संघर्ष और ललकार की शक्ति देता है, अपने अंतिम दिनों में यही द्वंद्व उन्हें तोड़ देता है, दयनीय बना देता है।

द्वंद्व की इन दो चरम स्थितियों के बीच, अर्थात् ध्वंस और आत्महत्या के बीच की अवस्था में द्वंद्व की तीव्र अनुभूति से छुटकारा पाने के लिये ही ये कवि मस्ती का, नशे का, मादकता का सहारा लेते हैं। यद्यपि हालावाद के प्रवर्तन का श्रेय बच्चन को दिया जाता है, और इसमें संदेह नहीं कि मधु का संदेश देनेवालों में वे अग्रणी हैं, तथापि मादकता की यह प्रवृत्ति प्रायः सभी कवियों में मिलती है, यहाँ तक कि तत्कालीन राष्ट्रीयतावादी कवि और छायावादी कवि भी इससे अछूते न रह सके। प्रत्येक कवि के दृष्टिकोण में थोड़ा बहुत भेद तो अनिवार्य ही माना जायगा, पर ऐसा कोई कवि नहीं है जिसने मधु, हाला या मादकता पर ध्यान न दिया हो। अवश्य ही तत्कालीन वातावरण में ऐसी कोई सामान्य प्रवृत्ति रही होगी जिसने हिंदी के कवि को इस ओर उन्मुख किया। वैसे तो भारतेंदु ने भी मौज में आकर लिखा था—

पी प्रेम पियाला भर भरकर कुछ इस मै का भी देख मजा।

पर उनकी कविता का यह प्रमुख स्वर नहीं है, उनके व्यक्तित्व में वह द्वंद्व ही है जो इसे प्रतीक से अधिक कोई सार्थकता देता। भारतेंदु का यह प्रयोग केवल उनके उर्दू-काव्य-परंपरा से परिचय का ही प्रमाण है और यद्यपि हमारे ये कवि भी उर्दू-काव्य-परंपरा से भली प्रकार परिचित थे, और छायावादी कवियों से भिन्न किंतु भारतेंदु के समान ही, उर्दू शब्दों, मुहावरों और व्यंजनायुक्तियों को ग्रहण करने से परहेज नहीं करते थे, (यथा : प्रेमी के लिये 'यार' का प्रयोग, अथवा बच्चन का गीत 'सुरा पी, मधुपी, कर मधुपान, रहो बुलबुल डालों पर बोल') तथापि मादकता और हाला की ओर उनका ऐसा गहरा झुकाव इस परंपरा-परिचय से परिभाषित करना समीचीन नहीं जान पड़ता। साहित्य का उत्स उसकी परंपरा में न होकर उसकी तात्कालिक परिस्थितियों में ही विशेष रूप से होता है, विशेषतः ऐसे उथल पुथल के काल में कवियों की सार्थक अभिव्यक्ति का बीज वर्तमान की विशेषताओं में ही ढूँढ़ा जाना चाहिए।

यदि हम इन कवियों के अलग अलग कृतित्व पर दृष्टिपात करें तो हमें यह भी ज्ञात होता है कि यह फक्कड़पन या मतवालापन क्रमशः बढ़ा है। माखनलाल चतुर्वेदी में यदाकदा ही कुछ छींटे मिलते हैं, नवीन अपनी कुछ ही कविताओं में उसका भरपूर प्रकाश करते हैं। ('कूजे, दो कूजे में मिटनेवाली मेरी प्यास नहीं'), भगवतीचरण वर्मा उनसे भी आगे बढ़कर दीवानापन अपना लेते हैं ('हम दीवानों की क्या हस्ती, हैं आज यहाँ कल वहाँ चले') और अंत में बच्चन इस भावना को पराकाष्ठा तक पहुँचा देते हैं (' वह मादकता ही क्या जिसमें बाकी रह जाए जग का भय')। अतएव, यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि ज्यों ज्यों राष्ट्रीय आंदोलन अपने प्रारंभिक उत्साह को पार कर असफलता और अगति के दलदल में फँसता गया त्यों त्यों हमारे ये कवि 'मादकता' की ओर बढ़ते गए। ध्यान देने की बात यह है कि 'मधुशाला' का प्रकाशन सन् १९३५ के आस पास हुआ था जब ब्रिटिश सरकार यह मानने लग गई थी कि उसने कांग्रेस के आंदोलन को तहस नहस कर दिया है। और सन् १९३६ में जब जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने नया समाजवादी रंग पकड़ा तब हिंदी काव्य से 'मादकता' का वह स्वर अचानक तिरोहित हो गया। बच्चन और नरेंद्र शर्मा का अंतर इसी तथ्य से रेखांकित किया जा सकता है।

वस्तुतः 'मादकता' की शरण में जाना इन कवियों के कमजोर व्यक्तिवाद का प्रतिफलन है। भारत की आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों ने, पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली और राष्ट्रीय गौरव की भावना ने हमारे यहाँ व्यक्तिवाद को जन्म तो दे दिया था, पर पराधीन राष्ट्र का यह व्यक्तिवाद अपनी प्रकृति से ही

कमजोर और निराश व्यक्तिवाद था। बँगला में रवींद्रनाथ और हिंदी में छायावादी कवि किसी हद तक इस कमजोरी से त्राण पा गए क्योंकि उन्होंने भारतीय अद्वैत दर्शन को एक नया रूप देकर उसे अपने जीवन का आधार बना लिया। पर हमारे ये कवि किसी ऐसे समग्र संपूर्ण दर्शन की टेक नहीं पा सके। कर्मसंकुल जीवन में प्रति पग प्राचीन और नवीन की टकराहट में लिपटते वे निरंतर शंका और संशय के वातावरण में जीते रहे। यही कारण है कि कभी तो वे उत्साह में भरकर अपना सब कुछ उत्सर्ग करके 'बलिदानी' बनने की सोचते और कभी निराशा के अंधकार में घिरकर समाज से अलग हो जाने की अथवा 'मादकता' की फूँक से संसार को ही उड़ा देने की सोचते हैं। इसका एक कारण यह भी हुआ कि इन कवियों का कोई समग्र व्यक्तित्व न बन सका; वह बहुविध और बहुमुखी रहा जिसके कारण उनका कृतित्व भी असमान और अनिश्चित बना। ये स्वछंदतावादी भी हैं, राष्ट्रीयतावादी भी, विद्रोही भी हैं और फक्कड़ भी, समाजसेवी भी हैं और व्यक्तिगत कामनाओं से ग्रस्त भी। एक वाक्य में वे अपने समय के मध्यवर्ग के बड़े ईमानदार प्रतिनिधि हैं। मध्यवर्गीय जीवन में जिस प्रकार अनेक उतार चढ़ाव आते रहे और वह कभी एक दिशा में और कभी दूसरी दिशा में टटोलता रहा, यही हालत हमारे इन कवियों की रही। नवीन ने स्वयं कहा—

'हम संक्रांति काल के प्राणी, बदा नहीं सुखभोग।'

भगवतीचरण वर्मा ने इसको और भी दो टूक ढंग से पेश किया—

मेरे चरणों में गति, पलकों में है अतीत का अंधकार।
मैं अपनी ही कमजोरी से टकरा जाता हूँ बार बार॥

छायावाद ने अपने विशिष्ट ढंग से व्यष्टि और समष्टि की खाई को पाटकर अपने लिये एक मार्ग निकाल लिया था, हमारे ये कवि उस खाई के ठहरे पानी में ही लगातार हाथ पैर मारते रह गए।

कुछ विद्वान् आलोचक इन कवियों की मस्ती और फक्कड़पन का सारा श्रेय उमर खैयाम की रुबाइयों को देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी के कवियों पर इन रुबाइयों का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा है, और यदि कवि की परिस्थितियों और कवि का व्यक्तित्व भिन्न होता तो यह प्रभाव इतना गहरा कदापि न होता। उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद यदि बच्चन ने प्रस्तुत किया था तो उनके भी पहले एक अनुवाद मैथिलीशरण गुप्त भी कर चुके थे। किंतु गुप्त के काव्य पर हम उमर खैयाम का कोई स्थायी प्रभाव नहीं खोज सकते। यह ठीक है कि उमर खैयाम की रुबाइयाँ अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी दौर में फिट्जेरल्ड के

अनुवाद के माध्यम से अचानक कवियों का ध्यान आकर्षित करने में समर्थ हुई थी। किंतु यह ध्यान देने की बात है कि फिट्जेरल्ड ने अपने अनुवाद में काफी स्वतंत्रता से काम लिया था, और उमर खैयाम को अपने समय के अनुकूल बनाकर पेश किया था। मूल में उमर खैयाम वैसा सरस कवि नहीं है जैसा अँग्रेजी अनुवाद में वह प्रकट होता है। स्वभावतः ही अँग्रेजी कवि ने उसकी एकांत तन्मयता और समाज से विमुखता को अपने काम की चीज माना। और जब पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली ने हिंदी कवि को इस अँग्रेजी साहित्य से परिचित कराया तो हिंदी कवि भी उसकी ओर आकर्षित हुआ, और कुछ ही वर्षों में फिट्जेरल्ड के कई हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुए। छायावादी कवियों की रचनाओं में हाला, प्याला के प्रतीक इसी का परिणाम हैं, यद्यपि हमारे विचार में वे रवींद्रनाथ के माध्यम से ही हिंदी में आए हैं। अस्तु, छायावादी कवियों में भी मदिरा और मधुशाला का उल्लेख मिल जाता है—यथा प्रसाद—

'माणिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली ?'

अथवा महादेवी वर्मा—

तेरी ही मधु माणिक हाला
तेरा अधरविचुंबित प्याला
तेरी ही मादक मधुशाला
फिर क्यों पूछूँ, मेरे साकी,
देते हो मधुमय विषमय क्या ?

पर छायावाद में हाला-प्याला-साकी और मधुशाला के ये उल्लेख अभिव्यक्ति की ही युक्तियाँ हैं, उनका मर्म कुछ और ही है। इनका ग्रहण प्रभाव का ही फल है।

छायावादी कवियों से भिन्न हमारे इन कवियों ने फक्कड़पन और मस्ती को काव्यार्थ के स्तर पर व्यंजित किया है, वह उनके मर्म का ही अंग है। और इसका कारण वही द्वंद्व है जो उनके चित्त को निरंतर मथता रहता है। उमर खैयाम के काव्य में ऐसा कोई द्वंद्व नहीं है, वह फिट्जेरल्ड के अनुवाद में नितांत भाग्यवादी अथवा क्षणवादी अभिव्यक्ति है। यह जीवन नश्वर है, निस्सार है, इसमें जितने पल हैं उन्हें रो धोकर बिताने से कोई लाभ नहीं, अतः आओ इन्हें प्रेम और यौवन की मदिरा से आनंदपूर्ण बना दें—फिट्जेरल्ड के काव्य की यही टेक है। हमारे इन कवियों ने अपनी 'मादकता' को ऐसा कोई एकांत दर्शन नहीं बनाया है। और की बात छोड़ भी दें तो बच्चन तक ने स्पष्ट लिखा है—

मुस्करा आपत्तियों—कठिनाइयों को दूर टाला,
संकटों में धैर्य धरकर खूब अपने को सँभाला।

यह रचना समय की कसौटी पर खरी उतर चुकी है और एक प्रकार से हिंदी काव्य में माखनलाल के हस्ताक्षर का पद पा चुकी है। पर इसमें उनका एक ही, और वह भी प्रारंभिक रूप ही, समा सका है। साधारणतः माखनलाल का काव्य ऐसा अभिधात्मक नहीं है। उनमें विलक्षण वाग्वैदग्ध्य है, और उनकी शब्दावली अनोखे और बहुस्तरीय प्रयोगों के कारण नए स्पंदन से पूर्ण है। उनकी दूसरी विख्यात रचना 'कैदी और कोकिला' में उसकी कुछ झलक मिल जाती है। यह बात महत्व से खाली नहीं है कि उस कविता में राष्ट्रीय भाव की वह सरलता भी नहीं है जो 'अभिलाषा' में है। यहाँ कैदी का मन उस द्वंद्व का अनुभव करने लग गया है जो आगे के कवियों में उजागर हुआ। यदि एक ओर कवि अपनी देशसेवा पर दृढ़ है—

क्या ? --देख न सकती जंजीरों का गहना।
हथकड़ियाँ क्यों ? यह ब्रिटिश राज का गहना ॥
कोल्हू का चर्रक चूं ? -- जीवन की तान ॥
मिट्टी पर लिखे अँगुलियों ने क्या गान ?
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ।
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआ ॥

तो दूसरी ओर अँधेरी आधी रात में अचानक कोयल की कूक उसे कुछ विचलित और उद्विग्न भी कर उठती है और वह कुछ दयनीय स्वर में अपनी स्थिति की तुलना कर उठता है—

तुझे मिली हरियाली डाली।
मुझे नसीब कोठरी काली ॥
तेरा नभ भर में संचार।
मेरा दस फुट का संसार ॥
तेरे गीत कहावें वाह।
रोना भी है मुझे गुनाह ॥

तथापि अभी मध्यवर्गीय मन कुंठित नहीं हुआ है और अंत में वह कोकिल के स्वर से क्रांति की प्रेरणा लेना चाहता है। पर ये पंक्तियाँ हमें उस द्वंद्व का आभास दे ही देती हैं जो कवि के मन में है और जो उसकी बलिदानभावना को कुछ अतिशयोक्ति और कुछ गर्व का रूप दे देता है :

द्वार बलि का खोल चल, भूडोल कर दें।
एक हिमगिरि एक सिर का मोल कर दें ॥
मसल कर, अपने इरादों सी उठाकर।
दो हथेली हैं कि पृथ्वी गोल कर दें ॥

रक्त है ? या है नसों में क्षुद्र पानी !
जाँच कर, तू सीस दे देकर जवानी !

वस्तुतः माखनलाल का वाग्वैदग्ध्य, उनकी वचनवक्रता, उनका विचित्र शब्दचयन, उनकी देश एवं प्रणय दोनों के सामने बलिदानी भंगिमा उनके भीतर के इसी द्वंद्व को छिपाने समेटने के साधन हैं। अपनी प्रारंभिक चर्या में उन्होंने वैष्णव परंपरा के प्रभाव से भक्तिपरक रचनाएँ कीं, फिर देशभक्तिपरक कविताएँ रचीं। उन दोनों में उनकी भंगिमा सरल और अभिधात्मक है। अपने प्रौढ़ वर्षों में वे सर्वदा लक्षणा का प्रयोग करते रहे और उसी काल की रचनाएँ उनकी प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। विषयवस्तु और छंदचयन आदि की दृष्टि से उनमें इतना वैविध्य है कि पाठक सहसा चमत्कृत हो जाता है। राष्ट्रीय महत्व की घटनाओं के कथन, राष्ट्रीय पुरुषों के स्मरण अभिनंदन से लगाकर लौकिक प्रेम की मुखर अभिव्यक्ति तक उनका विस्तार है। कहीं उनकी रचनाओं में छायावाद के पूर्व स्वर इतने उभर आते हैं कि आलोचक उन्हें छायावाद का प्रवर्तक मान बैठते हैं, तो कहीं सामाजिक विषमताओं पर ऐसा भीषण प्रहार मिलता है कि वे प्रगतिवादियों के पूर्वज प्रतीत होते हैं। इस प्रकार उनका काव्य एक पँचमेल रूप धारण कर लेता है, और उनको किसी भी वर्ग के खाँचे में बैठाना असंभव हो जाता है। पर उनकी अधिकांश रचनाओं में अनुभव का ताप और अभिव्यक्ति की वक्रता पाई जाती है और ये दो तत्व ही उनके प्रधान गुण ठहरते हैं। और इन दोनों तत्वों को वे अपनी उन रचनाओं में सर्वाधिक व्यक्त करते हैं जो यौवन की चर्चा से संबद्ध है और जिसमें प्रणय या बलिदान का अतिरेक है। इस अतिरेक में वे कभी कभी कबीर के से फक्कड़पन पर पहुँच जाते हैं—

मत बोलो बेरस की बातें, रस उसका जिसकी तरुणाई
रस उसका जिसने सिर सौंपा, आगी लगा भभूत रमाई

अथवा

फेंक तराजू ये बलि पंथी, सिर के कैसे सौदे सट्टे
बहुत किए मीठे मुँह तुमने, अब उठ आज दाँत कर खट्टे

वस्तुतः अपने समस्त कृतित्व में माखनलाल ने राष्ट्र और प्रणय दोनों को एक ही तराजू पर तोला है, दोनों को उन्होंने मरणत्योहार की संज्ञा दी है, जिस-पर वे अपनी तरुणाई बार बार चढ़ाते हैं। उनकी प्रखरता और उत्कटता सदैव युवकों को आकर्षित करती रही और एक पूरे युग तक वे सचमुच 'एक भारतीय आत्मा' बने रहे।

५० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (१८९७-१९६०)

माखनलाल चतुर्वेदी से ८ वर्ष बाद जनमे और उनसे ८ वर्ष पूर्व ही महाप्रयाण कर जानेवाले कवि 'नवीन' अनेक ऊपरी बातों में अपने अग्रज के समान थे। दोनों का ही जन्म मध्यप्रदेश में हुआ, दोनों की ही तरुणाई व्यावहारिक राजनीतिक संघर्ष में गुजरी, दोनों ने ही अपने काव्य में अनेक शैलियों और वादों को प्रतिध्वनित किया। पर समानताएँ जितनी ऊपरी हैं, उतनी भीतरी नहीं। 'नवीन' पर छायावाद का प्रभाव कम है, वे मस्ती और फक्कड़पन पर अधिक बल देते हैं। उनकी कविता आत्मानुभव पर अधिक निर्भर है, कल्पना को वे सीमित रूप में ही साथ लेते हैं। यही कारण है कि उनकी बहुत सी रचनाएँ डायरी का सा रूप ले बैठती हैं और उनकी सार्थकता अनेक बार उनके अंतरंग वृत्त तक ही सीमित रह जाती है। अग्रज और अनुज के इस अंतर को उनके उपनामों के अंतर से भी रेखांकित किया जा सकता है। 'एक भारतीय आत्मा' में राष्ट्रीयता की जो गौरवझंकार है उससे 'नवीन' की नवीनता में कोटि और स्तर दोनों का भेद है। इसीलिये कभी कभी छायावादकालीन मस्ती और जवानी की इस कविता को माखनलाल-नवीन-स्कूल की कविता भी कह दिया जाता है।

इन दो कवियों की बाह्य समानता का एक कारण उनका भौतिक सामीप्य हो सकता है। स्कूली शिक्षा समाप्त करते न करते ही 'नवीन' कांग्रेस अधिवेशन का दृश्य देखने लखनऊ गए थे जहाँ उन्हें एक साथ माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त और गणेशशंकर विद्यार्थी से परिचय पाने का सौभाग्य मिला। इसी मिलन के परिणामस्वरूप वे माखनलाल के भक्त बने, और कानपुर में गणेशशंकर विद्यार्थी के आश्रय में रहकर पहले विद्यार्जन और फिर राजनीतिक कार्य में जुटे। इस प्रकार वे माखनलाल से भिन्न, सचमुच ही 'अनिकेत' बन गए और राजनीतिक सरगर्मियों में डूबे रहने पर भी उनका भावुक मध्यवर्गीय मन यथार्थ के अभाव और कष्टों के प्रति अधिक वैयक्तिक और तीव्र प्रतिक्रियाएँ करता रहा। यही कारण है कि नवीन के काव्य में उद्बोधन का स्वर यदा कदा ही मिलता है, यद्यपि वह माखनलाल को अत्यंत प्रिय है। माखनलाल अपने काव्य में प्रायः सर्वदा मानो एक मंच पर चढ़े रहते हैं और अपनी निजी प्रतिक्रियाओं को आदर्श और गौरव की छलनी में छानकर ही प्रस्तुत करते हैं। पर नवीन अपने प्रदेश और परिवार से कटकर समाज में एकाकी अनुभव करते हैं और अपने मन की भावनाओं को बड़े खरेपन से, प्रायः ताल ठोककर, प्रस्तुत करते हैं। उन्हें जब क्रोध आता है तो वे सारी सृष्टि को चुनौती देते हैं—

सावधान, मेरी वीणा में
चिनगारियाँ आन बैठी हैं

और जब सत्याग्रह आंदोलन की निष्फलता पर उनका मन हताशा से भर जाता है तो वे 'पराजय गान' गाने में भी नहीं झिझकते—

आज खड्ग की धार कुंठिता
औ' खाली तूणीर हुआ।

इस प्रकार नवीन का काव्य उनके निजी जीवन के उतार चढ़ावों का, उनके निजी भावों अभावों का आलेख बन जाता है। उनके काव्य के सम्यक् अध्ययन से यह सहज ही बताया जा सकता है कि उनकी कौन सी कविता उनके जीवन के किस चरण में लिखी गई होगी। उनके काव्य की यह विशेषता आगे चलकर बच्चन के काव्य में भी प्रकट हुई।

अपने निजी घात प्रतिघातों को कविता का रूप देने का यह आग्रह नवीन के काव्य में एक नवीनता तो भर ही देता है, उसमें और भी कई विशेषताओं का समावेश कर देता है। शैशव में उन्हें भी वैष्णव संस्कार प्राप्त हुए थे और वे कभी कभी विगलित भक्ति की भी रचनाएँ कर उठते हैं, पर अधिकांशतः उनका काव्य लौकिक जीवन का ही काव्य है। उनकी निजी सामाजिक स्थिति का अनिश्चय और संशय उनके काव्य में भी फूट उठता है और 'अनि-केतन' एवं 'एकाकी' मन की प्रेम और सख्य की खोज उनकी कविता में प्रणय की उत्कट अभिव्यक्ति को जन्म देती है। ऐसा व्यक्ति सामाजिक मर्यादाओं और लीकों की भला क्या चिंता कर सकता है और यही कारण है कि नवीन अपने काव्य में उनके विरोध का झंडा उठाते हैं। वे मात्र राजनीतिक भी नहीं हैं, वे समाज में आमूलचूल परिवर्तन चाहते हैं और मुक्त प्रणय का ही अधिकार नहीं माँगते, नर को जूठे पत्ते चाटते देखकर दुनिया भर में आग लगाने की भी सोच उठते हैं। उधर उनका भूखा मन ब्रजभाषा के अपने अभ्यास के कारण सरस पदरचना भी करता है, और विषमताओं के संसार में संशयग्रस्त होकर कभी कभी मूलभूत प्रश्न भी कर उठता है 'क्वासि ?'। मृत्यु संबंधी कविताएँ उनके व्यक्तित्व के इसी पक्ष का निरूपण हैं। वस्तुतः नवीन अपने काव्यसर्जन में अपने बहुविध और जटिल व्यक्तित्व को संपूर्णतः प्रकाशित करने के प्रयत्न में ही नाना शैलियों और वादों की शरण लेते हैं जिसमें एक ओर यदि ब्रजभाषा के दोहों की रचना है, तो दूसरी ओर 'उर्मिला' जैसा महाकाव्य है और प्रायः छायावाद शैली के प्रगीत हैं। पर नवीन के काव्य का सच्चा उत्कर्ष उन्हीं रचनाओं में प्रतिफलित हुआ है जो या तो उनके उद्वेलित मानस की हुंकार से निर्मित हैं ('विप्लव गायन', 'सिरजन की ललकारें मेरी') या फिर उनकी आंतरिक कामनाओं को प्रतिबिंबित करती हैं। इन कामनाओं में प्रणयकांक्षा भी है, सुरक्षा की इच्छा भी है, और वैभव

विलास के प्रति ललक भी—यद्यपि यह ललक तिर्यक् रूप में ही प्रकट हो सकी है। वस्तुतः नवीन लगातार अपने मन से जूझते रहते हैं—वह मन जो ऊपर से राजनीतिक संघर्ष में जुटा है पर भीतर ही भीतर निजी सुख सुविधा का आकांक्षी है। उनके मन का यह द्वंद्व ही उनके व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य है और उनका अधिकांश उत्कृष्ट काव्य इसी द्वंद्व के तनाव का प्रतिफलन है। इसका एक स्थूल प्रमाण यह भी है कि उनकी अधिकांश रचनाएँ या तो जेल में रची गई हैं या फिर रेल में—और ये दोनों ही तनाव की स्थितियाँ हैं। इस रूप में नवीन अपने पूर्वज माखन लाल से नितांत भिन्न सिद्ध होते हैं। आज का समीक्षक अत्यंत प्रीतिकर आविष्कार करता है कि नवीन के काव्य में उस साधारण मध्यवर्गीय मन की भावनाएँ हैं जो दैववश असाधारणत्व के भँवर में उलझ गया है। वह क्षणिक आवेश में ताल ठोककर यह कहने की कोशिश तो जरूर करता है—

हम अनिकेतन, हम अनिकेतन
हम तो रमते राम हमारा क्या घर क्या दर; कैसा वेतन ?

पर यह उक्ति मात्र एक बाह्य भंगिमा या ऊपरी मुद्रा ही सिद्ध होती है क्योंकि दूसरे ही क्षण वह अत्यंत आग्रह से गा उठता है—

सुकुमार पधार खिलो टुक तो इस दीन गरीबिन के अँगना
हँस दो, कस दो रस की रसरी; खनका दो अजी कर के कँगना
तुम भूल गए कल से हलकी चुनरी गहरे रँग में रँगना
कर में कर थाम लिए चल दो रँग में रंग के अपने सँग—ना ?

और सामाजिक कर्तव्य एवं व्यक्तिगत कामना की इसी टकराहट में जब उनका मन क्षत विक्षत और दिग्भ्रमित होता है तभी क्षण भर के लिये उनके काव्य में वह भाव प्रकट होता है जो, बच्चन के शब्दों में, उन्हें हालावाद का प्रवर्तक करार देता है। ऐसी रचनाएँ अधिक नहीं हैं, पर उनकी कविता 'साकी' अत्यंत प्रसिद्ध ही नहीं, अत्यंत सफल है जो अपने प्रवाह में पाठक के मन को भी बहा ले जाती है और संयम के बंधन तोड़ने की उनकी कांक्षा से उसको सहानुभूति होने लगती है। एक अंश द्रष्टव्य है—

हो जाने दे गर्क नशे में, मत पड़ने दे फर्क नशे में
ज्ञान ध्यान पूजा पोथी के फट जाने दे वर्क नशे में
ऐसी पिला कि विश्व हो उठे एक बार तो मतवाला
साकी अब कैसा विलंब भर भर ला तन्मयता—हाला

पर इसी कविता का अंतिम बंद उनकी भावना का असली भेद खोल देता है। मदिरा के प्रति उनकी इस उत्कट और अधीर याचना का उद्देश्य यही

है कि 'डूबे जग सारा का सारा'। अर्थात् उनकी यह याचना किसी दुःख के भूलने अथवा गम गलत करने के लिये नहीं है, वे अपनी निभृत कामनाओं से, समाज की मर्यादाओं से और सांसारिक संघर्ष की भीषणता से घबराकर ही ऐसी याचना करते हैं। और ये रचनाएँ उनके सच्चे मन की रचनाएँ हैं, इसका एक भाषागत प्रमाण भी हमें मिल जाता है। इनमें उनकी शब्दावली अचानक ग्रामीण मुहावरों और उर्दू पदों को ग्रहण कर उठती है। उनके शुद्ध भाषाप्रयोगों से इन प्रयासों में अधिक सहजता और प्रभविष्णुता पाई जाती है।

अपने कर्मसंकुल जीवन में नवीन अपनी रचनाओं को सही समय पर सही ढंग से प्रकाशित कराने का अवकाश न पा सके। यही कारण है कि उनके काव्य का अभी तक कोई सम्यक् अध्ययन संभव नहीं हो सका है। वैसे भी, राष्ट्रीय आजादी के उपरांत अपेक्षया सुखी सुविधामयी स्थिति पाकर उनके काव्य का रंग भी समाप्त हो गया क्योंकि जिस तनाव में वे रचना करने के आदी थे वह समाप्त हो चुका था। फिर भी अपने अंतिम वर्षों में अपने निजी जीवन की विषमता के कारण एक बार उनके काव्य में नए स्फुरण का अवसर आया था। इस काल की उनकी सर्वोत्कृष्ट कविता 'यह अहिआलिंगित जीवन' एक ऐसे करुण परिताप से पूर्ण है जो नवीन के लिये भी नया है।

भगवतीचरण वर्मा (१९०३—)

नवीन के अंतरंग मित्रों में होते हुए भी भगवतीचरण वर्मा अपने काव्य में नवीन से भिन्न हैं। इसका प्रमुख कारण यही प्रतीत होता है कि वर्मा ने राजनीतिक कर्म की ओर कभी ध्यान नहीं दिया, उनका संघर्ष सदा निजी और व्यक्तिगत ही रहा। अत्यंत विषम परिस्थितियों में जन्म पाकर, शैशव में ही पिता की असामयिक मृत्यु के कारण प्रायः अनाथ के रूप में पल बढ़कर उन्होंने सबसे पहले समाज में अपना सही स्थान बनाने पर बल दिया और प्रायः इसी प्रयत्न में उनका सारा जीवन बीता। फलस्वरूप उनके दृष्टिकोण में एक ऐसा राजनीतिक तत्व आ समाया जो उन्हें माखनलाल और नवीन से अलग करता है। और यही कारण है कि उन्होंने राष्ट्रीय भावना की रचना प्रायः नहीं की। इस रूप में वे ठेठ मस्ती और जवानी के कवि हैं।

पर वर्मा पर उनकी सामाजिक राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव न पड़ा हो, ऐसा नहीं है। वे उनसे चाहे जितना कतराना चाहते रहे हों, पर परिस्थितियाँ उन्हें मुक्त करने को तैयार न थीं। इस कारण वर्मा के काव्य में—भाव और अभिव्यक्ति दोनों के स्तर पर ऐसी उक्तियाँ मिल जाती हैं जो उन्हें छायावादी कवियों के अत्यंत निकट ले आती हैं। एक उदाहरण लें—

पल भर परिचित वन उपवन
परिचित है जग का प्रति कन
फिर पल में वही अपरिचित
हम तुम सुख सुषमा जीवन
है क्या रहस्य बनने में ?
है कौन सत्य मिटने में ?
मेरे प्रकाश दिखला दो
मेरा खोया अपनापन !

यह उनके पहले कवितासंग्रह 'मधुकण' का एक अंश है जिसका प्रकाशन १६३२ में हुआ था। 'प्रताप' में वर्मा की कविताएँ १६१७ के आस पास से ही प्रकाशित होने लग गई थीं, गणेशशंकर विद्यार्थी; नवीन और प्रेमचंद जैसे राष्ट्रकर्मियों का उन्हें सांनिध्य प्राप्त हो चुका था, फिर भी उनका प्रारंभिक काव्य छायावाद की ही क्षीण प्रतिध्वनि प्रतीत होता है। इसका एक कारण यदि उनका अपने निजी सुख दुःख से उलझाव है तो दूसरा कारण अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव है। प्रयाग विश्वविद्यालय में बी० ए०, एल-एल० बी० तक की शिक्षा प्राप्त करनेवाले वर्मा अपने समय के हिंदी साहित्यकारों में सर्वाधिक सुशिक्षित व्यक्ति कहे जा सकते हैं। इस शिक्षा ने उनकी कामनाओं और सपनों पर आधुनिक वैयक्तिकता का गहरा रंग चढ़ाया तो उनके मन में एकाकीपन का वह भाव भी भरा जो लगातार उन्हें 'मैं' का प्रयोग करने पर विवश करता रहा। यद्यपि वर्मा की एक अत्यंत प्रसिद्ध रचना है—

हम दीवानों की क्या हस्ती
हैं आज यहाँ कल वहाँ चले

पर इसमें प्रयुक्त 'हम' अनजाने रूप में नवीन के प्रभाव का ही परिणाम है, वह उनका प्रतिनिधि प्रयोग नहीं है। प्रायः उसी समय की उनकी रचना है जिसमें यह 'मैं' उजागर हुआ है—

मैं एकाकी—है मार्ग अगम
है अंतहीन चलते जाना
नभ में व्यापकता का सँदेश
क्षिति में सीमा से टकराना
उजले दिन काली रातों में
लय हो जाते हैं हास रुदन
धुँधली बनकर इन आँखों ने
केवल सूनापन पहचाना

है उस जीवन का बोध असह
मैं निर्बलता से चूर प्रिये !
उर शंकित है, पग डगमग है
तुम मुझसे कितनी दूर प्रिये !

'मैं' की यह अभिव्यक्ति अन्य कवियों से भिन्न प्रकार की है क्योंकि यह इकाई अपने सामाजिक परिवेश से निःसंग दिखाई देती है। यह इस बात की भी द्योतक है कि नवीन के मन का द्वंद्व यदि सामाजिक और व्यक्तिगत साधनों के बीच के तनाव में निहित था तो वर्मा का द्वंद्व 'मैं' और 'बाकी दुनिया' के बीच के तनाव में निहित है। सन् १९४० में मेरठ साहित्य परिषद् में वर्मा ने जिस निबंध का पाठ किया था उसका शीर्षक इसीलिये 'मैं और मेरा युग' था, और यही कारण है कि हिंदी साहित्य में वर्मा अहंवादी लेखक कहलाते रहे हैं। वस्तुतः वर्मा अपने समय की सामाजिक हलचल को कर्मी अथवा योद्धा की भाँति 'जुझारू' रूप में नहीं देखते, वरन् उसे अपने सपनों के लिये एक विषम बाधा के रूप में, अपने से अलग एक अवांछित आरोपण के रूप में देखते हैं। यही दृष्टिकोण उनमें दैन्य और विवशता का बोध उत्पन्न करता है और उस हलचल को नियति के समकक्ष मानने पर बाध्य करता है। अपने सच्चे काव्य में वर्मा विद्रोही अथवा कर्मवीर के रूप में नहीं आते, वरन् सामाजिक गति के दबाव से चूर असहाय व्यक्ति के रूप में ही प्रकट होते हैं। द्रष्टव्य :

मेरे पैरों में गति, पलकों में है अतीत का अंधकार
मैं अपनी ही कमजोरी से टकरा जाता हूँ बार बार

उनकी सबसे बड़ी कामना यही है कि काश, उनके समय की परिस्थितियाँ कुछ भिन्न, कुछ सरल होतीं ताकि वे अपने सपने सच कर सकते ! पर उनसे जूझने का वे विचार नहीं करते; वे जानते हैं कि ऐसा संघर्ष उन्हें बिलकुल ही उखाड़ देगा, इसीलिये वे उन्हें नियति का पर्याय मानकर अपनी निर्बलता कबूल कर लेते हैं। यही नहीं, वे ऐसी आत्मदया भी प्रकट कर उठते हैं जो आधुनिक समीक्षक को विरत कर देती है—

मैं एक दया का पात्र अरे
मैं नहीं रंच स्वाधीन प्रिये।
हो गया विवशता की गति में
बँधकर हूँ मैं गतिहीन प्रिये।

अपनी हीनता का यह भाव वर्मा में इतना बद्धमूल है कि वे अपने लौकिक प्रणयभाव में उसे समाविष्ट कर देते हैं।

कल सहसा यह संदेश मिला
सूने से युग के बाद मुझे
कुछ रोकर कुछ मोहित होकर
तुम कर लेती हो याद मुझे !

जिस विध ने था संयोग रचा
उसने ही रचा वियोग प्रिये
तुमको हंसने का भोग मिला
मुझको रोने का रोग प्रिये !

सुख की तन्मयता मिली तुम्हें
पीड़ा का मिला प्रमाद मुझे
फिर एक कसक बनकर अब क्यों
तुम कर लेती हो याद मुझे !

रोमांटिक प्रणय के कवि होते हुए भी वर्मा में निबिड़ समर्पण की अनुपस्थिति का कारण यही विवश हीन भाव है। जिसे वे पाप पुण्य की समस्या का नाम देते हैं वह वस्तुतः योगभोग की समस्या है। उनका प्रारंभिक भावनाट्य 'तारा' और उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' इसे सिद्ध करता है।

और भोगयोग की यह टकराहट ही उनके मन में कभी 'जग की नश्वरता' का ज्ञान देती है और कभी ऐसे फक्कड़पन की ओर ले जाती है जब वे अपने सारे परिवेश से निवृत्त हो जाना चाहते हैं। उन्हें लगने लगता है कि सांसारिक जीवन में रहकर ज्ञान प्राप्त करना, कर्म करना, अथवा प्रेम में पड़ना, सब निस्सार है, सबको त्यागकर फकीर बन जाना ही उस तनाव को समाप्त कर सकता है जो उनके मन को मथता रहता है। नवीन से भी कहीं अधिक उत्कृष्ट रूप में वर्मा अपने आपको इस संसार में 'एकाकी' ही नहीं, 'पराया' और 'बिराना' अनुभव करते हैं। 'भैंसा गाड़ी', 'राजा साहब का वायुयान', 'ट्राम' आदि कविताओं में वे जिस सामाजिक चिंता और व्यंग्यशक्ति का परिचय देते हैं उसमें भी 'बिरानेपन' की यह निस्संगता और फक्कड़पन उपस्थित मिलता है। वस्तुतः वर्मा का समस्त काव्य सामाजिक कर्म से उपराम होने का तर्क बन जाता है। अपने ताजे वक्तव्यों में भी वे यही पुराना स्वर अलापते मिलते हैं—

चहल पहल की इस नगरी में हम तो निपट बिराने हैं
हम इतने अज्ञानी, निज को हम ही स्वयं अजाने हैं

इसीलिये हम तुमसे कहते
दोस्त, हमारा नाम न पूछो

हम तो रमते राम सदा के
दोस्त, हमारा गाम न पूछो
एक यंत्र सा जो कि नियति के
हाथों से संचालित होता
कुछ ऐसा अस्तित्व हमारा
दोस्त, हमारा काम न पूछो

यहाँ सफलता या असफलता, ये तो सिर्फ बहाने हैं
केवल इतना सत्य कि निज को हम ही स्वयं अजाने हैं

सामाजिक संघर्ष को अविचल नियति के रूप में देखना और उसमें योगदान के बजाय उससे विरत होकर, उसकी अनदेखी कर अपनी असहायता का रुदन करना, अथवा उस सबसे अपने आपको अलग कर अबूझ और पराया बन जाना ही वर्मा के काव्य का प्रमुख रूप है। इसमें संदेह नहीं कि क्षणिक उमंग में बहकर वे अत्यंत कोमल प्रणयभावों को भी प्रकट करते हैं और क्षणिक आवेश में संसार को ललकारने की भी सोचते हैं, पर उनकी स्थायी मुद्रा परायेपन और बेबसी की ही है, और क्योंकि इस मुद्रा के पीछे एक अत्यंत भावुक मन की उत्कट कामनाओं का संसार स्पंदित है अतः यह मुद्रा कभी भी बहुत विश्वसनीय नहीं हो पाती।

हरिवंशराय 'बच्चन' (१९०७)—

भोग और योग का ऐसा द्वंद्व बच्चन में नहीं है। उनके मन में पाप पुण्य की भी वैसी उथल पुथल नहीं है। यद्यपि बच्चन को अपने प्रारंभिक जीवन में प्रायः वैसे ही कष्ट उठाने पड़े और विषमताओं से वैसे ही दो चार होना पड़ा जैसे वर्मा को, तथापि बच्चन में उस आत्मदया या विवशता का जन्म नहीं हुआ जो वर्मा को निरंतर तंग करता रहा। इसका एक कारण तो है बच्चन की आर्यसमाजी पृष्ठभूमि, जिसके सुधारक रूप ने, ओछा ही सही, पर प्रगति का एक मार्ग दिखाया था। दूसरा कारण है असहयोग आंदोलन में बच्चन का भाग लेना, जिसके कारण उन्हें कुछ दिनों कारावास भी भोगना पड़ा। फलस्वरूप बच्चन के व्यक्तित्व में एक बलिष्ठता का समावेश हुआ और प्रायः वर्मा के समान परिस्थितियों में भी उनकी प्रतिक्रिया भिन्न हुई। बच्चन की प्रारंभिक रचनाओं में एक उत्कृष्ट और लंबी कविता है 'पगध्वनि' जिसका ठाठ बहुत कुछ छायावादी है। पर उसके अंतिम बंद में बच्चन स्पष्ट कर देते हैं कि वह केवल एक रूपक है—

उर के ही मधुर अभाव, चरण
बन स्मृतिपट पर करते नर्तन

गुंजित होता रहता मधुबन
मैं ही उन चरणों में नूपुर
नूपुर ध्वनि मेरी ही वाणी

इस बंद से हम अनायास ही बच्चन के काव्य का वास्तविक रहस्य समझ जाते हैं, उनकी कविता 'मधुर अभाव' की ही वाणी है। आगे चलकर उन्होंने फिर एक बार इस बात पर बल दिया कि—

मैंने पीड़ा को रूप दिया
जग समझा मैंने कविता की

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक बल और विश्वास के साथ बच्चन अपने अभावों और अपनी पीड़ा को अपने काव्य में व्यक्त कर सके। छायावादी प्रभाव के कारण संयम असंयम की जो उलझन और असमंजसता उनके पूर्ववर्तियों को घेरे रही, बच्चन ने उसका कोई बंधन स्वीकार नहीं किया। अपने आत्मपरिचय में उन्होंने यह स्वीकार किया कि उनपर जगजीवन का भार है पर उन्होंने यह भी बताया कि वे प्यार में डूबे हैं और जग की परवाह नहीं करते—

मैं जगजीवन का भार लिए फिरता हूँ
फिर भी जीवन में प्यार लिए फिरता हूँ
कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छूकर
मैं साँसों के दो तार लिए फिरता हूँ

और जगजीवन के भार के बावजूद इस प्यार को महत्व देने के कारण ही बच्चन को यह बल मिलता है कि वे अपना एक निजी संसार निर्मित कर सकें और उसे अपने साँसों के बल पर जीवित रख सकें। नवीन और वर्मा दोनों ने संसार से अपने परायेपन की बात कही, पर वह आवेशगत होने के कारण अर्धविश्वसनीय ही रही—बच्चन अपनी ऐकांतिकता अधिक संयत, अतएव प्रबल रूप में व्यक्त करते हैं—

मैं और, और जग और—कहाँ का नाता
मैं मिटा मिटा कितने जग रोज बनाता
जग जिस पृथ्वी पर भोगा करता वैभव
मै प्रति पग से उस पृथ्वी को ठुकराता!

अपने निजी संसार के प्रति यह मोह ही बच्चन को अंत में मधु की सृष्टि की ओर ले गया जिसके फलस्वरूप हिंदी में एक पूरे युग तक बच्चन और उनकी मधुशाला की धूम रही और बच्चन हिंदी के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

बच्चन का यह निजी संसार यौवन की भावना, प्रणय की आकांक्षा और वैयक्तिक स्वप्नों का संसार है जिसे वे मधुशाला और मदिरालय के प्रतीकों से व्यक्त करते हैं। बच्चन अपने समय इस भोले भ्रम के शिकार रह चुके हैं कि वे मदिरा का प्रचार करते हैं। पर धीरे धीरे यह स्पष्ट हो गया कि जिस मदिरा की वे बात करते हैं वह एक भावना है—यौवन, प्रणय और लालसा उसके अंग हैं। तन्मयता या बेहोशी मदिरा का सबसे बड़ा गुण है और अपने यौवन के संसार से वे जगजीवन के भार को निष्कासित करने के लिये ही मधु का प्रतीक अपनाते हैं। उन्होंने कहा—

भावुकता अंगूर लता से
खींच कल्पना की हाला

और इस प्रकार स्पष्ट किया कि भावातिरेक ही वह मधु है जिसका वे गान करते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि बच्चन की इस मधुचर्या में खैयाम की कविता का बहुत बड़ा हाथ है। उमर खैयाम की रुबाइयों का हिंदी अनुवाद तो पहले भी कई कवि कर चुके थे, पर जिस सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत परिवेश में बच्चन ने उसका अनुवाद प्रस्तुत किया वह तात्कालिक रूप से ऐसी निराशा में डूबा था कि मधु उससे बचने का अत्यंत सफल उपाय सिद्ध हुआ। यही कारण है कि अनुवाद के तुरंत बाद बच्चन ने 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' नामक तीन कविता-संग्रह प्रकाशित किए और समस्त विषमताओं का उत्तर जीवन, रूप और भावना के मधु से दिया। इसी के मिस उन्होंने कट्टर रूढ़ि-पंथियों, धर्मद्वेषियों और प्रगतिविरोधी शक्तियों की भर्त्सना की और स्वप्नदर्शी एवं साकांक्ष यौवन की ऐसी अप्रतिहत प्रतिमा प्रतिष्ठित की कि बच्चन के साथ यौवन का अनुषंग चिरस्थायी हो गया। आज भी हिंदी के पाठक बच्चन को यौवन का ही कवि लेखते है और जब वे वृद्धावस्था की सी भावना प्रकट करते हैं तो साधारण पाठक को कहीं गहरे में ठेस पहुँचती है।

प्रचलित प्रवाह के बावजूद बच्चन द्वारा प्रतिपादित यौवन रुग्ण अथवा अकर्मण्य यौवन नहीं है। वह अपने सपनों को साकार करने के लिये जूझने को उत्सुक है—

तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण

× × ×

आज अपने स्वप्न को मैं
सच बनाना चाहता हूँ
दूर की इस कल्पना के
पास जाना चाहता हूँ
चाहता हूँ तैर जाना
सामने अंबुधि पड़ा जो
कुछ विभा उस पार की
इस पार लाना चाहता हूँ

इस स्वर में कर्मठता तो है ही, इसकी लौकिकता भी द्रष्टव्य है जो छायावाद के अलौकिक आग्रह के प्रतिलोम में है। यही कारण है कि बच्चन को यह श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने छायावाद के प्रभाव में वायवीय हो जानेवाली हिंदी कविता को भूमि पर उतारा।

बच्चन अपना इसी कविता में आगे यह दावा करते हैं कि 'हों युवक डूबे भले ही, किंतु डूबा है न यौवन' और ऊर्ध्वबाहु होकर घोषणा करते हैं—

नाव नाविक फेर ले जा
अब नहीं कुछ काम इसका
आज लहरों से उलझने
को फड़कती हैं भुजाएँ

यह नाविक और कुछ नहीं, प्रसाद का ही नाविक है जो भुलावा देकर धीरे धीरे उस पार ले जा रहा था।

अपनी इसी बलिष्ठता के कारण बच्चन इस काल में अपने निंदकों और आलोचकों से जूझने में भी कसर नहीं रखते थे। वे ललकार कर कहते थे कि—

वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी

और कि

मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता!

इस उक्ति में छायावादी कवियों की ओर ही संकेत है जो अपनी युवा लालसाओं को गुप्त और अस्पष्ट रूप में ही व्यक्त होने देते थे।

इस प्रकार अपने हालाकाल में बच्चन एक ऐसे मधुसंसार का निर्माण करने में सफल हुए जो तात्कालिक दहन और वैषम्य के बीच एक सुरक्षित द्वीप के समान सिद्ध हुआ जिसमें कवि अपने मनोभावों को चरितार्थ कर सकता। 'मधुशाला' में बच्चन कुछ अप्रौढ़ रूप में प्रकट हुए हैं जिसके कारण उसमें

उच्छ्वास की मात्रा अधिक है। पर उस कच्चे रूप में भी एक लुभावनी शक्ति निहित है जो पाठक को और विशेषत: श्रोता को इस त्रस्त जगत से दूर कर उनके मधुसंसार में ले जाने में समर्थ होती है। 'मधुशाला' की रंगीनी और प्रगीतात्मकता यद्यपि गहरी नहीं है, अनुप्रास की अनगिनत आवृत्ति उसे अंत में एक युक्ति का ही रूप दे देती है, तथापि उसमें कवि का आग्रह इतना सच्चा है कि वह प्रभावित किए बिना नहीं रहती। उसकी तुलना में 'मधुबाला' और 'मधुकलश' अधिक प्रौढ़ कृतियाँ हैं। इसीलिये उनमें कोरी मादकता नहीं है, तर्क और व्यंग्य का भी अच्छा समावेश है। 'मधुबाला' की 'इस पार उस पार' शीर्षक प्रसिद्ध कविता मस्ती और यौवन का अभिनंदन तो है ही, वह उस पार की अपेक्षा इस पार के महत्व का भी गायन है। इसी संग्रह में बच्चन यह स्पष्ट करते हैं कि—

तेरा मेरा संबंध यही
तू मधुमय, औ मैं तृषित हृदय!

अपनी प्यास को तृप्त करने में सभी बाधाओं और मर्यादाओं को चूर चूर करने का आह्वान बच्चन का प्रतिपाद्य है। 'मधुकलश' इसी भाव का विस्तार है, यद्यपि उसमें 'मेघ' शीर्षक कविता सिद्ध करती है कि बच्चन का मधुसंसार अब विनष्ट हो रहा है, वह कितना ही मादक रहा हो, पर स्थायी नहीं है।

नरेंद्र शर्मा (१९१३)—

बच्चन के अनुवर्ती होकर भी नरेंद्र शर्मा के काव्य का पहला चरण बच्चन का ही सहचर रहा, और इसलिये यद्यपि उनकी अधिकाश रचनाएँ छायावादोत्तर प्रगतिवादी दौर में पड़ती हैं, तथापि उनका पूर्वरूप मस्ती और यौवन की काव्यधारा की परिणति का ही रूप है। एक प्रकार से नरेंद्र शर्मा का काव्य दो विभिन्न युगों की संधि पर प्रतिष्ठित है, और यह उनके काव्य के सामर्थ्य का ही प्रमाण है कि उनके बाद जो कवि हुए उनपर नरेंद्र शर्मा का उल्लेखनीय प्रभाव रहा। शमशेरबहादुर सिंह, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल आदि प्रयोगवादी कवियों ने उनके इस प्रभाव को सहज स्वीकारा है।

प्रयाग विश्वविद्यालय में अपनी शिक्षा दीक्षा पूरी करके नरेंद्र शर्मा ने सक्रिय राजनीति में रुचि लेना शुरू किया और उनकी जीवनचर्या ने कई विचित्र मोड़ लिए। ये घटनाएँ चर्चित युग से बाद की होने के कारण यहाँ विचारणीय नहीं हैं। नरेंद्र का प्रारंभिक काव्य उनके शैक्षिक जीवन के ही समय रचा गया था और हम यहाँ उसी पर दृष्टिपात करेंगे।

माखनलाल से लेकर बच्चन तक के सभी कवियों में—न्यूनाधिक रूप से—

अपने जनों का नेतृत्व करने की सी एक भंगिमा, द्रष्टा की सी एक मुद्रा पाई जाती है जो उनके काव्य को बहुधा उद्बोधनात्मक बना देती है और उनके काव्य में स्फीति और उच्छ्वास का पुट जोड़ देती है। पर नरेंद्र में युवावस्था तक आते आते देश की सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों में नेहरू की सक्रियता के कारण एक नया उत्साह और आशावाद आ समाया था जिसके कारण नरेंद्र शर्मा इस भंगिमा से अछूते रह सके। फलस्वरूप, नरेंद्र का काव्यव्यक्तित्व अधिक सहज और कोमल हो सका। वे मध्यवर्गीय मन की व्यक्तिगत कामनाओं और आकांक्षाओं को न तो विद्रोह का सा रूप देते हैं और न उनसे छुटकारा पाने के लिये बेचैन होते ही मिलते हैं। इस सहज स्वीकार के कारण नरेंद्र में प्रगीतात्मकता का आधिक्य मिलता है और वे अपने युवा नयनों से इस जीवन और जगत् के सौंदर्य को, निजी सपनों और आशा निराशाओं को उनकी अपनी विशेषताओं में देख सके हैं। नरेंद्र शर्मा पहले कवि हैं जिनकी रचना में हमारे साधारण जीवन के दैनिक कार्यकलाप भी महत्वपूर्ण स्थान पा जाते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में कच्चे सपनों की ताजगी और रंगीनी तो है, यौवन के सौंदर्य और प्रणय की लगन का मर्मस्पर्शी चित्र तो है, पर उस प्रकार की छद्म अथवा आयातित मस्ती अथवा मादकता नहीं है जो उनके पूर्ववर्तियों में मिलती है। और इसी कारण नरेंद्र प्राकृतिक दृश्यों की छोटी छोटी सुंदरताओं को भी शब्द देने में सफल हो जाते हैं। उनके प्रथम दो काव्यसंग्रह 'कर्णफूल' और 'शूलफूल' यद्यपि अशक्त रचनाओं से रहित नहीं थे, तथापि उनमें एक प्रीतिकर सादगी और ताजापन था जो युवा मन की रंगीनी को उसके प्रकृत रूप में ग्रहण कर सका था। बाद में नरेंद्र ने इन संग्रहों की श्रेयस्करी रचनाओं के साथ कुछ नई कविताएँ जोड़कर 'प्रभातफेरी' (१९३८) नामक संग्रह प्रकाशित कराया। अगले दो वर्षों में उनके दो और संग्रह प्रकाशित हुए 'प्रवासी के गीत' और 'पलाशवन'। तीनों ही संग्रहों में वे गुण भरपूर हैं जो नरेंद्र को अपने अल्हड़ और युवा मन को सहज रूप से अभिव्यक्त करने में सहायक होते हैं। इन संग्रहों में हमें पहली बार लौकिक प्रणयलीला के मनोरम और बेझिझक चित्र मिलते हैं; प्रणय का निवेदन, संयोग का माधुर्य, विरह की व्यथा। इन रचनाओं में यौवन का स्वरूप मांसल भी है और व्यर्थ की दार्शनिकता से भी मुक्त है। कुछ अंश द्रष्टव्य हैं :

गुन गुन प्रिय के गुणगण गाने
बन गया मधुपमन कर्णफूल

× × ×

तुम दुबली पतली दीपक की लौ सी सुंदर

मैं तुम्हें समेटे हूँ अपनी सौ सौ
बाहों में, मेरी ज्योति प्रखर

× × ×

आज न सोने दूँगी बालम
आज अभी से सो जाओगे
अभी नहीं सोए हैं तारे
उत्सुक हैं सब सुमन सेज के
एक तुम्हीं हो अधिक निंदारे
फूलों के तन से कस लूँगी
अलि से रैन निंदारे बालम

वियोग के दुःख की अभिव्यक्ति करते हुए नरेंद्र का लंबा गीत 'आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे' तो अपने समय में अत्यंत लोकप्रिय हो गया था।

इस सहजता के कारण नरेंद्र की भाषा बेधक और मार्मिक होते हुए भी बोलचाल की भाषा से बहुत दूर नहीं है। साथ ही उसमें वह ऊबड़खाबड़पन भी नहीं है जो माखनलाल अथवा नवीन ने प्रदर्शित किया था। नरेंद्र की शब्दावली कोमल और संयत है, वह न लड़खड़ाती है, न उफनती है। इसी प्रकार वे अपने उपमान, प्रतीक और बिंब भी अपने परिवेश से और अपने आस पास के जगत् से ले लेते हैं और उनमें एक नई व्यंजकता का योग करने में सफल होते हैं। दुःख और कष्ट की अभिव्यक्ति भी वे किसी गहन त्रास के रूप में नहीं, वरन् कोमल अवसाद के ही रूप में प्रस्तुत करते हैं—

अब तो तुम्हें और भी मेरी याद न आती होगी

× × ×

फिर फिर रात और दिन आते
फिर फिर आता साँझ सबेरा
मैंने भी चाहा, फिर आए
बिछुड़ा जीवनसाथी मेरा
पर मेरे जीवन का साथी
छूट गया सो छूट गया।

ऐसा ही कोमल, सहज स्पर्श उनके प्रकृतिचित्रों में है :

पकी जामुन के रँग की पाग
बाँधकर आया सो आषाढ़

× × ×

शांत है पर्वत समीरण, मौन है यह चीड़ का वन भी
बालकों की बात सी आई गई सी हो गई है बात

× × ×

मैंने देखा मैं जिधर चला
मेरे सँग सँग चल दिया चाँद

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि नरेंद्र में भावों की गहराई तो है पर उसमें आवेश का वेग नहीं है। निराशा अथवा दुःख में भी वे पागल नहीं होते, अथवा विस्मृति नहीं खोजते, वरन् अपने मन को प्रबोध देकर धीरज देने लगते हैं। अपने इन्हीं गुणों के कारण नरेंद्र अपने समसामयिक युवकवर्ग का बड़ा सच्चा प्रतिनिधित्व कर सके हैं। और यही कारण है कि सन् १६४० के आस पास ही वे अपने समय की प्रवृत्तियों और तनावों में पड़कर काव्य के उस पथ पर पहुँच जाते हैं जो कर्म और संघर्ष की ओर जाता है। वे पहचान जाते हैं कि व्यक्तिवाद का जो स्वरूप उनके मन में है वह अकेले रहकर सार्थकता नहीं पा सकता और इसलिये वे बृहत्तर सामूहिक जीवन की ओर आकर्षित हो जाते हैं। और इस प्रकार वे इस धारा के अंतिम प्रमुख कवि सिद्ध होते हैं।

कुछ अन्य कवि

ऊपर जिन कवियों की चर्चा की गई है, उनके अतिरिक्त कुछ और भी कवि हैं जिन्होंने इस काव्यधारा में उल्लेखनीय योगदान किया है, यद्यपि नाना कारणवश उनकी काव्यचर्चा उपलब्धि के शिखर तक पहुँचने में असमर्थ रही। वस्तुतः प्रत्येक काव्यधारा में ऐसे अनेक कवियों का स्वभावतः सहयोग होता है जो समकालीन परिस्थितियों के प्रति समान प्रतिक्रिया करते हुए उस धारा को आगे बढ़ाने में सहायक तो होते हैं पर जिनका निजी वैशिष्ट्य इतना प्रबल नहीं हो पाता कि वे धारा में दूर से ही चमक सकें। मस्ती और जवानी के इन कवियों में उल्लेखनीय हैं : गोपालसिंह नेपाली (१९०२), हृदयनारायण 'हृदयेश' (१६०५) हरिकृष्ण प्रेमी (१६०८), पद्मकांत मालवीय (१६०८) और रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' (१६१५)। इस प्रकार अपने आविर्भावक्रम से भी ये पूरे छायावाद युग में बिखरे हैं। वस्तुतः अंचल तो नरेंद्र शर्मा की ही भाँति अगले युग में भी सार्थक काव्यसर्जन में रत रहे।

गोपालसिंह नेपाली ने यद्यपि अपेक्षया कुछ देर से ही काव्यरचना आरंभ

की, उनका प्रथम काव्यसंग्रह 'उमंग' १९३४ में ही प्रकाशित हुआ, तथापि भाषागत रंगीनी और चित्रात्मकता के कारण, भावगत मस्ती और सचाई के कारण एवं अपनी सुमधुर शैली के कारण वे अपने समय के अत्यंत लोकप्रिय कवि रहे और उनके गीन पहले कविसम्मेलनों में और फिर चलचित्रों में श्रोताओं को मुग्ध करते रहे। वस्तुतः लोकप्रियता ही एक प्रकार से उन्हें काव्यपथ पर ऊँचे चढ़ने से रोकती रही क्योंकि वे अपनी रचना को तत्कालीन अपढ़ जनता के स्तर तक रखने को बाध्य रहे। उनकी रचनाओं में यौवन की उमंग और मादकता का स्वच्छंदवादी रूप तो मिलता ही है; उनमें प्राकृतिक सुषमा के भी अत्यंत रमणीय चित्र मिलते हैं। उनके गीतों में सरल प्रतीकों और लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा प्रणयप्रसंगों का सरस वर्णन हुआ है।

'हृदयेश' की काव्यचर्चा दीर्घ काल में फैली हुई है, पर उनके काव्य को कभी एकांत वैशिष्ट्य उपलब्ध न हो सका। वे उर्दू के भी अधीत विद्वान् हैं और संस्कृत के भी। यही नहीं, उन्होंने अपने युग में प्रचलित प्रायः सभी काव्यशैलियों में रचना की है, पर यह वैविध्य उनके अपने व्यक्तित्व की निजता स्थापित करने में सहायक न हो सका। उर्दू के छंदों का भी उन्होंने यथेष्ट प्रयोग किया पर उनकी रचनाओं में उर्दू की बेधकता का प्रायः अभाव रहा। उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ वे ही हैं जिनमें जीवन की करुणा को प्रगीत रूप मिला है। उन्होंने कुछ रचनाओं में हालावादी भावना भी प्रकट की है।

हरिकृष्ण प्रेमी हिंदी साहित्य में प्रायः नाटककार के रूप में ही प्रसिद्ध हैं यद्यपि उन्होंने अपनी चर्या का प्रारंभ काव्यरचना से ही किया था। राष्ट्रभक्त परिवार में जन्म पाकर उन्होंने देशभक्ति की भावना भी ग्रहण की और कुछ दिनों माखनलाल चतुर्वेदी के साथ संपादनकार्य भी किया। फलस्वरूप उनके काव्य में लौकिक प्रणय की कसक और यौवन की मादकता का सहज ही समावेश हो गया। पर वे अपनी काव्यरचनाओं में किसी एक ही प्रवृत्ति में बँधकर न रह सके और कई दिशाओं में प्रयत्न करते रहे। उनके काव्यसंग्रहों में 'आँखों में' (१९३०) का विशिष्ट स्थान है जिसमें उनके उपनाम के ही अनुरूप प्रेम की वेदना को मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है। उनकी कविता में व्यथा का अतिरेक है और आत्मसमर्पण की विकलता। प्रेमी वस्तुतः प्रणयनिवेदन के ही कवि हैं। उनकी शैली और शब्दयोजना छायावाद के ही आसपास मँडराती रहती है, यद्यपि छायावाद की सूक्ष्मता और तिर्यक् बेधकता का उसमें अभाव है। फिर भी उसमें साहस और संकल्प की झलक अवश्य मिलती है। यथा :

पत्थर के टुकड़े में भी तो
मिलता प्रियतम का आभास

उठा हृदय पर रख लेता हूँ
करता रहे जगत् उपहास

पद्मकांत मालवीय का संबंध ऐसे परिवार से रहा है जिसे राष्ट्रीय गौरव का वरदान मिला है। परंतु मालवीय की प्रमुख उपलब्धि पत्रकारिता के ही क्षेत्र में हुई और 'अभ्युदय' का संपादन कर उन्होंने अपने समय के राजनीतिक आंदोलन में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान किया। काव्य के क्षेत्र में भी उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया जब अपने समय के नैराश्यपूर्ण वातावरण में उन्होंने उमर खैयाम के हालावाद से प्रेरणा पाकर स्वयं भी उसी प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। सरल, उर्दूमिश्रित शैली में मन के भावों की स्वच्छंद अभिव्यक्ति हमें उनके संग्रह 'प्याला' में उपलब्ध होती है। तथापि काव्यसर्जन में पद्मकांत कुछ अन्यमनस्क ही रहे और हालावाद के प्रवर्तकों में होकर भी अपने काव्य को किसी विशिष्ट स्तर पर न पहुँचा सके।

चर्चित काव्यधारा के अंतिम चरण में प्रकट होकर भी अंचल ने एक ऐसे वेग और बल का प्रमाण दिया जो उनका विशिष्ट अवदान बना। उनकी रचनाओं में यौवन की उद्दामता और प्रणय की उत्कट वासना को बड़ी ही मांसल और आग्रहपूर्ण अभिव्यक्ति मिली है। पर इन गुणों के ही कारण अंचल की रचनाओं में एक प्रकार की स्फीति और पुनरावृत्ति भी मिलती है और उनकी एक कविता से दूसरी को भिन्न करना कठिन हो जाता है। अंचल मुख्यतः प्रेम के नहीं, तृष्णा के कवि हैं; उनकी भंगिमा निवेदन अथवा समर्पण की नहीं, आग्रह की होती है। उनमें एक प्रकार की आक्रामकता है जो उनके काव्य में कोमल भावों की अभिव्यक्ति को भी ओजपूर्ण कर देती है। यही कारण है कि वे नरेंद्र शर्मा के समवर्ती होकर भी उनसे इतने भिन्न हैं। उनके मनोगगन में मानों सर्वदा लालसा का अंधड़ चक्कर लगाता रहता है जो उन्हें अस्थिर और अधीर किए रहता है। उनकी शब्दयोजना भी उसी प्रकार आवेशमयी होती है। कोमल करुण भाव अथवा सांकेतिकता के उनकी रचनाओं में कभी कभी ही दर्शन होते हैं। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि तृषाकुल मन के मंथन को रूप देने में वे काफी सफल हुए हैं।

विवेच्य काल के छोर पर प्रकाशित अंचल के दोनों काव्यसंग्रह—मधूलिका (१९३८) और 'अपराजिता' (१९३९)—में उनकी रचना की ये विशेषताएँ सहज ही पहचानी जा सकती हैं। यौवन की तृष्णा, यौवन का उन्माद और वासना की प्रखरता यदि इन संग्रहों की कविताओं को प्यार देती है तो लंबे लंबे छंदों का प्रयोग, शब्दों का घटाटोप और बाह्य क्रियाकलाप एवं दैहिक रूप पर उनका बलाघात यह सिद्ध करता है कि ये कविताएँ प्रेम की कविताएँ न होकर,

मन के अंधड़ की कविताएँ हैं। कहीं कहीं तो अंचल का स्वर इतना अतिरंजित हो जाता है कि उनकी रचनाओं में प्रणय की अनुभूति की अपेक्षा अतृप्त प्रणय की ललक ही प्रकट होती है। प्रेयसी को देखते ही कवि कह बैठता है—

एक पल के ही दरस से
जग उठी तृष्णा अधर में ('मधूलिका')

यह अभिव्यक्ति अपने भौतिक खुलेपन में यदि आग्रहशील है तो वासना के उन्माद का प्रकाश होने के कारण क्षणिक और एकांगी है। वस्तुतः अंचल अपने काव्य में सर्वत्र इसी भंगिमा का सहारा लेते हैं तथा मस्ती और मदिरा की चर्चा करते समय भी अतृप्ति और अभाव को नहीं भूल पाते। 'अपराजिता' की एक कविता में वे अचानक अपना स्वर बदलकर कुछ अंतर्मुख हो जाते हैं और तब उनके मन का सच्चा भाव स्पष्ट हो जाता है—

कौन शून्यता दूर करे जो अंतर में घिरती आती
इतना प्यार भरा घर घर में किंतु तृषित मेरी छाती
जब घर का सूना सा आलम हाल हिए का क्या कहिए
बिना पिए तूफान उमड़ता, पीकर प्रिये कहाँ रहिए !

यहाँ अंचल का वह शाब्दिक समारोह सहसा तिरोहित होता सा जान पड़ता है। अन्यत्र वे अपनी प्रेयसी के रूपवर्णन और हाव-भाव-चित्रण में जिस प्रकार धरती आसमान एक कर देते हैं और अपनी आकांक्षा की वेदी पर अपना सारा काव्यसंसार चढ़ाते दिखाई पड़ते हैं वह कितनी बड़ी आत्मवंचना है, यह इस कविता से स्पष्ट हो जाता है।

एक प्रकार से अंचल इस प्रवृत्ति की परिणति के भी बड़े सटीक उदाहरण हैं। सामाजिक यथार्थ से जूझने और वैयक्तिक आकांक्षाओं को सिद्ध करने के लिये कवियों का जो दल इस पथ पर आ निकला था उसे धीरे धीरे यह पता चल गया कि वह एक निजी संकीर्णता में घिरता जा रहा है और बाहरी यथार्थ के आगे नितांत अवश एवं असहाय होता जा रहा है। कुछ दिनों तक तो उसने मस्ती अथवा ऐकांतिकता की मुद्रा अपनाकर अपने आपको भुलावे में डालने की चेष्टा की पर शीघ्र ही वह जान गया कि उसकी निजी एवं वैयक्तिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये भी सामाजिक क्रांति आवश्यक है। यही कारण है कि जब १६३८–४० के आस पास हिंदी में प्रगतिशील प्रवृत्ति का दौर चला तो अंचल, नरेंद्र शर्मा और शिवमंगल सिंह 'सुमन' जैसे प्रणय और यौवन के कवि तुरंत ही उस नए पथ पर चल पड़े एवं पीड़ितों और शोषितों के प्रति सहानुभूति प्रकट

करने में बड़े उत्साह से जुट गए। उनके काव्य में यह आकस्मिक मोड़ उनके मन की रंगीनी की कलई खोल देता है। प्रगतिवाद ने जिस काव्यप्रवृत्ति को पलायनवाद का नाम दिया था वह छायावादी कवियों में नहीं अपितु चर्चित प्रवृत्ति के कवियों में ही प्रकट हुई थी।

— —

सप्तम अध्याय

हास्य-व्यंग्य-काव्य

भारतीय आचार्यों द्वारा निर्धारित नौ रसों में हास्यरस प्रमुख रस के रूप में प्रतिष्ठित है। विदेशी विद्वानों ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर हास्यरस के पाँच भेद किए हैं—विनोद (ह्यूमर), व्यंग्य (सैटायर), व्याजोक्ति (आयरनी), चमत्कारिक विनोदवचन (विट), प्रहसन (फार्स)। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हास्य को मन का आवेग मात्र माना है—'हास्य' भाव के आश्रयगत होने पर श्रोता या दर्शकों को भी रसरूप में हास्य की अनुभूति होती है। हास्य के अंतर्गत व्यंग्य, ताना, हाजिरजवाबी, प्रहेलिका, अतिशयोक्ति, कैरीकेचर, श्लेष आदि सभी चीजें आती हैं जिनमें सबसे महत्वपूर्ण व्यंग्य है।

सन् १९१८-१९३८ की अवधि में पत्रपत्रिकाओं तथा काव्यकृतियों में प्रकाशित हास्य-साहित्य-पर दृष्टिपात करने से लगता है कि हिंदी का हास्यसाहित्य उतनी संतोषप्रद गति से विकसित नहीं हुआ जितनी तीव्र गति से साहित्य की अन्य विधाओं में साहित्यकारों ने सर्जन के नए आयाम खोले हैं। फिर भी, इतना निश्चित है कि तत्कालीन हिंदी कवियों को विशुद्ध हास्यरस की ओर भी रचनात्मक प्रवृत्ति हुई है और भारतीय जीवन की अनेक समस्याओं की व्यंग्यानुभूति उनकी रचनाओं में विविध शैलियों में व्यक्त हुई है। सामान्यतः इस युग के हास्य-व्यंग्य-कवियों के तीन चार वर्ग किए जा सकते हैं। पहला वर्ग तो ऐसे कवियों का है जिन्होंने मुख्य रूप से हास्यव्यंग्य की कविताएँ लिखी हैं। इनमें प्रमुख हैं—ईश्वरीप्रसाद शर्मा, हरिशंकर शर्मा, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', बेढब बनारसी, अन्नपूर्णानंद, कांतानाथ पांडेय 'चोंच', बेधड़क बनारसी, शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' आदि। दूसरे वर्ग में वे कवि आते हैं जिनका काव्यक्षेत्र विस्तृत है और जिन्होंने उसी के अंतर्गत प्रसंगतः हास्य-व्यंग्य-काव्य की रचना की है—उदाहरण के लिये हरिऔध, भगवानदीन, श्रीनाथ सिंह आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इसी वर्ग में कुछ ऐसे कवियों की भी गणना की जा सकती है जिनका कार्यक्षेत्र भिन्न रहा है, परंतु मौज मस्ती के क्षणों में जिन्होंने हास्यव्यंग्य के द्वारा अपना और दूसरों का मनोविनोद किया है—जैसे जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, श्रीनाथ सिंह आदि। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से प्रख्यात और अल्पख्यात कवि हैं जिनकी अनेक प्रकाशित रचनाएँ नागरीप्रचारिणी सभा के संग्रहालय में विद्यमान हैं, परंतु जिनका साहित्यिक कृतित्व विशेष उल्लेखनीय नहीं है।

कालक्रम की दृष्टि से हास्यव्यंग्य के कवियों में पहला नाम आता है श्री ईश्वरीप्रसाद शर्मा का। वे इस युग के प्रतिष्ठित व्यंग्यकार थे। उनकी अधिकांश कविताएँ सुप्रसिद्ध पत्रिका 'मतवाला' में 'विनोदव्यंग्य' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुई थीं और उनमें जनचेतना तथा जिंदादिली का समावेश था। उन्होंने हिंदी हास्य-व्यंग्य-कविता में पहली बार मनचले अनियंत्रित भारतीय युवकों और भारत की भोली भाली जनता के ठेकेदार नेताओं पर करारा व्यंग्य किया। उन्होंने धर्मग्रंथों को भी, जिनके हाथ में समाज की नकेल थी, अपनी विनोदभरी कविता का विषय बनाया। वास्तव में उनकी कविताएँ हास्यव्यंग्य के साथ ही नए विचारों की स्पष्ट झलक देती हैं। शर्मा जी को लोग मनोरंजनमूर्ति कहा करते थे। उनकी रचनाएँ 'मतवाला', 'मौजी', 'गोलमाल', 'भूत', 'मनोरंजन' और 'हिंदू पंच' नामक हास्यरस की पत्रिकाओं में बराबर प्रकाशित हुआ करती थीं—'मनोरंजन' के तो वे संपादक ही थे। उनकी हास्यरसात्मक कविताओं के संकलन 'चना चबेना' (१९६१ वि०) को शिवपूजन सहाय ने सरस साहित्य माला प्रकाशन, आरा से प्रकाशित किया था। शर्मा जी के अचानक निधन के कारण उनकी दूसरी हास्य-व्यंग्य-कृति 'कचालू रसीला' का प्रकाशन नहीं हो सका। 'चना चबेना' में कुल ४७ कविताएँ हैं जिन्हें लेखक ने 'कविताएँ' कहा है। ये कविताएँ रंगीली, रसीली, चटकीली, नुकीली, भड़कीली और जोशीली हैं और इनमें कड़वापन, कसैलापन, खारापन, गँवारपन सब कुछ इतनी सहजता के साथ अंकित हुआ है कि शर्मा जी के व्यंग्य को हिंदी में अपने ढंग का अनूठा कहा जा सकता है। इन कविताओं के विषय और आलंबन जो लोग बने हैं, उनपर हँसी, प्रीति और विनोद के साथ ही करुणा तथा सहानुभूति भी उत्पन्न होती है। विनोद के बहाने कवि ने खरी खरी दो टूक बातें कही हैं। पिता-पुत्र-संवाद, आजकल के दंपति, आजकल की गृहस्थी, कलयुगी संत, महंत रामायण, चौपट का नगाड़ा, दाढ़ी-चोटी-संमेलन, लीडर अवतार, रिलीफ कमेटी, सुधरी हुई स्त्रियाँ, नई रोशनी, स्वराजी, आत्मप्रशंसा आदि कविताओं में युग की मनोदशा की खिल्ली उड़ाई गई है जो समाज को कर्तव्यनिष्ठ बनानेवाली है। विविध सामाजिक व्यंग्य, जो 'चना चबेना' में हैं, उन्हें देखकर कहा जा सकता है कि जिन आलोचकों ने यह मान लिया है कि इस युग में हास्यव्यंग्य की धारा क्षीण हो गई थी, वे भ्रम में हैं।

'चना चबेना' में भावानुभूति के साथ ही भाषा का तीखापन भी द्रष्टव्य है। हास्य के लिये विवेक का प्रयोग आवश्यक है। जितनी ही तीव्र चेतनासंपन्न बुद्धि होगी, व्यंग्य उतना ही पैना होगा। उदाहरणस्वरूप तत्कालीन संपादकों के प्रति शर्मा जी का निम्नलिखित व्यंग्य देखिए ;

हिंदी में संपादक बनना काम बड़ी आसानी का।
चलती नाव यहाँ बालू पर काम नहीं है पानी का।
बिना फिटकरी या हल्दी के रंग यहाँ चोखा आता।
बुद्धू भी साहित्यक्षेत्र में अपनी धाक जमा जाता।
इसीलिये भरमार हुई है ग्रंथों औ अखबारों की।
गुजर हुई संपादक दल में कोरे लंठ लबारों की।।[1]

पंडित हरिशंकर शर्मा इस युग के एक अन्य सफल हास्य व्यंग्यकार हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में हिंदुओं की अकर्मण्यता और शोचनीय अवस्था पर तीखे व्यंग्य किए हैं। 'चिड़ियाघर' और 'पिंजरापोल' शीर्षक गद्यकृतियों में उनकी कुछ हास्यव्यंग्यात्मक कविताएँ और विडंबनकाव्य संकलित है। उनके व्यंग्यचित्रण में वैविध्य है—समाजसुधार के नाम पर स्वार्थ सिद्ध करनेवाले नेताओं, दूसरों की रचनाओं को अपने नाम से छपवानेवाले कवियों, देशभक्ति के नाम पर कांग्रेस की जाली सदस्यता आदि विषयों को आधार बनाकर उन्होंने असामाजिक तत्वों का व्यंग्यात्मक उपहास किया है। 'कोरा गायक कवि' शीर्षक कविता में शर्मा जी ने ऐसे कवियों की खिल्ली उड़ाई है जो तुकबंदी और गलेबाजी के सहारे कविताकामिनी के नायक बन बैठते है :

छंदों की छाती पर प्रहार,
रस कहाँ, बरसती विषफुहार
कैसी ध्वनि कैसे अलंकार,
केवल स्वर बना सहायक है
तू कवि या कोरा गायक है।
पद हैं दो तीन सुनाने को
खुश करने धाक जमाने को
धन पाने कीर्ति कमाने को
सूझी विधि क्या सुखदायक है
तू कवि या कोरा गायक है।[2]

कवि ने आधुनिक युग की शिक्षाव्यवस्था, स्वार्थप्रेरित व्यापारवृत्ति लीडरी, धर्मक्षेत्र के पाखंड, भ्रष्टाचार, चोरबाजारी आदि पर व्यंग्य करते हुए सामाजिक

[1] चना चबेना, पृ० १००।

[2] हास परिहास, संपादक : बेढब बनारसी तथा सुधाकर पांडेय, पृष्ठ १४०।

चेतना जागृत करने में अप्रत्यक्ष रीति से पर्याप्त योग दिया है। उनकी हास्यव्यंग्य कविताओं में निश्चित रूप से पैनापन मिलता है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' भी इस युग के प्रसिद्ध व्यंग्यकार हैं। १९२१-१९२४ ई० तक 'आज' में 'ऊटपटाँग' शीर्षक से व्यंग्यविनोद का कालम लिखने के साथ ही उन्होंने 'मतवाला', 'भूत' आदि पत्रिकाओं में भी अनेक व्यंग्यकविताएँ लिखीं जो इस युग के हास्यसाहित्य की अतुल निधि हैं। समसामयिक सामाजिक विडंबनाओं के प्रति व्यंग्य इनकी उल्लेखनीय काव्यप्रवृत्ति है—रचनात्मक व्यंग्य की वैसी तीव्र प्रेरणा न छायावाद में मिलती है और न रहस्यवाद में। अपने युग के जिन पात्रों और प्रवृत्तियों को कवि ने व्यंग्य का आलंबन बनाया है, वे कम रोचक नहीं हैं। यद्यपि इस युग में कवियों में पैरोडी लिखने की होड़ सी दिखाई पड़ती है, फिर भी उग्र की पैरोडियों में समाज की यथार्थ दशा का जैसा सत्य और प्रखर स्वरूप अंकित हुआ है वह अन्य कवियों में दुर्लभ है। उदाहरणार्थ तुलसी के वर्षावर्णन की यह अनुकृति देखिए :

घन घमंड नभ गरजत घोरा। असहयोग को मांनहुँ सोरा ॥
दामिनि दमक रही घन माहीं। माडरेट मति जिमि थिर नाहीं ॥
बरषहिं जलद भूमि नियराए। जिमि नव पुलिस रुपैया पाए ॥
बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे। हैली वचन सहत हम जैसे ॥[१]

उग्र अपनी कविताओं की अनोखी शैली के लिये विख्यात हैं। उन्होंने समाज की कलुष वासना और यांत्रिक मानवता पर प्रहार करनेवाली मार्मिक व्यंग्योक्तियों की रचना की है। छंद की दृष्टि से नई पुरानी विभिन्न छांदसिक प्रवृत्तियों का प्रयोग भी उनकी सहज प्रवृत्ति है।

बेढब बनारसी फारसी और उर्दू की हास्यपद्धति पर कविता करनेवाले व्यंग्यकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने उर्दू के विविध छंदों का प्रयोग किया और अपनी अधिकांश कविताएँ गजल और शेर की शैली में लिखीं। उन्हें अँग्रेजी का भी अच्छा ज्ञान था, इसलिये उनकी कविताओं में अँग्रेजी हास्यव्यंग्य की बारीकी भी मिलती है। उनके व्यंग्यकाव्य में जो सजीवता और चुस्ती मिलती है उसे लक्षित कर रामनरेश त्रिपाठी ने उनकी तुलना अकबर इलाहाबादी से की है। उनके अनुसार, 'बेढब जी ने अकबर के मार्ग को सूना नहीं जाने दिया और कहीं कहीं तो व्यंग्य कसने में वे अकबर से आगे बढ़ गए हैं।' बेढब जी की मान्यता थी कि व्यंग्योक्तियों से केवल मन में गुदगुदी पैदा नहीं होती, अपितु

१ आज (दैनिक), ४ अगस्त १९२३, पृष्ठ २, कालम ४।

उनसे संसार में बड़े बड़े सुधार और उपकार हुए हैं। वे व्यंग्य को हास्य की आत्मा मानते थे। १९२० से १९६७ ई० तक वे युग की परिवर्तित परिस्थितियों में निरंतर अपनी कविता द्वारा विनोद की व्यापक सामग्री देते रहे। उनकी कविताओं में प्रत्युत्पन्नमतित्व के साथ ही भावों का सटीक सार्थक प्रयोग मिलता है जिससे बरबस ओठों पर स्मिति फैल जाती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

लेके डिगरी यह समझते थे कि होंगे डिपटी
अब तो यह भी नहीं है चांस कि दरबाँ होंगे
लाट ने हाथ मिलाया है जो मौलाना से
रश्क पंडित को है अब वह भी मुसलमाँ होंगे
बाद मरने के मेरे कब्र पर आलू बोना
हश्र तक यह मेरे ब्रेकफास्ट के सामाँ होंगे
उम्र सारी तो कटी घिसते कलम ए बेढब
आखिरी वक्त में क्या खाक पहलवाँ होंगे।[१]

बेढब जी ने अपनी कविताओं में युग, समाज, धर्म सभी पर व्यंग्य किए हैं। उनमें जनता की चित्तवृत्तियों की सच्ची परख करने की क्षमता और मनोवैज्ञानिक दृष्टि की गहराई है। भाषा को संस्कृतनिष्ठ न रखकर उन्होंने अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों, उर्दू के लफ्जों, मुहावरों आदि का धड़ल्ले से प्रयोग किया है। वास्तव में उनकी कविताओं में अनुभव की गहराई, निर्भीकता, व्यंग्य की व्यावहारिकता, वक्रोक्तिमयी चुस्त शब्दावली और उपमाओं का सुंदर प्रयोग मिलता है। बेढब जी की कविताओं में युवावस्था की अल्हड़ता की मस्ती शुरू से अंत तक बिखरी पड़ी है। वे हास्यरस के सिद्ध कवि हैं। उन्होंने कवित्त, सवैया, दोहा तथा उर्दू के बहर तक में व्यंग्यकाव्य की सफल रचना की है।

बेढब जी के समसामयिक कवियों में अन्नपूर्णानंद विशेषतः उल्लेखनीय हैं–उन्होंने विलवासी मिश्र और महाकवि चच्चा के नाम से कविताएँ की हैं। उनकी कविताओं का कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है, परंतु उनकी गद्यरचनाओं में स्थान स्थान पर हास्यकविता के भी अच्छे उदाहरण मिलते हैं। उनकी कविताएँ समाजसुधार की आकांक्षा से प्रेरित हैं—इस संदर्भ में उन्होंने पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव, बनावटी फैशनपरस्ती, हाकिम हुक्कामों के सामने दुम दबाने की मनोवृत्ति आदि पर तीखे व्यंग्य किए हैं। उनकी कविताओं में प्रकट होनेवाला हास्य मन को नीरसता और एकाग्रचित्तता से मुक्ति दिलानेवाला है, इसीलिये आचार्य

[१] जागरण, ११ फरवरी १९३२, 'अनोखी उक्तियाँ' शीर्षक कविता।

रामचंद्र शुक्ल ने उनके हास्य को सुरुचिपूर्ण कहा है।[१] विशेषता यह कि उनकी भाषा उच्छृंखल न होकर समयोचित और व्यावहारिक है। उदाहरणस्वरूप देश-दुर्दशा के संबंध में यह कुंडलिया देखिए :

जी जाने जैसी जरै उर अंतर यह आग।
भारत सी या भूमि को कैसो भयो अभाग ॥
कैसो भयो अभाग काग भोगैं इंद्रासन।
हंसन ठिकरा चुनैं धुनैं सिर कोपैं त्रासन ॥
बल बिक्रम ब्यापार बुद्धि वैभव सब छीजा।
सार भए हम आज रहे हम जिनके जीजा ॥[२]

अन्नपूर्णानंद जी की कविताओं की अपनी शैली है। उन्होंने समाजसुधारकों, साहित्यकारों, राजा महाराजाओं आदि के अहंकार और पाखंडी मनोवृत्ति का व्यंग्यमूलक चित्रण किया है। वर्तमान दूषित शिक्षाप्रणाली के प्रति भी उन्होंने गहरा असंतोष प्रकट किया है। उनके काव्य में विशुद्ध हास्य का सर्जन हुआ है और उनकी व्यंग्योक्तियाँ भी रोमांचक और मनोरजक हैं।

शिवरत्न शुक्ल कृत 'परिहासप्रमोद' (१९३० ई०) भी इस युग की हास्य रस की उल्लेखनीय कृति है। शुक्ल जी धार्मिक मनोवृत्ति के कवि थे—आर्यों द्वारा प्रतिपादित सामाजिक धार्मिक विधानों से विमुख होकर पश्चिमी सभ्यता की ओर अनवरत गति से बढ़ते चलना उन्हें अनुचित लगता था। इस संबंध में अपनी प्रतिक्रियाओं को उन्होंने हास परिहास तथा व्यंग्य के माध्यम से प्रकट किया है। 'परिहास-प्रमोद' की कविताएँ तत्कालीन प्रमुख पत्रिकाओं— आलोक, मनोरमा, सुधा, माधुरी आदि—में 'बलई' नाम से प्रकाशित हुई थीं। पद्य के बीच में कहीं कहीं छोटे छोटे गद्यखंड भी हैं। इस संग्रह की कविताओं में पितरों का पत्र, नए लेखक और नए कवि, मेम मेहरिया, शौकीन रईस, आधुनिक शिक्षित महिला, कौंसिल के उम्मीदवार, बनारसी ठाट, ब्राह्मण, सिखंडी सरदार, संपादक, परदा, विधवाविलास आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें विनोदात्मक शैली, हास्यमनोविज्ञान, नवीनता और तीक्ष्णता है। कवि ने दोहा, सवैया, छप्पय, कवित्त आदि प्राचीन छंदों से लेकर अति आधुनिक अतुकांत छंदप्रवृत्ति का प्रयोग इन कविताओं में किया है। कवि की भाषा विशुद्ध खड़ी बोली नहीं कही जा सकती—म्वहिका (मुझे), हयकी (वही), हमका (हमें), थल मा (थल में) आदि प्रयोग इस बात को सिद्ध

[१] देखिए 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ४७४।
[२] महाकवि चच्चा, अन्नपूर्णानंद, पृष्ठ ७८।

करते हैं कि उनकी भाषा अवधी भाषा के संस्कार से निर्मित है। कहीं कहीं सुथना, लेटरबक्स, मेंटेनेंस, सफाचट आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा भाषागत व्यावहारिकता को महत्व दिया गया है। समसामयिक नवीन विषयों पर कवितालेखन की ओर भी उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। तत्कालीन असहयोग आंदोलन के प्रवाह में जो लोग नेतृत्व के उद्देश्य से भ्रष्टाचार फैला रहे थे, उनपर व्यंग्य करते हुए कवि ने कहा है :

कुरता धोती खद्दर केर, सोह डुपट्टा गल विच फेर।
गांधी टोपी सीस सुहाय, पग में चट्टी चिपटी जाय॥
सभा समाजन जय बुलवाय, नेता भयो सुभेस बनाय।
कीन्हा योग छोड़ि सब काम, असहयोग योगी भा नाम॥
बड़ा मान भा चारों ओर, हाथन लेबे सबही दौर।
सेवा देश कि कीन्हा नाहि, सेवा लीन्ही जहँ जहँ जाहिं॥
कल्पवास कीन्हा बहु जेल, तहाँ बढ़ावहु बड़ेन सों मेल।
छूटि बंदिगृह आयो धाम, जानो कीन्हा चारों धाम॥
करि कै हल्ला नेतन साथ, बनि बैठे हम सबके नाथ।[१]

कांतानाथ पांडेय 'चोंच' ने पाश्चात्य सुधारवाद से प्रभावित समाज के पाखंड पर घड़ों पानी डालने और नक्कालों के दल को पानी पानी कर बेपानी कर देने के उद्देश्य से व्यंग्यपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। उनकी कविताओं के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें पानी पाँड़े, छेड़छाड़, चोंच चालीसा, चूनाघाटी आदि का प्रकाशन विवेच्य युग में हुआ है। चोंच जी आधुनिक युग की विभीषिकाओं पर स्वाभाविक व्यंग्य करने में अपना सानी नहीं रखते। उनकी भाषा भावों की वशवर्तिनी होकर चलती है। हास्यभाव की व्यंजना की दृष्टि से चोंच कवि विशेष स्थान के अधिकारी हैं। सामान्य व्यक्तियों के लिये जो बातें नगण्य होती हैं, कवि ने उन्हीं को आधार बनाकर हास्यविनोद की लड़ियाँ जोड़ी हैं। उनके प्रत्येक विनोदात्मक पद के पीछे ऐसा चुटीला व्यंग मिलता है जिसमें तत्कालीन भारत के विविध वर्गों की पतित अवस्था पर व्यंग्य किया गया है। कवि चोंच स्पष्टवादी हैं—प्रचलित कुरीतियों का उपहास कर जनमन को जाग्रत करने में शताब्दियों पूर्व जो सफलता अंग्रेजी लेखक एडीसन को मिली थी, हिंदी हास्य-व्यंग्य साहित्य में वही स्थान चोंच का है। उनकी व्यंग्योक्तियाँ अद्भुत सूझबूझ की परिचायक हैं। समाज में नैतिक दृष्टि से जो गंदगी फैली हुई थी उसे दूर करने में चोंच

१ परिहासप्रमोद, पृष्ठ ६८-६९।

की कविताओं ने सराहनीय योगदान किया है। प्रचलित कुरीतियों पर टिप्पणी के रूप में उनके काव्य में मनोहर और ललित भाषा में मनोविनोद की भरपूर सामग्री विद्यमान है। उन्होंने कबीर, नरोत्तमदास, तुलसीदास, निराला आदि की कवितापद्धति के आधार पर सुंदर पैरोडियों की भी रचना की है। कबीर, रहीम और तुलसी की कविताओं पर आधारित कुछ पैरोडियाँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं :

यह तन विष की बेलरी, नारि अमृत की खानि।
पिता तजै पत्नी मिलै, तो भी सस्ता जानि ॥[१]
आज करै सो काल कर, काल करै सो परसों।
क्यों होता बेहाल है, जीना तो है बरसों ॥[२]
ज्यों रहीम गति दीप की, है 'लीडर' गतितूल।
लेक्चर देत भलो लगै, चंदा माँगत सूल ॥[३]
आवत ही न खड़े हुए, मँगवायी नहिं चाय।
तुलसी तहाँ न जाइये, हो राजा या राय ॥[४]
मेरी सब बाधा हरौ, सुखदायिनि सरकार।
जाकी कृपा अपार ते, डिपटी होत चमार ॥[५]

विस्तृत शब्दभंडार प्रस्तुत कवि के प्रत्युत्पन्नमतित्व का द्योतक है। उनके व्यंग्य में तीव्र आक्रोश नहीं, बल्कि परिहासात्मक तीव्रता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की मान्यता है कि चोंच में रूपात्मक विश्व के अनुशीलन की अद्भुत क्षमता, दृष्टि की स्वच्छता और सदा जागती रहनेवाली प्रतिभा है जो कुछ कर दिखाने के लिये हरदम तैयार रहती है। संस्कृत साहित्य के सम्यक् अध्ययन, हिंदी काव्यपरंपरा के पूर्ण परिचय और अंग्रेजी की उच्च शिक्षा के प्रभाव से उनकी दृष्टि विस्तृत, भावना पुष्ट और भाषा परिष्कृत है। छेड़े जाने पर उनकी कल्पना चट पंख फड़फड़ाकर उड़ पड़ती है और चोंच चलाने लगती है। एक उदाहरण देखिए :

न लंबे हैं न छोटे हैं, न दुबले हैं न मोटे हैं।
न पागल हैं न स्याने हैं न अच्छे हैं न खोटे हैं ॥

[१], [२] पानी पाँड़े, कांतानाथ पांडेय 'चोंच', पृष्ठ ८८।
[३], [४] उपरिवत् पृष्ठ २०८, १०९।
[५] चोंच चालीसा, पृष्ठ २४।

उन्हें जैसा सुझा दो जब, वही वे मान जाते हैं।
जनाबे 'चोंच' सच पूछो तो बेपेंदी के लोटे हैं।[1]

श्री ज्वालाराम नागर 'विलक्षण' ने छायावादी काव्यपद्धति पर व्यंग्य के उद्देश्य से 'छायापथ' की रचना की। उन दिनों छायावाद के नाम पर ऐसी बहुत सी रचनाएँ लिखी जा रही थीं जो श्रीहीन थीं। विलक्षण जी ने छायावाद को मनचले लड़कों का प्रमाद और मनचलावाद कहा है और यह मत व्यक्त किया है कि प्रमाद द्वारा उन्नतिशील साहित्य का संहार किया जा रहा है। छायावाद के आरंभकाल में लोगों की यह धारणा थी कि वह स्थायी नहीं हो सकेगा—इसी विचार का व्यंग्यात्मक निरूपण प्रस्तुत संग्रह में हुआ है। कवि ने व्यंग्यपूर्वक सिद्ध किया है कि मैथिलीशरण जैसे महाकवि भी काव्यक्षेत्र की सीमा तोड़कर, अपनी टूटी हृत्तंत्री के ढीले तार झंकारते हुए अनंत की ओर लड़खड़ाते हुए भागने लगे। 'नीहार' की भूमिका लिखते हुए हरिऔध की वृद्धा लेखनी भी अनंत की सूनी सड़क पर जा निकली। इसी से विवश होकर विलक्षण जी ने शून्यवादी कवियों की सर्द आहों पर व्यंग्य किए हैं। उन्होंने छायावादी कवियों के भावों और शैली दोनों पर व्यंग्य करते हुए लगभग एक सौ चतुश्पदियों की रचना की है जिनमें व्यंग्य की तीव्रता के लिये उर्दू शब्दावली का भी प्रयोग किया गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं:

जिस जगह अश्रु स्वेदों की, बहती रहती वैतरनी।
डगमग करती हो उसमें, छाया की जरजर तरणी॥
खुद लिखें न समझें खुद ही, समझाते खाएँ चक्कर।
इस तरह बनाए जाते हों, लोग जहाँ घनचक्कर॥
हो दुरुपयोग लिंगों का, अज्ञान सरस छंदों का।
हो शिथिल प्रयास जहाँ पर, भावुकता के बंदों का॥
छाई हो जहाँ अविद्या, पर प्रज्ञावाद बड़ा हो।
आधाररहित रचना में, प्रतिभा का गर्व कड़ा हो॥[2]

विवेच्य युग के एक अन्य कवि चतुर्भुज चतुरेश कृत 'हँसी का फव्वारा' में ४४ कविताएँ हैं जिनमें व्यंग्य की तीव्रता और स्पष्ट कथन की प्रवृत्ति मिलती है। इसकी रचना बोलचाल की भाषा में हुई है—अटपटे शब्द सुसंगठित होकर,

[1] पानी पाँड़े, पृष्ठ ६६।
[2] छायापथ, पृष्ठ ८०, ६४, ६६, १०६।

नई नई विषयवस्तु को क्षेत्र बनाकर व्यंग्य का जादू उत्पन्न करते हैं। कवि ने इन कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों, सामाजिक धार्मिक परिस्थितियों आदि पर व्यंग्य का रंग चढ़ाया है। इन कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि ने हँसी का वातावरण तैयार करने के लिये चुने हुए शब्दों, उक्तियों और मुहावरों का प्रयोग अत्यंत स्वाभाविक रूप में किया है। लचर शब्दों के प्रयोग द्वारा अपने भावों के पैनेपन पर उन्होंने कहीं भी जंग नहीं लगने दिया। 'सनडे' शीर्षक कविता का यह अंश देखिए :

है रात शनीचर होने को, अब खूब मिलेगा सोने को।
है खुशी आज ही से ऐसी, मानो जाते हों गौने को ॥[२]

काशीनाथ उपाध्याय भ्रमर 'बेधड़क बनारसी' का इस युग की हास्य-व्यंग्य-काव्यधारा में स्थायी महत्व है। 'तरंग' के संपादक के रूप में तो इनकी ख्याति है ही—हिंदी के अनेक हास्य-व्यंग्य-पत्र उनकी हास्यकविताओं से भरे पड़े हैं। उन्होंने सामयिक सामाजिक राजनीतिक विषयों पर सफल व्यंग्यकविताओं की रचना की है। उनकी कविताओं में परिष्कृत विवेक का सामयिक प्रयोग मिलता है। शेर, रुबाई, गजल आदि की रचना के साथ ही उन्होंने शब्दसामर्थ्य और शैलीगत स्वाभाविकता का भी उपयुक्त परिचय दिया है। भावव्यंजना के लिये कहीं कहीं उन्होंने अंग्रेजी शब्दों का भी सटीक प्रयोग किया है। पूर्व और पश्चिम के विभेद के संबंध में यह व्यंग्य देखिए :

उसकी हर बात को कानून समझता हूँ मैं,
अपने अखबार का मजमून समझता हूँ मैं।
रंग ढंग और बदरंग भी समझता हूँ मैं,
उनके चेहरे पर कुछ नून समझता हूँ मैं।
'इमेजिनेशन' को बेलून समझता हूँ मैं,
उनके रोने को भी इक ट्यून समझता हूँ मैं।
जब से चला है 'रेजर' इस दुनिया में,
हर घर को 'सैलून' समझता हूँ मैं।
उनके पसीने को भी खून समझता हूँ मैं,
आँखों को उनके अफलातून समझता हूँ मैं।
यही तो फ़र्क पूरब और पच्छिम में है—
अपने जामे को भी पतलून समझता हूँ मैं।[१]

[१] हँसी का फव्वारा, पृष्ठ ३।
[२] मदारी, ३० नवंबर १९३७, 'तूफाने जराफत' शीर्षक कविता, पृष्ठ १५।

बेधड़क की आरंभिक कविताओं में व्यंग्य उतना पैना नहीं था, पर आगे चलकर उनकी कविताओं में प्रौढ़ व्यंग्य के दर्शन होने लगे। उनकी उपमाओं और व्यंग्योक्तियों में निरंतर परिष्कार मिलता है। यद्यपि उन्होंने नारी की कोमलता और प्रेम को आधार बनाकर अनेक हँसाइयाँ लिखी हैं, तथापि जहाँ पर उन्होंने आत्मानुभूतिप्रेरित व्यंग्य को अपनी कविता के कलेवर में बाँधने का यत्न किया है वहाँ कविता में स्वाभाविक परिहास प्रकट हुआ है।

भैया जी बनारसी इस युग के दूसरे महत्वपूर्ण कवि हैं, जिनकी हास्यरस की अधिकांश रचनाएँ मोहनलाल गुप्त के नाम से प्रकाशित हुई हैं। भैयाजी की कविताएँ तिलमिलाहट उत्पन्न करनेवाली हैं। उन्होंने अपनी हास्यव्यंग्य कविताओं की प्रेरणा समाज से ली है—जो कुछ देखा, सुना और पढ़ा उसके आधार पर अर्जित भावसंपदा को चुटकियों की चोट और हास्यव्यंग्य के नश्तर लगाकर व्यक्त किया है। उनकी कविताओं में साहित्यिक और राजनीतिक धोखाधड़ी, बेईमानी, आडंबर और समाज के रिसते फोड़ों के प्रति तीक्ष्ण व्यंग्य मिलता है। विवेच्य युग की पत्रपत्रिकाओं में भैया जी की अनेक कविताएँ बिखरी पड़ी हैं। छायावादी भावपद्धति के प्रति व्यंग्यस्वरूप लिखित 'प्रियतम तुम इस पथ से आना' शीर्षक कविता उनकी प्रसिद्ध रचना है जिसमें उन्होंने मधुर व्यंग्य करते हुए कहा है कि हे प्रियतम, जब आधी रात की बेला में आकाश में चाँद अकेला हो तब तुम बँगले में चुपके से आकर मुझे गीत सुना जाना, जब कोहरा और बादल फैले हों तब तुम बादलों के भीतर छिपकर गीत सुनाना। उन्हीं के शब्दों में—

जब कोयल कूक सुनाती हो, रो रो तुमको तड़पाती हो।
तब टूटी बीन लिए प्रियतम, तुम मेरे पास चले आना।
है प्रणय यहाँ अनुराग यहाँ, फूलों का सुंदर बाग यहाँ।
मैं बस चिड़िया बन नाचूँ, तुम बनकर पक्षी आ जाना।
प्रियतम तुम इस पथ से आना।[१]

बेधड़क की भाँति भैया जी ने भी विवेच्य युग में कविताओं की रचना अभी आरंभ ही की थी। वस्तुतः उनके हास्यव्यंग्य काव्य का परिपाक प्रौढ़ावस्था की रचनाओं में ही दिखाई पड़ता है।

[१] मदारी, २५ मई १९३७, पृष्ठ ४।

काशी के जीवन, वहाँ की भाषा और वहाँ के समाज की विविध मौलिक रीति नीतियों का बनारसी बोली में व्यंग्यात्मक प्रतिपादन शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' की कविताओं में मिलता है। बनारस की जीवनधारा में हास्य उत्पन्न करने की अद्भुत क्षमता है। 'रुद्र' की हास्य कविताएँ 'खुदा की राह पर' पत्र के 'बनारसी बैठक' स्तंभ में और अनेक अन्य पत्रों में 'गुरु बनारसी' के नाम से प्रकाशित हुई हैं। 'रुद्र' के जीवन में बनारसी संस्कृति जन्मजात तत्व के रूप में घुली मिली है। काशी के सजीव वातावरण को उन्होंने अपने काव्य की पृष्ठभूमि में समेटने का सुंदर यत्न किया है। उनकी कविताओं में विषयों की विविधता है, प्रभाववादी वर्णनशैली की सहजता है और इसके साथ ही व्यंग्य का सजीव समावेश है।

ऊपर जिन कवियों की चर्चा की गई है, वे प्रमुख रूप से हिंदी-हास्य-व्यंग्य-काव्य के सर्जक व्यक्तित्व के रूप में अपनी प्रतिष्ठा और रचनात्मक क्षमता का अक्षुण्ण परिचय देनेवाले कवि हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कवि हास्य रस की रचना करते दिखाई देते हैं जिनकी चर्चा न करना अन्याय होगा। उदाहरणार्थ पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' विभिन्न पत्रिकाओं में किसी न किसी रूप में अपनी हँसी, दिल्लगी का सामाजिक चिट्ठा चौपदों में प्रकट करते हुए दिखाई देते हैं। उनके व्यंग्यात्मक चौपदों में विनोद और चमत्कार के साथ गंभीरता भी दिखाई देती है। उदाहरण के लिये उनके तीन चौपदे नीचे उधृत किए जा रहे हैं :

मेल को हम लगा रहे हैं लात, फूट के पाँव हम रहे हैं चूम।
आज तक हम सके न कंधा डाल, कौन कहता है सिर गया है घूम।
किसलिये वे चलें न टेढ़ी चाल, क्यों न फुफकार से उठे दिल काँप।
क्यों न उगलें भला जहर दिन रात, क्या करें आस्तीन के हैं साँप।
आँख को खोल जाति दुख लें देख, हो न उनसे सकी कभी यह चूक।
जो चले पाँव दूसरों का चूम, जो जिए चाटकर पराया थूक।

लाला भगवानदीन की कुछ व्यंग्यकविताएँ भी इस युग की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। लाला जी रीतिकाल के मर्मज्ञ थे और उनकी कविताएँ ब्रजभाषा की श्रेष्ठ पद्धति में पगी हुई हैं। उन्होंने प्राचीन संस्कृति की गरिमा में आस्था प्रकट करते हुए समकालीन समाज की दूषित प्रवृत्तियों में सुधार करने के लिये बिहारी के दोहों की पैरोडी करते हुए सुंदर उद्भावनाएँ की हैं, जो पुरअसर चोट करनेवाली हैं :

सीस मुकुट, कटि काछिनी, कर मुरली, उर माल।
तब दिखाय जब मुफत का उड़े चकाचक माल॥

मोहनि मूरति श्याम की अति अद्‌भुत गति जोय।
तब सोहाय जब आपने पल्ले पैसा होय॥
संगति दोष लगे सबै कहे जु साँचे बैन।
ए० बी० लिखते बनि चले भैया जंटिलमैन॥[1]

'बालसखा' के संपादक श्रीनाथ सिंह ने भी इस युग में अनेक हास्य व्यंग्यमयी कविताएँ लिखी थीं। उन्होंने कबीर और गिरधर की रचनापद्धति को अपनाकर अपने समय की सामाजिक प्रवृत्तियों पर गहरे व्यंग्य किए हैं। नीचे उनकी कुछ ऐसी व्यंग्यात्मक पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं, जिनसे उनकी मार्मिक व्यंग्यशक्ति पर प्रकाश पड़ता है :

साईं मेरे श्वान को कबौं न दीजै त्रास।
पलक दूरि नहिं कीजिए, सदा राखिए पास॥
सदा राखिए पास त्रास कबहूँ नहिं दीजै।
त्रास दई तो ध्यान जरा इसपर करि लीजै॥
कह गिरधर कविराय और पति करिहौं जाई।
दै के तुम्हें तलाक सुनो हे हमरे साईं॥[2]

पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी भी इस युग के हास्यरस के प्रसिद्ध कवि थे—उन्हें हास्यरसावतार कहा जाता था। इन्होंने समाज के पाखंडी, सिद्धांतविहीन, पापाचारी लोगों पर तीखे व्यंग्य किए हैं। उनकी कविताएँ संख्या में अधिक नहीं हैं और पत्रपत्रिकाओं तक ही सीमित हैं।

सुप्रसिद्ध उपन्यासकार भगवतीप्रसाद वाजपेयी द्वारा लिखित कुछ पैरोडियाँ भी इस युग में प्रकाशित हुई हैं। उन्होंने रत्नाकर जी की शैली एवं भावों का अनुकरण कर व्यंग्य शैली में सफल कवित्तरचना की है। एक उदाहरण देखिए :

मद भरे अंगन सों, तरल तरंगन सों,
कंचन सों कुचन में बैठि अठिलावै है।
कबों मृग कानन के कजरारे नैनन सों,
सैनन सों हँसि हँसि स्नेह सरसावै हैं।
कबों अलबेली वह नवल सहेलिन सों,
प्रेम के प्रसंगन की चरचा चलावै हैं।

[1] मतवाला, अप्रैल १६२६, पृष्ठ २१।
[2] उपरिवत्।

प्रियतम की अवाई की खबर सुनाई जब,
हिरदे में मोहन की तुरही बजावै हैं।[१]

उक्त विवरण के आधार पर यह निर्विवाद रूप से स्वयंसिद्ध है कि जो लोग यह आरोप लगाते हैं कि हिंदी साहित्य में हास्यकाव्य की कमी है, वे वास्तव में हिंदी हास्यकाव्य की विस्तृत परंपरा से एकदम अपरिचित हैं। यह ठीक है कि भारतीय चिंतनधारा हास्य के प्रतिकूल पड़ती है, लेकिन यह कहना अनुचित है कि जीवन के आदर्शोन्मुख चित्र उपस्थित करने की धुन में कवियों ने हास्यभावना की उपेक्षा की है। पाश्चात्य देशों में जीवन की सामयिक आवश्यकताओं और भौतिकता पर विशेष बल दिया गया है—इसी कारण वहाँ व्यावहारिक जीवन की असंगतियों को आधार बनाकर हास्यव्यंग्य का विपुल काव्य लिखा गया। हिंदी में अधिकांश हास्यकाव्य पत्रपत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश में आया है। हिंदी साहित्य में हास्य की कमी की ओर अनेक साहित्यकारों की दृष्टि गई और उन्होंने अनेक उपनामों से हास्य व्यंग्यात्मक कविताओं की रचना की। हास्यकवियों के लिये यह गर्व, गौरव और स्वाभिमान की बात है कि उन्होंने स्वयं अपने मार्ग का निर्माण किया और अपना रास्ता चुना। उन्होंने सामयिक प्रवृत्तियों पर व्यंग्य कर सामाजिक पृष्ठभूमि को जनचेतना की जागृति का आधार बनाया। इस काल के कवियों ने भारतेंदु युग के कवियों से जो परंपरा प्राप्त की थी उसे और भी प्रौढ़, विस्तृत और विषयवस्तु की दृष्टि से वैविध्यपूर्ण बनाने का यत्न किया। उन्होंने जनता के बौद्धिक धरातल को हास्य की बारीकियों को समझने के लिये तत्पर और विकसित किया। यही कारण है कि इस युग के हास्यकाव्य में समाज के विभिन्न अंगों पर परिहास मिलता है। बहुत सी ऐसी व्यंग्यात्मक रचनाएँ हैं जो हमारी सामाजिक रूढ़ियों को ध्वस्त करती हैं और प्राचीन के स्थान पर नवीन को ग्रहण करने की शक्ति देती हैं।

इस युग में विडंबन (पैरोडियाँ) कविताएँ भी कम नहीं की गईं। कवियों में तुलसीदास से लेकर बच्चन तक सभी की सुप्रसिद्ध रचनाओं को आधार बनाकर पैरोडी लिखने की होड़ सी दिखाई पड़ती है। इस काव्य में चमत्कारिकता का बाहुल्य है। श्लेष आदि का इन कवियों ने सार्थक प्रयोग कर परिस्थितियों के साथ हास्य के बदलते हुए प्रतीकों को ग्रहण किया है। हिंदी में नानसेंस पोइट्री कम लिखी गई है। इस प्रकार की कविता में न किसी पर व्यंग्य किया जाता है और न फबती कसी जाती है। एडवर्ड लियर जैसे कवियों की ऐसी रचनाओं में

[१] मतवाला, अप्रैल १९२९, पृष्ठ २१।

पानी की भाँति निर्मल हँसी का उद्घाटन हुआ है। इस युग में अवधी, भोजपुरी आदि बोलियों के माध्यम से हास्य की श्रीवृद्धि करने में भी कुछ कवि तत्पर रहे। अँग्रेजी में चार अथवा पाँच पंक्तियों में तुकांत कविता 'लिमरिक' होती है। इस युग में हिंदी में लिमरिक पद्धति पर तो कविताएँ नहीं लिखी गईं, हाँ व्यंग्य, ताना, फबती, बौछार आदि का प्रयोग अवश्य किया गया है।

संपूर्ण विश्व में सन् १९१७-१८ से १९३७-३८ तक का काल एक विशेष महत्व रखता है। यह युग प्रथम विश्वयुद्ध के प्रभावों और दूसरे के पूर्वसंकेतों से व्याप्त रहा। जहाँ तक भारतवर्ष का प्रश्न है, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांप्रदायिक सभी प्रकार की भीषण विभीषिकाएँ पिछड़े हुए, अशिक्षित, फैशनपरस्त और अभावग्रस्त जनसमाज में व्याप्त थीं। हिंदी हास्यकवियों को नित्य नवीन आलंबन प्राप्त हो रहे थे। सन् १९२० में महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह आंदोलन ने भारतीयों का यह बोध कराया कि विदेशी हुकूमत को विनष्ट करके ही हमारा जन्मसिद्ध अधिकार—स्वतंत्रता का सुख—हमें प्राप्त होगा। स्वतंत्रता का यह नवीन भाव कवियों की चेतना में जाग्रति और ओज की लहर उत्पन्न करनेवाला सिद्ध हुआ। गोलमेज कांफ्रेंस, साइमन कमीशन, प्रांतों में कांग्रेसी सरकारों की स्थापना—आदि ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे जगचेतना में एक विशेष स्फूर्ति उत्पन्न हो गई। इन परिस्थितियों के बीच हिंदी हास्यकवियों को विविध पात्र, धार्मिक सामाजिक रूढ़ियों और असंगतियों से भरी प्रभूत सामग्री उपलब्ध हुई।

हिंदी के अनेक आलोचकों और हास्यरस पर शोध करनेवाले विद्वानों ने इस युग के हास्यव्यंग्य काव्य को भारतेंदु युग के काव्य से हीन, घटिया और फूहड़ कहा है। परंतु इनकी यह मान्यता संगत नहीं है। 'मौजी' और 'मतवाला' के प्रकाशन के साथ ही इस क्षेत्र में ऐसे अनेक प्रतिभाशाली कवि आए जिन्होंने बौद्धिक पाठकों की परितृप्ति के लिये सूक्ष्मतर हास्य की सृष्टि की। खड़ीबोली के परिष्कार के साथ उसकी व्यजनाशक्ति तीव्रतर होती गई और हास्यकवि उसका सम्यक् उपयोग कर नित्यप्रति के व्यावहारिक जीवन के अनुरूप तीखा व्यंग्यकाव्य लिखने लगे। वैसे यह ठीक है कि इस युग में कुछ समसामयिक और अस्थायी महत्व की रचनाएँ भी हुई हैं जिन्हें हम सामान्य कोटि और सामयिक महत्व का कह सकते हैं। पहले अँग्रेज हमारे व्यंग्य के पात्र होते थे, परंतु अब अपनी सरकार पर भी व्यंग्य किया जाता है। इसलिये कविता के परिवर्तित आलंबनों के बीच निश्चित रूप से ऐसी रचनाएँ हुई हैं जो युगीन घटनाओं के संदर्भ में ही समझी जा सकती हैं। वैसे, विवेच्य युग में राजनीतिक घृणा और प्रच्छन्न ईर्ष्या से प्रेरित हास्य की काव्यवस्तु में अनेक प्रकार के दोष और छिद्र हैं। फिर भी, विवेच्य युग का हास्यकाव्य विविधता से भरा हुआ है। एक ओर यदि सूक्ष्म और

तरल मानसिक स्मिति का बोध होता है तो दूसरी ओर शब्दों के चमत्कृत प्रयोग द्वारा उक्तिचमत्कार एवं वाग्वैदग्ध्य की सृष्टि कर बौद्धिक हास्य का संचार हुआ है। उधर व्यंग्यकवि असामाजिक आलंबन की भर्त्सना करता हुआ कुरीतियों और कुप्रथाओं पर प्रहार करता है। इन कवियों ने नेताओं के चरित्र, साहित्यिक घटनाओं और जीवन की विसंगतियों पर अपनी व्यंग्यभरी भाषा में तीव्रता के साथ आघात किया है। इन कविताओं में विरोधाभास, व्याजनिंदा, असंगति आदि अनेक अलंकारों का प्रयोग किया गया है।

स्पेंसर ने कहा था कि हास्य की स्वाभाविक उत्पत्ति उस समय होती है जब हमारी चेतना बड़ी चीज से छोटी चीज की ओर आकर्षित होती है, जिसे हम अधोमुख असंगति कहते हैं। निश्चित रूप से उस समय का कवि सामाजिक चेतना की अधोमुखी असंगतियों से हास्य की सृष्टि कर रहा था। वस्तुतः हास्य और व्यंग्य के कवि सामाजिक चेतना के सच्चे वाहक होते हैं। उनकी देन की हम उपेक्षा नहीं कर सकते।

———

अष्टम अध्याय

ब्रजभाषा काव्य

ब्रजभाषा और खड़ीबोली का विवाद

(अ) **पूर्वपीठिका :** आधुनिक युग अपनी जिन शक्तियों और नूतनताओं को लेकर अवतरित हुआ, उसकी अभिव्यक्ति प्रधानतः गद्य में हुई। ऐतिहासिक विकासक्रम में जिस भाषा ने लोकव्यवहार और आम बोलचाल की भाषा का रूप ग्रहण किया, वह मुख्यतः खड़ीबोली ही थी। भारतेंदु युग से पूर्व ही खड़ीबोली ने गद्य के क्षेत्र में अधिकार जमा लिया था। भारतेंदु युग में काव्यक्षेत्र में भी उसने अपना अधिकार माँगा। गद्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा से उसका कोई संघर्ष नहीं था परंतु काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा चिरकाल से प्रतिष्ठित थी, जनता के संस्कारों में, हृदयों में बसी हुई थी, अतः उसके स्थान पर खड़ीबोली के अधिकार की माँग की प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। सजग युगद्रष्टा भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने स्वयं खड़ीबोली में रचना करने का उद्योग किया परंतु उनकी दृष्टि में यह काव्योपयोगी भाषा सिद्ध नहीं हुई। ब्रजभाषा के माधुर्य के संमुख खड़ीबोली उन्हें लुभा नहीं सकी। किंतु खड़ीबोली युगभाषा का रूप ग्रहण करने आई थी, इसलिये भारतेंदु युग में ही श्रीधर पाठक, चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन', पं० अंबिकादत्त व्यास एवं पं० प्रतापनारायण मिश्र आदि ने ब्रजभाषा के साथ ही खड़ीबोली में भी काव्यरचना की और उसमें पर्याप्त सफलता प्राप्त की। यह परिवर्तन क्रमिक तो था परंतु जब खड़ीबोली के समर्थकों, विशेषकर बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ीबोली के पक्ष में आंदोलन ही छेड़ दिया तो ब्रजभाषा के समर्थकों ने भी उसका पूरा पूरा विरोध किया। पक्ष और विपक्ष का निर्माण हुआ और अनेक तर्कों के साथ काव्यभाषा के स्थान के लिये खड़ीबोली और ब्रजभाषा के पक्ष की सार्थकता सिद्ध की जाने लगी। भारतेंदु युग में यह विवाद आरंभिक होने पर भी तीव्र था, परंतु इतना अवश्य था कि रचना की दृष्टि से प्रमुखता और गौरव ब्रजभाषा को ही प्राप्त रहा। परंतु इस बीच खड़ीबोली कविता का लड़खड़ाता पग भी उठने क बाट जोह रहा था और अपनी भावी संभावनाओं की सूचना दे रहा था।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ीबोली कविता के द्वितीय चरण का नेतृत्व किया। उनके मार्गदर्शन में एक विशाल कविमंडल निर्मित हुआ, जिसने खड़ीबोली के माध्यम से काव्यरचना की। इस समय काव्यभाषा के

स्थान के लिये ब्रजभाषा और खड़ीबोली का वादविवाद अत्यधिक उग्र था: राय देवीप्रसाद पूर्ण, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', लाला भगवानदीन, पं० कृष्णबिहारी मिश्र एवं अन्य बहुत से विद्वानों ने काव्यभाषा के स्वरूप के विषय में गुणावगुणों की चर्चा करते हुए अपना अपना मत व्यक्त किया। परंतु इस विवाद के कटु अंशों एवं आग्रहों को एक ओर रख देने के पश्चात् यह स्पष्ट हो चला था कि नवयुग के संघर्ष को वहन करने के लिये खड़ीबोली ही उपयुक्त थी, ब्रजभाषा का माधुर्य, उसकी संगीतात्मकता और भावसिद्धि उत्कृष्ट होते हुए भी तत्कालीन परिवेश की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं थी। यहाँ तक कि जो कवि ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली दोनों भाषाओं में रचना करने में सिद्धहस्त थे, वे ब्रजभाषा में पुराने ढंग की और खड़ीबोली में नवीन विषयों की कविता करते थे। द्विवेदी युग में स्वतंत्र रूप से खड़ीबोली में लिखनेवाले समर्थ कवियों का बाहुल्य हो चला था, उनकी रचनाओं ने खड़ीबोली की साख जमा दी थी, इसलिये यद्यपि इस युग में ब्रजभाषा में भी पर्याप्त रचना होती रही और उसमें नए विषयों को ढालने की भी चेष्टा की गई परंतु अपने युगबल के कारण खड़ीबोली ही आगे बढ़ती गई।

(आ) आलोच्यकाल में भाषाविवाद : हमारे विवेच्य काल (१९७५-१९९५ वि०) की पूर्वसंध्या में ही यद्यपि ब्रजभाषा और खड़ीबोली का विवाद प्रायः निर्णीत हो चुका था और खड़ीबोली युगाधार सिद्ध हो चुकी थी, फिर भी ब्रजभाषा के अनन्य समर्थक अब भी ब्रजभाषा का गौरवगान गा रहे थे। इस युग में ब्रजभाषा के पक्षधरों में ग्रियर्सन महोदय का नाम महत्वपूर्ण है। उन्होंने बहुत समय पूर्व काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा का पक्ष लिया था। इस युग में भी उनकी वही धारणा अपरिवर्तित रही (लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खंड १, भाग १, १९२७)। वे ब्रजभाषा को ही काव्य की विशेष भाषा मानते थे। श्री वियोगी हरि, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, पं० किशोरीदास वाजपेयी, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, दुलारेलाल भार्गव, उमराव सिंह पांडे आदि विद्वान् भी ब्रजभाषा के प्रशंसक और हामी थे। उधर ब्रजभाषा के उग्र विरोधियों में श्री गोवर्धनलाल एम० ए०, कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर', जगन्नाथप्रसाद मिश्र एवं रामनरेश त्रिपाठी आदि थे। वस्तुतः इन सबके विरोध में आक्रोश का वह स्वर असंयत था, जहाँ ऐसे लेखक ब्रजभाषा का विरोध करने के लिये उसके समस्त अतीत को ही गर्हित मान बैठे थे। इस विवाद में अत्यंत संयत मत व्यक्त करनेवाले विचारकों की भी कमी नहीं थी। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ब्रजभाषा के समर्थक थे, वे खड़ीबोली के प्रयोग के प्रति क्षुब्ध भी थे—

'जात खड़ीबोली पै कोउ भयौ दिवानौ,
कोउ तुकांत बिन पद्य लिखन में है अरुझानौ' (समालोचनादर्श)

परंतु उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया था कि खड़ीबोली ही भविष्य की कविता की भाषा है—'भविष्य में इस कविता का ही सौभाग्योदय होनेवाला है। जगन्नियंता जगदीश्वर ने हमारे भविष्य जीवन के लिये जो पथ निर्धारित कर दिया है, उसी पर हमको चलना पड़ेगा और उसी में हमारा कल्याण भी है।' (हिंदी साहित्य संमेलन, २०वाँ अधिवेशन कार्यविवरण, सन् १९३१)।

इसी प्रकार कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने इस विवाद में युगपरिवर्तन की सूचना देते हुए ब्रजभाषा को प्रकारांतर से नवयुग के अनुकूल नहीं माना था—

बजत नाहिं अब और चैन की बंशी घर घर।
भय विषाद सों भरौ हियौ काँपत है थर थर॥
वह पराग कौ पुंज, मदन-ध्वज-पट न उड़त है।
धुआँधार यह देख कौन कौ जीव जुड़त है॥
+ + +
जौ तेरी यह बहिन खड़ी है तेरे आगैं।
दै याकों आसीस और का अब हम माँगैं॥

ब्रजभाषा के गौरव की रक्षा करते हुए गुप्त जी ने खड़ी बोली के संवर्धन के लिये उससे आशीर्वाद माँगा है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने ब्रजभाषा की गरिमा को सिद्ध करने के लिये जहाँ 'विभूतिमयी ब्रजभाषा' में उसका अनथक गुणगान किया है, वहाँ 'संदर्भसर्वस्व' में उन्होंने यह भी मान लिया है कि 'खड़ीबोली के पद्यों में कवितागत कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हों, किंतु वह इसलिये आदरणीय है कि उसने देश और जाति के रोग को पहिचाना है और उसकी चिकित्सा में लग्न है।'

प्रसिद्ध छायावादी कवियों में श्री जयशंकर प्रसाद ने तो अपना कविकर्म ब्रजभाषा के माध्यम से ही आरंभ किया था। वे विवाद में कभी नहीं पड़े परंतु खड़ीबोली के उन्नयन के लिये वे आजीवन यत्न करते रहे। 'निराला' जी युगकवि थे, उनकी अनाविल दृष्टि में ब्रजभाषा के वैभव का पूरा पूरा संमान था परंतु वे नवयुग की भाषा खड़ीबोली को ही मानते थे। उनकी दृष्टि में इस विषय पर विवाद की आवश्यकता ही नहीं थी। इसके संदर्भ में उन्होंने लिखा था—'हिंदी साहित्य की पृथ्वी पर अब ब्रजभाषा का प्रलयपयोधि नहीं है, वह जलराशि बहुत दूर हट गई, राष्ट्रभाषा के नाम से उससे जुदा एक एक दूसरी भाषा ने आँख खोल दी, पर 'धृतवानसि वेदम्' के भक्तों की नजर में अभी यहाँ वही सागर उमड़ रहा है, नहीं मालूम बेवक्त की शहनाई का और क्या अर्थ है' (चाबुक, पृ० ८)। छायावादी कवियों में पं० सुमित्रानंदन पंत ब्रजभाषा

काव्य के सबसे कठोर समालोचक रहे हैं। उन्होंने ब्रजभाषासाहित्य के संबंध में पल्लव की भूमिका में लिखा—'उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का पात्र और बाएँ में विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गुदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार संकीर्णताएँ हैं।' पंत जी का भी विश्वास था कि 'नवयुग के लिये नववाणी' ही उपयोगी है। ब्रजभाषासाहित्य की प्रशंसा करते हुए भी उस समय के समालोचक इस तथ्य को स्वीकार कर चुके थे कि 'रीतिकाल ब्रजभाषा की कविता का कलायुग था, छायावाद काल खड़ीबोली की कविता का कलायुग' (शांतिप्रिय द्विवेदी)।

वास्तव में छायावाद युग में ब्रजभाषा और खड़ीबोली का विवाद ब्रजभाषा की पुनः स्थापना का विवाद था भी नहीं। खड़ीबोली कविता के प्रति उस समय का विरोध छायावादी कविता की अस्पष्ट शैली, एवं उसके स्वच्छंदतावादी प्रयोगों के प्रति था। उस समय एक वर्ग को ऐसा प्रतीत होता था कि अब हिंदी कविता में 'मनमानी घरजानी' की स्थिति आ गई है, काव्य की व्यवस्था, जो ब्रजभाषा में थी, अब नष्ट हो रही है। उन्हें यह भी भय था कि कहीं नवीन साहित्य के कारण हमारा प्राचीन काव्यभांडार नष्ट न हो जाय। छायावाद युग में खड़ीबोली का विरोध वस्तुतः उसकी शैली और विषयवस्तु के प्रति विरोध था और इसी प्रकार उस युग में ब्रजभाषा का विरोध रीतिकाल की अश्लीलता (?) आदि तथाकथित त्रुटियों के कारण था। जिनकी दृष्टि संतुलित थी वे खड़ीबोली के महत्व को स्वीकार करते हुए भी ब्रजभाषा के गौरव के प्रति सश्रद्ध थे और उसकी क्षमताओं का भी पूरा पूरा लाभ उठाना चाहते थे।

विवेच्य काल की सामग्री और नामकरण : छायावाद युग खड़ीबोली कविता का उत्कर्षकाल है। परंतु क्या यही नाम उस युग की ब्रजभाषा की कविता की समीक्षा के आधार पर भी दिया जा सकता है? ब्रजभाषासाहित्य की चर्चा आते ही हमारे समक्ष आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल पहले आते हैं। आधुनिक काल बाद में। ब्रजसाहित्य के समग्र परिप्रेक्ष्य में ब्रजभाषा का उत्कर्षकाल हम भावपक्ष की दृष्टि से भक्तिकाल को और कलापक्ष की दृष्टि से रीतिकाल को मान सकते हैं। इन तीनों कालों को साथ रखकर देखने से आधुनिक काल का परंपरागत ब्रजभाषासाहित्य उस प्राचीन काल की अनुगूँज ही प्रतीत होता है। आधुनिक काल के समर्थतम कवि 'भारतेंदु' अथवा 'रत्नाकर' अपने उत्कृष्ट काव्य-व्यक्तित्व के साथ ही मौलिकता की दृष्टि से सूर और तुलसी के समकक्ष नहीं हो सकते। हाँ, इस युग में नवयुग की चेतना से संपन्न जो काव्य लिखा गया, उसका अवश्य अपना अलग व्यक्तित्व है। परंतु भारतेंदु युग से आरंभ होनेवाला ब्रजभाषा का यह यथार्थपरक जीवनसंघर्ष का काव्य जब खड़ीबोली के अपने

समवर्ती और क्रमशः विकसित काव्य की तुलना में परखा जाता है तो वह उससे पिछड़ जाता है। हमारे देश में यह एक अनोखी घटना हठात् घटित हुई कि हमारा प्राचीन श्रद्धा, विश्वास, धर्म और परंपरा से संपन्न जीवन जब पाश्चात्य संपर्क से सहसा आघातित हुआ तो उसके प्रभाव से यहाँ, एकदम, एक नए भौतिकवादी संघर्षमय जीवन का आविर्भाव हुआ। इस हठात् परिवर्तन को ब्रजभाषा की कविता, जिसके समक्ष कभी भी ऐसा संघर्ष नहीं आया था, आत्मसात् करने का प्रयत्न करने लगी। अन्य देशों में जहाँ परिवर्तन क्रमिक विकास के रूप में घटित होता है, वहाँ उनकी प्रचलित भाषाएँ ही नए परिवर्तन को इसलिये आत्मसात् कर लेती हैं कि उनमें पहले से ही उस परिवर्तन के अनुकूल बीज और नई भावधारा को वहन करने की शक्ति उत्पन्न होती रहती है परंतु जहाँ परिवर्तन एक आघात के साथ अवतरित होता है, वहाँ प्राचीन व्यवस्थाएँ प्रायः छिन्न भिन्न हो जाती हैं। यही कारण है कि ब्रजभाषा, जिसके पास इस जीवनसंघर्ष को सहने के लिये गद्य का प्रायः अभाव था, पिछड़ गई और उसी समाज में ब्रजभाषा की ही पूरक एक अन्य समानांतर प्रवाहित भाषा खड़ीबोली, उस रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये समक्ष आ गई। आधुनिक कविता के आरंभ में नवजीवन के चित्रण के लिये ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों की स्थिति समान थी। ब्रजभाषा का परिष्कृत, कलात्मक रूप, जो उसकी विशेषता थी, नवीन परिस्थितियों के चित्रण के लिये अनुपयुक्त हो गया था जब कि खड़ीबोली, जो उस समय नितांत शक्तिहीन भाषा थी, क्रमशः अपने पैरों पर खड़ी हो गई। उस समय का परिवेश ब्रजभाषा का परिवेश नहीं था, खड़ीबोली का परिवेश था।

हाँ तो, ब्रजभाषा का नवकाव्य खड़ीबोली को तुलना में स्वाभाविक रूप से पिछड़ता रहा। परंतु ब्रजभाषा के प्रति निष्ठावान् कवियों ने छायावादी युग में भी कभी हार नहीं मानी। यह बड़े गौरव की बात है कि निर्णायक युद्ध में पराजित हो जाने के पश्चात् भी ब्रजभाषा के कवि अपनी संपूर्ण आस्थाओं के साथ ब्रजभाषा में उत्कृष्ट काव्यरचना करते रहे और भले ही अपने प्रयत्नों से वे युग का प्रवाह बदलने में समर्थ न हुए हों, परंतु उनके प्रयत्नों से छायावादी युग में भी उनका रचा गया ब्रजभाषा काव्य एक उत्तुंग स्मारक-स्तंभ की भाँति खड़ा हुआ है। श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जैसे कवियों की यह निष्ठा सराहनीय ही कही जाएगी।

आधुनिक काल के, ब्रजभाषा साहित्य की दृष्टि से, सामान्यतया तीन भाग किए जाते हैं। इन्हें पूर्व भारतेंदु युग, भारतेंदु युग और उत्तर भारतेंदु युग नाम दिया जाता है। (आधुनिक ब्रजभाषा काव्य, डा० जगदीश वाजपेयी)। इनमें पूर्व भारतेंदु युग में ग्वाल, दीनदयाल गिरि, अयोध्याप्रसाद वाजपेयी 'औध', राजा

लक्ष्मणसिंह तथा गोविंद गिल्लाभाई की गणना की गई है। ये सभी कवि समय की दृष्टि से आधुनिक काल की सीमा में अवश्य आते हैं पर जहाँ तक इनके काव्य में आधुनिकता का प्रश्न है, वह नहीं के बराबर है। विषय की दृष्टि से प्राक् भारतेंदु युग रीतिकाल का ही विस्तार है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ही आधुनिक ब्रजभाषाकाव्य के सुदृढ़ स्तंभ हैं। वे प्रथम उत्थानकाल के प्रमुख कवि हैं। वही उस युग में आधुनिकता के स्रष्टा कलाकार हैं। अतः ब्रजभाषा की दृष्टि से भी उनके काल को भारतेंदु युग कहना सार्थक है। भारतेंदु के पश्चात् खड़ीबोली की दृष्टि से जिसे द्विवेदी युग कहा जाता है वह आधुनिक हिंदी कविता का द्वितीय उत्थानकाल है। इस युग में ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों में राय देवीप्रसाद पूर्ण, पं० नाथूराम शंकर शर्मा, प० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', लाला भगवानदीन, पं० रूपनारायण पांडेय पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' थे। इनमें 'कविरत्न' के अतिरिक्त अन्य सभी कवि ब्रजभाषा को छोड़कर अथवा ब्रजभाषा के साथ ही खड़ीबोली के कवि बन गए। इन सभी की साहित्य को देन ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली के माध्यम से ही अधिक रही। सत्यनारायण कविरत्न इनमें सबसे छोटे थे परंतु तुलनात्मक रूप से उनका काव्य नई दृष्टि का काव्य था। भाषाप्रयोग की दृष्टि से इनका महत्वपूर्ण स्थान है। खेद है कि इनका स्वर्गवास अल्पायु में उसी वर्ष में हुआ, जिसे हम छायावाद युग की आरंभिक सीमा (स० १८७५) मानते हैं। यदि इन्हें इस काल का कविनायक न भी माना जाय तो उन्नायक कवि तो माना ही जा सकता है।

हमारे विवेच्य काल के ब्रजभाषा के सर्वप्रमुख कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' हैं। यद्यपि वे सत्यनारायण 'कविरत्न' से आयु में बड़े थे और उनकी अनेक कृतियाँ द्विवेदी युग में ही प्रकाश में आ चुकी थीं, फिर भी उनके महत्वपूर्ण मौलिक ग्रंथों का लेखन प्रकाशन सन् १९२० के बाद ही हुआ। सन् १९२४ से लेकर १९३० तक उनके प्रसिद्ध काव्यग्रंथ गंगावतरण, उद्धवशतक, गंगालहरी, श्रृंगारलहरी, विष्णुलहरी, रत्नाष्टक, वीराष्ट एवं उनके प्रसिद्ध प्रकीर्ण पद्यावली के अधिकांश छंद रचे गए। तात्पर्य यह है कि छायावाद युग में 'रत्नाकर' ही ब्रजभाषा काव्य के प्रेरक एवं सुदृढ़ स्तंभ रहे। 'रत्नाकर' में काव्यरचना की अपार शक्ति थी, जिसके बल पर वे भक्तिकाल की आत्मा और रीतिकाल की कलात्मकता को आधुनिक युग में अवतरित कर सके। परंतु उन्होंने युग की समस्याओं को अपने काव्य में अभिव्यक्ति नहीं दी। यदि वे ऐसा करते तो ब्रजभाषा कवियों की नई पीढ़ी के वे बहुत बड़े प्रेरणास्रोत होते, ब्रजभाषा को वे नवीन आयाम देते और संभवतः ब्रजभाषा काव्य को अगले बहुत समय तक के लिये रचनामाध्यम के रूप में प्रतिष्ठित कर जाते। उनका काव्य परंपरावादी काव्य है, परंतु वह भी इतना उत्कृष्ट है कि यदि छायावाद युग को ब्रजभाषा की दृष्टि से 'रत्नाकर काल'

कहा जाय तो उचित होगा, क्योंकि इस युग में ब्रजभाषाकवियों का उनसे बड़ा दूसरा कोई प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

आचार्य शुक्ल ने इस तृतीय उत्थान के प्रमुख कवियों में रत्नाकर, स्वयं रामचंद्र शुक्ल, वियोगी हरि, दुलारेलाल भार्गव, रामनाथ 'जोतिसी', केसरीसिंह बारहट, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', राय कृष्णदास तथा उमाशंकर वाजपेयी उमेश' का उल्लेख किया है। इन कवियों को क्रमशः प्रसिद्ध कृतियाँ हैं, 'उद्धवशतक', 'बुद्धचरित', 'वीर सतसई', 'दुलारे दोहावली', 'रामचंद्रोदय काव्य','प्रताप चरित्र', फुटकर कविताएँ, 'ब्रजरज' तथा 'ब्रजभारथी'। और भी बहुत से कवियों ने संवत् १९७५ से १९९५ तक के इन दो दशकों में ब्रजभाषा में काव्यरचना की है। शुक्ल जी के ही अनुसार—"यद्यपि खड़ीबोली का चलन हो जाने से अब ब्रजभाषा की रचनाएँ बहुत कम प्रकाशित होती हैं पर अभी देश में न जाने कितने कवि नगरों और ग्रामों में बराबर ब्रजवाणी की रसधारा बहाते चल रहे हैं। जब कहीं किसी स्थान पर कविसंमेलन होता है तब न जाने कितने अज्ञात कवि आकर अपनी रचनाओं से लोगों को तृप्त कर जाते हैं''। (हिंदी साहित्य का इतिहास) शुक्ल जी की ये पंक्तियाँ छायावाद युग में भी साहित्यिक जनता की ब्रजभाषा की रसमयी कविता को पसद करने तथा व्यापक रूप में असंख्य कवियों द्वारा ब्रजभाषा में रचना करने की साक्षी हैं परंतु इस युग में ब्रजभाषा कवियों के हाथ में साहित्यप्रकाशन का मुख्य रंगमंच नहीं था, इसलिये युग के प्रति तुलनात्मक रूप में न तो वे उतने प्रतिबद्ध रह सके, न उनके मंडलों के गठन ही हो सके। 'सनेही' जी आदि के समस्यापूर्ति के मंडल भले ही चल रहे थे परंतु जो एकसूत्रता भारतेंदु युग में भारतेंदु के माध्यम से ब्रजकवियों को प्राप्त हो सकी, अब उसका अभाव था।

छायावाद काल में ब्रजभाषा कविता की दो प्रमुख धाराएँ थीं। एक धारा थी प्राचीन शैली में काव्यरचना की, जिसके लिये ब्रजभाषा सदा ही याद की जाती है। भक्ति और शृंगार ही वे पुरातन विषय हैं, जिनपर युग युग से न जाने कितने ब्रजकवि अथक रूप में लिखते चले आए हैं। 'रत्नाकर' ने ब्रजभाषा की इस प्राचीन परंपरा को नवीन शक्ति के साथ उभारकर प्रस्तुत किया है। 'रामचंद्रोदय काव्य,' 'रसकलस' (हरिऔध) तथा 'ब्रजरज' भी भक्ति और रीति की रचनाएँ हैं। 'वीर सतसई' आधुनिक युग का दृष्टिकोण लिए हुए वीर काव्य है। 'बुद्धचरित' एडविन आर्नल्ड कृत 'लाइट आफ एशिया' का ब्रजभाषा-पद्य में अनुवाद है, जो विषय की दृष्टि से, साथ ही, अँग्रेजी से सीधा अनुवाद होने के कारण ब्रजभाषा में बिलकुल नई चीज है। 'ब्रजभारती' में कवि उमेश ने एक ओर परंपरागत ब्रजरचनाएँ संजोयी हैं तो दूसरी ओर उनमें छायावादयुगीन

गीतभावना भी विद्यमान है। इसी युग में अनूप शर्मा का चंपूकाव्य 'फेरि मिलिबो' लिखा गया; अछूतोद्धार की समस्या पर आधारित वचनेश की 'शबरी' प्रकाशित हुई। रामेश्वर 'करुण' की 'करुण सतसई' भारत की वर्गविषमता से उत्पन्न करुण चीत्कार को प्रस्तुत करती है और किशोरीदास वाजपेयी की 'तरंगिणी' आधुनिक परिपार्श्व को मुक्तकों के माध्यम से चित्रित करती है। केवल दो दशकों में प्रकाशित ब्रजभाषा की यह महत्वपूर्ण और विविध-विषय-विभूषित सामग्री यह सिद्ध नहीं होने देती कि छायावादकाल ब्रजभाषा की दृष्टि से हीन अथवा पिछड़ा हुआ युग था। जैसा कहा जा चुका है कि ब्रजभाषा का स्थान गौण हो जाने के कारण इस युग की बहुत सी सामग्री अभी तक अप्रकाशित और असंकलित भी है, फिर भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर समस्यापूर्ति से लेकर छायावादी और प्रगतिवादी रचनाएँ तक इसमें उपलब्ध होती हैं। इस प्रवृत्तिसंकुलता के पीछे, ब्रजभाषा को नवयुग के प्रति प्रतिबद्ध बनाने की प्रेरणा ही प्रधान है और यही प्रतिबद्धता ब्रजभाषा के इन ग्रंथों में नवप्रयोगों के रूप में प्रतिफलित हुई है। प्राचीन परंपरा के लेखक भी विशुद्ध रूप से मात्र प्राचीन ही नहीं हैं, उनमें भी प्राचीन वस्तु को नवीनता के साथ प्रस्तुत करने का चाव है। 'रत्नाकर' और 'हरिऔध' दोनों के काव्य इसके प्रमाण हैं। 'करुण सतसई' आदि में विषय की दृष्टि से सर्वथा नवीनता है तो 'ब्रजभारती' विषय और शैली दोनों ही दृष्टियों से नव-प्रयोगों को अपने कलेवर में सँजोए है। अतः इस तृतीय उत्थानकाल को ब्रजभाषा की दृष्टि से 'नवप्रयोगकाल' कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। मात्र 'प्रयोगकाल' कहने से ब्रजभाषा ने विगत इतिहास में जो अनेक प्रयोग किए हैं, उनसे पार्थक्य न हो सकेगा, इसलिये नवयुग की प्रतिबद्धता में इस काल को 'नवप्रयोगकाल' कहना ही सार्थक होगा। यहाँ एक प्रश्न यह भी है कि प्रयोग की कहीं न कहीं परिणति अवश्य होती है। क्या परवर्ती ब्रजभाषाकाव्य में ऐसा हुआ है? इसका उत्तर यह है कि असफल होनेवाले प्रयोग भी प्रयोग तो होते ही हैं। छायावाद युग के कवि लेखक भी क्रमशः ब्रजभाषाक्षेत्र से निकलकर खड़ी-बोली के क्षेत्र में आ गए अतः ब्रजभाषा को उनकी विकसित योग्यता का लाभ नहीं हो सका। 'रत्नाकर' को छोड़कर शेष सभी की यही कथा रही है, फिर भी; परवर्तीकाल में ब्रजभाषाकाव्य आगे बढ़ा है और उसमें 'नवप्रयोगकाल' के बीज विकसित हुए हैं, अद्यतन काल के ब्रजभाषा साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है। इधर ब्रजभाषा की कविता के अनेक नए प्रयोगों के साथ, उसमें नई शैली के नाटक, उपन्यास, कहानियाँ आदि भी लिखे गए हैं।

ब्रजभाषा के इस 'नवप्रयोगकाल' का संबंध हिंदी के प्रयोगवादी साहित्य से बिलकुल नहीं है, यह भी स्पष्ट है। यह ठीक है कि ऐसी अनेक कविताएँ

ब्रजभाषा में भी लिखी गई हैं परंतु उनकी संख्या सीमित है और वे स्वभावतः परवर्ती काल की हैं। 'नवप्रयोगकाल' तो ब्रजभाषा के विविध प्रयोगों की प्रवृत्ति को ही सूचित करनेवाला नामकरण है।

प्रेरक परिस्थितियाँ :

ब्रजक्षेत्र की प्रादेशिक भाषा होते हुए भी आरंभ से ही ब्रजभाषा का प्रयोग सार्वदेशिक साहित्यिक भाषा के रूप में हुआ है। आधुनिक युग में भी इसका क्षेत्र पंजाब गुजरात से लेकर संपूर्ण हिंदी प्रदेश रहा है। विचित्र बात यह है कि ब्रजप्रदेश के निवासी श्रीधर पाठक ने ही सबसे पहले ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली में सफल काव्यरचना की और ब्रजभाषा के समर्थकों में अधिकांश लोग पूर्वी प्रदेश के थे। छायावाद युग में भी ब्रजभाषा प्रादेशिक भाषा मात्र न थी अपितु उसके रचयिता व्यापक क्षेत्र में विद्यमान थे। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार खड़ीबोली के कवि और लेखक देश में उत्पन्न विभिन्न परिस्थितियों से प्रभावित और प्रेरित हो रहे थे, वे ही परिस्थितियाँ ब्रजभाषा के कवियों को प्राप्त थीं। यह बात भी नहीं थी कि ब्रजभाषा के कवि, केवल वे पुराणपंथी लोग ही थे, जिनका आधुनिक शिक्षा से संपर्क ही नहीं था, वरन् ब्रजभाषा के प्रायः सभी कवि उच्च शिक्षासंपन्न विद्वज्जन थे। अंग्रेजी का भी उनका उत्तम अध्ययन था। जगन्नाथदास 'रत्नाकर', रामचंद्र शुक्ल, 'हरिऔध', अनूप शर्मा, रामेश्वर 'करुण' सभी ऐसे ही विद्वान् थे। ये सभी अपने युग के सामाजिक सांस्कृतिक घातप्रतिघातों के प्रति भी सजग थे, यद्यपि 'रत्नाकर' जैसे वरिष्ठ कवि के काव्य में, जो अंग्रेजी एवं फारसी के श्रेष्ठ विद्वान् थे, इन सामाजिक प्रतिघातों की प्रत्यक्ष छाया नहीं के बराबर है। अन्य कवियों में सामाजिक राजनीतिक चेतना प्रखर रूप में अभिव्यक्त हुई है, इसमें संदेह नहीं।

आलोच्य काल के अंतर्गत ब्रजभाषा में परंपरावादी तथा स्वच्छंदतावादी दोनों प्रकार का काव्य लिखा गया। अब इन दोनों धाराओं के काव्य पर विचार किया जाएगा।

परंपरावादी काव्य :

रीतियुग परंपरावादी काव्यरचना का युग माना जाता है। लक्षण ग्रंथों की रचना, श्रृंगार की प्रवृत्ति, अलंकरण की विशेष दृष्टि, मुक्तक काव्य की प्रधानता, उद्दीपन रूप में प्रकृतिचित्रण, श्रृंगार के परिवेश में भक्तिकाव्य की रचना, ये सभी परंपरावादी काव्य की विशेषताएँ रही हैं और जैसा कहा जा

चुका है, आधुनिक काल के आरंभिक कवि—ग्वाल, द्विजदेव, गोविंद गिल्लाभाई आदि रीतिकालीन परंपरा के ही कवि थे। भारतेंदुयुग में कवियों का व्यक्तित्व द्विधा हुआ, वे अपने अतीत से जुड़े रहने के लिये भक्ति और शृंगार की पुरानी परिपाटी की रचनाएँ भी करते थे और साथ ही सामाजिक जागरण के गान गाते थे। द्विवेदी युग में ब्रजभाषा के कवि प्रायः ब्रजभाषा में पुराने ढंग की और खड़ीबोली में नए ढंग की कविताएँ करते थे। यही क्रम बहुत कुछ छायावादी युग में भी बना रहा परंतु इन दोनों परवर्ती कालों में ब्रजभाषा में नवप्रयोग भी हुए।

आलोच्य काल का परंपरावादी काव्य भी महत्वपूर्ण है। वह गुणात्मक दृष्टि से स्वच्छंदतावादी ब्रजकाव्य से अधिक प्रौढ़ एवं उच्च कोटि का है। कारण स्पष्ट है कि ऐसी व्यवस्था को ब्रजभाषा की अतीत साहित्यसमृद्धि की परंपरा प्राप्त थी।

इस काल का परंपरावादी काव्य दो प्रकार का है--एक तो विशुद्ध रूप से लक्षण ग्रंथों की परंपरा का साहित्य जिसमें 'रसकलस' (हरिऔध), काव्यकल्पद्रुम (कन्हैयालाल पोद्दार) तथा नाट्यनिर्णय (डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल') जैसे ग्रंथों की गणना होती है। यद्यपि ये ग्रंथ विषय की दृष्टि से रीतियुक्त हैं तथापि हरिऔध के उदाहरण, एवं कन्हैयालाल पोद्दार और डा० रसाल के ग्रंथों में विवेचन की नवदृष्टि विद्यमान है। काव्यरूप की दृष्टि से सतसई और शतक-परंपरा का भी प्रचलन इस युग में रहा। वियोगी हरि की 'वीर सतसई', गोस्वामी मदनमोहन की 'राष्ट्र सतसई', अध्यापक रामेश्वर 'करुण' की 'करुण सतसई' और नवीबक्स की 'फलक सतसई' इस काल की सतसईपरंपरा की श्रेष्ठतम रचनाएँ हैं। परंतु जैसा हमें ज्ञात है, इन सतसइयों की विषयवस्तु सर्वथा नूतन है, उसमें परंपरा-भक्ति बिलकुल नहीं है। शतकों की परंपरा का प्रतिनिधित्व जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'उद्धवशतक' करता है। विषय की दृष्टि से भ्रमरगीत की भी अपनी एक परंपरा है, जिसे इस काल में 'रत्नाकर' ने सर्वाधिक दीप्ति प्रदान की है। अन्य कवियों में डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', डा० रामप्रसाद त्रिपाठी एवं अमृतलाल चतुर्वेदी की तद्विषयक रचनाएँ आती हैं।

यह तो परंपरागत काव्यरूपों की बात हुई; इसके अतिरिक्त व्यापक रूप में कवित्त सवैयों एवं अन्य प्राचीन छंदों में जो भक्ति और शृंगार की सामग्री बिखरी हुई है, उसमें भी परंपरा का बहुत बड़ा अंश है। रत्नाकर, हरिऔध एव अन्य प्रायः सभी कवियों का इस प्रकार का काव्य प्रचुर मात्रा में है। यह अवश्य है कि इस समय का यह परंपरावादी काव्य भी अपनी चेतना में कहीं न कहीं एक नवीन दृष्टि लिए हुए है।

स्वच्छंदतावाद

भारतीय साहित्य में स्वच्छंदतावाद का अवतरण योरोपीय रोमांटिक साहित्य के प्रभाव से, बँगला भाषासाहित्य के माध्यम द्वारा हुआ। प्राचीन परंपराओं के स्थान पर जब कवि निज की भावनाओं और अनुभूतियों के आधार पर स्वच्छंद मार्ग का निर्माण करता है तब एक नवीन काव्यधारा, जिसमें विषय और शिल्प दोनों की दृष्टियों से कवि स्वच्छंदता बरतता है, प्रवाहित होती है। स्वच्छंदतावादी काव्य में प्रकृति का प्रमुख स्थान होता है और जीवन को एक विशिष्ट भावदृष्टि से देखता हुआ स्वच्छंदतावादी कवि शब्द, छंद एवं अलंकारों की भी पूर्वपरंपरा से मुक्त एक नई राह निकालता है। स्वच्छंदतावाद का उदय हिंदी में भारतेंदुयुग में ही हो चुका था। भारतेंदुयुग में ठाकुर जगमोहनसिंह, श्रीधर पाठक आदि कवि स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तक कहे जाते हैं और ये सभी कवि ब्रजभाषा के ही कवि थे। अन्य गुणों के अतिरिक्त इनके काव्य में प्रकृतिवर्णन की दृष्टि स्वच्छंद और नवीन है। श्रीधर पाठक तो विषय एवं शैली दोनों ही दृष्टियों से बहुत आगे हैं। स्वच्छंदतावादी काव्यधारा का विकास खड़ीबोली की छायावादी काव्यधारा में तो हुआ ही, ब्रजभाषा में भी यह काव्यधारा अपने एकांगी रूप में प्रवाहित होती रही। एकांगी रूप में इसलिये कि छायावादी युग में भी रत्नाकर जैसे कवि प्रकृतिवर्णन में अत्यंत उदार होते हुए मूलतः परंपरावादी बने रहे। आलोच्यकाल के ब्रजभाषाकवि, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रूपनारायण पांडेय, हरिऔध आदि सभी एक ओर काव्यविषय की दृष्टि से भी स्वच्छंदतावादी हैं, दूसरी ओर अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी उनमें नवीनता है। इस युग के प्रायः सभी समर्थ कवियों ने प्रकृति के सुंदरतम चित्र प्रस्तुत किए हैं।

ब्रजभाषाकाव्य में प्रकृतिवर्णन रीतिकाल में भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है परंतु उसकी दृष्टि प्रायः उद्दीपनविभाव के वर्णन तक ही सीमित थी जबकि छायावादी युग में प्रकृति विशेषकर आलंबनरूप में, अपने निजी व्यक्तित्व के साथ चित्रित हुई है।

हास्य काव्य

छायावादी युग में ब्रजभाषा में विषयविस्तार होने के कारण और जीवन की निकटता के आग्रह से हास्य का भी अच्छा परिपाक हुआ है। छायावादोत्तर काल में भी हिंदी के प्रमुख हास्यकवियों ने ब्रजभाषा को विशेष रूप से अपनाया है, यह संयोग की ही बात नहीं है, इससे पूर्ववर्ती काल में हास्यरस की परंपरा

ही इसका कारण है। हास्यरस के कवियों में किशोरीदास वाजपेयी, देहाती, व चनेश मिश्र, हृषीकेश चतुर्वेदी, रामदयाल, गोपालप्रसाद व्यास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

अभिव्यंजनाकौशल

हिंदीकविता के इस तृतीय उत्थानकाल का कवि जिस प्रकार अपने वर्ण्य विषय में परंपरावादी और नवप्रयोगवादी रहा है, उसी प्रकार अपने अभिव्यंजनाशिल्प में उसने दोनों पक्षों पर पूर्ण अधिकार प्रदर्शित किया है।

रीतिकाल ब्रजभाषाकविता के परिष्कार का काल था। क्या भाषा, क्या छंद और क्या अभिव्यंजना शैली, सभी दृष्टियों से यह काल ब्रजकविता के उत्कर्ष का काल था। वस्तुतः प्राचीन शैली में अब और निखार या परिष्कार की अधिक गुंजाइश नहीं थी, फिर भी आधुनिक युग के, और विशेषकर छायावादी युग में ब्रजभाषा के अनेक कवियों ने परंपरावादी काव्यधारा को शिल्प की दृष्टि से भी आगे बढ़ाया है।

सबसे प्रमुख बात भाषा की है। रीतिकाल में भाषा का परिष्कार अंत में ऐसी स्थिति में पहुँच गया था, जहाँ कवि का सामान्य कविता में व्यक्तित्व ही विलीन हो जाता है। विवेच्य युग में उसी पुरानी काव्यपरंपरा को अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', नवनीत चतुर्वेदी, जगन्नाथदास रत्नाकर, वियोगी हरि, गोविंद चतुर्वेदी, रामलला एवं अन्य सहस्रशः कवियों ने न केवल जीवित रखा है, अपितु उसे आगे बढ़ाया है। अकेले 'रत्नाकर' की कविता की भाषा की समता भावगांभीर्य, प्रवाहशीलता और व्याकरण की शुद्धि की दृष्टि से रीतिकाल के कुछ ही कवि कर सकते हैं। उनका चित्रविधान, अनुभावविधान, अलंकारयोजना आदि सभी अत्यंत उत्कृष्ट हैं।

विषय के अनुसार भाषा भी परिवर्तित होती है। आधुनिक भावराशि को अभिव्यक्त करने के लिये ब्रजभाषा में सबसे बड़ा परिवर्तन हुआ है उसका बोलचाल की भाषा के निकट आना। व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग, प्रवाहशील वाक्यगठन और सुबोधता इस काल की ब्रजभाषा की ऐकांतिक विशेषता है। अपनी व्यावहारिकता के कारण युगजीवन में प्रचलित अन्य प्रदेशों एवं भाषाओं के शब्द भी आवश्यकतानुसार इस युग की ब्रजभाषा में स्वीकृत किए गए हैं। उर्दू फारसी के शब्द तो बहुत पहले से ही ब्रजभाषा में खपते आ रहे थे, इधर अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी स्वभावतः होने लगा। एक अन्योक्ति में 'फुटबाल' का कैसा स्वाभाविक प्रयोग हुआ है—

फूलि रह्यो फुटबाल तू बृथा न नीच लजात।
ठोकर दैबे काज ही, उदर भरथौ ह्वै जात ॥
(किशोरीदास वाजपेयी)

ब्रजभाषा की यह सरलता उसे लोकप्रिय बनाने में बड़ी सहायक रही है क्योंकि इस स्तर पर आकर उसका स्वरूप सुबोध हो जाता है। ब्रजभाषा न जाननेवाला भी इस छंद को सहज ही समझ लेगा—

एकन के नित स्वान हू, दूध जलेबी खाहिं।
अन्न बिना सुत एक के, 'हा रोटी' रिरिआहिं ॥
(रामेश्वर करुण)

परंतु नवप्रयोगों की भाषा का एक तीसरा रूप उन रचनाओं में सामने आता है, जिन्हें हम नई शैली पर निर्मित छायावादी रचना कह सकते हैं। इनका शिल्प खड़ीबोली के छायावादी काव्य जैसा ही है, उदाहरण के लिये—

वह नील सिखर तैं उतरी—
अनुरागमयी निसि बाला,
स्वागत कौ अवनि खड़ी लै,
सुठि साँझ सुमन की माला ।
सुभ साँवल तन पै सोहत,
तारकजुत मृदु तिमिरांचल,
मंजुल ग्रीवा पै बिथुरे,
घुँघरारे कारे कुंतल ।
(उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश')

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में ब्रजभाषा अपनी विगत समस्त शैलियों की आवृत्ति करते हुए आधुनिक जीवन की निकटता और सहवर्ती साहित्य की समता में भी अपनी शक्ति का पूरा पूरा प्रदर्शन कर सकी है। आधुनिक युग की ब्रजभाषा ने अपनी अर्थव्यंजकता को बढ़ाने के लिये लक्षणा और व्यंजना का भी खुलकर प्रयोग किया है। स्वच्छंदतावादी काव्य में इस प्रकार के अभिनव प्रयोग बहुत हुए हैं। उधर मुहावरे और लोकोक्तियों से भी भाषा को पुष्ट करने की चेष्टा की गई है। इस काल की ब्रजभाषा ने गंभीर काव्यसर्जन की योग्यता के साथ ही विविध काव्यविषयों को वहन करने के लिये अपनी अनेकरूपता सफलता के साथ प्रदर्शित की है।

छंदयोजना

यही बात छंदप्रयोग के संबंध में है। भक्तिकाल के समान ही पदशैली का

प्रयोग आधुनिक ब्रजभाषाकाव्य में भारतेंदु युग में तो हुआ ही, विवेच्यकाल में 'वियोगी हरि' जैसे कवियों ने भी पदशैली का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। कवित्तों में तो 'रत्नाकर' बेजोड़ ही हैं, यों कवित्त और सवैयों की रचना अन्य सभी ब्रजभाषा कवियों ने की ही है। दोहा भी ब्रजभाषा का पुराना छंद है। इस युग में हरिऔध, वियोगी हरि, दुलारेलाल, किशोरीदास वाजपेयी, रामेश्वर 'करुण' जगनसिंह सेंगर आदि सभी ने इस छंद में अपना कमाल दिखाया है। इन दोहों में सरल भावव्यंजना हुई है और प्राचीन सरस विषयों के साथ नवयुग को चित्रित करने की अपूर्व क्षमता भी इनमें प्रदर्शित हुई है। अन्य छंदों में चौपाई, बरवै, वीर, अरिल्ल, रोला, छप्पय, कुंडलिया आदि का प्रयोग भी आवश्यकतानुसार हुआ है। प्रबंधकाव्यों में कहीं एक ही छंद (जैसे समालोचनादर्श, हरिश्चंद्र, कलकाशी व गंगावतरण में रोला छंद का प्रयोग) और कहीं रामचंद्रिका के समान विविध छंदों का प्रयोग भी किया गया है। रामनाथ जोतिसी का 'रामचंद्रोदय काव्य' छंदों की दृष्टि से अप्रतिम रचना है।

पुराने छंदों में परंपरावादी एवं नवीन दोनों ही विषयों की रचना इस काल में की गई है, साथ ही नए छंदों का प्रयोग भी ब्रजभाषा में व्यापकता से हुआ है। ब्रजभाषा में इस युग में बहुत से गीत लिखे गए, जिनमें अनेक छंदों का संमिश्रण किया गया है। अतुकांत और मुक्त छंदों का प्रयोग भी, विशेषकर उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' तथा रामाज्ञा 'समीर' की रचनाओं में मिलता है।

लोकगीतों की शैली पर हुई ब्रजकाव्य रचना का तो लेखा जोखा ही अलग करना पड़ेगा, क्योंकि रसिया, लावनी, बहरतबील आदि के अखाड़े ब्रज के वृंदावन, मथुरा, हाथरस एवं अन्य केंद्रों में आज भी विद्यमान हैं। इन लोकगीतों में भी ब्रजभाषा का अपूर्व साहित्य भरा पड़ा है।

काव्यरूप

ब्रजभाषा की मुख्य प्रकृति मुक्तक छंदरचना की रही है परंतु आरंभ से ही उसमें प्रबंधकाव्यों की भी रचना होती रही है। भक्तिकाल और रीतिकाल दोनों ही में मुक्तक छंदों—पदशैली तथा कवित्त सवैया और दोहा—की प्रधानता होने पर भी केशवदास की रामचंद्रिका एवं देव, पद्माकर के ग्रंथों का आदर रहा है। आधुनिक काल के आरंभ में भी हमें यही प्रवृत्ति मिलती है, भारतेंदु की मुक्तक रचना के परिपार्श्व में महाराज रघुराज सिंह का रामस्वयंवर मधुसूदनदास का रामाश्वमेध, स्वयं भारतेंदु के पिता का लिखा जरासंधवध आदि सफल प्रबंधकाव्य (महाकाव्य ?) भी दिखाई देते हैं। आलोच्यकाल में ब्रजभाषा ने दोनों काव्यरूपों को अपनाया है। इस युग में महाकाव्यों में 'रामचंद्रोदय काव्य' (रामनाथ जोतिसी) और 'बुद्धचरित' (रामचंद्र शुक्ल) की रचना हुई। खंडकाव्यों में

'गंगावतरण' (रत्नाकर), 'शबरी' (वचनेश मिश्र), 'द्रौपदीदुकूल' (नाथूराम माहौर) आदि उल्लेखनीय हैं। रत्नाकर का 'उद्धवशतक' प्रबंधात्मक मुक्तक काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। डा० जगदीश वाजपेयी ने इस युग के प्रबंध और मुक्तक काव्य के बीच की, आधुनिक काल में रचित छह विधाएँ और मानी हैं—वर्णनात्मक काव्य, निबंध काव्य या पद्यप्रबंध, आख्यानक काव्य या काव्यकथा, विवरणात्मक काव्य, संबद्ध मुक्तक काव्य तथा कौतुक काव्य। इसी प्रकार गीतिकाव्य को मुक्तक से स्वतत्र मानने की आवश्यकता स्वीकार करते हुए उन्होंने इसके शोकगीति, जागरणगीति या राष्ट्रगीति, व्यंग्यगीति, संबोधगीति, वीरगीत जैसे विभाग किए हैं परंतु ये सभी काव्यरूप ब्रजभाषा में नियमित और निश्चित रूप के नहीं रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्रगीत रचनाएँ एवं मुक्तक और उनके सख्याश: संकलन भी इस काल में सफलतापूर्वक प्रणीत हुए हैं। अष्टक, दशक पचीसी, शतक एवं सतसईया की भी इस युग में रचना हुई।

अनूप शर्मा का चंपूकाव्य, जिसका प्रकाशन १६३८ ई० में हुआ, इस युग की महत्वपूर्ण कृति मानी गई है। इसमें ब्रजभाषा के गद्य और पद्य दोनों का सफल प्रयोग मिलता है।

काव्यरूपों की दृष्टि से इस काल का ब्रजभाषाकाव्य नवप्रयोगशील रहा है और उसने गुणात्मक दृष्टि से अपनी सीमाओं का पर्याप्त विस्तार किया है।

आधुनिक हिंदी कविता के तृतीय उत्थान की अवधि (सं० १९७५-१९९५) में वयोवृद्ध साहित्यकार गोविंद गिल्लाभाई (मृ० सं० १९८३), चौधरी बदरीनारायण प्रेमघन (मृ० सं० १९७९), नवनीत चतुर्वेदी (मृ० सं० १९७९), श्रीधर पाठक (मृ० सं० १९८५), राधाचरण गोस्वामी (मृ० सं० १९८२), नाथूराम शंकर शर्मा (मृ० सं० १९८९), आदि सभी, कुछ कम या अधिक समय तक जीवित रहे। ये सभी कवि जीती जागती संस्था थे, जिनके प्रभाव में अनेक कविगण काव्यरचना करते थे और ये स्वयं अविश्रांत रूप से कुछ न कुछ लिखते रहते थे। राय देवीप्रसाद पूर्ण (मृ० सं० १९७२) तथा सत्यनारायण 'कविरत्न' (मृ० सं० १९७५) इस युग के आरंभ की दहलीज पर चढ़ने से पूर्व ही स्वर्गवासी हो गए। ब्रजकोकिल सत्यनारायण 'कविरत्न', जो मृत्यु के समय केवल ३८ वर्ष के थे, उनसे ब्रजभारती को बहुत आशाएँ थीं। उनका असमय निधन ब्रजसाहित्य का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा।

भारतेंदुयुग की संध्या से अब तक निरतर काव्यरचना करनेवाले ऐसे भी अनेक कवि इस काल में विद्यमान थे, जिन्होंने इस 'नवप्रयोगकाल' की ब्रजभाषा को अपनी उत्तम रचनाएँ भेंट कीं। अयोध्यानाथ जी अवधेश, पं० अयोध्यासिंह

उपाध्याय हरिऔध', बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, लाला भगवानदीन 'दीन', कन्हैयालाल पोद्दार, सैयद अमीर अली 'मीर', वचनेश मिश्र, पं० रामचंद्र शुक्ल आदि कवि अपनी व्रजभाषा रचनाओं द्वारा पूर्वप्रतिष्ठित हो चुके थे परंतु इनकी इस काल को भी महत्वपूर्ण देन थी। बहुत से नए कवियों ने भी इस युग में व्रजभाषा को नए रंग में ढालने का प्रयत्न किया।

आगे हम इस काल के कुछ प्रमुख कवियों के जीवन और कृतित्व का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' : (जन्म सं० १९२२, मृ० सं० २००३)

हरिऔध जी का जन्म आजमगढ़ जिले के अंतर्गत निजामाबाद में सं० १६२२ में हुआ था। इनके पिता श्री भोलासिंह थे। निजामाबाद में सिखों के महंत बाबा सुमेरसिंह के संपर्क से इन्हें काव्यरचना का रंग लगा। ये संवत् २००३ तक जीवित रहे।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' खड़ीबोली के उन उन्नायकों में से थे, जिन्होंने उसे काव्यभाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया है। खड़ीबोली के प्रथम महाकाव्य के लेखक—प्रथम महाकवि भी वे ही हैं, परंतु हरिऔध जी व्रजभाषा-काव्य के भी उतने ही बड़े कवि और समर्थक थे, जितने खड़ीबोली के। उनके कविजीवन का आरंभ व्रजभाषा से हुआ परंतु खड़ीबोली के कवि होने पर भी उन्होंने कभी व्रजभाषा को नहीं छोड़ा। 'रसकलस' उनकी वृद्धावस्था में प्रकाशित रचना है। राष्ट्रीयता और सुधारवादी युग में 'रसकलस' का प्रकाशन लोगों को असंगत लगा और 'हरिऔध' जी को इसके कारण अनेक आक्षेपों का सामना करना पड़ा। कुछ लोगों ने इसे 'हरिऔध का बुढ़भस' भी कहा। रीतिशास्त्र की परंपरा में होते हुए भी हरिऔध की 'रसकलस' रचना सुधारवादी दृष्टिकोण से लिखी गई रचना है। हरिऔध जी ने 'रसकलस' के विशेष वक्तव्य में लिखा है—'समय को देखना चाहिए, और सामयिकता को अपनी कृति में स्थान देना चाहिए—आज तक जितने रसग्रंथ बने हैं, उनमें शृंगार रस का ही अन्यथा विस्तार है, और रसों का वर्णन नाम मात्र है। + + + 'रसकलस' में इन सब बातों का आदर्श उपस्थित किया गया है + + + इस ग्रंथ में देशप्रेमिका, जातिप्रेमिका और समाजप्रेमिका आदि नाम देकर कुछ नायिकाओं की भी कल्पना की गई है जो बिलकुल नई है परंतु समाज और साहित्य के लिये बड़ी उपयोगी है। इस समय देश में जिन सुधारों की आवश्यकता है, जिन सिद्धांतों का प्रचार वांछनीय है, उन सबों पर प्रकाश डाला गया है, और उनके सुंदर साधन भी उसमें बतलाए गए हैं'। उपाध्याय जी के इस वक्तव्य में जहाँ उनकी कृति की मूल प्रेरणा स्पष्ट

होती है वहाँ उस युग की प्रवृत्ति भी स्पष्ट हो जाती है। प्राचीन परिपाटी के ढाँचों में भी नवप्रयोग द्वारा नए रंग भरना, यही 'रसकलस' की सार्थकता है। शृंगार रस ही, वह भी अश्लील रूप में, कविसर्वस्व नहीं है अपितु अन्य रस भी जीवन और साहित्य में उपयोगी हैं, हरिऔध जी ने इसपर विशेष बल दिया है।

'रसकलस' में भी स्थायीभावों, तैंतीसों संचारियों, आलंबनविभाव के अंतर्गत नायिकाभेद और उसका नवीन दृष्टि से वर्गीकरण, नखशिख, नायकभेद, उद्दीपन-विभाव के अंतर्गत सखा, सखी, दूती, षट्ऋतु वर्णन, अनुभाव और तत्पश्चात् विस्तार से रसनिरूपण किया गया है। इस ग्रंथ के अवलोकन से स्पष्ट है कि हरिऔध जी में एक ओर परंपरा को शास्त्रीय रूप में ग्रहण करने की कितनी क्षमता है और साथ ही उसे युग के अनुसार परिष्कृत करने की भी। इस रचना से हरिऔध जी के कवि और आचार्य दोनों ही रूप अतिशयता से निखरे हैं। इस ग्रंथ की २१३ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका भी ग्रंथ के विषयग्रहण की दृष्टि से अत्यंत उपादेय है।

हरिऔध जी ने ब्रजभाषा को समय के अनुकूल साँचे में ढाला है। रसकलस की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है परंतु अप्रचलित ब्रजशब्दों के स्थान पर सरल और तत्सम संस्कृत शब्दों के प्रयोग से उन्होंने भाषा की संगीतात्मकता और सुबोधता को बढ़ाया है। एक विद्वान् ने हरिऔध के संबंध में लिखा है—'हरिऔध जी प्रयोगवादी कवि थे। नवीन शैली, नवीन भाषा, नवीन विचारों के संबंध में वे निरंतर प्रयोग करते रहे। ब्रजभाषा में भी उन्होंने नवीन प्रयोग किए।' (हरिऔध और उनका साहित्य)। 'रसकलस' के अधिकांश स्थल अभिव्यंजना और शिल्प की दृष्टि से प्रौढ़ हैं। ब्रजभाषा साहित्य में इस ग्रंथ का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रंथ के कुछ छंद प्रस्तुत हैं :

नायिका (देशप्रेमिका) :

पग ते गहति पग पग पै पुनीत पथ,
अमर निकर काज कर ते करति है।
गाइ गाइ गुनगन सुगुननिकेतन के,
मंजु बर लहि बर बिरद बरति है।
'हरिऔध' मानस में भूरि कमनीय भाव,
भारत की बंदनीय भूति को भरति है।
सुरधुनिधार को परसि उधरति बाल,
धरती की धूरि लै लै सिर पै धरति है।'

होरी वर्णन :

बोलि बोलि बैस बारी, ब्रज की बधूटिन कों,
लूट सी करी है वा अबीर बारे थाल की।
मारि पिचकारी ताकि कलित कपोलन में,
लाल लाल मंडली बनाई ग्वालबाल की।
'हरिऔध' चकित बनति बहु चौकति सी
चोरति सी चाल काहू मंजुल मराल की।
गोरे गोरे गाल बारी एरी वह गोरी बाल,
लाल पै चली है मूठ भरिकै गुलाल की।

श्री जगन्नाथदास रत्नाकर (जन्म सं० १९२३—मृ० सं० १९८९ वि०)

१—जीवन :

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के पूर्वज सफीदों, पानीपत से दिल्ली आकर रहने लग गए थे और बाद में लखनऊ आ गए। इनका परिवार शाही दरबारों से संबंधित रहा इसलिये धन और प्रतिष्ठा सदा इनके साथ रही। 'रत्नाकर' के प्रपितामह सेठ तुलाराम जी काशी चले आए। इसी वंश में भाद्रपद शुक्ल पंचमी, सं० १९२३ वि० को बाबू जगन्नाथदास जी का जन्म हुआ। इनके पिता बाबू पुरुषोत्तमदास अग्रवाल बड़े शौकीन और साहित्यानुरागी सज्जन थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनकी मित्रमंडली की बैठक इनके यहाँ प्रायः होती थी। बालक 'रत्नाकर' पर भी इस साहित्यिक वातावरण का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

'रत्नाकर' जी की शिक्षा का आरंभ उर्दू और फारसी के अध्ययन से हुआ। बाद में इन्होंने हिंदी और अंग्रेजी भी पढ़ी। १८९१ ई० में इन्होंने फारसी, अंग्रेजी और दर्शन विषय लेकर क्वींस कालेज से बी० ए० पास किया। आगे ये फारसी में एम० ए० तथा एल० एल० बी० की शिक्षा भी प्राप्त करना चाहते थे परंतु कुछ पारिवारिक कारणों से इन्हें कालेज छोड़ना पड़ा।

'रत्नाकर' जी ने सन् १९०० में अवागढ़ रियासत में खजाने के निरीक्षक की नौकरी की परंतु वह कार्य इनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं था इसलिये ये शीघ्र ही बनारस लौट आए। सन् १९०२ में ये अयोध्या के महाराज प्रतापनारायण सिंह देव के निजी सचिव नियुक्त हुए। सन् १९०६ में राजासाहब की मृत्यु हो गई। बाद में महारानी ने इन्हें अपना विश्वासपात्र समझकर अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाया। उस समय उत्तराधिकार के अनेक झगड़े रियासत में उठ खड़े हुए थे। बड़ी कठिनाई से सन् १९२० तक ये उन सब पर विजय प्राप्त कर सके।

'रत्नाकर' जी का व्यक्तित्व प्रभावशाली था। उनका भारी भरकम शरीर, कांतिमान् मुखमंडल और भव्य पोशाक उन्हें सबसे अलग कर देती थी। अंग्रेजी पढ़े लिखे होने के बाद भी ये भारतीय वेशभूषा—कुर्ता, धोती, दोपल्ली टोपी और चादर ही धारण करते थे, बाद में अयोध्या जाने पर, अचकन, कुर्ता, चूड़ीदार पायजामा और गोल टोपी ही इनका पहनावा था। आँखों में सुरमा और वस्त्रों में इत्र लगाने का उन्हें शौक था। हुक्का पीना और पान चबाना उन्हें प्रिय था। घोड़े की सवारी का भी शौक था। बंबई में रहकर मोटर चलाना भी सीखा था। कबूतर पालना और संगीत सीखना भी इन्हें प्रिय था। वस्तुतः उनका रहन सहन रीतिकालीन सामंतों जैसा था, परंतु इस सबके परे उनका साधनामय जीवन था, जिसका प्रभाव उनके निकट के लोगों पर और भी तीव्रता से पड़ता था।

रत्नाकर जी सौंदर्यप्रेमी थे। देशदर्शन के लिये इन्होंने अनेक यात्राएँ कीं। गर्मियों में शिमला, नैनीताल, हरिद्वार या काश्मीर जाया करते थे।

रत्नाकर जी प्राचीन मूर्तियों एवं चित्रों का भी संग्रह करते थे। प्राचीन शिलालेखों और ग्रंथलिपियों को पढ़ने में भी इनकी रुचि थी।

२—साहित्य :

साहित्यिक संस्कार मिलने के कारण ये बचपन से ही तुकबंदी करने लग गए थे। इनकी एक रचना पर प्रसन्न होकर भारतेंदु ने आगे चलकर श्रेष्ठ कवि होने की भविष्यवाणी की थी। साहित्य में 'रत्नाकर' का प्रवेश समस्यापूर्ति के माध्यम से हुआ। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनका साहित्यप्रवेश काल १८८६ ई० माना है। एक ही वर्ष में ये साहित्यिकों के बीच प्रतिष्ठित हो गए। सन् १८९४ में इन्होंने 'साहित्यरत्नाकर' शीर्षक लेख अपने पत्र 'साहित्य सुधा-निधि' में प्रकाशित कराया। सन् १८९४ में इनके 'हिंडोला' नामक काव्य, अलेक्जेंडर पोप की कृति 'ऐन एस्से आन क्रिटिसिज्म' का ब्रजभाषा पद्यानुवाद 'समालोचनादर्श' तथा 'समस्यापूर्ति संग्रह' भाग १ प्रकाशित हुए। नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना में इन्होंने तन मन से योग दिया। सन् १८९९ में इन्होंने 'हरिश्चंद्र' नामक प्रबंधकाव्य प्रकाशित कराया। सन् १९०२ तक इन्होंने 'कलकाशी' नामक वर्णनात्मक काव्य के अधिकांश भाग की रचना कर डाली थी। इस बीच इनके अनेक शोधपूर्ण लेख भी प्रकाशित हुए।

प्राचीन ग्रंथों के संपादन का महत्वपूर्ण कार्य भी रत्नाकर जी ने इसी काल में किया। इनके इस काल में संपादित ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—

सुधासार--प्राचीन कवियों के श्रृंगारिक छंदों का संग्रह (सन् १८८७ ई०), दूलह कवि कृत 'कविकुल कंठाभरण' (सन् १८८९ ई०), ब्रह्मदत्त कवि कृत 'दीप-प्रकाश' (१८८६ ई०) सुंदर कृत 'सुंदर श्रृंगार' तथा नृपशंभु कृत 'नखशिख' (सं० १८९३ ई०), चंद्रशेखर वाजपेयी कृत 'नशशिख' (१८९४), चंद्रशेखर वाजपेयी का ही 'हम्मीर हठ' (१८९३ ई०), और 'रसाविनोद' (१८९४ ई०), लखनऊ में उर्दू शायर 'कलक' की रचना 'वासोख्ते कलक' (१८९४ ई०), कृपाराम कृत 'हिततरंगिणी (१८९४ ई०), केशव कृत 'नखशिख' (१८९६ ई०), घनानंद की कृति 'सुजानसागर' (१८९७ ई०)।

रत्नाकर की साहित्यसाधना के दो पृथक् भाग हैं : इनका पहला साधनायुग है सन् १८८९ से १९०२ तक। इसके बाद वे अयोध्या महाराज के यहाँ चले गए और सन् १९२० तक प्रायः कोई रचना न कर सके। सन् १९२० से १९३२ पर्यंत इनके जीवन का उत्तरार्ध रचनाकाल है, जो हमारे आलोच्य काल के अंतर्गत है। वस्तुतः रत्नाकर जी की सभी श्रेष्ठ कृतियों का प्रणयन इन्हीं वर्षों में हुआ।

इस काल में लिखे उनके मौलिक ग्रंथों के नाम हैं—गंगावतरण (१९२७ ई०), उद्धवशतक (१९२९ ई०), श्रृंगारलहरी, गंगालहरी, विष्णुलहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक तथा प्रकीर्ण पद्यावली।

'बिहारी रत्नाकर' का प्रकाशन और सूरसागर के संपादन का अधिकांश कार्य भी इसी काल में हुआ। इस बीच उन्होंने अनेक ऐतिहासिक, साहित्यिक, लेख तथा अनेक भाषण भी प्रस्तुत किए।

सन् १९३२ ई० में, हरिद्वार में, 'रत्नाकर' जी का स्वर्गवास हो गया।

गंगावतरण—'गंगावतरण' काव्य की रचना रत्नाकर जी ने अयोध्या की महारानी की प्रेरणा से की। इस काव्य में प्रसिद्ध पौराणिक कथा को काव्यरूप दिया गया है। कथा का मूल आधार वाल्मीकि रामायण है, परंतु इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत, देवी भागवत एवं विष्णुपुराण आदि से भी उन्होंने इस प्रसंग की घटनाओं को चुना है। इस काव्य में कुल १३ सर्ग हैं। इसके चौथे सर्ग की कथा विशेष रूप से श्रीमद्भागवत वर्णन से मेल खाती है। रत्नाकर जी कृष्णभक्त थे अतः उन्होंने गंगा को गोलोकस्थ राधाकृष्ण के प्रेम का द्रवित सुधारस बताया है। शेष कथापुराण प्रसिद्ध है, जिसे कवि ने विभिन्न अध्यायों में विभाजित कर एक सुसंगठित काव्याधार निर्मित किया है।

'गंगावतरण' में मानव प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। भाव और

अनुभावों की सुष्ठु योजना से अनुभूति का सहज प्रस्फुटन होता है। राधाकृष्ण का एक सुंदर रूपचित्र देखिए—

दोउ दोउनि कों निरखि हरषि आनँद रस चाखत।
दोउ दोउन की सुरुचि मूक भावनि सों राखत।
दोउ दोउन की प्रभा पाइ इकरँग हरियाने।
इक मन, इक रुचि, एक प्रान, इक रस सरसाने।
मुखनि मंद मुसकानि कृपा उमगानि बतावति।
चखनि चपलता चारु ढरनि-आतुरी जनावति।
जो ब्रह्मांड-निकाय माहिं सुखमा सुघराई।
द्वै दल ताके परम बीज के सुभ सुखदाई।

राधाकृष्ण का दार्शनिक महत्व, उनकी युगलकांति का सुंदर संमिलन और परस्पर अकथ प्रेमभाव की उमंग अपनी गतिशीलता के साथ इन पंक्तियों में चित्रित है।

'गंगावतरण' की प्रमुख विशेषता है उसका उन्मुक्त प्रकृतिचित्रण। रत्नाकर प्रकृतिप्रेमी थे; उन्होंने बड़े बड़े पर्वत प्रांतों में नदियों का जो उद्गम और प्रवाह देखा था, मानों उस सबको उन्होंने अपनी कल्पना से और विराट् बनाकर गंगावतरण में साकार बना दिया है। इस काव्य में उनकी प्रकृतिचेतना स्वर्ग और पृथ्वी दोनों को आत्मसात् किए हुए है। कहीं उसके वेगमय प्रवाह का गतिशील वर्णन है। विस्तार, ओज, कांति—सभी गुणों का इन दृश्यों में सजीव अंकन हुआ है। ब्रह्मा के कमंडल से निकलने में गंगा के मन की उमंग उसकी गति में साकार हो गई—

निकसि कमंडल ते उमड़ि, नभमंडल खंडति।
धाई धार अपार वेग सों वायु विहंडति।
भयौ घोर अति शब्द धमक सौं त्रिभुवन तरजे।
महा मेघ मिलि मनहुँ एक संगहि सब गरजे।

यहाँ से आरंभ होनेवाले वर्णन में गंगा का ओज चित्रित है। भावानुकूल शब्दरचना रत्नाकर की विशेषता है। अर्थ के अनुकूल उनके शब्द पहले से ही बोलते और वातावरण बनाते हैं। तभी तो गांग प्रवाह की विविधता के वर्णन में ही कवि रससंचार करने की अपूर्व क्षमता प्राप्त कर सका है। गंगावतरण की भाषा प्रसाद गुणयुक्त है और साथ ही ओजपूर्ण है। भाषा अलंकृत है। परंतु अलंकार भावानुगामी है। ब्रजभाषा की आनुप्रासिकता का पूरा पूरा लाभ उन्होंने उठाया है। यह काव्य रोला छंद में लिखा गया है। ग्रंथारंभ तीन छप्पयों से हुआ है, सर्गांतों में उल्लाला और ग्रंथ की समाप्ति एक दोहे से हुई है।

गंगावतरण प्रकृति वर्णन की दृष्टि से हिंदी की अनुपम कृति है।

उद्धवशतक—उद्धवशतक रत्नाकर जी की प्रौढ़तम कृति है। उनके काव्य भ्रमरगीत परंपरा का आरंभ सूरदास जी ने जिस काव्योत्कर्ष के साथ किया था उसी का एक दूसरा सशक्त और उत्कृष्ट छोर रत्नाकर जी का उद्धवशतक है। उद्धवशतक एक कालजयी रचना है। इसी कृति ने रत्नाकर जी को खड़ीबोली के इस युग में भी एक शीर्षस्थानीय कवि सिद्ध किया है।

उद्धवशतक की कथा भ्रमरगीत की परंपरागत कथा है परंतु कवि ने इसमें आवश्यकतानुसार मौलिक परिवर्तन भी किए हैं। आरंभ में ही रत्नाकर जी ने प्रसंग की अवतारणा के लिये यमुना में स्नान करते हुए कृष्ण को एक मुरझाए कमलपुष्प के माध्यम से राधा का स्मरण कराया है। इसमें नाटकीयता तो है ही, मानवीय भावना की सुदृढ़ पृष्ठभूमि भी है। ब्रज के प्रति कृष्णप्रेम की विह्वलता का कवि ने विस्तार से वर्णन किया है और इस प्रकार रत्नाकर ने तुल्यानुराग की सिद्धि से अब तक भँवरगीतों की प्रेमपरंपरा का परिमार्जन ही किया है। इस काव्य में उद्धव गोपियों को उपदेश देने नहीं अपितु 'एक बार गोकुल गली की धूर धारने' के लिये जाते हैं। उद्धव अभी ब्रज के सिवाने में पहुँचे ही थे कि उनका 'ब्रह्मज्ञान' खिसकने लगा। रत्नाकर का विश्वास था कि 'बरसाने' में ऐसी कोई 'बयार' बहती है जो ज्ञानी को भी 'पुलक' से 'पसीज' डालती है।

उद्धवशतक विरहकाव्य है। पहले कृष्ण का विरह और फिर गोपी विरह। दोनों के साक्षी उद्धव। उद्धव कहने को ब्रह्मज्ञानी थे, पर गोपीप्रेम को देखकर सकबके से, हिराने से हो गए। परंपरा से इस प्रसंग में निर्गुण निराकार का खंडन और सगुण साकार की प्रतिष्ठा होती आई है। नंददास ने अपने दार्शनिक ज्ञान का भी इस प्रसंग में सहारा लिया था परंतु रत्नाकर विशुद्ध रूप से व्यवहारवाद के आधार पर निर्गुण का खंडन करा देते हैं। 'कर बिनु' कैसे हमारा 'दूध दुहेगा' और साथ ही वाग्वैदग्ध्य से, व्यंग से हवा में उड़ जाता है उद्धव का पक्ष, और गोपियों का कृष्णप्रेम विजयी हो जाता है। परंतु दार्शनिक या समझ की विजय काव्य के किस काम की। गोपियों की विजय उनके प्रेम की, करुणा की, विह्वलता की, त्याग की, तपस्या की और क्षमायाचना की विजय है—

ऊधौ यहै सूधौ सौ संदेश कहि दीजो एक
जानति अनेक ना विवेक ब्रजबारी हैं।
कहै रत्नाकर असीम रावरी तौ छमा,
छमता कहाँ लौं अपराध की हमारी है।
दीजै और ताजन सबै जो मन भावै पर,
कीजै ना दरस-रस-बंचित बिचारी है।

भली हैं बुरी हैं औ सलज्ज निरलज्ज हू हैं
जो कहौ सों हैं पर परिचारिका तिहारी हैं।

उद्धवशतक की भावव्यंजना निगूढ़ और उत्कृष्ट है। शास्त्रीय दृष्टि से विप्रलंभ की सभी दशाओं को ढूँढ़ना तो इसमें सामान्य बात है, इस काव्य की एक एक पंक्ति में प्रकट होनेवाली गोपियों की विरह की हूक, पाठक के हृदय में लूक के समान लगती है। अनुभूति की विदग्धता इसी को कहते हैं। अनुभावों की योजना तो इसमें अनुपम है, ऐसी शायद ही कहीं मिले। अनुभावों की लड़ी की लड़ी भावों को गतिशील चित्र के रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ है। कवि कहकर नहीं, संकेत से कहने में अधिक विश्वास रखता है।

अभिव्यंजना की उत्कृष्टता उद्धवशतक की अन्यतम विशेषता है। बहुतों का विचार है कि उद्धवशतक भाव की दृष्टि से उतना अनुपम नहीं है, जितना इसकी अभिव्यंजना ने इसे उत्कृष्ट बना दिया है। प्रौढ़ और परिनिष्ठित भाषा, अलंकारों का स्वच्छ, संतुलित यथावश्यक प्रयोग और निर्वाह रससिद्धि में सर्वत्र सहायक है। भाषा में मुहावरे और लोकोक्ति, उसमें प्रसाद और माधुर्यगुणों की सहज व्यंजकता है। उद्धवशतक मुक्तक होते हुए प्रबंधात्मक रचना है, यह भी इसकी प्रभावसिद्धि का बड़ा कारण है। निस्संदेह उद्धवशतक इस युग की एक उत्कृष्ट कृति है।

रामनाथ जोतिसी : (जन्म सं० १९३१)

१—जीवन :

अपने ग्रंथ 'रामचंद्रोदय काव्य' के अंत में कवि ने स्वयं अपना परिचय पद्यबद्ध रूप में इस प्रकार दिया है—रायबरेली के निकट, बछरावापुर है और उसके निकट है भैरवपुर ग्राम। यहीं कान्यकुब्जों के सुकुलों में विद्वान् विंध्याप्रसाद के यहाँ, माता कल्याणी देवी ने सं० १९३१ वि० की मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थी को 'विद्याभूषण' रामनाथ जोतिसी को जन्म दिया और उन्होंने 'अवधपुरी' में पचास वर्ष की आयु में यह ग्रंथ पूर्ण किया :

रायबरेली प्रांत निकट बछरावा कौ पुर
'विद्याभूषण' रामनाथ कवि, पुर भैरवपुर
कान्यकुब्जकुल सुकुल, तात बिंध्याप्रसाद बुध
कल्यानी पतिदेव, जननि जनि मार्ग चौथि सुध।
महिगुन नवेंदु बैक्रम जनमि, जन्मदिवस बय ब्रह्म सर।
भो अवधपुरी में 'जोतिसी', रचित राम-जस पूर्न तर।

'जोतिसी' जी की ही रचना के अनुसार रायबरेली में रघुवीर बक्स राजा के

यहाँ प्रधानाध्यापक रघुनंदन झा शास्त्री थे, जिनकी कृपा से जोतिसी जी ने विज्ञान, व्याकरण, न्याय, नीति, ज्योतिष एवं काव्य पढ़ा। वे बारह वर्ष तक चंदापुर के राजा के साथ रहे। उसके बाद अयोध्या में राजा प्रतापनारायण, जिनकी पत्नी का नाम जगदंबा था और पुत्र का नाम जगदंबिकानारायण था, के यहाँ राजज्योतिषी, राजकवि और पुस्तकाध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए। अब अयोध्या में इनका निवास है और सियाराम के चरणों की भक्ति करते हैं।

रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है कि 'ज्योतिषी जी उन कवियों में से हैं. जो स्वांतःसुखाय काव्यरचना करते हैं और लोकप्रसिद्धि से थोड़ा दूर ही रहना पसंद करते हैं।'

२—रामचंद्रोदय काव्य

'जोतिसी' जी ब्रजभाषा के सिद्धहस्त कवि थे। उनके इस ग्रंथ 'रामचंद्रोदय काव्य' का प्रकाशन पहले अवध प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ से सन् १९३५ में हुआ था परंतु पुस्तक यों ही पड़ी रही। 'देव पुरस्कार' के निर्णायकों ने जब सं० १९९३ (सन् १९३७) में ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार, 'देवपुरस्कार' से इसे पुरस्कृत किया तो यह ग्रंथ विद्वानों को दृष्टि में आया। तभी रामपाल-साहित्य-निकेत, कुर्री सुदौली, रायबरेली से सन् १९३७ में इस ग्रंथ का नया संस्करण हुआ। समीक्षकों द्वारा इस ग्रंथ की बड़ी प्रशंसा की गई। रामनरेश त्रिपाठी ने इसकी भूमिका में लिखा है—'श्रीरामचंद्रोदय काव्य वर्तमान ब्रजभाषा का एक उत्कृष्ट एवं अद्भुत काव्य है। इस ग्रंथ की प्रत्येक पक्ति में, एक रससिद्ध कवि का हृदय निवास करता है—इसके प्रत्येक छंद में एक नया रस है, इसकी प्रत्येक पंक्ति में एक नया जीवन है और इसके प्रत्येक शब्द में किसी हृदयसंपन्न कवि की आत्मा का एक मधुर संदेश है—मैं बिना संकोच के कह सकता हूँ कि आधुनिक ब्रजभाषा का यह सर्वश्रेष्ठ काव्यग्रंथ है।' त्रिपाठी जी का यह मत अनेक अंशों में उचित ही है। शुक्ल जी ने भी इस ग्रंथ की प्रशंसा की है। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने इसे पढ़कर लिखा था—(इसे पढ़कर) वह आनंद आ जाता है जो तुलसी, केशव और भूषण के काव्यों में मिलता है। डा० रामकुमार वर्मा की भी यही संमति थी, "उसमें मुझे वैसा ही पांडित्य और काव्योत्कर्ष मिला, जैसा महाकवि केशव की रामचंद्रिका में मिलता है।" ये सभी मत इस ग्रंथ की प्रशंसा की दृष्टि से सटीक और समुचित हैं। सरल और साहित्यिक ब्रजभाषा में लिखा यह प्रौढ़ ब्रजभाषाकाव्य विषय एवं अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से प्राचीन कवियों की परंपरा में रखने योग्य है।

ग्रंथ की विषयवस्तु रामचरित्र से ही संबंधित है परंतु इस काव्य में मूलतः राम के जन्म से लेकर उनके विवाह के पश्चात् अयोध्या-निवासकाल तक का ही

वर्णन है। कवि ने लिखा है कि अयोध्या में रामवल्लभशरण जी के कथास्थल पर एक दिन वे रामविवाह पर व्याख्यान कर रहे थे, उस समय उन्होंने सियाराम की शोभा पर एक कवित्त भी सुनाया। तभी उन्हें यह वाणी सुनने को मिली कि यदि ऐसी ही कविता में पूरा ग्रंथ लिखा जाय, तो कितना अच्छा हो। अयोध्या का निवास, उसके इतिहास का प्रसंग, अयोध्या के राजा के यहाँ वृत्ति आदि सभी कारणों से उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की। उन्होंने राम के चरित्र को अयोध्याप्रसंग तक संभवतः इसीलिये सीमित रखा, क्योंकि अयोध्या का गौरव-वर्णन ही उनका विशेष उद्देश्य था।

ग्रंथरचना सोलह कलाओं में हुई है। प्रथम कला में मंगलाचरण, लेखनी-उत्कर्ष, ग्रंथारंभकारण, अवतारकारण, काव्यादर्श आदि का वर्णन है। दूसरी कला में सूर्यवंशवर्णन, दशरथ के चारों पुत्रों का जन्म, विश्वामित्र का आगमन और रामलक्ष्मण को ले जाने का वर्णन है। सातवीं कला तक सीता और राम का विवाह और उसके बाद विदा और अयोध्या में उनके स्वागत का वर्णन किया गया है। आठवीं कला में श्रीराम और सीता जी की अष्टयामचर्या, नवीं में षट्ऋतुवर्णन, दसवीं में ग्रामवधूटियों को सीता जी का उपदेश, ग्यारहवीं कला में वर्णव्यवस्था, बारहवीं में आश्रम व्यवस्था, तेरहवीं में राजनीतिवर्णन, चौदहवीं में साधारण नीति, पंद्रहवीं में वेदांत-वैद्य-विद्या और सोलहवीं कला में स्तुति, विषयसूची, ग्रंथपरिचय, कविपरिचय और त्रिदेववंदना के साथ ग्रंथ की समाप्ति हुई है।

'रामचंद्रोदय काव्य' में रीतिकाव्य की संपूर्ण चेतना विद्यमान है। रामस्तोत्र के साथ इधर उधर के वर्णनों और उपदेश आदि की गुंजाइश कवि ने सर्वत्र निकाल ली है। ग्रंथ का उत्तरार्ध तो उपदेशों से ही संवलित है, परंतु इन सबमें कवि ने परंपरा के साथ अपने युग में सुधार की भावना को भी बराबर प्रश्रय दिया हैं। दूसरी कला में ही, जहाँ कवि अयोध्या का वर्णन करता है, वहाँ वह अपनी आँखों देखी अयोध्या का वर्णन कैसे न करे, अतः प्रसंग से हटकर उसने 'बीसवीं शताब्दी की अयोध्या' का लंबा चौड़ा वर्णन, वर्तमान परिस्थितियों के प्रति क्षोभ व्यक्त करने के लिये किया है—

दो०—दिव्य भूमि सुरपुर-सरिस त्रिभुवन प्रगट प्रताप।
अब तेहि अवध-प्रबंध-गति, उलटि गई सब आप॥

छं०—छत्रन के मे खेत, देवमंदिर बेस्यालय।
जज्ञ धर्म तजि बेद बने नव ग्रंथ स्वार्थमय।
त्यागि जोतिसी कर्म तोरि, बरनास्रम टाटी।
दिव्यभूमि गइ कपट कीस, बिधवा मल पाटी।

हा चिलम-धूम-धूपित अवध, चहुँ दिसि परे मसान हैं।
अब ह्याँ बिरक्त भोगीन के, सिर चढ़ि काटत कान हैं।

कवि की दृष्टि की सामयिकता सीता जी और ग्राम बधूटियों के प्रसंग में भी देखने को मिलती है। भगवान् राम के एकपत्नीव्रत का वर्णन भी कवि की सुधारभावना पर आधारित है, परंतु कुछ ऊहात्मक हो गया है—

आन तियान पै डार्यौं न डीठि, कबौ करि पीठि न प्रेम उछाह्यौ।
चित्र की बाम ललाम लख्यौ न, कहूँ रन में गहि सक्ति उमाह्यौ।
'जोतिसी' देव बधूटिन सौं निज कारज को चित चेति न चाह्यौ।
देख्यौ न स्वप्न में आन तिया नित एक प्रियाव्रत राम निबाह्यौ।

पुरानी परंपरा के प्रसंग में ग्रंथिबंधन करनेवाली नाइन की दशा का वर्णन भी उद्धरणीय है। इसमें भाषा की प्रसाद-गुण-संपन्नता और भावाभिव्यक्ति की सफाई भी साथ ही लक्षणीय है—

झपटि अटा पै जात आवत न लावै बेर
प्रेम मदमाती भई नाईन किसोरी है।
घर घर द्वार द्वार अंगना निहोरै सबै,
एरी सुनौ मेरी एक बात रसबोरी है।
'जोतिसी' जगी ती भरी भीर नृप आँगन में
देवद्विज नृपति विलोकति न चोरी है।
जो री काल्हि काहू तें न जोरी प्रीति रीति आली,
तासों बरजोरी आज गाँठि हम जोरी है।

छंदप्रयोग की बहुलता की दृष्टि से भी यह रचना महत्वपूर्ण है। आधुनिक ब्रजभाषा काव्य में यह ग्रंथ अपने विशिष्ट स्थान का अधिकारी है।

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' (जन्म सं० १९४० वि०)

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' का जन्म श्रावण शुक्ल त्रयोदशी, सं० १९४० वि० में उन्नाव जिले के हड़हा नामक ग्राम में हुआ। यह गाँव बैसवाड़ा क्षेत्र के अंतर्गत है। सनेही जी के पिता पं० अवसेरीलाल शुक्ल बड़े साहसी और देशभक्त व्यक्ति थे। १८५७ ई० के स्वातंत्र्य संग्राम में उन्होंने भी जमकर भाग लिया और ब्रिटिश सरकार के कोपभाजन बने। देशभक्ति और वीरभाव की यह परंपरा सनेही जी को अपने पिता से ही प्राप्त हुई।

सनेही जी आरंभ से ही मेधावी छात्र रहे। काव्यरचना का शौक इन्हें बचपन से ही था। सगवर के ठाकुर रामपालसिंह के सान्निध्य में इन्होंने बड़ी

सुंदर ब्रजरचनाएँ लिखीं। परंतु काव्यशास्त्र का सम्यक् अनुशीलन इन्होंने हड़हा निवासी लाला गिरधारीलाल जी के चरणों में बैठकर किया। लाला जी रीतिशास्त्र के बड़े पंडित और ब्रजभाषा के सिद्धहस्त कवि थे।

सनेही जी ने अपनी जीविका के लिये शिक्षक की वृत्ति अपनाई थी। सन् १९०२ में वे शिक्षण पद्धति का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये दो वर्ष लखनऊ आकर रहे। यहाँ उनकी प्रतिभा का और भी विकास हुआ तथा वे ब्रजभाषा, खड़ीबोली एवं उर्दू के कवियों के संपर्क में आए। सनेही जी इन तीनों भाषाओं में काव्यरचना करते थे परंतु रससिद्ध कविता की दृष्टि से वे प्रमुखतः ब्रजभाषा के ही कवि थे। उनकी प्रसिद्धि होने पर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उन्हें खड़ीबोली काव्यरचना की ओर प्रेरित किया और इस क्षेत्र में भी सनेही जी का अद्वितीय स्थान रहा परंतु ब्रजभाषा में भी वे आजीवन लिखते रहे। शिक्षा विभाग में नौकरी करने के कारण उन्होंने अपनी राष्ट्रीय कविताएँ 'त्रिशूल' उपनाम से लिखीं। सनेही जी के काव्यव्यक्तित्व के दो भिन्न रूप हैं, 'सनेही' नाम से वे परंपरागत और रससिद्ध कविताएँ करते थे और 'त्रिशूल' उपनाम से वे समाजसुधार और स्वाधीनताप्रेम की रचनाएँ लिखते थे। 'तरंगी' और 'अलमस्त' ये दोनों भी सनेही जी के उपनाम हैं।

सनेही जी का भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम में भी महत्वपूर्ण भाग रहा है। असहयोग आंदोलन के समय उन्होंने टाउन स्कूल की हेडमास्टरी से त्यागपत्र दे दिया और कानपुर को अपना कर्मक्षेत्र बनाकर स्वाधीनता के कार्यों में अपने को खपा दिया।

सनेही जी की आरंभिक रचनाएँ 'रसिक रहस्य', 'साहित्य सरोवर' 'रसिकमित्र' आदि पत्रों में प्रकाशित होती थीं। बाद में वे 'सरस्वती' में भी लिखने लगे। 'प्रताप' में उनकी क्रांतिकारी रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। 'दैनिक वर्तमान' के वे संस्थापकों में से थे। गोरखपुर से निकलनेवाले 'कवि' का संपादन उन्होंने वर्षों किया। सन् १९२८ में उन्होंने कविताप्रधान पत्र 'सुकवि' निकाला, जिसका संपादन-संचालन सनेही जी निरंतर २२ वर्षों तक करते रहे। इस पत्र में पुराने और नए—दोनों श्रेणियों के कवियों की रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। समस्यापूर्ति इसका एक स्थायी स्तंभ था, जिसके कारण कविता का प्रचार प्रसार तो हुआ ही, न जाने कितने सहृदयों को सनेही जी ने रचनाकार भी बना दिया। सनेही जी ने अपने जीवन में असंख्य कवियों को काव्याभ्यास कराकर सत्काव्यरचना में प्रवृत्त किया। आज के अनेक प्रसिद्ध कवि अपने को

सनेही जी का शिष्य कहने में गौरव का अनुभव करते हैं। उन्होंने कविसंमेलनों की परंपरा का भी विकास किया और जीवन में शतशः कविसंमेलनों का सभापतित्व भी किया।

सनेही जी का रचनाकाल और रचना का विषयक्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। उनका साहित्य अनेक पत्रपत्रिकाओं में बिखरे रूप में प्रकाशित है। उनकी प्रकाशित रचनाओं में प्रेमपच्चीसी, कुसुमांजलि, कृषकक्रंदन, त्रिशूलतरंग, राष्ट्रीय मंत्र, संजीवनी, राष्ट्रीय वाणी, कलामे त्रिशूल तथा करुणाकादंबिनी है। स्पष्ट है कि सनेही जी के प्रकाशित साहित्व में ब्रजभाषाकाव्य का अंश नगण्य है। जैसा कहा जा चुका है कि सनेही जी का रससिद्ध व्यक्तित्व उनके ब्रजभाषा काव्य में ही प्रगट हुआ है। अतः उनकी ब्रजरचनाओं के स्वतंत्र संग्रह के संपादन प्रकाशन की नितांत आवश्यकता है।[१]

सनेही जी का ब्रजभाषा काव्य

जिन दिनों सनेही जी ने काव्यरचना का आरंभ किया था, उन दिनों ब्रजभाषा ही काव्य की समादृत भाषा थी। सनेही जी की काव्यशिक्षा भी ब्रजभाषा काव्यपरंपरा के अंतर्गत हुई और वे शीघ्र ही ब्रजभाषा के सुकवि के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। यह सत्य है कि अपने विकासकाल में उन्होंने भी खड़ीबोली को अपनाया और उनका समस्त आधुनिक कृतित्व खड़ीबोली में ही प्रकाशित हुआ, फिर भी सनेही जी ने सदा ही ब्रजभाषा काव्यपरंपरा को सुदृढ़ किया, उसमें स्वयं रचनाएँ करते रहे और उसका प्रभाव बनाए रहे। इस संबंध में आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने भी लिखा है—'पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के प्रभाव से कानपुर में ब्रजभाषाकाव्य के मधुरस्रोत अब भी बराबर वैसे ही चल रहे हैं, जैसे 'पूर्ण' जी की समय में चलते थे।'

सनेही जी का ब्रजभाषाकाव्य स्फुट रूप में 'रसिकरहस्य,' 'रसिकमित्र', 'काव्यसुधा', 'सुधासरोवर,' आदि अनेक पत्रपत्रिकाओं के अंकों में भरा पड़ा है। उनकी प्रथम कृति 'प्रेमपच्चीसी' का प्रकाशन सन् १९०५ के आस पास हुआ था।

[१] प्रसन्नता की बात है कि पंडित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के संमान में कानपुर नगर महापालिका की ओर से सन् १९६४ ई० में 'आचार्य सनेही अभिनंदन ग्रंथ' भेंट किया गया। सनेही जी के जीवन और कृतित्व से संबंधित महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन इस ग्रंथ में हुआ है परतु अभी उनकी रचनाओं के प्रकाशन की आवश्यकता ज्यों की त्यों बनी हुई है।

इसमें शृंगार रस के ब्रजभाषा में लिखे पच्चीस छंदों का संकलन किया गया था। 'प्रेमपच्चीसी' का एक छंद यहाँ प्रस्तुत है—

जेहि चाह सों चाह्यो तुम्हें प्रथमै
अबहूँ तेहि चाह सों चाहनौ है।
तुम चाहौ न चाहौ लला हमकों
कछु दीबो न याकौ उराहनौ है।
दुख दीजै कि कीजै दया दिल में
हर रंग तिहारौ सराहनौ है।
मन भावै करौ मनभावन सो
हमें नेह कौ नातौ निभावनौ है।

समय के साथ सनेही जी का ब्रजभाषाकाव्य भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से समृद्धतर होता गया। उन्होंने राधाकृष्ण के माध्यम से प्रेमव्यंजना को अपने ब्रजभाषाकाव्य में सर्वप्रमुख स्थान दिया है। इस प्रेमवर्णन में वे भक्तिकाल के कवियों की अपेक्षा रीतिकाल के कवियों से अधिक प्रभावित हैं। इतना अवश्य है कि उनमें रीतिकाल के अधिकांश कवियों के समान हृदयानुभूति का अभाव और केवल कलात्मकता ही नहीं है, अपितु इनकी रचनाएँ प्रसाद गुण लिए हुए अनुभूतियों का विशद वर्णन ही हैं। उद्धव और गोपी संवाद जैसे प्रसिद्ध कथापरंपरा के एक छंद में गोपियाँ अपने प्रिय कृष्ण के प्रति कैसा मार्मिक उपालंभ देती हैं—

वह सूधे सुमारग ही पै चलैं, हम प्रेम की गैल लई सो लई।
उर सीतल आपनौ राखैं सदा, हम तापन सों हैं तई सो तई।
इन चौंचंदहाइन का परी है, हम सों भई भूल भई सो भई।
अपनी कुलकानि सँभारे रहैं, हमरी कुलकानि गई सो गई।

प्रेम के विषय में श्रीकृष्ण की निस्संगता को आधार बनाकर सनेही जी ने विरहिणी गोपियों की स्थिति को किस प्रकार आमने सामने रखकर इस छंद में प्रस्तुत किया है, यह देखते ही बनता है। वस्तुतः प्रेमी के हृदय को पल भर के लिये भी चैन नहीं मिलता। ब्रजभाषा में इस प्रेम की पीर का प्रतीक चातक है, जिसके हृदय की डोर निरंतर अपने प्रियतम से लगी रहती है, चाहे उसे बारहों मास प्यासा ही रहना पड़े—

नव नेह कौ नेम निबाहत चातक, कानन ही में मवासौ रहै।
रट 'पी कहाँ' 'पी कहाँ' की ही लगैं, भरौ नीर रहै पै उपासौ रहै।

तजि पूरबी पौन न संगी कोऊ, कछु देत हिए कौं दिलासौ रहै।
लगी डोर सदैव पिया सों रहै, चहै बारहु मास पियासौ रहै।

सरल और सहज अभिव्यक्ति होते हुए भी ब्रजभाषाकवियों की अलंकार-प्रियता की रीति सनेही जी ने भी निबाही है। उक्त छंद में 'पियासौ' में यमक अलंकार कितना स्वाभाविक ढंग से आ बैठा है।

प्रेम का जगत् मानों आँखों का ही जगत् है–बड़ी बड़ी आँखों को देखने के लिये तरसनेवाली आँखें आँसुओं की धार बहाती हैं मानों प्रियतम को हार पहनाने के लिये मोतियों की लड़ियाँ पिरो रही हैं, परंतु रोना भी खुलकर कहाँ हो पाता है क्योंकि गुरुजन की कड़ी आँखों का उनपर पहरा है। फिर ये रस में गड़ी बड़ी बड़ी आँखें तो वियोगिन के हृदय को घड़ीघड़ी सालती ही रहती हैं—

हार पिन्हाइबे कों उनके हैं पिरोवती मोतिन की लड़ी आँखें।
दाबि हियौ रहि जैबौ परे लखि के गुरु लोगन की कड़ी आँखें।
हाय, कबै फिर सामुहें ह्वै हैं, 'सनेही' सरोज की पंखड़ी आँखें।
सालें घड़ी घड़ी, जी में गड़ी, रस में उमड़ी, वे बड़ी बड़ी आँखें।

राधाकृष्ण के प्रेम से संबंधित प्रायः सभी क्षेत्रों में सनेही की ब्रजकविता का विचरण हुआ है। इसके माध्यम से रस के समस्त पक्ष और उनकी दशाओं पर प्रभूत संख्या में छंदरचना सनेही जी ने की है। नायिकाभेद पर भी उन्होंने प्रसंगवश बहुत कुछ लिखा है। षड्ऋतु वर्णन से संबंधित छंदों की भी ब्रजकविता में कमी नहीं है। वर्षा के उल्लास को वैसी ही वीप्सा—अनुप्रासमयी पंक्तियों में कवि ने इस प्रकार चित्रित किया है—

घूमैं घनस्याम स्यामा दामिनी लगाए अंक,
सरस जगत् सर सागर भरे भरे।
हरे भरे फूले फरे तरु पंछी भूले फिरे,
भ्रमर 'सनेही' कलिकान पै अरे अरे।
नदन विनंदक बिलोकि अवनी की छवि,
इंद्रबधू वृंद आतुरी सौं उतरे हरे।
हरे हरे हार में हरिननैनी हेरि हेरि,
हरखि हिये में हरि विहरें हरे हरे।

सनेही जी के काव्य में कलात्मकता भी कम नहीं है। समस्यापूर्ति के निमित्त लिखी गई रचनाओं में चमत्कार का प्रदर्शन स्वभावतः अधिक होता है परंतु सनेही जी का यह पांडित्य केवल शब्दों में न होकर उनकी कल्पनाशीलता

में है, परिणामतः उनके छंद अनुभूति को ही विशेष रूप से जाग्रत करने में समर्थ होते हैं। 'एक ते ह्वै गई', द्वै तसवीरें' इस समस्या की पूर्ति सनेही जी ने अनेक प्रकार से की है। इनमें से एक छंद उधृत है—

मन-मानिक मोल मैं दीन्हों उन्हैं, औ दई अपने जियरे में जगीरैं।
निज चित्र बसाय हिये मैं सनेही, गए उपजाय वियोग की पीरैं।
अब और धौं लैकै कहा करिहैं, अब लौं जो भई सो भई तकसीरैं।
अरी का गति ह्वैहै चितेरिनी वो, कहूँ एक ते ह्वै गई द्वै तसवीरैं।

सच भी है, सनेही प्रियतम का एक चित्र ही वियोग की असह्य पीर उत्पन्न कर रहा है, कहीं उसकी दो तसवीरें हो गईं तो प्रियतमा की कैसी दशा होगी, कौन कह सकता है?

प्रियतम की पाती बाँचनेवाली वियोगिनी बाला का सहज उद्दीप्त उल्लास और उसकी सुदर अनुभाव योजना इस छंद में देखिए—

संकित हिये सौं पिय अंकित संदेसौ बाँच्यौ,
आई हाथ थाती सी सनेही प्रेम पन की।
नीलम अधर लाल ह्वैकै दमकन लागे,
खिंच गई मधुरेखा मधुर हँसन की।
स्यामघन सुरति सुरस बरसन लागे,
वारैं आँस मोती आस-पूरी अँखियन की।
माथ सौं छुवाती सियराती लाय लाय छाती,
पाती आगमन की बुझाती आग मन की।

शृंगार रस के अतिरिक्त शांत, वीर, करुण, हास्य एवं अन्य रसों से संबंधित ब्रजकविता की रचना भी सनेही जी ने की है। उनकी भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा नहीं कही जा सकती क्योंकि उसमें अवधी, बैसवाड़ी, बुंदेलखंडी प्रयोगों के साथ अरबी फारसी के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में आ जाते हैं, यही नहीं खड़ी बोली का पुट भी जहाँ तहाँ उनकी भाषा में मिलता है। परंतु इन सब प्रयोगों से उनकी ब्रजभाषा सरल और प्रसादगुण युक्त भी बन जाती है, यह सनेही जी की विशेषता है। उनकी कथनभंगिमाएँ सहज और विविध हैं, उनका अलंकारविधान स्वाभाविक है और छंदयोजना में वे प्रायः रीतिकाल के अनुवर्ती हैं। विवेच्य युग में 'सनेही' जी ब्रज के बाहर रहकर भी ब्रजभाषा के एक बड़े स्तंभ रहे हैं।

पं० रामचंद्र शुक्ल। (जन्म सं० १९४१–मृ० सं० १९९७ वि०)

१—जीवन :

सरयूपारीण ब्राह्मणों के वंश में शुक्लों का गर्ग गोत्रीय परिवार गोरखपुर के

मेड़ी नामक गाँव का निवासी था। शुक्ल जी के पिता पं० चंद्रबली शुक्ल अपनी माँ के साथ बस्ती के अगौना गाँव में आ गए थे। यहीं आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म आश्विन पूर्णिमा, सं० १९४१ वि० (१८८४ ई०) को हुआ। शुक्ल जी के पिता पहले राठ में सुपरवाइजर कानूनगो हुए, बाद में मिर्जापुर आ गए। यहीं आचार्य शुक्ल का बाल्यकाल व्यतीत हुआ। उर्दू अँगरेजी शिक्षा के साथ उनका अध्ययन आरंभ हुआ। परंतु उनकी विमाता के कारण उनका अध्ययन आगे न चल सका। ये कुछ दिन बड़े कष्ट में रहे परंतु कुछ समय पश्चात् इनके पिता का स्वभाव बदला और वे धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति बन गए। उनकी साहित्यिक रुचि भी विकसित हुई। इसका शुक्ल जी को बड़ा लाभ हुआ।

आचार्य शुक्ल जी की स्कूली शिक्षा का निर्वाह अनेक कारणों से नहीं हो सका परंतु उनका व्यक्तिगत अध्ययन बहुत गंभीर और व्यापक था। आरंभ में कुछ समय इन्होंने सरकारी नौकरी की परंतु बाद में उसे छोड़कर ये मिर्जापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक हो गए। सन् १९०९-१० ई० में ये 'हिंदी शब्दसागर' में कार्य करने के लिये काशी आ गए। कुछ दिनों नागरीप्रचारिणी सभा की पत्रिका का संपादन भी उन्होंने किया। बाद में ये हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। बीच में एक वर्ष के लिये अलवर राज्य की नौकरी पर भी गए, परंतु वापस आ गए। सन् १९३७ में ये हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष बने। सन् १९४० ई० में हृदयगति बंद हो जाने से इनका देहावसान हो गया।

२--साहित्य :

यद्यपि साहित्य में शुक्ल जी का प्रमुख स्थान उनके आलोचक और निबंधकार रूप का है, फिर भी मूलतः वे कविहृदय थे। बचपन से ही वे कविता करने लग गए थे और उनकी आरंभिक रचनाएँ प्रायः ब्रजभाषा में ही लिखी गई हैं। शुक्ल जी की ब्रजभाषा की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट रचना 'बुद्धचरित' है, अतः यहाँ उसी का उल्लेख किया जा रहा है।

बुद्धचरित

बुद्धचरित एडविन आर्नाल्ड की कृति 'लाइट आव एशिया' का ब्रजभाषा पद्य में अनुवाद है। शुक्ल जी की ब्रजकवित्व की मूर्धन्यता के लिये 'बुद्धचरित' एक बहुत बड़ा प्रमाण है। अपने इस ग्रंथ के विषय में स्वयं आचार्य शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में लिखा है—'सर्गबद्ध प्रबंध काव्यों में हमारा 'बुद्धचरित' संवत् १९७९ में प्रकाशित हुआ जिसमें भगवान् बुद्ध का लोकपावन

चरित्र उसी परंपरागत काव्यभाषा में वर्णित है, जिसमें रामकृष्ण की लीला का अब भी घर घर गान होता है।' स्पष्ट है कि शुक्ल जी इस अनुवादग्रंथ को ब्रजभाषा का एक श्रेष्ठ प्रबंधकाव्य मानते थे और सत्य भी यही है कि अनुवाद ग्रंथ होते हुए भी यह काव्य ब्रजभाषा की एक महत्वपूर्ण स्वतंत्र रचना के समान ही महत्वपूर्ण है। अनुवाद की दृष्टि से भी यह मूल का शब्दानुवाद मात्र नहीं है! 'बुद्धचरित' के वक्तव्य में शुक्ल जी ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने मूल के भावों को स्पष्ट करने का पूर्ण प्रयत्न करते हुए इसका ढंग ऐसा रखा है कि एक स्वतंत्र हिंदी काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो। आवश्यकतानुसार उन्होंने इसमें फेरफार या वृद्धि भी की है।

'बुद्धचरित' की कथा आठ सर्गों में विभाजित है। भगवान् बुद्ध के जन्म से लेकर उनके निर्वाण तक की संपूर्ण गाथा का वर्णन इन सर्गों में हुआ है। बुद्ध के जीवन की कथा भारतीयों के लिये चिरपरिचित है इसलिये इस ब्रजकाव्य की प्रसाद-गुण-संपन्नता स्वभावतः बहुत बढ़ गई है। घटनाओं और चरित्रों की नियोजना तो शुक्ल जी ने मूल कवि के अनुसार ही रखी है परंतु अनुवाद में दृश्यविधान, भावभंगिमाओं, आदि को सचित्र करने के लिये शुक्ल जी ने अपनी प्रतिभा का पूरा पूरा उपयोग किया है। महाभिनिष्क्रमण की रात्रि में अस्तव्यस्त दशा में सोती हुई नारियों का एक वर्णन प्रस्तुत है—

सोवतीं संभार बिनु सोभा सरसाय गात,
आधे खुले गोरे सुकुमार मृदु ओपघर।
चीकने चिकुर कहूँ बँधे हैं कुसुमदाम,
कारे सटकारे कहूँ लहरत लंक पर।
सोवैं थकि हास औ बिलास सों पसारि पाँय,
जैसे कलकंठ रसगीत गाय दिन भर।
पंख बीच नाए सिर आपनो लखात तौ लौं,
जौ लौं न प्रभात आय खोलन कहत स्वर।

शुक्ल जी अपने युग के अन्य कवियों के समान ही प्रकृतिचित्रण के भी श्रेष्ठ कवि हैं। अपनी स्फुट कविताओं में उनका प्रकृतिवैभव तो निखरा ही है, 'बुद्धचरित' में भी उन्होंने प्रकृति की मनोहारी छटा का सर्वत्र भावपूर्ण वर्णन किया है। प्रकृति की पृष्ठभूमि में मनोरम दृश्यों का अंकन भी इस काव्य में सर्वत्र हुआ है। चैत्र पूर्णिमा की रात्रि में कपिलवस्तु के प्रासाद की भव्य शोभा का अंकन देखिए—

'छिटकी बिमल बिस्राम बन पै, जामिनी मृदुता भरी।
बासित सुगंध प्रसून परिमल सों, नछत्रन सों जरी॥

ऊँचे उठे हिमवान की हिमरासि सो मनभावनी।
संचरित सैल सुवायु सीतल, मंद मंद सुहावनी॥
चमकाय संगन चंद चढ़ि अब अमल अंबर पथ गह्यो।
झलकाय निद्रित भूमि, रोहिनि के हिलोरन को रह्यो॥
रसधाम के बाँके मुँडेरन पै रही द्युति छाय है।
जहँ हलत डोलत नाहिं कोऊ कतहुँ परत लखाय है॥

'बुद्धचरित' की भाषा को शुक्ल जी ने इस काल के लिये आदर्श भाषा माना है। रीतिकाल की बोझिल और अलंकृत भाषा के स्थान पर चलती ब्रजभाषा ही इस काव्य में प्रयुक्त हुई है। उन्होंने लिखा है--'उसे (ब्रजभाषाकाव्य को) यदि इस काल में भी चलना है तो वर्तमान भावों को ग्रहण करने के साथ भाषा का भी कुछ परिष्कार करना पड़ेगा। उसे चलती ब्रजभाषा के मेल में लाना होगा। अप्रचलित संस्कृत शब्दों को अब बिगड़े रूपों में रखने की आवश्यकता नहीं। 'बुद्धचरित' काव्य में भाषा के संबंध में हमने इसी पद्धति का अनुसरण किया था और कोई बाधा नहीं दिखाई दी'। वस्तुतः 'बुद्धचरित' जहाँ एक ओर ब्रजभाषा में अनुवाद, विषय और भावदृष्टि से नया प्रयोग है, वहाँ उसकी भाषा और अभिव्यंजना शैली में भी नवीन दृष्टि है।

नाथूराम माहौर : (जन्म सं० १९४२—)

नाथूराम माहौर झाँसी के निवासी थे, जहाँ इनका जन्म सं० १९४२ वि० में हुआ था। माहौर जी ब्रजभाषा के एक अच्छे कवि और उत्साही प्रचारक रहे हैं। इनकी प्रकाशित रचनाओं में 'वीरबधू', 'वीरबाला', 'अश्रुपाल' आदि हैं और 'रसप्रवाह', 'षट्ऋतुदर्शन', 'छत्रसाल गुणावली', 'सूरसुधा', 'द्रौपदीदुकूल' आदि अप्रकाशित हैं। इनके छंद बड़े ही मार्मिक और प्रवाहपूर्ण हैं। एक छंद प्रस्तुत है--

मधु भावनी हैं मधुरासि दुहूँ, कवि को बरनैं गुन माधुरी के।
दुहूँ कोमल कांति पदावली हैं, लख पंकज लाजें बिभावरी के॥
मनमोहक हैं सुषमा में दुहूँ, निरखे उपमान बराबरी के।
ब्रज-नागर के मन माहि रमें, पद वंदों दुहूँ ब्रजनागरी के॥

राय कृष्णदास जी (जन्म सं० १९४९—)

राय कृष्णदास जी के पिता भारतेंदु जी के फुफेरे भाई थे। यह परिवार आरंभ से ही साहित्यिक वातावरण से ओतप्रोत था। राय कृष्णदास जी को

ब्रजभाषा में काव्यरचना की प्रेरणा अपने पिता से ही मिली। यों, इनका अध्ययन पुरातत्व के क्षेत्र में अधिक है। भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला पर इन्होंने उच्च कोटि के ग्रंथ लिखे हैं। 'प्रसाद' जी इनके बाल्यकाल के मित्र थे। आरंभ में प्रसाद जी ने भी ब्रजभाषा में पद्यरचना की थी, उन्हीं के साथ राय कृष्णदास जी के काव्यप्रयत्न विकसित हुए। बाद में 'रत्नाकर' जी की देख रेख में इन्होंने अपनी काव्यशिक्षा को पूर्ण किया। यद्यपि ये ब्रजभाषा को निर्दिष्ट भावक्षेत्र की भाषा मानते हैं, तथापि इन्होंने अनेक स्थलों पर उस सीमा से बाहर जाने का प्रयत्न किया है और उसमें वह सफल भी हुए हैं। राय कृष्णदास जी की कुछ चुनी हुई रचनाओं का एक संग्रह 'ब्रजरज' नाम से सं० १९९३ वि० में प्रकाशित हुआ। इस रचना में कवित्त, सवैया, दोहा, पद एवं कुछ नवीन छंद भी हैं। इन कविताओं में जहाँ तहाँ इन्होंने अपने 'नेही' उपनाम की छाप भी दी है। कृष्ण की बाँसुरी के प्रभाव का वर्णन इनके एक छंद में देखिए—

बाजी बन माहिं कहूँ, गेह गेह गूँजि उठी,
पूरि उठी प्राननि में, नेही मन लहकि उठे।
गोपी, गोप, गाय, ग्वाल, सुनि के गुपाल बैन,
गरक गए हैं सबै, गैल गैल गहकि उठे।
चातक, मयूर, हंस, सारस, परेवा, पिक,
पाइ पाइ आपने मनोरथ चहकि उठे।
डोलि गजराज उठे, झूमि नागराज उठे,
नाचि नटराज उठे, बौरि कै बहकि उठे।

इनके दोहों में भी भक्ति और श्रृंगार की अपूर्व रचनाएँ हैं। इन्हें पढ़कर बिहारी की बरबस याद आ जाती है। एक दो दोहे प्रस्तुत हैं—

वाके गोरे बदन पै, यों तिल फबत अपार।
इंदीवर फूलौ मनौ, रूप तड़ाग मँझार।
चंचल पै लज्जा भरे. वाके चख अभिराम।
कुंठ कटारी को करत, कठिन करेजें काम।

'ब्रजरज' के पदों में भक्तिभावना को स्थान मिला है। इनमें कवि की भगवान् के प्रति प्रणति और उनके विरह की पीड़ा की अभिव्यक्ति हुई है। एक पद है—

प्रीति कौ यह अनुपम उपहार।
बदनामी, चबाव, चहुँ चौचंद अरु व्यंगनि बौछार।

विरह अगिन, तपिबौ, नित जपिबौ मन मन प्रेमाधार।
चुप रहिबौ, निज दरद न कहिबौ, सब सहिबौ मनमार।

'व्रजरज' से 'मुरझाई कली' शीर्षक व्रजभाषा के एक गीत का कुछ अंश यहाँ उनके नवीन दिशा में किए गए प्रयत्नों के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है। वस्तुत: यह छायावादी प्रवृत्ति की रचना है, जिसमें मुरझाई कली एक प्रतीक भर है--

रूप, राग अरु गंध नाहिं कछु याको बिकस्यौ।
अबहीं तो दिन माहिं दिव्य औषधि की नाईं।
सब याही में रह्यो संपुटित प्रगट्यौ नाहीं।
क्यों मुरझाइ गई अबही हा! नव कलिका यह।
लै कै याकी सुरभि पवन नहिं बगरन पायौ।
छक्यौ मधुप हू नाहिं कबहुँ याके मरंद सौं।
कबहुँ न कोकिल याहि आपनीं तान सुनायो।
क्यों मुरझाइ गई अबहीं हा! नव कलिका यह।
निज गल कौ कोउ हार याहि बनवन नहिं पायो।
नहिं याके ढिग कबहुँ काहु कौ मन अरुझानौ।
मत्त भयौ नहिं कोउ मधुर याके सौरभ तें।
क्यों मुरझाइ गई अबहीं हा! नव कलिका यह।
अरे काल चांडाल! कछुक तैं दया न कीन्हीं।
याहि विकसि मन भावन कहँ प्रगटन तों देखौ।
या नेहिन की साध कछुक तौ प्रगटन देतौ।
क्यों असमय मुरझाइ दई हा! नव कलिका यह॥

प्रस्तुत गीत एक प्रयोग मात्र है। इसमें न तो व्रजभाषा में पूर्वप्राप्त भावों की प्रौढ़ता ही परिलक्षित होती है और न भाषा ही ठिकाने की बन पड़ी है। संभव है, आगे यदि इस क्षेत्र में यत्न होता रहता तो व्रजभाषा को नए काव्य-संस्कार मिल जाते परंतु तब तक उसका स्थान इस क्षेत्र में खड़ी बोली को मिल गया।

पं० जगदंबाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' (जन्म सं० १९५२–मृत्यु सं० २०१३)

सनेही जी के प्रमुख काव्यशिष्यों में हितैषी जी का स्थान सर्वोपरि है। अपने गुरु के समान वे भी व्रजभाषा, खड़ीबोली और उर्दू में सहजता से रचना करते थे। उनकी खड़ीबोली और उर्दू की रचनाओं में उनकी क्रांतिकारिता की तस्वीर निखरकर सामने आती है, क्योंकि ऐसी अनेक रचनाएँ उनके जीवनकाल

में ही देशभक्तों की वाणी का श्रृंगार बन गई थीं। हितैषी जी की ब्रजभाषा की रचनाओं में एक ओर उनकी अपनी संस्कृति के प्रति अगाध निष्ठा प्रकट हुई है तो दूसरी ओर उसमें समाजसुधार और देशभक्ति की समयोचित वीर भावना भी फूट पड़ी है।

हितैषी जी का जन्म उन्नाव जिले के गंज मुरादाबाद नामक ग्राम में मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी, शनिवार, सं० १९५२ को हुआ। उनके प्रपितामह पं० मेघनाथ शास्त्री लखनऊ में नवाब वाजिदअली शाह के राजज्योतिषी थे। पं० मेघनाथ शास्त्री और उनके भाई पं० रमानाथ शास्त्री, इन दोनों का बलिदान भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करते हुए हुआ। बाद में इनका परिवार कानपुर आ बसा।

हितैषी जी की आरंभिक शिक्षा उर्दू में हुई; तत्पश्चात् कानपुर आने पर उन्होंने हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत, फारसी आदि भाषाओं का अध्ययन किया। हितैषी जी अपने परिवार के बलिदान की भावना पर बड़ा अभिमान रखते थे और कहा करते थे—

चंदन कों किनने सुगंध लै सींच्यौ,
कबै सिंहन सिखायौ गजकुंभन बिदारिबौ।

१६ वर्ष की आयु में ही ये 'मातृवेदी' नामक क्रांतिकारी संस्था के सदस्य बन गए। ये महामना मदनमोहन मालवीय जी के शक्तिसिद्धांत में विश्वास रखते थे इसलिये प्रायः उग्र आंदोलन ही इन्हें पसंद थे। सन् १९१७, १९२१ और १९२३ आदि वर्षों में विभिन्न आंदोलनों में ये जेल गए। ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह के अपराध में इनकी सारी चल अचल संपत्ति को नीलाम कर दिया। सन् १९१३ से सन् १९३६ तक हितैषी जी निरंतर देशसेवा में आगे रहे। हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये भी इन्होंने अनेक आंदोलन किए। ये देशप्रेम के रंग में रँगे थे, इसलिये वीरों का स्तवन इन्हें अत्यंत प्रिय था। एक बार वृंदावन में हिंदी साहित्य संमेलन का अधिवेशन हुआ। जब हितैषी जी कविसंमेलन में कविता पढ़ने खड़े हुए तो उन्हें वृंदावन निवासी राजा महेंद्रप्रताप का स्मरण आया, जो उन दिनों स्वतंत्रता का संघर्ष विदेशों में रहकर चला रहे थे। हितैषी जी ने अपनी कविताओं का मंगलाचरण इस छंद से किया—

पूज्य जो कोटिन तीरथ सों,
हरि दासता, मुक्ति दिवावन हारी।

मैं तेहि भूमि की धूरि धरौं सिर,
खेल्यौ जहाँ खुलि प्रेम खिलारी।
सो कहाँ देहु बताय हितैषी,
दया करि हे ब्रज के नर नारी।
ह्याँ सुन्यों मातृ के मंदिर में रह्यौ,
कोऊ महेंद्रप्रताप पुजारी।

हितैषी जी का ब्रजकाव्य केवल प्राचीन विषयों को घिसी पिटी भाषा में दुहराने तक ही सीमित नहीं है। उनमें जीवन की ऊष्मा थी इसलिये वह भगवान् कृष्ण से भी हासपरिहास करने में नहीं चूकते थे। उनका लिखा एक व्यंग है—

रीझै गँवारन ग्वारन पै,
अरु दासी के पुत्र के ज्ञान पै रीझै।
जो सदना, रदास, कबीर से,
बेतुके की तुक तान पै रीझै।
रीझन वारे पै खीझत प्रान,
जो हीन, 'हितैषी' अजान पै रीझै।
रीझै जो आँधरे के गुन गान पै,
औ रसिया रसखान पै रीझै।

आभिजात्य लोगों के दासतापूर्ण जीवन के आदर्शों पर यह कितना बड़ा व्यंग है। इस परंपरा में हितैषी जी ने तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं और व्यक्तियों पर भी बड़े करारे व्यंग किए हैं। गोरी नौकरशाही के तो वे घोर शत्रु ही थे। वे देश की दुर्दशा का कारण अंग्रेजी नौकरशाही को ही मानते थे और भगवान् से प्रार्थना करते थे कि वे आकर गरीब किसानों की रक्षा करें—

गाड़े देत जिंदा जमीदार हैं जमीन ही में,
ब्याज पर ब्याज बैरी ब्यौहर बढ़ाए जात।
मूँसैं लेत मुंसी, घूँस लै लै रक्त चूसै लेत,
चूकत न चपरासी नटई दबाए जात।
पिए लेत प्रान पटवारी बटमारी करि,
बाकी अस्थि पंजर पुलिस लै पचाए जात।
दौरौ दौरौ, दीनबंधु औसर यही है हाय,
कुटिल कुसासन किसानन को खाए जात।

हितैषी जी की ब्रजभाषा कविता ओजपूर्ण है। उसमें परंपरा के साथ युग की भी अभिव्यक्ति हुई है। उनकी भाषा सरल, मुहावरेदार और प्रायः वर्णनात्मक है परंतु जहाँ उन्होंने पुरानी परिपाटी पर लिखा है, वहाँ भाषा में प्रौढ़ता और कलात्मकता के दर्शन होते हैं। उनकी ब्रजभाषा की अन्योक्तियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं। हितैषी जी ने सवैया, कवित्त, दोहे आदि ब्रजभाषा में प्रचलित सभी छंदों में काव्यरचना की है परंतु सनेही स्कूल में सवैया लिखने में उनकी टक्कर का कोई दूसरा न था। इसके लिये उन्हें 'सवैया सम्राट्' की उपाधि भी दी गई थी।

सं० २०१३ वि० में फाल्गुन शुक्ल एकादशी सोमवार के दिन हितैषी जी का निधन हुआ।

दुलारेलाल भार्गव (जन्म सं० १९५२ वि०–)

दुलारेलाल भार्गव का जन्म लखनऊ में सं० १९५२ वि० (सन् १८९५ ई०) में हुआ। इनकी शिक्षा का आरंभ उर्दू से हुआ और बाद में इन्होंने हिंदी का अध्ययन किया। इनकी स्कूली शिक्षा इंटरमीडिएट तक ही हो सकी। फिर ये नवलकिशोर प्रेस में काम करने लगे। 'माधुरी' और 'सुधा' संपादक के रूप में इनकी विशेष ख्याति हुई। ब्रजभाषा के कवि के रूप में इनकी 'दुलारे दोहावली' नाम की एक ही प्रसिद्ध रचना है। इसपर इन्हें 'देव पुरस्कार' भी प्राप्त हुआ। इस रचना के पक्षधरों ने इसे बिहारी की सतसई के समान उत्कृष्ट बताया है, जबकि अन्य आलोचक इसे केवल एक साधारण कृति ही मानते हैं।

दुलारे दोहावली :

दुलारे दोहावली में कुल २०८ दोहे हैं। आरंभिक आठ दोहे स्तुतिपरक हैं जिनमें गणेश, राधाकृष्ण, विष्णु, सरस्वती आदि की परंपरागत रूप में वंदना की गई है, शेष २०० दोहे श्रृंगार एवं अन्य रसों से संबंधित हैं। यों श्रृंगार रस इसमें कम ही है।

दोहावली की प्रेरणा ब्रजभाषा के प्राचीन कवियों की रचनाओं में संनिहित है। 'बिहारी सतसई' हो मानों इसका आदर्श रहा है। अन्य भक्ति एवं रीति-कवियों की भावछाया भी इनके दोहों पर विद्यमान है। इन दोहों में जहाँ तहाँ केवल वर्णनात्मकता ही उभर आती है परंतु अधिकांशतः कवि का ध्यान काव्य के कलात्मक उभार पर रहा है। वैसे भी दोहा जैसे छोटे छंद में किसी एक विषय की संपूर्ण अभिव्यंजना किसी कुशल कलाकार कवि के ही वश की बात है। इसमें संदेह नहीं कि दुलारेलाल जी अपने प्रयत्न में प्रायः सफल रहे हैं। परंतु इनकी सफलता हृदय की सरल अभिव्यंजना में उतनी नहीं है, जितनी उक्ति-

वैचित्र्य में है। दार्शनिक विषयों की गंभीरता भी इसी प्रकार कथनवक्रता में खो गई है। फिर भी, दुलारे दोहावली आधुनिक ब्रजभाषा साहित्य की एक महत्वपूर्ण रचना है और अनेक स्थलों में इसमें मुक्तक काव्यकार की प्रतिभा सहज ही प्रदर्शित होती है।

दोहावली में प्राचीन एवं नवीन दोनों ही प्रकार के विषयों को ग्रहण किया गया है। संसार की असारता संबंधी ये दोहे परंपरा के प्रतीक हैं—

विषय बात मन पोत में, भव नद देति बहाइ।
पकरु नाम पतवार दृढ़, तौ लगिहै तट आइ।
बसि ऊँचे कुल यों सुमन, मन इतरैए नाहिं।
यह विकास दिन द्वैक कौ, मिलिहै माटी माहिं।

और, कुछ उदाहरण समसामयिक विषयों से संबंधित भी प्रस्तुत हैं—

हिंदू जबन प्रयाग मैं, गंग जमुन सम धाय।
मिले, छिपी स्वाधीनता, सुरसति सी दरसाय॥
हरिजन तै चाहौ भजन तौ हरिभजन फिजूल।
जन द्वारा ही करत हैं राजन मिलन कबूल॥
सती सिरोमनि 'बा' तुही गांधी-जीवन-सार।
तव अंगिनि अनु अनु बन्यो सती सुगुन आगार॥

दोहावली की भाषा में कृत्रिम आलंकारिकता अधिक है परंतु उसमें सामयिक शब्दावली का यथोचित संनिवेश हुआ है।

वियोगी हरि : (जन्म सं० १६५३—)

हरिहरप्रसाद द्विवेदी 'वियोगी हरि' का जन्म सं० १६५३ में छतरपुर राज्य के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ। इनके पिता की मृत्यु बाल्यकाल में ही हो गई इसलिये पालन पोषण इनके नाना के यहाँ हुआ। छतरपुर से इन्होंने हाई स्कूल पास किया। दर्शनशास्त्र में आरंभ से ही रुचि होने के कारण ये क्रमशः कृष्णभक्ति की ओर आकृष्ट हुए। छतरपुर की महारानी कमलाकुमारी 'युगलप्रिया' के सांनिध्य में इनका यह भक्ति का रंग और गहरा हुआ।

सन् १९३४ तक इन्होंने अनेक साहित्यिक ग्रंथों का लेखन एवं संपादन किया और साथ ही सामाजिक राजनीतिक विषयों पर भी अनेक पुस्तकें लिखीं। परंतु उसके बाद ये गांधी जी की प्रेरणा से प्रधानतः हरिजनसेवा का कार्य कर रहे हैं।

वियोगी हरि जी की कुछ प्रमुख मौलिक एवं संपादित रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—साहित्यविहार (१९२२ ई०), छद्मयोगिनी नाटिका (१९२२ ई०) ब्रजमाधुरी सार (१९२३ ई०), कविकीर्तन (१९२३ ई०), सूरदास की विनय-पत्रिका की टीका (१९२४ ई०), वीर सतसई (१९२७ ई०) विश्वधर्म (१९३० ई०), छत्रसाल ग्रंथावली (१९२९ ई०), प्रबुद्धयामुन (१९२९ ई०), अनुरागवाटिका, वीर हरदौल, प्रेमशतक, प्रेमपथिक, प्रेमांजलि, प्रेमपरिषद्, वीरवाणी, गुरुपुष्पांजलि, संतवाणी, संतसुधासार, बुद्धवाणी, श्रद्धाकण, जपुजी, संक्षिप्त सूरसागर, संतकाव्यधारा, दादू, शुकदेव खंडकाव्य, तरंगिणी आदि।

वियोगी हरि के ब्रजकाव्य की मूल वाणी भक्ति और देशप्रेम की द्विविध धारा है और इन दोनों का एक केंद्र है सांस्कृतिक चेतना। इन्होंने श्रीकृष्ण और उनके भक्तों के विषय में सुंदर छंदों की रचना की है। इनकी भक्ति में सहजता है, कृत्रिमता नहीं और इस दृष्टि से ये अलंकारकवि न होकर भावकवि हैं। इनकी भाषा ब्रजभाषा है परंतु विभिन्न रचनाओं में भाषा के भिन्न भिन्न रूप देखने को मिलते हैं। बुंदेलखंड का प्रभाव इनकी भाषा पर स्पष्ट है, साथ ही उसमें कलात्मक एकरूपता का भी अभाव है। फिर भी विषय के अनुकूल माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुणों का परिपाक इनकी रचनाओं में सर्वत्र है। इनकी पदावली में भाषामार्दव और भावप्रवाह उत्कृष्ट कोटि का है; उदाहरणार्थ यह पद प्रस्तुत है—

माधव आज कही किन साँची।
क्यों हम नीचन तें हरि रूठे ऊँचन में मति राँची॥
यंत्रित बज्र कपाटनि गढ़ ए दृढ़ मंदिर तुम पाए।
बलिहारी रणछोड़नाथ जू! भले भाजि इत आए॥
हम सब के अघ देखि दुरे हौ किधौं मंदिरन माँहीं।
कै कछु डरत उच्च बंसिन को, छुअत न हमरी छाहीं॥
पै इतहू नहिं कुसल तुम्हारी, कल न लेन हम दैहैं।
जो पै हियैं प्रेम कछु ह्वै है, तुम्हैं खैंचि प्रभु लैहैं॥

वीर सतसई

'वीर सतसई' वियोगी हरि जी की राष्ट्रप्रेम संबंधी उत्कृष्ट कृति है। इसमें वीर रस से परिपूर्ण दोहों का सुंदर संग्रह सुसंपादित रूप में हुआ है। इसी ग्रंथ पर उन्हें सन् १९३८ में मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

'वीर सतसई' के प्रकाशन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्रजभाषा में आधुनिक विषयों को भी गंभीरता एवं कुशलता से प्रस्तुत किया जा सकता है।

शृंगारप्रधान ब्रजभाषा में वीरभावना की अभिव्यक्ति एक नए प्रयोग की सूचना थी। यद्यपि इससे पूर्व भी ब्रजभाषा में वीर रस की अवतारणा हुई थी परंतु वियोगी हरि ने केवल कुछ शब्दों को दबाकर बोल देने मात्र से युद्धवर्णन तक ही वीर रस को सीमित नहीं होने दिया है। वीर रस का स्थायीभाव 'उत्साह' है और भारतीय नवचेतना में इस उत्साह के जितने भी रूप संभव हैं, उन सबको उन्होंने अपनी इस रचना में समेट लिया है। वे कृष्णभक्त हैं, वीर सतसई के आरंभ में भी वे कृष्ण की वंदना करते हैं, परंतु यहाँ कृष्ण गोपीकांत न होकर वीर वेश में अवतरित हैं। भारतीय संस्कारों को जीवन देनेवाले समस्त पौराणिक एवं ऐतिहासिक वीरों की गौरवगाथा का गान उन्होंने किया है और इस प्रकार समस्त इतिहास के वीरपक्ष का मंथन कर उसे साकार कर दिया है। इन वीरों में दानवीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्धवीर सभी हैं। केवल प्राचीनों का गान ही नहीं, वियोगी हरि जी ने देश की वर्तमान दुर्दशा का भी मार्मिक चित्रण किया है और तब देश के नवयुवकों एवं समाज के सभी वर्गों का देशोद्धार के लिये आह्वान किया है। वस्तुतः 'वीर सतसई' भारतभारती के समान ही राष्ट्रगौरव गान की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। 'वीर सतसई' के कुछ महत्वपूर्ण छंद उद्धृत किए जा रहे हैं—

> ओ प्रताप मेवाड़ के, यह कैसो तुव काम ?
> खात खलन तुव खड्ग पै, होत काल कौ नाम ॥
> चली चमाचम कोप सों, चकचौंधिनि तरवार।
> पटी लोथ पै लोथ त्यौं, बही रक्त नद धार ॥
> जय झाँसी गढ़ लच्छमी, राजत त्रिबिध अनूप।
> गति चपला, दुति चंद्रिका, समर चंडिका रूप ॥
> नहिं बिचल्यौ सतपंथ तें, सहि असत्य दुख द्वंद्व।
> कलि में गांधीरूप ह्वै, पुनि प्रकट्यौ हरिचंद ॥
> झूमत है जहँ मत्त ह्वै, सहज सूर दिन रैन।
> लटकि लजीले छैल तहँ, मटकि नचावत नैन ॥
> करै जाति स्वाधीन जो, साँचो सोइ सपूत।
> यौं तो, कहु, केते नहीं, कायर कूर कपूत ॥

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (जन्म सं० १९५४ वि०—मृ० सं० २०१७)

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता के प्रतिनिधि कवियों के अंतर्गत श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का परिचय दिया जा चुका है। वे ब्रजभाषा में भी बड़ी सुष्ठु रचना करते थे क्योंकि यह उनकी मातृभाषा थी, खड़ीबोली के प्रसिद्ध कवि तो वे थे ही। ब्रजभाषा में उनकी स्फुट रचनाएँ तो हैं ही, उनके प्रायः सभी खड़ीबोली के

ग्रंथों में भी ब्रजभाषा की रचनाएँ मिलती हैं। 'ऊर्मिला' का हृदय इसका पाँचवाँ सर्ग है; यह पूरा का पूरा ब्रजभाषा में लिखा गया है। इसमें ७०४ दोहे हैं। नवीन जी हिंदी के प्रमुख स्वच्छंदतावादी कवि हैं और ऐसा कवि 'विरह-गान' के लिये ब्रजभाषा को उपयुक्त मानता है, यह उसकी ब्रजभाषा की कोमल प्रकृति की पहिचान का ही प्रतीक है। यदि नवीन जी के ब्रजकवित्व की समीक्षा 'ऊर्मिला' के इन्हीं दोहों को लेकर की जाय, तब भी ब्रजवाणी को उनकी महत्वपूर्ण देन मानी जायगी। वस्तुतः 'ऊर्मिला' के पंचम सर्ग का एक एक दोहा ऊर्मिला के आँसुओं से भीगा और उसकी पीड़ा की विद्युत् से दग्ध है। इनमें ऋतुओं की पृष्ठभूमि में विरहिणी की पीड़ा को अधिकाधिक उभारकर रख दिया गया है। उसके विरह में करुणा की मात्रा अत्यधिक है। यहाँ केवल कुछ दोहे उद्धृत करना ही इत्यलम् होगा—

प्यार कहानी हृदय में, अरुझानी अकुलाय।
बाणी अटकी कंठ में, हे मेरे रसराय॥
वे स्वप्निल रतियाँ, मधुर, वे बतियाँ चुपचाप।
ह्वै विलीन हिय में, बनी आज बिछोह विलाप।
साजन, संस्मृति नेह की, खटकि खटकि रहि जाय।
अटकि अटकि आँसू झरें, भरे हृदय निरुपाय।
रसक्रीड़ा, व्रीड़ा सलज, पीड़ा बनी गभीर।
रति संस्मृति निशिता अनी, बनी हिये की पीर।
मुरि जनि देखहु तुम इतै, हे सुकुमार कुमार।
अरुझि जाइँगे दृग, इहाँ बिछे साँस के तार।
दुसह बिथा के जमि गए; विकट झार झंखार।
नित संकल्प विकल्प के, ठाढ़े भए पहार॥

किशोरीदास वाजपेयी

किशोरीदास वाजपेयी का जन्म रामनगर (कानपुर) में हुआ। हिंदी व्याकरण के क्षेत्र में उनका अद्वितीय स्थान है। वाजपेयी जी भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक और प्राचीन मापदंडों के समर्थक हैं। ब्रजभाषा और खड़ीबोली के विवाद में वे अंत तक काव्यभाषा के लिये ब्रजभाषा का पक्ष ग्रहण करते रहे हैं। सन् १९३७ में 'सुधा' में उन्होंने लिखा था 'मैं उन कवि महोदयों से पूछता हूँ, कृपा कर उन भावों का नाम निर्देश कर दें, जिनका अभिव्यंजन ब्रजभाषा में नहीं हो सकता। + + + यदि सफलतापूर्वक इस भाषा में उन भावों का अभिव्यंजन हो जाय, तब तो ठीक अन्यथा फिर ब्रजभाषा आंशिक गूँगी सिद्ध हो जायगी।'

वाजपेयी जी के इन शब्दों में व्रजभाषा के वर्तमान के प्रति अडिग विश्वास और आग्रह झलकता है। इसी विश्वास के बल पर उन्होंने व्रजभाषा में काव्य लिखा। 'तरंगिणी' उनकी प्रसिद्ध कृति है। इसका प्रकाशन सं० १९९३ वि० में हुआ। इसमें दोहा नामक छंद में नवीन विषयों पर नवप्रतिभा से काव्यसृजन की इच्छा साकार हुई है। सामान्य से सामान्य और नए से नए विषय पर कवि की निगाह जमी है और सहज आलंकारिता के माध्यम से उसने उस विषय को निखार दिया है। इन रचनाओं में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी प्रकार की कुरीतियों पर करारा व्यंग भी किया गया है। नवयुग की नवशक्ति का भी इन्हें पूरा पूरा ज्ञान है। 'बहुमत' के विषय में ये लिखते हैं —

छन में गज कौं खर करै, खर कौं गज सुख मौन।
सो है 'बहुमत' अमित बल, ब्रह्म बापुरौ कौन?

उन दिनों कृष्णदत्त पालीवाल जी राजनीतिक रंगमंच पर उभरकर आ रहे थे। सर्दी से भरा 'नैनीताल' उनकी सरगर्मियों से गर्म हो उठता था, तभी तो कवि उनकी बिजली जैसी शक्ति को भाँप कर कहता है —

देखी तोमैं गजब की, बिजुरी पालीवाल।
होत गरम अति छनक में, जासों नैनीताल।

रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (जन्म सं० १९५५ वि०—)

डा० 'रसाल' का जन्म मऊ, जिला बाँदा में सं० १९५५ में हुआ। पहले ये प्रयाग विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक थे। बाद में गोरखपुर विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष हुए। प्राचीन अलंकारशास्त्र के 'रसाल' जी बड़े पंडित माने जाते हैं और 'अलंकार पीयूष' नामक ग्रंथ उनकी अलंकारशास्त्र की प्रतिभा का प्रमाण है। व्रजभाषा में भी उन्होंने पर्याप्त रचनाएँ की हैं। उनकी रचना 'उद्धव-गोपी-संवाद' 'रत्नाकर' के 'उद्धवशतक' के बाद की भ्रमरगीतपरंपरा में एक महत्वपूर्ण कृति है। भाषा का व्याकरणसंमत और शुद्ध परिमार्जित रूप इनकी कृतियों में मिलता है—

करत कलोल लोल जीवनतरंगिनी की,
उमगी उमंगनि तरंगनि की माल में।
दै दै चाव चारौ यों बिमोह्यौ कै न चारौ चल्यौ,
बहुत बिचारौ तऊ ऐबौ पर्यौ जाल में।
बेधि बेधि बंसी सों 'रसाल' जिन्हें बंसीधर
निज गुन खैंचि गए गेरि नेह ताल में।
ऊधौ दुखी दीनन कौ उन मन मीनन कौ,
आप फाँसिबे कौ तुम बेगुन के जाल में॥

'रसाल' जी के काव्य में जैसा हृदयपक्ष है, उतना ही बौद्धिक पक्ष भी प्रबल है। उनके विचारों में प्रौढ़ता और तर्कशीलता है जिसे दर्शन का आधार प्राप्त है। 'उद्धव-गोपी संवाद' में उपयुक्त प्रसंग मिलने के कारण इस तर्कशीलता की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। गोपियाँ अपने तर्कशस्त्रों से उद्धव की ज्ञानयुक्तियों को सहज ही काट काटकर फेंक देती हैं। वे श्रीकृष्ण के प्रति एकनिष्ठ हैं अतः अपनी प्रेमज्योति पर गौरव प्रदर्शित करते हुए उद्धव की रिक्तपात्रता पर सहज ही व्यंग करती हैं—

एक लव लाए त्यौं जगाए बस ज्योति एक,
एकै आन तेजोरूप और लहते नहीं।
राखै जो सनेह नेह करत उजेरौ ताकौ,
रीतौ नेह पात्र लै कदापि रहते नहीं।
जगत महातम कौं टारि सु महा तम सौं,
दोष हू महातमा तमा कौ गहते नहीं।
दीपति है दीपति हमारी हो 'रसाल' हम
प्रेम के प्रदीप बात तीखी सहते नहीं।

गोपियों का अडिग प्रेम 'तीखी बात' सहने का अभ्यासी नहीं है, परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अपने प्रेम की परीक्षा को कसौटी पर चढ़ाने में भय मानती हैं; वे तो कहती हैं कि कृष्णकसौटी को लाकर वे उनके खरे खोटे प्रेम की परीक्षा करें—

कीजै तौ अजातरूप बाद जो पै इहाँ,
जातरूप प्रेम कौ परेखिबौ बिचारौ है।
बिषय बियोगानल आँच मैं तपाइ हम,
याकौं तौ सुनारी रीति नीति कौं निखारौ है।
सारि मुखबात, जारि व्रत जोति हू 'रसाल',
तामैं ताइ ताइ वृथा देखिबौ तिहारौ है।
देखौ कृष्ण कठिन कसौटी लाइ ऊधौ, कसि,
खोटौ खरौ प्रेमहेम जो है सो हमारौ है।

'रसाल' जी ब्रजभाषा के प्रौढ़ रचनाकार हैं। ब्रजभाषा की प्राचीन परिपाटी के अनुसार यमक, श्लेष, रूपक आदि अलंकार तो उन्हें सहज सिद्ध ही हैं, अन्य स्थानों पर वे अनेक अप्रयुक्त अलंकारों का भी सहज प्रयोग करने में सिद्धहस्त हैं।

ब्रजभाषा में उन्होंने अनेक समसामयिक विषयों पर भी अनेक रचनाएँ लिखी हैं, जिनमें भाषा अपेक्षाकृत सरल और प्रसादगुणयुक्त है।

अनूप शर्मा : (जन्म सं० १९५७ वि०—)

अनूप शर्मा का जन्म सीतापुर जिला के नवीनगर में सन् १९०० ई० में हुआ। इनके पिता का नाम पं० बदरीप्रसाद त्रिपाठी था। शिक्षा की दृष्टि से शर्मा जी एम० ए०, एल० टी० हैं और सीतापुर हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक रहे हैं। बाद में ये आकाशवाणी, लखनऊ के पंचायतघर कार्यक्रम में कार्य करते रहे।

अनूप शर्मा को सीतापुर में ब्रजभाषा के कवियों का परंपरागत वातावरण प्राप्त हुआ इसलिये ब्रजभाषा में वे सहज भाव से रचना करते रहे। युग की माँग के अनुसार वे खड़ीबोली के भी कवि बने और उन्होंने खड़ीबोली को 'सिद्धार्थ' (१९३७) एवं 'वर्धमान' जैसी प्रबंधकृतियाँ प्रदान की हैं। 'सुमनांजलि', 'सुनाल' तथा 'सिद्धशिला' इनकी अन्य रचनाएँ हैं। अनूप शर्मा की ब्रजभाषा की अत्यधिक चर्चित और महत्वपूर्ण कृति 'फेरि मिलिबौ' है, जिसका प्रकाशन सन् १९३८ में हुआ।

फेरि मिलिबौ :

यह कृति चंपूकाव्य के रूप में लिखी गई है। इसमें पद्य और गद्य दोनों ही ब्रजभाषा में हैं। कथा ७५ प्रसंगों या धामों में विभाजित है। 'फेरि मिलिबौ' का कथानक श्रीमद्भागवतपुराण के एक प्रसंग पर आधारित है और वह है कुरुक्षेत्र में राधाकृष्ण का पुनर्मिलन। इस संक्षिप्त कथा को कवि ने अपनी कल्पना से पल्लवित किया है। नारद से ब्रज का संदेश पाकर रुक्मिणी ने कृष्ण की प्रेयसी राधा से मिलने की इच्छा व्यक्त की। द्वारका से कृष्ण, रुक्मिणी आदि और उधर ब्रज से नारद के साथ समस्त गोप गोपियाँ कुरुक्षेत्रस्नान के लिये चले। कुरुक्षेत्र में राधा और कृष्ण का, साथ ही कृष्ण की पत्नी रुक्मिणी और प्रेम की साकार मूर्ति राधा का यह मिलन अपूर्व ही था। अनूप शर्मा ने समस्त काव्य में वातावरण की सघनता को बनाए रखा है और प्रेमवृत्ति के सूक्ष्म चित्रण पर बराबर ध्यान रखा है। कृष्ण के चरित्र को इसमें महिमामंडित किया गया है परंतु राधा की असमोर्ध्व चरित्रसृष्टि में इनका कविकौशल विशेष सार्थक हुआ है। राधा और गोपियों के दर्शनों के लिये कृष्ण के हृदय में भी कितनी तड़प विद्यमान है—

कब राधा मुखचंद निरखि बनिहौं चकोर मैं।
ह्वैहौं गोपी देखि कबौं आनँदविभोर मैं।

अनूप शर्मा ने इस काव्य में रसों की व्यंजना में अनूठापन दिखाया है जो उनकी कवि अनुभूति का ही प्रमाण है। शृंगार रस के वर्णन में कवि कितना निष्कलुष और स्वाभाविक रह सका है, यह दर्शनीय है।

'फेरि मिलिबौ' की भाषा में सहजता और माधुर्य है, कृत्रिमता का उसमें नाम भी नहीं है। विशेषकर ब्रजभाषा गद्य की दृष्टि से तो 'फेरि मिलिबौ' का ऐतिहासिक महत्व है। उन्होंने गद्य के क्षेत्र में किसी प्राचीन आदर्श को स्वीकार न कर, आधुनिक ब्रजजीवन के संपर्क से व्यावहारिक गद्य का ग्रहण किया है और फिर भी उसे साहित्यिक बनाए रखा है। पद्य भाग में रोला, राधिका और दोहा छंदों का प्रयोग कर कवि ने कथाप्रवाह को वांछित गति प्रदान की है। ब्रजभाषा के इस नवयुग में 'चंपूकाव्य' एक नवप्रयोग है, इसलिये नवप्रयोग काल की सिद्धि में यह रचना एक बड़ा आधार है।

उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' (जन्म सं० १९६४ वि०–मृ० सं० २०१४ वि०)

उमेश जी ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों के ही समर्थ कवि थे। 'व्रजभारती' में उनका ब्रजभाषा को दृष्टि से युगांतरकारी रूप प्रकट हुआ है। इनके जीवन के संबंध में इन्हीं के एक अन्य खड़ीबोली के काव्यग्रंथ 'वसंत और पतझड़' की भूमिका में दुलारेलाल भार्गव ने लिखा है—'इनका जन्म माघ कृष्ण २, संवत् १९६४ को लखनऊ में हुआ था। इनके पिता का नाम अंबाराम वाजपेयी था। वे प्राचीन आर्य संस्कृति पर चलनेवाले आदर्श पुरुष थे। अपने पिता जी के आदर्श पर उमेश जी अपना जीवनयापन करते थे; उनमें प्राचीन संस्कृति के साथ आधुनिक सभ्यता का भी समावेश था।'

उमेश जी बंबई, बरेली आदि स्थानों पर आजीविका के लिये गए। वे बरेली में वेस्टर्न इंडिया मैच फैक्टरी में लेबर आफिसर नियुक्त थे। हृदयगति रुक जाने से २ जून, १९५७ को उनकी मृत्यु हो गई।

ब्रजभारती :

ब्रजभारती का प्रकाशन सं० १९९३ वि० में हुआ। यह रचना आधुनिक ब्रजभाषाकाव्य की दृष्टि से एक अगला मील का पत्थर है और नवप्रयोगकाल की प्रयोगदृष्टि को सार्थक करनेवाली सबसे महत्वपूर्ण कृति। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी इस रचना की 'नई सजधज' का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है—'इधर की उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' जी की 'ब्रजभारती' में ब्रजभाषा बिलकुल नई सजधज के साथ दिखाई पड़ी है।' (हिंदी साहित्य का इतिहास)। इस पुस्तक के दो खंड हैं। प्रथम खंड में ही कवि की वे प्रयोगशील रचनाएँ हैं जो ब्रजभाषा को तत्कालीन खड़ीबोली छायावादी काव्य के बराबर खड़ा करने का प्रयास करती हैं। इसमें ब्रजभाषा के स्वाभाविक रूप और

गुणों की रक्षा करते हुए उसमें भावव्यंजना को बिलकुल नवीन धरातल पर उतारा गया है। 'कुसुमवती' रचना का एक अंश देखिए--

रजनीगंधा रोमरंध्र में भर रही,
सुरभि सनी सत सत सुधि की बल लालसा।
नलिनपात के ओस कनन को देखि कै।
जानैं क्यों आँखिन तैं आँसू ढरि रहे।

और इस छायावादी रंग के साथ ही उसमें 'प्रगतिवादी' मार्ग को सूचित करनेवाली ऐसी रचनाएँ भी हैं, जो किन्हीं अंशों में निराला की स्मृति करा देती हैं--

वह कौन निबल अति सिथिल गात
कंपित पग डगमग चल्यो जात!
मुख पै बहु दुख की खची रेख,
सत सत जुग की साँसनि अनेक।--आदि

भावों की दृष्टि से सद्य:नूतनता और प्रकृति की कोमल और भावमयी अभिव्यंजना के लिये ब्रजभाषा का प्रयोग काव्य में एक नया ही रंग भर देता है। इसमें अतुकांत छंदों का प्रयोग भी कवि ने सफलता से किया है।

द्वितीय खंड की रचनाएँ भी केवल छंद की दृष्टि से पुरानी हैं, अन्यथा उनमें भी विषय की नवीन दृष्टि विद्यमान है। 'अग्निआह्वान', 'तर्जनी' और 'वीर वत्स' जैसी कविताओं में ओज का अपार पारावार लहराता है। वीर वत्स की ये पंक्तियाँ--

औचक ही खमकि खमंडल प्रकंपि जैहै,
गमकि गनीमन के सीस गिरि जैहै गाज।
लुत्थन के जुत्थन हैं भूमि ढकि जैहै तिमि
कलि के ललाट को तड़कि टूटि जैहै ताज।
ह्वै है सब नष्ट भ्रष्ट काज देसद्रोहिन के,
जुद्ध अस्त्र सस्त्र कौ धरयौई रहि जैहै साज।
चारों ओर प्रलय प्रचंड मचि जैहै एक,
तेरी जदि म्यान तैं कृपान कढ़ि जैहै आज॥

'ब्रजभारती' की अनेक रचनाओं में लक्षणा और व्यंजना का अपूर्व अधिकार देखा जाता है। वातावरण को चित्रित करने की भी उसमें सजग प्रतिमा है।

'ब्रजभारती' आधुनिक ब्रजकाव्य की एक मार्गदर्शिका और सर्वथा सफल रचना है, यह तथ्य है, अतिशयोक्ति नहीं।

पं० सेवकेंद्र त्रिपाठी (जन्म सं० १९६६ वि०—)

पं० रामसेवक जी त्रिपाठी 'सेवकेंद्र' का जन्म तालबेहटवाले श्री रामचरण जी त्रिपाठी के यहाँ कार्तिक शुक्ला षष्ठी, सं० १९६६ वि० को झाँसी में हुआ। इनकी नियमित शिक्षा हाई स्कूल तक हुई, तदनंतर स्वाध्याय से इन्होंने संस्कृत, फारसी, बँगला आदि भाषाओं में विशद योग्यता प्राप्त की।

सेवकेंद्र जी को बचपन से ही कविता करने में आनंद आता था। इनकी सर्वप्रथम रचना सन् १९२१ में 'विद्यार्थी' में प्रकाशित हुई। उसके अनंतर 'माधुरी', 'सुधा', 'विशाल भारत', 'सुकवि', 'ब्रजभारती' आदि पत्रिकाओं में इनकी कविताएँ निकलती रहीं। सेवकेंद्र जी की अद्यावधि प्रकाशित रचनाओं में 'ब्रजवर्तिका' और 'छत्रसाल बावनी' ही प्रमुख हैं और ये दोनों ही ब्रजभाषा की रचनाएँ हैं। आज भी वे अनवरत ब्रजभाषा-काव्य-साधना में रत हैं और वर्तमान काल में ब्रजभाषा के अग्रणी कवियों में प्रमुख हैं। ब्रजभाषा के प्रति उनका अमित अनुराग है। वे उसे 'लाखों की अभिलाषाओं की भाषा' मानते हैं---

माय जसोमति-पालना-पालित, लालन की मन राखन भाषा।
ग्वालन गोट की, गोपिन ओट की, चाव की चोट की माखन भाषा।
प्रेम पगी पुर की उर की, भरी लाखन ही अभिलाखन भाषा।
माखन चाखन के मुख सौं निसरी, मिसरी मिली माखन भाषा।

'सेवकेंद्र' का रचनाक्षेत्र विस्तृत है। भक्ति, शृंगार और वीरवर्णन से लेकर प्रकृति, राजनीति, मनोभाव, महापुरुषप्रशस्ति आदि विभिन्न विषयों पर उनका समान अधिकार है। मूलतः वे एक ओर भक्ति की मधुरिमा और दूसरी ओर वीर भाव के कवि हैं। ब्रजभूमि के प्रति उनकी भक्ति और बुंदेलखंड में उनका निवास इसके कारण हैं।

सेवकेंद्र का काव्य प्राचीन कवियों के समान शब्दसौकर्य और अर्थगौरव लिए हुए होता है। उनकी भाषा टकसाली ब्रजभाषा है, जिसमें जहाँ तहाँ बुंदेलखंडी प्रयोग स्वाभाविकता लिए हुए हैं। उक्तिवैचित्र्य और कलात्मकता उनके काव्य में सर्वत्र दर्शनीय है। भावगांभीर्य और कल्पनाचारुता की दृष्टि से उनकी 'मीरा' नामक रचना अद्वितीय है। श्रीकृष्ण के वियोग में मीरा की अंतर्बाह्य दशा का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

आई बसंत बनी जग कौं, जग तैं पतझार सी झाँवरी ह्वै गई।
मंद न नेंकु प्रकास पर्यौ, जऊ बूड़त चंद की छाँवरी ह्वै गई।
'बावरी है' कहि लोग उठे, जऊ प्रेम की आमित भाँवरी ह्वै गई।
साँवरे के रँग में रँग कै, वह मीरई मंजुल साँवरी ह्वै गई।

'मीरा' प्रिय के विरह में आँखों से निरंतर आँसू ढुलकाती है, कारण स्पष्ट है कि वह 'श्यामता' के 'आँकुर' को कुम्हलाने देना नहीं चाहती—

कढ़ि जाय न मूरति फंद फँसी, यहि तें पलकैं पला मींचति है।
जनि बूड़ै भरै उर-वारिधि में, वह बारहिं बार उलीचति है।
मन भोरौ भुराय न और कहूँ, यहि तें भव भीर तैं खींचति है।
अँकुरा कुम्हलाय न स्यामता कौ, अँखियन की धार सौं सींचति है।

मीरा ने बिष का प्याला पीना चाहा। उस समय चारों ओर उल्लास का कैसा दृश्य उपस्थित हुआ। मीरा की प्रसन्नता का तो ठिकाना ही नहीं था, प्याले में उसके नेत्र नाँचते हुए प्रतिबिंबित हो रहे थे और उन नयनों में वह भी नाँच रहा था, जिसके लिये मीरा इस विष के प्याले का पान कर रही थी—

नाँचें लग्यो पीय प्यालौ, कर में उमंग संग,
नाचन लग्यौ है विषय अधर अँगारी आज।
नाँचन लगी है मीरा लगन मगन मन,
नाँचन लग्यो है मोद मन के मँझारी आज।
नाँचन लगे हैं संभु विरुद बखान करि,
स्वागत कौं नाँचैं सुर गगनबिहारी आज।
लोच भरे लोचन हू नाँचै लगैं प्याले माँहि,
लोचन में सोच भरयौ नाँचै गिरधारी आज।

सेवकेंद्र मनोभावों के गंभीर पारखी हैं। उनकी कल्पना कला को सजीवता देती है। 'यमुना और बेतवा' इन दोनों का वर्णन वे दोनों के महत्व के अनुसार करते हैं। 'ऋतुवर्णन' में भी उनकी लेखनी ने अनुपम रस बरसाया है और इस क्षेत्र में वे परंपरा से काफी आगे आए हैं। 'प्रकृति' को परी मानकर उसके भव्य रूप का वर्णन कवि ने निम्नलिखित छंद में किया है—

जाके अच्छ पच्छ स्वच्छ सो हैं पच्छ पच्छिन में,
बोलनि मधुर पिक ताननि भरी की है।
मुदित महावर उषा कौ पदकंजन में,
चूनरी न ऐसी काहू किन्नरी नरी की है।
बहति दया की धार स्रोत सरितान सुद्ध,
आस चातकी की नीर प्यास सफरी की है।
पुराय परमेस्वर की प्रकृति परा की कृति,
आकृति अनूप यह प्रकृति परी की है।

सेवकेंद्र जी के काव्य का दूसरा पक्ष ओजगुण संपन्न है जहाँ वीर रस का सागर

ठाठें मारता है और सेवकेंद्र की माधुर्यगुण युक्त ब्रजभाषा बज्रनिर्घोष बन जाती है। 'वीर छत्रसाल' के संबंध में तो उन्होंने विस्तार से काव्यरचना की ही है, उनके अतिरिक्त महाराजा वीरसिंह देव, महाराजा पहाड़सिंह, रानी विजयकुँवरि, वीरांगना झलकारी, महारानी लक्ष्मीबाई आदि रणवीरों एवं वीरांगनाओं को भी उन्होंने अमर कर दिया है। रानी विजयकुँवरि महाराज छत्रसाल के पुत्र जगतराज की पत्नी थीं, उनका समरांगण का एक चित्र प्रस्तुत है--

देखि विषय बूड़ी कर बालिका करालिका सी
बैरिन के वृंद विष घूँट घूँटिबे लगे।
आज गजगामिनी बिराज गजराज चली
दिग्गज चिंघाड़े सत्रु-सीस फूटिबे लगे।
चंद्रमुख भानु सौ प्रचंड भयौ दीप्तिमान
बंगस के भाग्य के सितारे टूटिबे लगे।
रानी जगतेस की रिसानी रणचंडिका के
पानीदार दृगन अंगारे छूटिबे लगे।

सेवकेंद्र जी को वीर भाव विरासत में मिला है क्योंकि उनकी भूमि सदा से वीरों की भूमि रही है। 'छत्रसाल' विषयक अनूठी रचनाएँ कर वे भूषण कवि की परंपरा में अपना अनुपम स्थान ग्रहण कर लेते हैं। किसी विषय पर किसी एक रससिद्ध कवि के कविता कर लेने पर किसी अन्य कवि को उस क्षेत्र में कलम चलाना और उतनी ही सफलता प्राप्त करना कठिन होता है परंतु सेवकेंद्र जी ने निस्संदेह भूषणप्रशस्ति में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। छत्रसाल की कलम-कृपाण का यह लेख देखिए--

औंधि औंधि औंधी खोपरीन की बनाई दौत
रुधिर सिपाही लाल लाल लखि लीन्हीं है।
मर्द अरि गर्द मसि सोखनी सकास धारि
चित्रित विचित्र पत्र भूमि चित चीन्ही है।
'सेवकेंद्र' उठिकैं विचाल चलि चोखो भाँति
करनी अनोखी ये नवीनी एक कीन्ही है।
छत्रसाल बीरता की, धीरता गँभीरता की
कलमकृपान तें सुकीर्ति लिख दीन्हीं है।

विवेच्य काल में ब्रजभाषा के अन्य अनेक प्रसिद्ध कवि भी काव्यरचना कर रहे थे, जिनका परिचय ऊपर नहीं दिया जा सका है। इनमें से कुछ तो ऐसे थे जो द्विवेदीयुग में प्रसिद्ध हो चुके थे। वल्लभसखा (सं० १९१७-१९९२ वि०),

महाराजकुमार रंगनारायण पाल 'रंगपाल' (सं० १९२१–१९३३ वि०), अयोध्यानाथ अवधेश (सं० १९२२–१९८२), लाला भगवानदीन 'दीन' (सं० १९२३–१९८७), ब्रजेश जी महापात्र (जन्म सं० १९२८), सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (सं० १९२८–२०१३), डा० बैजनाथसिंह किंकर (जन्म सं० १९२८), श्री बलरामप्रसाद मिश्र द्विजेश (जन्म सं० १९२९), सैयद मीर अली 'मीर' (सं० १९३०-१९९३), लाला किशनलाल जी 'कृष्णकवि' (सं० १९३१–१९९०) आदि महानुभाव बहुत पहले से ब्रजभाषा में रचना कर रहे थे और इस समय भी उनकी लेखनी बराबर चल रही थी। वे स्वयं अन्य नवोदित कवियों के काव्यप्रेरक एवं ब्रजभाषा-काव्य-प्रचार-प्रसार के केंद्र थे। अन्य व्रजकवि, जो इस युग में अपने यौवन काल में थे, अथवा अब भी जमकर लिख रहे थे, उनमें श्री वचनेश मिश्र (सं० १९३२–२०१६) का नाम महत्वपूर्ण है। इनका प्राचीन काव्यशास्त्र का विशद अध्ययन था, इसलिये इन्हें 'अभिनव पिंगलाचार्य' की उपाधि से विभूषित किया गया था। यद्यपि ये खड़ीबोली में भी लिखते थे तथापि इनकी कविकीर्ति इनके ब्रजभाषा काव्य पर ही आधारित है। ब्रजभाषा में राष्ट्रीय गौरव के विभिन्न पक्षों पर इन्होंने अपनी कलम उठाई थी तथा मुक्तक और प्रबंध दोनों ही प्रकार के काव्य लिखे। 'शबरी' मिश्र जी का प्रसिद्ध प्रबंधकाव्य है, जो प्रसिद्ध रामभक्त नारी शबरी के जीवन पर आधारित है। कवि ने इसके कथासूत्रों का संकलन प्राचीन स्रोतों से करते हुए भी इसे नया रूप देने की चेष्टा की है। 'शबरी' की ब्रजभाषा जीवंत परंतु परिष्कृत ब्रजभाषा है। 'शबरी' की मनोदशा का एक सुंदर चित्र प्रस्तुत है—

हाइ हाइ आइकैं पराइ गयौ प्यारौ कहाँ,
भागी तजि गेह नहिं देह की सुरति है।
खोजै खिरक घरीक कल धारै नाहिं
कुंज - बन - कूलन - कछारनि भ्रमति है।
बूझै तरुबेलिन अरुझै मृगवंदिन सौं
जित कौं डुलति पात, तितही कौं गति है।
हेरति मुरारी, चौंकि हेरति खरकि सुनि
छाँह सौं सुमति करि रोवति हँसति है।

राजा रामसिंह जी सीतामऊ नरेश (जन्म सं० १९३६) भी इस युग में काव्यरचना कर रहे थे। इनकी कविताएँ 'मोहनविनोद' नामक संग्रह में प्रकाशित हैं। हिंदुत्व के प्रसिद्ध लेखक **रामदास गौड़** भी ब्रजभाषा के सुकवि थे। इनके दोहे बहुत मँजे हुए और भावपरक हैं।

रामाधीन (जन्म सं० १९४१ वि०) ने अपनी १७ वर्ष की आयु में ही

'सुंदरकांड' की कथा कवित्त सवैयों में लिख डाली थी। अपनी प्रतिभा के बल पर ये रीवाँ के राजकवि बने। ओरछा के राजा ने इन्हें 'अन्योक्त्याचार्य' की उपाधि दी थी। इनके प्रकाशित ग्रंथों की संख्या आठ है। इनकी कविता में माधुर्य और चमत्कार दोनों ही हैं। **पुरुषोत्तमदास 'सैयाँ'** (जन्म सं० १९४२) का जन्म मथुरा में हुआ था। प्राचीन ब्रजकाव्य की इनको बड़ी अच्छा परख थी और सहस्रों छंद कंठस्थ थे। 'उत्तम' उपनाम से ये स्वयं भी बड़ी उत्तम रचना करते थे। **डा० रामप्रसाद त्रिपाठी** (जन्म सं० १९४६ वि०) का जन्म मुजफ्फरनगर में हुआ था। ये अनेक भाषाओं के विद्वान् हैं। ब्रजभाषा में ये बड़ी सरस काव्यरचना करते रहे हैं। **श्यामसेवक** (जन्म सं० १९४८) मऊगंज (रीवाँ) के निवासी हैं। आरंभ से ही ये ब्रजभाषा में पद्यरचना करते थे। 'प्रेम फौजदारी', 'ज्ञानमंजरी', 'कीर्तिमुक्तावली', 'गृहस्थोपदेश', 'प्रेम-प्रवाह' आदि इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। इनकी भाषा बोलचाल के बहुत निकट है। **ब्रजनंदनजी 'कविरत्न'** (जन्म सं० १९४९) रायबरेली जिला के अंतर्गत भावामऊ के निवासी हैं। बीस वर्ष की आयु से ही ये ब्रजभाषा में काव्यरचना करने लगे थे। सहज काव्यगुण के कारण उनके अनेक छंद लोकप्रिय हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

मनमोहन मोहि कैं कूबरी पै, निज प्रेमिन सौं मुख मोरिए ना।
जेहि प्रेमपियूष पियाएहु ताहि, बियोग के बारिधि बोरिए ना।
नित नेह कौ नातौ बढ़ाइ कियौ तरु, सो तिनका इव तोरिए ना।
ब्रजजीवन फेरि बसौ ब्रज में, बिसवास में यों बिस घोरिए ना।

पं० काशीपति त्रिपाठी 'प्रेमीहरि' (जन्म सं० १९५०) का जन्म काशी में हुआ। काशी विद्यापीठ में पहले ये अध्यापक और बाद में 'रजिस्ट्रार' बने। ब्रजभाषा में कवित्त सवैया लिखने में इनकी विशेष रुचि रही। इनका अधिकांश काव्य भक्ति और रीतिकाव्य की परंपरा में लिखा गया है। **नवीबख्श 'फलक'** (जन्म सं० १९५०) दतिया के निवासी और ब्रज एवं ब्रजेश्वरी के बड़े भक्त थे। इनके काव्य में इनकी सरस हार्दिकता सर्वत्र परिलक्षित है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'फलक सतसई' है, जिसमें ७०० दोहे हैं। **रामगोपाल जी 'गोपाल'** श्री वल्लभ-सखा जी के पुत्र थे। अपने पिता की भाँति ये भी कुशल चित्रकार और संगीतज्ञ थे। इनकी ब्रजभाषा रचनाएँ पुराने ढंग की हैं। **बाबू अंबिकाप्रसाद वर्मा 'दिव्य'** की रचना 'दिव्य दोहावली' सं० १९३३ वि० में प्रकाशित हुई है। इनके दोहे ब्रजभाषा के पुराने कवियों से टक्कर लेते हैं। इनकी रचनाएँ सरस और कलापूर्ण हैं। इनके दो दोहे प्रस्तुत हैं—

लखि बिरहिन के प्रान सखि, मीचहु नाहिं दिखात।
फिरि फिरि आवत लैन, पै मुऔ समुझि फिरि जात॥
नित प्रति पावस ही रहत, बरसत आठौं याम।
ये नैना घनस्याम बिनु, आप भए घन स्याम॥

रामेश्वर 'करुण' (जन्म सं० १९५८) का जन्म कदमपुरा, इटावा में हुआ था। गाँव के जमींदार के आचरण से इनके हृदय में बचपन से ही विद्रोह भड़क उठा था। इनके काव्य में भी एक तीव्र आक्रोश है जो कल्पित न होकर व्यक्ति-जीवन के अनुभव से उत्पन्न हुआ है। इनकी रचना 'करुण सतसई' ब्रजभाषा की एक अनुपम रचना है। सन् १९३० में इस कृति का प्रकाशन हुआ। समाज के प्रति करुणा की भावना इसमें स्थान स्थान पर है। कवि अपनी कृति के परिचय में कहता है—

सुपद सुगति न दोहरे, नहिं नावक के तीर।
करुन कराहन के कढ़े, कछु संताप गँभीर।

कवि ने युग की समस्याओं के मूल में रोटी को ही महत्व दिया है—

सौ बातन की बात इक, बादि करै को तूल।
ह्वै इक रोटी प्रस्न ही, सब प्रस्नन कौ मूल।

'करुण' ने व्यंग का सहारा लेकर समाज के अपराधियों को बिद्ध भी खूब किया है। सतसई की भाषा बोलचाल के निकट है, इसलिये उसमें व्याकरण की शुद्धता और भाषापरिमार्जन ढूँढ़ना अपेक्षित नहीं है। यह भाषा अपने कथ्य को कितनी शक्ति से अभिव्यक्त करती है, यही उसकी योग्यता है।

रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' (जन्म सं० १९५९ वि०) का जन्म अमलिया, जिला फैजाबाद, में हुआ। ये अंग्रेजी और हिंदी दोनों भाषाओं के विद्वान् हैं। ब्रजभाषा के ये श्रेष्ठ कवि हैं। 'सौरभ' नाम का इनका ग्रंथ सन् १९२५ में लिखा गया। यह ग्रंथ प्रयोग की दृष्टि से अभिनव है। मैनपुरी के **उमरावसिंह पांडे** (जन्म सं० १९५९) भी ब्रजभाषा में उत्तम रचना करते रहे हैं। रीवाँ के राजकवि **अंबिकाप्रसाद भट्ट 'अंबिकेश'** (जन्म सं० १९६०) कविमार्तंड की उपाधि से विभूषित हैं। इनका 'ज्योति' नाम का एक कवितासंग्रह प्रकाशित हो चुका है। रचनाएँ अच्छे स्तर की है। **पं० रूपनारायण पांडेय** (जन्म सं० १९६०) 'माधुरी' के संपादक के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। ब्रजभाषा में इन्होंने 'शिवशतक' और 'श्रीकृष्णमहिमा' नामक ग्रंथ लिखे हैं। इन्होंने 'गीतगोविंद' की टीका भी की है। **जगन सिंह सेंगर** (जन्म सं० १९६०) का जन्म राजनगर, जिला

अलीगढ़ में हुआ। 'मुरली' और 'झाँकी' इनकी दो प्रसिद्ध रचनाएँ पहले प्रकाशित हुई थीं। इधर इन्होंने 'किसान सतसई' भी प्रकाशित कराई है।

रामचंद्र शुक्ल 'सरस' (जन्म सं० १९६०) 'रसाल' जी के लघु भ्राता हैं। इन्होंने अनेक फुटकर छंद और एक खंडकाव्य 'अभिमन्युवध' ब्रजभाषा में लिखा है। **चौधरी लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश'** काशी के रहनेवाले थे। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ने इनका 'लंकादहन' नाम का एक काव्य प्रकाशित किया है। **राजेशदयालु श्रीवास्तव** की ब्रजभाषा की रचनाएँ बड़ी सुंदर और सरस हैं। 'श्याम रसमयी', 'राजेश सतसई', 'गौरांगचरित्र' तथा 'राजेश दोहावली' इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। **सूरजशरण शर्मा** (जन्म सं० १९६१) कानपुर निवासी गणेशप्रसाद जी के सुपुत्र थे। इनकी दो रचनाएँ 'पाँय पाँय' तथा 'रूमाल शतक' बहुत सुंदर बन पड़ी हैं। शर्मा जी की मृत्यु चौबीस वर्ष की अल्पायु में ही हो गई। गोरखपुर निवासी **रामलाल श्रीवास्तव** सुकविमंडल के प्रसिद्ध कवि हैं। ब्रजभाषा में इनकी 'राधारमनविनोद' नामक एक सुंदर रचना प्रकाशित है। रामलला (जन्म सं० १९६४) मथुरा निवासी हैं। वे ब्रजसंस्कृति में पले और पगे हैं। इनकी रचनाएँ उच्च कोटि की होती हैं। **गोविंद चतुर्वेदी** प्रसिद्ध कवि नवनीत चतुर्वेदी के सुपुत्र हैं। ब्रजमाषा की परंपरागत रचनाओं में ये सिद्धहस्त हैं। **श्यामनारायण मिश्र 'श्याम'** तथा **प्रणयेश शुक्ल** कानपुर निवासी और ब्रजभाषा के सुकवि हैं। **उजियारेलाल 'ललितेश'** इटावा जिले के भरथना गाँव के निवासी हैं, इन्होंने अनेक नवीन विषयों पर भी ब्रजभाषा में अच्छी रचनाएँ की हैं। 'दशानन दिग्विजय' इनका एक खंडकाव्य है।

आलोच्य काल के और भी अनेक ब्रजभाषा के कवि हैं, जिनका उल्लेख यहाँ विस्तारभय के कारण नहीं किया जा सका है। वस्तुतः इस काल में ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा मंद तो पड़ी परंतु उसका आंतरिक वेग अवश्य बना रहा है और यह परंपरा आज भी जीवित है, यह कम सौभाग्य की बात नहीं है।

———

नवम अध्याय

बालकाव्य

भारतवर्ष में बालसाहित्य का प्रारंभ और विकास विशेषतः आधुनिक सभ्यता की देन है। शिक्षाप्रसार के साथ साथ पाठ्य पुस्तकों के लिये शिशुमनोविज्ञान के अनुरूप बालकाव्यादि की रचना की आवश्यकता का बालसाहित्यकार निरंतर अनुभव करते रहे हैं। इसके पूर्व बालसाहित्य का कोई अलग साहित्यिक रूप अथवा रचनाशैली नहीं मिलती, वैसे, प्राचीन काल में 'हितोपदेश', 'कथा-सरित्सागर' आदि की रचना बच्चों को शिक्षा देने के निमित्त ही हुई थी। ऐसी रचनाएँ अन्य भारतीय भाषाओं में भी मिलती हैं। दूसरी कोटि का बाल-काव्य प्राचीन काव्यों में उन विशेष स्थलों पर मिलता है जहाँ पर नायकनायि-काओं के शिशुजीवन के चित्र आए हैं अथवा वात्सल्य भाव का उल्लेख हुआ है। शिशुओं की मानसिक गतिविधियों और चेष्टाओं का जितना स्वस्थ चित्रण, कृष्ण के शिशुजीवन को आधार बनाकर, सूरदास ने किया है, वैसा वात्सल्यपूर्ण काव्य विश्वसाहित्य में विरल है। किंतु, सूर के पद बालकों के लिये नहीं, भक्तों के लिये रचित हैं। वस्तुतः बालसाहित्य का शिक्षाशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण आधुनिक युग की देन है। पाश्चात्य संपर्क के फलस्वरूप बीसवीं शताब्दी में ज्यों ज्यों भारतीय चेतना विकसित होती गई त्यों त्यों बालकाव्य की उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारंभ की गई पृष्ठभूमि का भी विकास होता गया।

बालसाहित्य का लक्ष्य बच्चों को सहज ढंग से आनंद देना है न कि उन्हें मूल रूप से शिक्षा देना, सुधारना या शांत रखना। वस्तुतः बालसाहित्य का लक्ष्य बच्चों के मानसिक स्तर तक उतरकर उन्हें रोचक ढंग से नई जानकारियाँ देना है। यदि बच्चे में कल्याणभावना और सौंदर्यपरख की दृष्टि (ऐस्थैटिक सेंस) जागृत करनी हो तो उसकी समस्त आकांक्षाओं और जिज्ञासाओं का, स्कूली शिक्षा के साथ ही, विकास आवश्यक है। शिशु मन की चंचल जिज्ञासाओं को नवीन अनुभवों और शिवसंकल्पों से प्रेरित करने का मुख्य साधन बाल-साहित्य ही है।

कविता स्मृति में शीघ्र सुरक्षित हो जाती है—बालकों की स्मरण शक्ति तीव्र होती है, फलतः वे कविताओं को शीघ्र ही कंठस्थ कर लेते हैं। यही कारण है कि हिंदी में बालसाहित्य का प्रारंभ प्रायः कविताओं द्वारा हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी में ईसाई मिशनरियों ने धर्मप्रचारार्थ अनेक बालोपयोगी रचनाएँ प्रकाशित कराई थीं और शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' प्रभृति लेखकों ने पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से बालसाहित्य को गति दी थी, किंतु ये सभी प्रयत्न गद्य में हुए। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने बालकाव्य की रचना की ओर यत्किंचित् ध्यान अवश्य दिया, किंतु कुल मिलाकर इस युग के बालसाहित्य में बालकों की मनोभावनाओं को परिष्कृत करने और उन्हें सामाजिक परिवर्तनों से परिचित कराने पर ही अधिक बल रहा जिससे बाल पाठकों की कल्पनाएँ कुंठित होने से नहीं बच सकीं। द्विवेदी युग में साहित्य की अन्य विधाओं के साथ ही बालकाव्य की स्वस्थ परंपरा भी प्रतिष्ठित हुई और अन्य विषयों की पत्रपत्रिकाओं की भाँति बालकों से संबद्ध पत्रिकाओं का प्रकाशन भी आरंभ हुआ। परिणामस्वरूप बालकाव्य की रचना की ओर साहित्यकार अधिकाधिक प्रेरित हुए। 'बालप्रभाकर' (१९०६), 'बालहितैषी', 'विद्यार्थी' (१९१४), 'बालमनोरंजन' (१९१४), 'शिशु' (१९१६) आदि पत्रिकाओं का प्रकाशन इस युग की उपलब्धि है। इनमें बालकों में भक्ति, सदाचार के आदर्श और राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने के लिये अनेक कविताएँ प्रकाशित हो गईं। इनमें किशोरीलाल गोस्वामी, श्रीधर पाठक, भगवानदीन, हरिऔध, रामनरेश त्रिपाठी, सोहनलाल द्विवेदी, श्रीनाथ सिंह, गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' आदि अनेक प्रतिष्ठित साहित्यकारों की बालकविताएँ प्रकाशित हुईं जिनमें से अधिकांश ब्रजभाषा में रचित हैं। ये कविताएँ अधिकतर बालकाव्य के लक्ष्य से दूर लगती हैं, तथापि शिशुसुलभ भावनाओं को तदनुरूप शैली में प्रस्तुत करने में श्रीधर पाठक को निश्चय ही सफलता प्राप्त हुई है। पाश्चात्य साहित्य में प्रचलित स्वच्छंदतावादी बालकाव्य प्रवृत्तियों को हिंदी में प्रारंभ करने का श्रेय उन्हीं को देना होगा।

बालकाव्य का उचित विश्लेषण पत्रपत्रिकाओं के अध्ययन के आधार पर ही संभव है क्योंकि अधिकांश कवि उन्हीं के माध्यम से प्रकाश में आए हैं। अतः प्रमुख बालोपयोगी पत्रिकाओं पर विचार करना उपयुक्त ही होगा। १९१६ से १९३६-३७ ई० तक प्रकाशित होनेवाली बालपत्रिका 'शिशु' में प्रार्थना, पुजारी, आदर्श, चिड़िया, सवेरा, वर्षाऋतु, इंद्रधनुष, स्वदेशसेवा आदि शीर्षकों के अंतर्गत प्रायः सभी मुख्य कवियों की कविताएँ प्रकाशित हुईं। इसके संपादक सुदर्शनाचार्य में बच्चों की रुचि के अनुरूप सहज प्रेरणाप्रद कविताओं को पहचानने की मनोवैज्ञानिक क्षमता थी। १९१७ ई० से अब तक प्रकाशित होनेवाली 'बालसखा' भी इसी वर्ग की पत्रिका है जिसे बदरीनाथ भट्ट, सोहनलाल द्विवेदी, देवीदत्त शुक्ल, लल्लीप्रसाद पांडेय आदि संपादित करते रहे हैं। 'बालसखा' के उद्देश्य थे—बच्चों को नाना प्रकार का ज्ञान प्रदान करना, उनमें

अध्ययन की अभिरुचि जगाना, उनके मन में उच्च भावों को भरना, दुर्गुणों को निकालना तथा उनका मनोरंजन करना। पूर्वोल्लिखित बालकविताकारों के अतिरिक्त 'बालसखा' में मैथिलीशरण गुप्त, बलभद्रप्रसाद गुप्त रसिक', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर', व्यथित हृदय, देवीदत्त शुक्ल, लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, शंभूदयाल सक्सेना, सुदर्शन, भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि अनेक कवियों की विविध विषयक रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। इनमें अनेक सरस आख्यानक बालकविताएँ भी प्रकाशित हुईं। कालक्रम से प्रस्तुत युग की एक अन्य उल्लेखनीय बालपत्रिका 'खिलौना' (१९२७) है जिसमें वयस्कता से बचकर बालकों के उपयोग के निमित्त 'यथा नाम तथा गुण' कविताएँ प्रकाशित होती थीं। जिन कवियों की चर्चा पहले की गई है उनमें से अधिकांश ने 'खिलौना' को अपनी कविताओं के प्रकाशन का माध्यम बनाया। इसके लिये कविताएँ लिखनेवाले अन्य कवियों में श्यामनारायण पांडेय उल्लेखनीय हैं। इसमें बालकों के व्यक्तित्व को विकसित करनेवाले विभिन्न काव्यस्वरों को स्थान प्राप्त हुआ है।

प्रस्तुत युग की चौथी प्रमुख पत्रिका 'बालक' (१९२७) है जिसका संपादन रामवृक्ष बेनीपुरी और रामलोचनशरण ने किया। इस पत्रिका ने बच्चों के लिये इंग्लैंड और अमेरिका से प्रकाशित 'बुक ऑफ नॉलेज' को आधार बनाकर उपयोगी काव्यसामग्री का प्रकाशन किया। बंगला, मराठी, उर्दू और अंग्रेजी की प्रमुख बालोपयोगी पत्रिकाओं से प्रेरणा लेने के कारण भी इस पत्रिका की धूम थी। पहले जिन कवियों का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त 'बालक' में सुमित्रानंदन पंत, गोपालसिंह नेपाली, आरसीप्रसाद सिंह, गुरुभक्त सिंह 'भक्त', राजेंद्रसिंह गौड़, हंसकुमार तिवारी आदि अनेक प्रतिष्ठित साहित्यकारों की कविताएँ प्रकाशित हुईं। इसकी कविताएँ विषयवैविध्य की दृष्टि से भी ध्यान आकृष्ट करती हैं। कुछ शीर्षक हैं— आम्रवृक्ष और लता, आलस्य, दीपावली की छुट्टी, जगदीशविनय, बालपन, चेतावनी, इच्छा, घंटा, चंदा मामा, मेरी फुलवारी, एक था अधेला, होली का पर्व, अनुरोध, अभिमान, अद्भुत घोड़ा, शरद् ऋतु, लोकसेवा, हमारी घड़ी, परछाईं आदि। निश्चय ही 'बालक' का प्रकाशन हिंदी-बाल-साहित्य को विकसित करने की दिशा में उच्च भावना से प्रेरित प्रयत्न था। भाषा, भाव, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ आदि सभी दृष्टियों से इसे एक नवीन उपलब्धि कहा जा सकता है। १९३१ ई० में रामनरेश त्रिपाठी के संचालन में 'वानर' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ, जिसके संपादक सुरेशसिंह थे। इसमें लोककथाओं, पौराणिक तथा ऐतिहासिक कहानियों और परीकथाओं को आधार बनाकर रोचक, विनोदपूर्ण और जिज्ञासावर्धक कविताएँ प्रकाशित की गईं। इसमें पहली

बार बालकों के खेलगीतों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। सुरेशसिंह के संपादन में प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'कुमार' (१९३२) की विशेषताएँ हैं—रंगीन मुद्रण, व्यंग्य-चित्र-प्रकाशन तथा सामग्रीसंचयन की नवीनता। यह बच्चों और किशोरों दोनों के मानसिक स्तर को ध्यान में रखकर प्रकाशित की जाती थी। 'विद्यार्थी' शीर्षक किशोरोपयोगी पत्रिका में भी प्रतिष्ठित कवियों के साथ अनेक नवीन कवियों की बालोपयोगी कविताएँ प्रकाशित हुईं। इसमें अधिकतर कविता के माध्यम से सामाजिक जीवन का शिक्षात्मक परिदर्शन कराया गया है। 'बालविनोद' (१९३४) भी इस काल की प्रमुख पत्रिका है। इसकी कविताएँ कसरत और खेलकूद से लेकर वैज्ञानिक विचित्रता, मनोविज्ञान आदि से संबंधित हैं। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी-बाल-काव्य का विकास विशेषतः पत्रपत्रिकाओं के माध्यम से हुआ। प्रारंभ में जीवन के विविध अंगों, प्रकृति की निर्मल छटा, ऋतुओं के परिवर्तन, राष्ट्रीयता, वीरगाथाओं आदि को काव्यविषय बनाकर कविताएँ की गईं। यदि ये पत्रपत्रिकाएँ प्रकाशित न होतीं तो हिंदी-बाल-काव्य की गति अवरुद्ध रहती, उसकी पयस्विनी शुष्क हो जाती और वह जीवन को प्रेरित करने के गरिमामय दायित्व से च्युत हो जाती।

विवेच्य युग में बालकाव्य के प्रमुख कवियों की रचनात्मक उपलब्धियों का सर्वेक्षण भी आवश्यक है। इनमें हरिऔध का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने अपनी कविताओं को एक ओर उपदेशात्मक रखा और दूसरी ओर स्थिति के वर्णन मात्र से संतोष कर लिया है। उनकी कविताओं में बौद्धिकता के स्थान पर संवेदनशीलता है और भाषा पर भी उनका पूर्ण अधिकार लक्षित होता है। उन्होंने बालविकास (१९१५), बालविभव (१९२८), ग्रामगीत (१९२८), फूल पत्ते, खेल तमाशा, चंद खिलौना, दूध बताशा आदि बालोपयोगी कृतियों की रचना की। उनकी कविताओं में विषयविविधता के साथ ही सादगी है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

बही नदियों में है रसधार,
रेत करता है सोना दान।
उसे मोती देती है सीप,
रत्नवाला है हिंदुस्तान।
क्यों नहीं पूजे पाँव समुद्र,
क्यों नहीं पूजे उसे जहान।
सभी देशों का है सिरमौर,
हमारा प्यारा हिंदुस्तान।[१]

[१] ग्रामगीत, हरिऔध।

हरिऔध के बालकाव्य 'बालविभव' की भूमिका लिखते हुए श्री शिवनंदन सहाय ने कहा था, 'बालविभव' बालकों का ही धन नहीं है, इसे प्रौढ़ों का भी धन कह सकते हैं। इसके छंद देखने में छोटे हैं पर गुण में बड़े हैं।"[१] हरिऔध जी के बालकाव्य में विषयवैचित्र्य है--अनुकूल उपमाओं द्वारा उन्होंने विषयवस्तु में सहज छटा की अभिवृद्धि की है। उन्होंने प्रकृति और जगत् संबंधी सूक्ष्म अनुभूतियों को बालकों के मानसिक स्तर तक उतरकर चित्रित किया है। प्रस्तुत युग के किसी भी अन्य प्रतिष्ठित कवि ने इस ओर इतना ध्यान नहीं दिया है--प्रायः अप्रख्यात और सीमित दायरे के कवि ही बालकाव्य की रचना किया करते थे। हरिऔध ने बालकाव्य को उच्च आसन पर आसीन करते हुए श्रेष्ठ, महत्वपूर्ण कवियों को इस क्षेत्र में कार्य करने के लिये मार्गदर्शन दिया। उनकी अपनी उपलब्धियाँ भी अतुल्य हैं—वे बालमनोविज्ञान के पारखी हैं और भाषा पर भी उनका सहज अधिकार है। बालकाव्यकार की दृष्टि से उन्हें परंपरा से कोई विशेष संबल और पृष्ठभूमि नहीं मिली थी, इसलिये उन्हें नई परंपरा का सूत्रपातकर्ता मानना होगा। उनकी काव्यरचना के पीछे उदार शिक्षक की दृष्टि है--उन्होंने उपदेशात्मकता से बचकर बालोचित मनोविज्ञान और भावुकता को महत्व दिया है।

इस वर्ग की काव्यधारा के दूसरे महत्वपूर्ण कवि रामनरेश त्रिपाठी हैं। बालमनोविज्ञान को ध्यान में रखते हुए उन्होंने प्रचुर मात्रा में श्रेष्ठ बालकविताएँ लिखीं। 'बानर' पत्रिका के माध्यम से उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी उमंग और उत्साह का अच्छा परिचय दिया। अन्य पत्रपत्रिकाओं में भी उनकी अनेक बालकविताएँ प्रकाशित हुईं। उनके निम्नलिखित बाल-कविता-संग्रह उपलब्ध होते हैं—हंसू की हिम्मत, कविताविनोद (दो खंड), बानर संगीत, मोहनमाला आदि। कथात्मक कविताओं और खेलगीतों के अतिरिक्त उन्होंने दृश्यचित्रण आदि विविध पद्यशैलियों में काव्यरचना की है। उन्होंने हरिऔध द्वारा प्रवर्तित बाल-काव्य-परंपरा का भली भाँति विकास किया। हरिऔध की कविताओं में जिन संभावनाओं का संकेत है, त्रिपाठी जी ने उन्हें समुचित अभिव्यक्ति दी है। वे बालकों के लिये परिपूर्ण धरातल उपस्थित करनेवाले कवि थे। विषयनिर्वाचन और भावों की दृष्टि से ही नहीं, उन्होंने छंदों की दृष्टि से भी विविधता का परिचय दिया। जैसे--दो शब्दों के छंद, तीन शब्दों के छंद आदि। बालक बालिकाओं के समूहगीत (ऐक्शन सांग) लिखने में उनकी तुलना अन्य किसी कवि से नहीं

[१] देखिए, 'बालविभव', भूमिका, शिवनंदन सहाय, पृष्ठ ३।

की जा सकती। बच्चों के लिये शुद्ध हास्यरसात्मक कविताएँ लिखने की पहल भी उन्होंने ही की। पद्य में कहानी कहने की सहज और रोचक शैली के विकास का श्रेय भी उन्हीं को देना होगा। चरित्रनिर्माण संबंधी कविताओं की रचना के साथ ही उन्होंने देश के गौरव का दिग्दर्शन कराते हुए बालकों में राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने का सफल प्रयत्न किया। प्रकृतिशोभा को लेकर भी उन्होंने अनेक श्रेष्ठ कविताओं की रचना की। उदाहरण के लिये फूलों के संबंध में लिखित कुछ काव्यपंक्तियाँ देखिए :

आओ बादल इन फूलों के
सुंदर मुँह धुलवा दो,
आओ पवन इन्हें झूले में,
थोड़ी देर झुला दो।
किरणो तुम गुदगुदी लगाओ,
भौंरे लोरी गाओ।
नाचो और तितलियाँ आओ,
इनपर बलि बलि जाओ।[१]

त्रिपाठी जी के उपरांत बालकाव्य के क्षेत्र में श्री सोहनलाल द्विवेदी का नाम उल्लेखनीय है। देशसेवा और राष्ट्रप्रेम की भावना से ओतप्रोत कविताएँ लिखने के कारण वे विशेष लोकप्रिय हुए। उनकी कविताओं में ओजस्विता है। वे 'शिशु' तथा 'बालसखा' के संपादक भी रह चुके हैं। बच्चों के लिये उन्होंने जो काव्यपुस्तकें लिखीं उनमें 'शिशुभारती', 'बालभारती', 'बाँसुरी', 'बिगुल', 'मोदक' (१९८९ वि०), 'दूध बताशा', 'हँसो हँसाओ' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। एक ओर उन्होंने गांधी, नेहरू आदि महापुरुषों के व्यक्तित्व का काव्याकलन किया, दूसरी ओर खादी, चरखा, अहिंसा आदि के विषय में बालकविताएँ लिखीं और तीसरी ओर विविध पशु पक्षियों तथा जीवों के संबंध में बच्चों की स्वाभाविक संवेदना को जगाने का सफल प्रयत्न किया। बालकों की मनोदशा के अनुरूप उन्होंने कुछ नीतिवादी कविताओं की भी रचना की है। ऋतुसौंदर्य और ऋतुखेलों के संबंध में भी उन्होंने अनेक कविताएँ लिखी हैं। बच्चों के मानसिक स्तर के उपयुक्त सहज सरल भाषा के प्रयोग में भी वे सिद्धहस्त हैं। उदाहरणार्थ 'आया बसंत' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

[१] वानर, वर्ष ५, अंक २, 'फूल' शीर्षक कविता।

आया बसंत
शोभा अनंत
छाई पग पग न्यारी न्यारी
सरसों फूली
बौरें झूलीं
कोयल बोली प्यारी प्यारी
बह रही हवा
क्या खूब अहा
लहराती है क्यारी क्यारी
खेलें कूदें
आँखें मूँदें
आओ हिलमिल पारी पारी।[१]

इस काल के एक अन्य बाल-कविता-लेखक 'विद्याभूषण विभु' भूगोल के विद्वान् थे, फिर भी उन्होंने प्रभूत मात्रा में बालकाव्य का सृजन किया है। बच्चों की अनुकरण प्रवृत्ति को लेकर उन्होंने अनेक उत्कृष्ट बालगीतों की रचना की जिनके संबंध में पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी ने कहा था कि हिंदी में विभु जी के गीत ही ऐसे हैं जो अंग्रेजी के बालगीतों के समक्ष रखे जा सकते हैं। छोटे छोटे बच्चों के लिये उन्होंने सरल तुकबंदियाँ की जिनमें शब्दसंगीत का सहारा लिया गया है। उन्होंने नर्सरी के विद्यार्थियों के लिये भी अनेक संक्षिप्त तथा बालोपयोगी कविताएँ लिखीं। 'चार साथी', 'पंख शंख', 'लाल बुझक्कड़', 'बबुआ', 'गोबरगणेश', 'शेखचिल्ली', 'खेलो भैया', 'लाल खिलौना', 'फूलबगिया में' आदि उनकी प्रसिद्ध कवितापुस्तकें हैं। अपने गीतों में उन्होंने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि बालक किसी भी स्थिति को अनुकृति द्वारा सर्वथा उसी रूप में व्यक्त कर देते हैं। फलस्वरूप बच्चों की अनुकरण वृत्ति को लेकर भी उन्होंने अनेक गीतों की रचना की है। उनके समकालीन बालकाव्यकारों में स्वर्ण सहोदर भी उल्लेखनीय हैं। उनकी कविताएँ बालकों की सभी प्रमुख पत्रिकाओं में सुलभ हैं। उनकी काव्यपुस्तकों में 'चमन मगन', 'गिनती के गीत', 'लाल फाग', 'ललकार', 'बाल खिलौना', 'वीर बालक', 'बादल', 'वीर हकीकतराय', 'वीर शतमन्यु', 'बच्चों के गीत' (चार भाग) आदि प्रमुख हैं। उन्होंने बच्चों के लिये खेलगीतों की रचना के साथ ही उनकी प्रत्येक मनोवृत्ति

[१] मोदक, पृष्ठ १।

का प्रकृति से तारतम्य स्थापित किया है। बच्चों के नटखटपन को भी उन्होंने सहज भाव से अंकित किया है। 'वीर शतमन्यु' में उन्होंने शतमन्यु की कथा का वीररसात्मक शैली में सरल, रोचक और प्रभावी ढंग से वर्णन किया है। यद्यपि उनके गीत बालकों की सामाजिक परिस्थितियों और बालमनोविज्ञान के अनुभव से परे नहीं कहे जा सकते, फिर भी उनमें कहीं कहीं प्रौढ़ोचित गंभीरता के दर्शन होते हैं। वास्तव में उनके कुछ गीतों को किशोरोपयोगी कहना उचित होगा।

बाल-काव्य-सृजन के क्षेत्र में इस युग में अनेक कवियों ने योगदान किया। सभी कवियों के कृतित्व में यह भावना कार्य करती दिखाई देती है कि बच्चों की मानसिक जिज्ञासा का विकास किया जाय, और यह तभी संभव है जब उनके मनोवैज्ञानिक स्तर तक उतरकर उन्हें स्मरण रहने योग्य कविताएँ लिखी जायँ। 'बालसखा' के संपादक कामताप्रसाद गुरु की कविताओं में यह गुण विद्यमान है—उन्होंने बच्चों के लिये अनेक अभिनययोग्य कविताएँ लिखी हैं। उनकी कविताओं के प्रमुख संग्रह 'पद्य पुष्पावली' और 'सुदर्शन' हैं। उनके बालगीतों से एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है :

शिष्य एक गुरु के हैं हम सब एक साथ पढ़नेवाले
एक फौज के वीर सिपाही एक साथ बढ़नेवाले
धनी निर्धनी ऊँच नीच का हममें कोई भेद नहीं
एक साथ हम सदा रहे तो हो सकता कुछ खेद नहीं
हर सहपाठी के दुख को हम अपना ही दुख मानेंगे
हर सहपाठी को अपने से ज्यादा ही प्रिय मानेंगे
अगर एक पर पड़ी मुसीबत मिलकर हम दे देंगे जान
सदा एक स्वर से सब भाई गाएँगे स्वदेश का गान।

विवेच्य युग के अन्य कवियों में गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने बालसाहित्य के उत्थान के लिये अथक श्रम किया। यद्यपि उनकी कविताओं में मनोविज्ञान का उतना संस्पर्श नहीं है जितना बच्चों की कविताओं के लिये आवश्यक होता है, तथापि विविध विषयक होने के नाते वे उल्लेखनीय हैं—ऐसी कविताएँ विशेषतः पठनीय हैं जो राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत हैं। इस युग में बालकाव्य के रचयिताओं में श्रीनाथसिंह भी परिगणित किए जाते हैं। उनकी ख्याति विशेषतः पत्रकार के रूप में है—'शिशु', 'बालसखा', 'बालबोध' आदि के संपादक के रूप में वे प्रसिद्ध हैं। उनकी कविताएँ 'गुब्बारा', 'खेलघर', 'दोनों भाई', 'बाल भारती', 'लंपा चंपा' आदि संग्रहों में संग्रहीत हैं। हास्य विनोद की सामग्री से संपन्न बहुत सी व्यंग्यप्रधान कविताएँ भी उन्होंने लिखी हैं। गांधीवादी विचार-धारा से प्रेरित तथा वीर भावनाओं से ओतप्रोत उनकी अन्य कविताएँ भी महत्व-

पूर्ण हैं। उनमें बालमनोविज्ञान को परखने की अद्भुत क्षमता थी। उनके लिखे कुछ अच्छे उद्बोधन गीत भी मिलते हैं। प्रकृति का आश्रय लेकर निराशा को दूर करने के संदर्भ में 'क्या बैठे हो' कविता की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

अंधकार में कहता जुगनू, राह नहीं हूँ मैं निज भूला,
जर्रे जर्रे में जीवन है, कलियों ने है डाला झूला।
क्या बैठे हो घर में भाई, चलो प्रकृति की छटा निहारें
उगते खेत उमड़ती नदियाँ, घिरते घन की घटा निहारें।[1]

अन्य कवियों में ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' की बालकविताएँ 'बालमनोरंजन' में संकलित हैं। उनकी कविताओं में प्रकृतिवर्णन, बालकों में उत्साह भरने की ओजस्विता और भावनाओं को निखारने की शक्ति है। उनके गीतों में न केवल बालकों के अनुरूप भावों का सामंजस्य है, अपितु उन्होंने तदनुरूप सहज भाषा का भी प्रयोग किया है। उन्होंने कथात्मक कविताओं की भी प्रचुरता से रचना की है। बालकों के चित्तसंस्कार के निमित भी उन्होंने काव्यरचना की है। एक उदाहरण देखिए :

जो विद्या के पढ़ने में चित को लगाते
बुरी भावनाएँ न जो मन में लाते
जो अज्ञानता को हृदय से भगाते
जो सतमार्ग पर नित्य आते हैं जाते
जो माता पिता के हुक्म हैं बजाते
जगत में वही श्रेष्ठ बालक कहाते।[2]

इस युग के अन्य प्रमुख कवियों में रामजी लाल शर्मा ने बच्चों के लिये पचासों पुस्तकों की रचना की और नैतिक, धार्मिक तथा पौराणिक दृष्टि का आधार लेकर बालसाहित्य को समृद्ध किया। उनकी कविताओं में आदर्श की प्रचुरता दिखाई पड़ती है—उन्होंने बच्चों के चरित्रनिर्माण पर बल देनेवाली बहुत सी सरल कविताएँ लिखी हैं। मन्नन द्विवेदी गजपुरी द्वारा 'विनोद' उपनाम से लिखित कविताएँ भी प्रायः उपदेश, आदर्श और भक्तिभावना से अनुप्राणित हैं। लाला भगवानदीन कृत 'वीर बालक' में भी धार्मिक प्रवृत्तियों का सुंदर समन्वय मिलता है। उन्होंने बालिकाओं के लिये उपयोगी

[1] बालसखा, वर्ष २२, संख्या ८।
[2] बाल मनोरंजन, ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल', पृष्ठ १३।

गार्हस्थ्य गीत भी लिखे हैं। उनकी बालकविताएँ ब्रजभाषा में लिखित हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने भी बच्चों के लिए बहुत से गीत लिखे हैं जिनमें तुकबंदी की प्रमुखता है। फिर भी राष्ट्रीय भावधारा से युक्त बालकविताओं की रचना उनकी उल्लेखनीय विशेषता है। उनकी 'भारत भारती' के अनेक पद भी बच्चों में लोकप्रिय हुए। विवेच्य युग के कवियों में मुरारीलाल शर्मा बालबंधु का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। 'भारतीय बालक' और 'सेवा' नामक बालोपयोगी पत्रिकाओं के संपादन के साथ ही उन्होंने बच्चों के लिये अनेक कवितापुस्तकों की भी रचना की जिनमें 'साहसी बच्चे', 'गोदी भरे लाल', 'ज्ञानगंगा', 'होनहार बिरवे', 'कोकिला', 'संगीतसुधा' आदि प्रमुख हैं। उनके गीतों की भाषा सहज, सरस और आकर्षक है। इस युग के बालकवियों में द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी का उल्लेख भी आवश्यक है। उन्होंने बच्चों के लिये प्रभूत मात्रा में लोकप्रिय साहित्य की रचना की। उनकी कविताएँ बालकों को राष्ट्रीयता, आत्मसम्मान और जातीय गौरव का परिचय देती हैं। प्रसिद्ध कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहान के कवितासंग्रहों—'कोयल' तथा 'सभा का खेल' में भी यही प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। उनकी कविताओं में 'झाँसी की रानी की समाधि पर' विशेष प्रसिद्ध है, जिसका एक अंश द्रष्टव्य है :

यह समाधि यह लघु समाधि है झाँसी की रानी की।
अंतिम लीलास्थली यही है, लक्ष्मी मर्दानी की।
बढ़ जाता है मान वीर का, रण में बलि होने से।
मूल्यवती होती सोने की, भस्म यथा सोने से।
रानी से भी अधिक हमें अब, यह समाधि है प्यारी।
यहाँ निहित है स्वतंत्रता की, आशा की चिनगारी ॥

बलभद्रप्रसाद गुप्त 'रसिक' भी बच्चों के अनेक पत्रों के संपादक रहे। उन्होंने 'साहसी ध्रुव', 'वीर बालक अभिमन्यु', 'सत्याग्रही प्रह्लाद' आदि चरित्र-प्रधान बालकाव्यों की रचना की। 'चंचल' शीर्षक बालमासिक के संपादक विश्वप्रकाश 'कुसुम' की बाल-कविता-पुस्तकों में 'चंद्र खिलौना' और फूल-कुमारी' प्रसिद्ध हैं।

सन् १९१७ से १९३७ के मध्य बाल काव्य की सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित हुई। विस्तारभय के कारण उन सबका परिचयात्मक विश्लेषण संभव नहीं है। कुल मिलाकर कविगण इस दिशा में सचेष्ट दिखाई पड़ते हैं कि बच्चों की मानसिक गतिविधियों की सच्ची परख की जाए और उनके मन में राष्ट्रीयता के भाव भरने का यत्न किया जाए। कविगण प्रकृति, पशु पक्षियों और अन्य अनेक वस्तुओं को प्रतीक बनाकर बच्चों को नवीन ज्ञान से परिचित कराने में प्रयत्नशील दिखाई

देते हैं। गणेशराम मिश्र कृत 'खेल के ताने' (१६३१ ई०) में इसी प्रकार की पाँच कविताएँ संकलित हैं। रूपनारायण पांडेय कृत 'बालशिक्षा' (१६१६ ई०) में संस्कृत के नीतिविषयक उत्तमोत्तम श्लोक अनूदित हैं, किंतु इसका रचनास्तर प्रायः किशोरोपयोगी है। रामलोचन शर्मा 'कंटक' कृत 'मोदक' (१६८३ वि०) भी नीतिप्रधान रचना है जिसमें आठ काव्यात्मक कहानियाँ संकलित हैं। गिरिजाकुमार घोष का 'लड़कियों का खेल' (१६८३ वि०) शीर्षक गीतिनाट्य संग्रह (ऐक्शन सांग) भी कन्याओं को सुशिक्षित करने के उद्देश्य से रचित है। इस संग्रह में दस गीतिनाट्य हैं। कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं:

झूला (दो कन्याएँ गाती हैं)
श्यामा—झिम झिम झिम झिम पानी बरसे
यह पानी कित जावे री ?
रामा — आधा पानी नदिया जावे
आधा भूमि सँवावे री।
श्यामा—झिम झिम झिम झिम पानी बरसे
नदिया से मिल जावे री।[1]

बृजरतन सूरजरतन मोहता द्वारा लिखित 'बालगीति' (१६८५ वि०) में पाँच कविताएँ हैं जिनमें बच्चों को सरल भाषा में नीतिविषयक उपदेश दिए गए हैं। शिवदुलारे त्रिपाठी की 'नूतन छात्रशिक्षा' (१६१८ ई०) भी इसी वर्ग की रचना है। इसमें मांसभक्षण, जुआ, चिड़ियाबाजी आदि अवगुणों से बचने का उपदेश दिया गया है और ब्रह्मचर्य को अपनाने का निर्देश देकर बालकों के चरित्रनिर्माण का यत्न किया गया है। देवीदत्त शुक्ल के कवितासंग्रह 'बाल-कविता-माला' (१६२६ ई०) में भी ऐसी ही तीस कविताएँ संकलित हैं। सुदर्शनाचार्य की कथात्मक कविताओं के संकलन 'चुन्नू मुन्नू' (१६३२ ई०) में भी सरल और रोचक भाषा में उपदेशप्रधान कविताएँ संकलित हैं। १६३२ ई० में कामताप्रसाद वर्मा कृत 'बाल-विनय-माला' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। इसमें ईश्वरवियोग की वेदना से संबद्ध पाँच गीत संगृहीत हैं। उदाहरणस्वरूप घनश्याम के प्रति यह विनयभाव देखिए:

साँवरे घनश्याम तुम तो प्रेम के अवतार हो,
संकटों में फँस रहा हूँ, तुम ही खेवनहार हो।

[1] लड़कियों का खेल, पृ० २।

आपका दर्शन मुझे इस छवि से बारंबार हो,
हाथ में मुरली, मुकुट सिर पर, गले में हार हो।[1]

विद्याभास्कर शुक्ल कृत 'कनेटी पड़ाका' (१९३३ ई०) में भी दस कथात्मक कविताएँ हैं जिनकी रचना चरित्र-निर्माण-विषयक रोचक कथाओं के आधार पर सरल भाषा में की गई है। रामेश्वर करुण की 'बालगोपाल' (१९३६ ई०) भी इस काल की उल्लेखनीय कृति है। इसमें बालकों को व्यावहारिक जीवन के उपदेश दिए गए हैं और भाषा की सरलता का विशेष ध्यान रखा गया है—यहाँ तक कि इसमें संयुक्ताक्षरों का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है। यथा :

(अ) हम हैं भारत भू के लाल
चमकाएँगे उसका भाल
सदा चलेंगे ऐसी चाल
जिससे होगा देश निहाल।[2]

(आ) हिंदी है हम सबकी माता
लगा इसी से अपना नाता
इसे पढ़ेंगे अपनी जान
सदा करेंगे इसका मान।[3]

देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' की कृति 'बिजली' (१९३७ ई०) में दो वीर भारतीय नारियों—रानी दुर्गावती तथा कमला—की बालोपयोगी काव्यजीवनियाँ दी गई हैं। इसमें हिंदू नारी की पवित्रता और महत्व का यशोगान किया गया है। यद्यपि इसकी भाषा बालकों के स्वभावानुरूप न होकर कुछ कठिन हो गई है, तथापि इसमें भारतीय नारी के उज्ज्वल चरित्र की सफल अभिव्यक्ति हुई है। कथात्मक कविताओं का एक संकलन कवि किंकर कृत 'रसाल' (१९८४ ई०) है जिसमें पाँच बालोपयोगी कविताएँ संकलित हैं। कवि के शब्दों में ये कविताएँ 'धुर, रोचक और ज्ञानवर्धक हैं। एक अन्य कवि भूपनारायण दीक्षित विरचित मखिलवाड़' (१९८६ वि०) में तेईस कविताएँ संगृहीत हैं जिनकी रचना अत्यंत सहज सरल भाषा में हुई है। इसकी कविताएँ बच्चों को आकर्षित करनेवाले पशुपक्षियों को आधार बनाकर लिखी गई हैं। लक्ष्मीदत्त चतुर्वेदी कृत 'मिचौनी' और 'भैंसासिंह' (१९९० वि०) भी सरल और प्रवाहपूर्ण शैली में लिखित कवितासंकलन हैं। 'मिचौनी' में बालशिक्षा के निमित्त कविताएँ लिखी गई हैं और 'भैंसासिंह' में छोटे छोटे बालकों के पढ़ने योग्य छह पद्यबद्ध

[1] बाल-विनय-माला, पृ० ११।
[2] बालगोपाल, पृ० १।
[3] वही, पृ० १४।

कहानियाँ संकलित हैं। चतुर्वेदी जी ने प्रशिक्षात्मक शैली और बोलचाल की भाषा का सफलता के साथ प्रयोग किया है। चंद्रबंधु के कवितासंग्रह 'बालसुधार' (१९९२ वि०) में भी रोचक विषयों का चुनाव किया गया है और कवि की प्रतिपादन शैली सरल स्वच्छ रही है। बृजविहारीलाल के कवितासंकलन 'बालबोध' पर प्रकाशनकाल अंकित नहीं है, किंतु अनुमानतः यह संग्रह विवेच्य काल से ही संबद्ध है। इसमें बाल-शिक्षा-संबंधी कविताओं को स्थान प्राप्त हुआ है। कवि ने बच्चों के चालचलन, धर्म कर्म, शिष्टाचार, कर्तव्यपरिज्ञान आदि को सरल कविताओं में माध्यम से भली भाँति प्रकट किया है। बाल स्काउटों के लिये इस कृति का विशेष महत्व है। रामप्रीत शर्मा 'विशारद' की 'बालचर विनोद' भी इसी प्रकार की रचना है। इसमें 'स्काउट प्रतिज्ञा', 'स्काउट धर्म', 'ईशविनय', 'वंदना' आदि कविताएँ संगृहीत हैं। इनका अंग्रेजी अनुवाद भी इसी संग्रह में दिया गया है।

बाल-साहित्य-संबंधी उपलब्ध काव्यपुस्तकों के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से हिंदी बालकाव्य की परंपरा और रचनाशैली का उपयुक्त परिचय मिल जाता है। यहाँ कुछ ऐसे कवियों की चर्चा उचित होगी जो हिंदी के सुपरिचित प्रतिष्ठित कवि हैं और जिन्होंने बाल-काव्य-साहित्य के अभाव की पूर्ति की दिशा में भी महत्वपूर्ण योग दिया था। बालकों के मानसिक धरातल तक उतरकर उन्होंने तत्कालीन प्रमुख बाल पत्रिकाओं में अनेक मनोहारी कविताएँ प्रकाशित कराई थीं। इनमें से कुछ का विवरण निम्नलिखित है :

कवि	कविता	पत्रिका	वर्ष	अंक
१. जनार्दन झा द्विज	आकांक्षा	बालक	५	७
२. सुमित्रानंदन पंत	घंटा[1]	बानर	२	७

[1] कविता इस प्रकार है :

उस आसमान की चुप्पी पर घंटा है एक टँगा सुंदर
जो घड़ी घड़ी मन के भीतर कुछ कहता रहता है बजकर
परियों के बच्चों से सुंदर कानों के भीतर उसके स्वर
घोंसला बनाते उतर उतर फैला कोमल ध्वनियों के पर
भरते वे मन में मधुर रोर, जागो रे जागो कामचोर
डूबे प्रकाश में दिशा घोर, अब हुआ भोर अब हुआ भोर
आई सोने की नई प्रात, कुछ नया काम हो नई बात
तुम रहो स्वच्छ मन स्वच्छ गात, निद्रा छोड़ो रे नई रात।

३. भगवतीप्रसाद वाजपेयी	मसालेदार दहीबड़ा	बालसखा	२२	२
४. रामकुमार वर्मा	देश के काम	शिशु	१५	१
५. मोहनलाल महतो वियोगी	सोने का संसार	विद्यार्थी संवत्	१६८७	१
६. रामधारी सिंह 'दिनकर'	दूब[१]	बालक	९	६
७. लोचनप्रसाद पांडेय	आदर्श	शिशु	११	२–३
८ गोपालसिंह 'नेपाली'	देशदर्शन[२]	बालक	९	९
९. हंसकुमार तिवारी	दुर्दिन	बालक	८	८
१०. मोहनलाल गुप्त	कैसा खूब छकाया	बालसखा	२२	६
११. शंभूदयाल सक्सेना	बचपन	बालसखा	२१	१

[१] इस कविता का कुछ अंश इस प्रकार है :

तू नन्हीं नन्हीं हरी दूब।
अब सुबह हुई दुनिया जागी, अँधियारी लिए रात भागी
सूरज निकला किरणें आईं, तू ताज पहनकर मसकाई।
शबनम को लेकर खड़ी दूब, किरणों में अब सुनहरी दूब
खोदा खुरपी ले खोज खोज, चर गए जानवर रोज रोज
सूरज ने तुझे जला डाला, गरमी ने तुझे सुखा डाला
लेकिन तो भी क्या मरी दूब, वर्षा बरसी फिर हरी दूब।

[२] इस कविता का यह अंश द्रष्टव्य है :

कंठ खुला तरुणों ने गाया हिंदी में मृदु मंजुल गान
लहर उठी गंगा यमुना में गूँज उठा यह हिंदुस्तान।
खेलेंगे हम वृंदावन में झूलेंगे सागर के तीर
सुंदरवन के कोमल तृण में खड़ा करेंगे एक कुटीर।
दीप जलेंगे ताजमहल में कब्रों से तोड़ेंगे फूल
लालकिले की अटारियों पर जायँगे हम टोपी भूल।
आ बैठेंगे बुद्धगया में सोचेंगे कुछ अपनी बात
शांतिनिकेतन सारनाथ में जगे रहेंगे सारी रात।
मोती या जामामस्जिद में जाकर सीस झुकाएँगे
गंगा नहा गले शंकर के बाँधेंगे पीपल के पात।

१२. देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर'	दादा का भूत	बालसखा	१६	३
१३. मैथिलीशरण गुप्त	राहुल	बालसखा	१७	१
१४. लल्लीप्रसाद पांडे	बानर जी	बालसखा	१६	८
१५. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	आफत	बालसखा	१६	११
१६. देवीदत्त शुक्ल	शीशा की हैरानी	बालसखा	१५	४
१७. व्यथित हृदय	डाकिया	बालसखा	११	४
१८. ललितकुमारसिंह 'नटवर'	विनती	बालक	५	१०
१९. श्यामनारायण पांडेय	गाय	बालक	५	१०
२०. विनयमोहन शर्मा	प्रश्न	विद्यार्थी	१९३२ ई०	जनवरी
२१. मुंशीराम शर्मा	श्रद्धांजलि	विद्यार्थी	१९३२ ई०	जनवरी
२२. गुरुभक्तसिंह 'भक्त'	नीलकंठ	विद्यार्थी	१९३२ ई०	जनवरी
२३. राजेंद्रसिंह गौड़	हमारी घड़ी	बानर	३	५–६
२४. गंगाप्रसाद पांडेय	आँखों में	बानर	३	१०
२५. श्रीधर पाठक	कर्मी मत	बालसखा	१९२८	जुलाई
२६. जहूरबख्श	मेहतर का बालक	बालसखा	१९२८	जुलाई

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि हिंदी के प्रायः सभी प्रतिष्ठित कवि और साहित्यकार, जो किसी भी क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे थे, बालकाव्य की रचना की ओर अग्रसर दिखाई देते हैं। पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाओं के आधार पर अप्रख्यात कवियों की रचनाओं का वर्गीकरण किया जाए तो सैकड़ों कवि सामने आ सकते हैं, किंतु वह विषय का विस्तार मात्र होगा।

बच्चे निर्मल प्रकृतिवाले और जिज्ञासु होते हैं। उनकी मानसिक परिस्थितियों, कल्पना, अनुमान और बुद्धिविकास का स्तर अलग अलग आयु के अनुसार अलग अलग होता है। बालकाव्य बच्चों की आयु को ध्यान में रखकर लिखा जाता है। बच्चों की जिज्ञासा, वस्तुस्थिति को समझने की चेष्टा, सामाजिक जीवन की आकांक्षा आदि को ध्यान में रखकर उनके मानसिक स्तर के अनुरूप सरल, सरस और बोधगम्य भाषा में जिन कवियों ने अपनी रचनाएँ लिखीं उनका बच्चों के कोमल और निश्छल मन पर विशेष प्रभाव पड़ा। वैसे, कौन सा

भाव कब बालक के हृदय में रसानुभूति की सृष्टि कर सकता है, यह समझ पाना बालमनोविज्ञान से परिचित लोगों के लिये भी कठिन है।

बच्चे हँसमुख होते हैं, इसलिये हास्यरस की रचनाएँ उन्हें प्रिय लगती हैं। वात्सल्यभाव के वे जीवित प्रतीक होते हैं, अतः वात्सल्य-रस-प्रधान रचनाएँ उनके लिये उपयोगी होती हैं। विवेच्य काल स्वतंत्रता प्राप्ति के संघर्षों का युग है। इसलिये बच्चों के मन में वीरत्व जाग्रत करने के लिये अनेक कवियों ने देश की गौरव गाथाओं से संबद्ध कथानकों के आधार पर वीररसात्मक बालकाव्य का भी सृजन किया है। बच्चों की जिज्ञासा अद्भुत बातों से विशेष संतुष्ट होती है, इसलिये प्रस्तुत युग में बच्चों के लिये अद्भुत रस की रचनाएँ भी लिखी गईं। विषयवस्तु की दृष्टि से यदि तत्कालीन बालकाव्य का विवेचन किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि बच्चे अपने अपरिपक्व ज्ञान और सीमित जानकारी के कारण अपने स्तर के अनुरूप रचनाओं में ही अधिक रुचि लेते हैं। पुस्तकें, खान पान की वस्तुएँ, घर के प्रयोग में आनेवाले विविध उपकरण, माँ, बाप, भाई, बहन आदि की पृष्ठभूमि में जो बालकाव्य इस युग में लिखा गया वह बच्चों के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालनेवाला है। जीव जंतुओं और पशु पक्षियों से संबंधित विषयों पर लिखे गए बालगीतों से भी, जिनके प्रतीक बच्चों की कल्पना में प्रत्यक्ष प्रदर्शित हो सकते हैं, बच्चों की कौतूहलतृप्ति होती है। पशु पक्षियों से बच्चे उनकी बोली और स्वभाव की अनुकृति का यत्न करते हैं। पेड़ पौधों, पुष्पों और फलों पर आधारित गीत उन्हें प्रकृति के स्वच्छंद स्वरूप का बोध कराते हैं। इसी प्रकार आकाश, सूर्य, चंद्र, नक्षत्रमंडल, पृथ्वी, नदी, पर्वत, समुद्र आदि विषयों से संबद्ध गीत हिंदी में बहुल संख्या में लिखे गए। बहुत से गीत इतने सुंदर और कल्पनाप्रेरित हैं कि उनसे बच्चों की जिज्ञासा का समाधान तो होता ही है, वे उन्हें कंठस्थ करने के लिये भी तत्पर होते हैं।

बच्चे बचपन में खिलौनों में जीवित प्राणियों जैसा जीवन देखते हैं। खिलौनों में उन्हें सभ्यता, संस्कृति, रीति रस्म, विविध रंगों और पोशाकों की झलक मिलती है। इसलिये खेलों से संबद्ध और खिलौनों पर आधारित बालगीत भी बच्चों में लोकप्रिय होते हैं। प्रत्येक ऋतु और उस ऋतु की प्राकृतिक सुषमा का भी बच्चों के मन पर कम असर नहीं पड़ता। इनसे संबद्ध गीत बालकों की मनोभावनाओं के लिये रोचक होते हैं और उनके मन पर पड़नेवाले प्रभाव को तीव्र करते हैं। बच्चों में चंचलता और अभिनयप्रियता स्वाभाविक है। देखा जाता है कि ऐसे बालगीत जिन्हें बालक खेल के मध्य अभिनय करते हुए समूह सहित गा सकें, उन्हें बहुत ही प्रिय लगते हैं। इस प्रकार के गीतों से उनकी

मनोभावनाएँ परिष्कृत होती हैं और उनमें अच्छे भावव्यवहार का विकास होता है। बच्चों के लिये लिखित प्रयाणगीत भी उन्हें स्फूर्ति प्रदान करने के साधन हैं। इसी प्रकार समूहगान गाते समय बच्चों के मन में जो आत्मशक्ति जाग्रत होती है उससे वे भविष्य में समाज के सभ्य नागरिक बनते हैं। इन गीतों से उनके स्वरों के आरोह अवरोह में भी संतुलन आता है। हिंदी में किसी एक शैली में समूह-गीतों की रचना नहीं की गई, अपितु विषय और भावों के अनुरूप विविध शैलियों को अपनाया गया। इस युग में राष्ट्रीयता से ओतप्रोत बालकाव्य भी पर्याप्त मात्रा में लिखा गया। कवियों ने बच्चों में देशप्रेम, स्वाभिमान तथा एकता का संदेश भरने के लिये जिन राष्ट्रीय बालगीतों की रचना की वे गीत अपनी सरलता और स्वाभाविकता के कारण बच्चों की भावना और उनके मानसिक स्तर को विशेष रूप से प्रेरित करने में सहायक सिद्ध हुए। कवियों ने विशेषत: भारत माता, भारतवर्ष, स्वदेश, गांधी, चरखा, जेल, सत्याग्रह, अहिंसा आदि विषयों को प्रतीक बनाकर राष्ट्रीय बालकाव्य का सृजन किया।

बालगीतों की रचना का प्रमुख उद्देश्य बालकों का मनोरंजन है। बालगीत बच्चों की शिक्षा के भी सबसे अच्छे साधन कहे जा सकते हैं। इस युग के कवियों ने छोटे बच्चों के लिये अत्यंत सुंदर लोरियों की रचना की। लोरियाँ छोटे बच्चों को सुलाने और जगाने के लिये गीत के रूप में लिखी जाती हैं। ये शिशुओं को कोमल भावना और स्वच्छंद कल्पना का संगीत भरा संसार देती हैं। हिंदी कवियों ने मातृममता से प्रेरित होकर अगणित लोरियों की रचना की है। इस युग में लिखे गए बालगीत बौद्धिक क्लिष्टता से परे तथा बच्चों के कल्पना-क्षितिज के अनुरूप हैं। उस समय जो कल्पनाप्रधान बालगीत लिखे गए उनमें परंपरागत कल्पनाओं का आश्रय लेने के कारण कहीं कहीं एकरसता और पुनरावृत्ति भी लक्षित होती है। फिर भी, इन कल्पनागीतों से बच्चों को सामयिक परिवर्तन का ज्ञान तो हो ही जाता है।

बच्चों के मन में बहुत सी वासनाएँ कुंठित रह जाती हैं। सच्चा बालकाव्य लिखनेवाला कवि अपने गीतों द्वारा शिशुओं के मनोरंजन के साथ ही उन्हें कुंठित भावनाओं से मुक्त करता है। वह उनके भीतर ऐसी क्षमता जाग्रत करता है जिससे वे प्रत्यक्ष जगत् से ऊँचे उठकर अपनी मनोभावनाओं का परिष्कार कर और दृढ़ साहस से अपनी बुद्धि का विकास कर, जिज्ञासाओं की परितृप्ति का साहस कर सकें। कुछ ऐसी कविताएँ भी इस युग में मिलती हैं जो बच्चों के स्वस्थ मनोरंजन के साथ साथ उन्हें सत् असत् को पहचानने की दृष्टि देती हैं। कुछ ऐसे भी कवि इस युग में दिखाई पड़ते हैं जो अपनी उपदेशात्मकता, नीतिप्रवणता

और आदर्शवादी शिक्षा को ही कविकर्म का ध्येय समझते हैं। परंतु उनका कविरूप प्रायः अप्रत्यक्ष हो जाता है और सुधारक का रूप प्रबल होकर बच्चों को मनोरंजन की सामग्री देने में असमर्थ दिखाई देता है। इस युग में कुछ ऐसे कवि हुए हैं जो बच्चों के हृदय में विश्व का विपुल ज्ञानभंडार भर देना चाहते हैं। ऐसे कवि प्रायः बालकों के हृदय की रागात्मक वृत्ति और उनकी कोमल जिज्ञासु कल्पना से अनभिज्ञ होकर रचनाएँ लिखते हैं। गीतों का ध्येय यदि मनोरंजन की प्रधानता से च्युत हो गया, तो वे बालकों का ज्ञानवर्धन करने की अपेक्षा उनके लिये एक बोझिल पहेली हो जाते हैं। श्रेष्ठ बालगीत बच्चों को इस बात की प्रेरणा देते हैं कि वे सत्कर्म की ओर प्रवृत्त होकर अच्छे मनुष्य बनने की दिशा में अग्रसर हों। ऐसे गीत राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित, प्रकृतिवर्णन से ओतप्रोत तथा कल्पनाप्रधान विषयवस्तु पर आधारित हो सकते हैं। शैली की दृष्टि से ऐसे गीत समूहगान, प्रार्थना, लोरी, प्रयाणगीत आदि के रूप में लिखे गए-हैं। जिन गीतों में बच्चों को नव संदेश देने की शक्ति नहीं होती वे बाल काव्य के गुणों से अछूते होते हैं, चाहे उनकी रचना बड़े से बड़े कवि ने क्यों न की हो।

सन् १९१८–१९३७ के बीच में लिखा गया बालकाव्य निश्चित रूप से हिंदी कवियों की इस मानसिक विवशता का द्योतक है कि उन्हें अंग्रेजी, गुजराती और बँगला की भाँति गौरवास्पद बालकाव्य की परंपरा नहीं मिली थी। इस युग के कवियों को इस क्षेत्र में स्वयं पथनिर्माण करना पड़ा और इस प्रकार उन्होंने भविष्य के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। इन कवियों में कुछ तो ऐसे हैं जिनके कृतित्व की प्रतिष्ठा काव्य या साहित्य के अन्य क्षेत्रों में हो चुकी थी, कुछ ऐसे हैं जो अनुभवी अध्यापक तो थे किंतु जिनमें प्रायः काव्यरचना की उतनी प्रतिभा नहीं थी और अनेक कवि ऐसे हैं जो समुचित प्रोत्साहन के अभाव अथवा अन्य किसी कारण से बहुत आगे नहीं बढ़ सके। फिर भी, इस युग के बालकाव्य की उपलब्धियाँ कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। इस काल में पहली बार यह अनुभव किया गया कि पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त बच्चों को उनके मानसिक स्तर के अनुरूप कंठस्थ होने योग्य कविताएँ मिलनी चाहिए। इस कार्य को पूर्ण करने में हिंदी के ख्यातिलब्ध कविगण संनद्ध हुए और आर्थिक लाभ की परवाह न करते हुए प्रकाशकों ने सैकड़ों पुस्तकें तथा दर्जनों पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं। इन्हीं पुस्तकों और पत्रिकाओं के माध्यम से हिंदी का बालकाव्य प्रचुर मात्रा में, और मनोविज्ञान तथा काव्यगुणों से संयुक्त होकर, प्रकाश में आया। यद्यपि साज सज्जा, अलंकरण और चित्रों की दृष्टि से इस युग का बालसाहित्य सामान्य कोटि का है, फिर भी इतना निश्चित है कि जिस भाँति इस युग में खड़ीबोली कविता का निर्माण

किया गया तथा काव्यक्षेत्र में छायावाद की प्रतिष्ठा की गई उसी भाँति बालकाव्य को भी हर तरह से संपन्न किया गया। केवल उसकी आवश्यकता का ही अनुभव नहीं किया गया, अपितु विविध शैलियों का निर्माण कर बाल-काव्य-रचयिताओं ने जो योगदान किया वह हिंदी साहित्य में ऐतिहासिक महत्व रखता है और उसपर गर्व किया जा सकता है।

दशम अध्याय

उर्दू-काव्य-धारा

सन् १९१४ में हाली और शिबली दोनों का देहावसान हुआ। इसके बाद सर सैयद आंदोलन की आवाज मंद पड़ गई, और साहित्य में नई प्रवृत्तियाँ उभरने लगीं, जिनमें से दो विशेषत: उल्लेखनीय हैं—एक राष्ट्र विषयक और चिंतनप्रधान कविता की प्रवृत्ति थी; जिसमें निजत्व की तुलना में बाह्य पक्ष की अधिक प्रबलता थी। दूसरी रोमानी प्रवृत्ति थी जो निजत्व पर केंद्रित थी, जिसे सौंदर्य से गहरा लगाव था और प्रेम की मस्ती और लगन से गहरा संबंध। इस काव्यगाथा का आरंभ अकबर और चकबस्त से होता है जो कि पहली प्रवृत्ति के महत्वपूर्ण प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध कवि थे जफर अली खाँ और मौलाना मोहम्मद अली। दूसरी प्रवृत्ति के कवियों में अग्रणी थे आरजू, सरूर और रवाँ।

इस दौर में शिक्षित वर्ग की प्रवृत्ति राजनीतिक समस्याओं और सामयिक विषयों की ओर बढ़ रही थी। नैतिक एवं उपदेशात्मक विषयों का आरंभ काव्य में हाली के समय से हो गया था। फिर राजनीतिक विषयों और उपदेशात्मक प्रचार का रिवाज शिबली के प्रभावस्वरूप सर्वसाधारण में व्याप्त हो गया और जफर अली खाँ तथा मुहम्मद अली तक पहुँचते पहुँचते यह लहर इतनी बढ़ गई कि इसपर सोद्देश्यता पूरी तरह छा गई, जिससे काव्यसौष्ठव और रागात्मक तत्व न्यून से न्यूनतर होते गए—काव्य सदाचरण, राजनीति और राष्ट्रीय सुधारवाद का दास बन गया।

ऐसी प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। इस प्रतिक्रिया के दो रूप थे। एक मोहम्मद इकबाल के काव्य में प्रकट हुआ और दूसरा रोमानी कविता में। इकबाल ने अपने पहले युग में राजनीतिक और सामयिक विषयों को शिबली, अकबर और जफरअली खाँ की तरह अपनी नज्मों में अपनाया है। इनमें 'जंग-ए-यरमोक का एक वाकआ', 'जरीफाना रंग-ए-कलाम' और 'फातमा बिंत अब्दुल्ला' आदि नज्में भी मौजूद हैं, लेकिन बौद्धिक विकास की दूसरी मंजिल में इनकी कोशिश सामयिक विषयों पर संतोष करने से अधिक यह होती है कि सैद्धांतिक आदेशों के स्थान पर दार्शनिकता पैदा की जाए। वह जफरअली खाँ की तरह सामयिक विषयों में तात्कालिक राजनीति का प्रवेश नहीं

चाहते। वह जीव और जगत् का संबंध देखने की चेष्टा करते हैं। सामयिक काव्य के लिये राजनीति आवश्यक है और इकबाल को उसका दार्शनिक पक्ष प्रिय है। इकबाल ने काव्य में पत्रकारिता तत्व के स्थान पर दार्शनिकता और उपदेशात्मकता के स्थान पर दृष्टिकोण की महत्ता को स्थान देकर इसे साहित्यिक सौंदर्य और काव्यचमत्कार से सुसज्जित कर दिया।

दूसरी प्रतिक्रिया रोमानी साहित्यकारों की थी, जिन्होंने साहित्य में एकरसता, उपदेशात्मकता और उपादेयता के निर्जीव अनुरोधों को अस्वीकार किया, और कविता को 'आस्मानी दोशीजा' (दिव्य अप्सरा) बताया, या भावनाओं के अलौकिक स्पंदन से अभिषिक्त किया, जिसका उद्देश्य सामाजिक उपादेयता से अधिक प्रभाव की नूतनता पैदा करना था। इन शायरों ने पश्चिम के रोमानी साहित्यकारों से भावना के अतिरेक, और उसकी ऊष्मा को महत्व देना सीखा, और अरब तथा ईरान के क्लासिकी साहित्य के प्रभावस्वरूप कोमलता और सूक्ष्मता के साँचे निर्मित किए। इनका काव्यजगत् शिष्ट विनोद और रंगीन स्वप्नों का एक सुंदर संसार बन गया, जिसमें राजनीतिक हितों और सुधार संबंधी उपायों की शुष्क समस्याओं के स्थान पर हुस्न और इश्क, शराब और साकी, सौंदर्यानुभूति और सौंदर्यप्रियता के दीप जगमग कर रहे हैं।

इकबाल ने आधुनिक उर्दू शायरी को सबसे अधिक प्रभावित किया है। यों तो इकबाल की आरंभिक नज्में परंपरागत शैली से बहुत अधिक अलग नजर नहीं आतीं, लेकिन आगे चलकर इकबाल ने जिस दार्शनिक चिंतन को अपनाया उसने उर्दू काव्य को एक नई दिशा दी।

इकबाल सन् १८७५ में स्यालकोट में पैदा हुए। वे कश्मीरी ब्राह्मणों के वंश से संबंध रखते थे। मदरसा में आरंभिक अरबी व फारसी की शिक्षा उन्होंने अपने युग के प्रसिद्ध विद्वान् मौलवी सैयद अमीर हसन से प्राप्त की। बाद में लाहौर के गवर्नमेंट कॉलिज में दाखिल हुए, जहाँ इनकी रुचि प्रो० ऑरनल्ड की छत्रच्छाया में दर्शन की ओर हो गई। यहीं उनकी काव्यरचना का आरंभ हुआ। शुरू में वे मिर्जा दाग से डाक द्वारा अपनी रचनाओं का संशोधन कराते रहे। लेकिन दोनों की प्रकृति में इतना वैषम्य था कि यह क्रम अधिक देर तक नहीं चला; फिर भी दाग के प्रभाव से इकबाल की रचना में भाषाप्रवाह और काव्य-सामर्थ्य का जौहर अवश्य प्रकट हो गया।

सन् १९०१ में सर अब्दुल कादर ने अपनी ऐतिहासिक पत्रिका 'मखजन' निकाली। पहली बार इकबाल कवि के रूप में 'मखजन' ही के द्वारा सामने आए। इसके बाद इन्होंने हिमायत-ए-इसलाम के वार्षिक उत्सवों में अपनी नज्में

के द्वारा ख्याति प्राप्त की। ये नज्में जातीय और राष्ट्रीय समस्याओं पर लिखी गई थीं जिनमें हाली और शिबली की परंपराओं से बहुत बड़ी भिन्नता नजर नहीं आती थी। 'नाला-ए-यतीम', 'अब्र-ए-गौहर बार' और 'फरियाद-ए-उम्मत' में नज्म रचना का प्रचलित रंग जाहिर होता था। इस युग की नज्मों में देशभक्ति, जातीयता, प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण और आचारविषयक समस्याओं के प्रति विशेष अभिरुचि प्रकट होती थी।

इस युग की नज्में एक भव्य विकास का श्रीगणेश कही जा सकती हैं। इनमें कहीं देशप्रेम का जोश है—मुल्क और कौम के सुधार की लगन है, कहीं प्रतिष्ठित साहित्यकारों के प्रति श्रद्धा अर्पित की गई है। इनमें दाग, गालिब और आरनल्ड के मरसिये (शोकगीत) भी हैं, भारतीय बच्चों का तराना भी है। 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा' की आवाज भी है और 'नया शिवाला' भी। इस युग में उन्हें प्रेम और मृत्यु, बुद्धि और हृदय और 'तस्वीर-ए-दर्द' की समस्याएँ भी अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। लेकिन इनमें इकबाल केवल हृदय की तीव्र अनुभूतियाँ और वर्णनकौशल ही प्रस्तुत कर सके हैं। अभी वह दार्शनिक चिंतन और दृष्टिकोण की तीव्रता उनकी नज्मों में प्रकट नहीं हुई, जो इनके काव्य की आत्मा है। इस युग के काव्य का उत्कृष्ट नमूना 'नया शिवाला' और 'तस्वीर-ए-दर्द' के कुछ भागों से दिया जा सकता है—

सच कह दूँ ऐ बरहमन गर तू बुरा न माने,
तेरे सनमकदों के बुत हो गए पुराने।
अपनों से बैर रखना तूने बुतों से सीखा,
जंग-ओ-जदल सिखाया वाइज को भी खुदा ने।
तंग आके मैंने आखिर दैर-ओ-हरम को छोड़ा,
वाइज का वअज छोड़ा, छोड़े तेरे फसाने।
पत्थर की मूरतों में समझा है तू खुदा है,
खाक-ए-वतन का मुझको हर जर्रा देवता है।

(नया शिवाला)

वतन की फिक्र कर नादाँ मुसीबत आनेवाली है
तेरी बरबादियों के मशवरे हैं आसमानों में।
जरा देख उसको जो कुछ हो रहा है होनेवाला है
धरा क्या है भला अहद-ए-कुहन की दास्तानों में।
न समझोगे तो मिट जाओगे ऐ हिंदोस्ताँ वालो
तुम्हारी दास्ताँ तक भी न होगी दास्तानों में।

यही आईने-ए-क़ुदरत है यही असलूब-ए-फ़ितरत है।
जो है राह-ए-अमल में गामज़न महबूब-ए-फ़ितरत है।
(तस्वीर-ए-दर्द)

इकबाल की शायरी में चिंतन और दर्शन के तत्व यूरोप की यात्रा के बाद निखरना शुरू होते हैं। इनकी कला और व्यक्तित्व के क्रमिक विकास पर बहस करने का यह अवसर नहीं है। लेकिन यह समझ लेना चाहिए कि इकबाल की यूरोप यात्रा ने बहुत से पुराने आदर्श धूमिल कर दिए। पाश्चात्य अनुकरण के बहुत से जादू तोड़ दिए, और पूर्वीय सभ्यता का एक ऐसा बिंब प्रस्तुत किया जो केवल श्रद्धा और परंपरावादिता से पोषित नहीं था, बल्कि दर्शन के चिरस्थायी तत्वों से प्रादुर्भूत था।

यूरोप का जीवन और वहाँ के दर्शन ने इकबाल के सामने यह प्रश्न उपस्थित किया कि क्या मानव की बौद्धिक और रागात्मक समस्याओं का समाधान इस व्यवस्था में संभव है। भारत में सर सैयद से लेकर इकबाल के आरंभिक युग तक औद्योगिक उन्नति के वरदान, देशप्रेम, जातिप्रेम को जीवन का श्रेष्ठतम लक्ष्य समझा जा रहा था, लेकिन यूरोप में इकबाल ने अपनी नजरों से यह तमाशा देखा कि औद्योगिक उन्नति मानव की आध्यात्मिक संतुष्टि में सहायक सिद्ध होने और उसके व्यक्तित्व के विकास में मदद देने के स्थान पर उसके लिये नए आत्मिक क्लेश की सामग्री एकत्रित कर रही है, जिस आदर्श को पूर्वीय देश एक मंजिल समझकर अपना रहे थे, वह स्वयं पश्चिम के लिये घातक बना हुआ है।

यह वह युग था जब यूरोप में औद्योगिक उन्नति अपने यौवन पर थी। कुटीर उद्योगों और देहातों की समाप्ति हो रही थी, नए नए कारखाने स्थापित हो रहे थे, जिनके चारों ओर पुराने गरीब दस्तकारों के खानदान अपनी दस्तकारी से वंचित होकर और पुराने किसान अपनी जमीनों को छोड़कर, आबाद होने लगे थे, और धीरे धीरे औद्योगिक नगरों ने ऐसे वर्गों को जन्म दिया था, जिनके पास न सामूहिक जीवन के लिये अवकाश था, न पुराने मूल्यों के प्रति मोह। कभी कभी इन कारखानों में पैदावार के अधिक हो जाने और लोगों की क्रयशक्ति कम हो जाने से संकट की स्थिति पैदा हो जाती थी और अपने माल की खपत के लिये हुकूमत को या तो समीपवर्ती देशों से युद्ध करना पड़ता था और या एशिया और अफ्रीका के सुदूरवर्ती महाद्वीपों में उपनिवेश स्थापित करने पड़ते थे।

इकबाल ने पाश्चात्य चिंतकों को इस स्थिति से अत्यधिक क्षुब्ध पाया। स्पेंगलर की पुस्तक 'पश्चिम का पतन' (डिक्लाइन आफ वेस्ट) की बड़ी चर्चा थी। हीगल और मार्क्स, नीत्शे और बरगसाँ जैसे दार्शनिक बुद्धि को चरम

मापदंड मानने से इनकार कर रहे थे और जिस विचारपद्धति के फलस्वरूप भौतिक जीवन की सुख सुविधा और औद्योगिक प्रगति को अन्योन्याश्रित समझा जा रहा था, अब उसका जादू टूट रहा था। इकबाल के लिये यह अनुभव बहुत ही शिक्षाप्रद था। भारत, बल्कि एशिया के सभी देश जिस उन्नति और निर्माण के स्वप्न देख रहे थे उसका चित्र उनके सामने था। राष्ट्रप्रेम, जातीयता और स्वतंत्रता का क्या यही अर्थ है कि एक जाति दूसरी जाति के खून की प्यासी हो जाए ? क्या जाति और देश की कल्पनाएँ यही हैं कि मानवता वर्ण और वंश, भूगोल और इतिहास के विभिन्न चक्रों में बँट जाए और एक को दूसरे के विरुद्ध युद्ध के लिये उकसाया जाए ?

इकबाल के देशप्रेम ने इसका उत्तर नकारात्मक दिया। इकबाल के सामने जातिप्रेम की इतनी सीमित कल्पना न थी जिसको वह कभी फासिज्म की शक्ल में, कभी उपनिवेशवाद के रूप में और कभी दासता और अत्याचार के रूप में देखते। यहीं से उनकी लय 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा' से अलग हो जाती है और वह मानवता के भविष्य के बारे में सोचना शुरू करते हैं।

यदि पश्चिम की औद्योगिक उन्नति मानव को सुख सुविधा नहीं दे सकती तो फिर इसकी मंजिल क्या हो सकती है ? इसके उत्तर में दूसरा जीवनदर्शन सामने आता है जिसे एशिया ने शताब्दियों से अपना रखा है। इस दृष्टिकोण के आधार पर मानव की उन्नति भौतिक सुखसुविधाओं के स्थान पर आत्मपवित्रता से हो सकती है, और उसके लिये भौतिक उन्नति की दौड़ धूप अनावश्यक है। वस्तुतः मन को इन क्षुद्र मायाजालों में फँसाना जगत् के वास्तविक ज्ञान से वंचित हो जाना है। इकबाल दर्शनशास्त्र के एक छात्र के रूप में विशेष रूप से 'तसव्वुफ' का अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने वेदांत के हिंदू तसव्वुफ और इब्न-ए-अरबी से प्रभावित इस्लामी तसव्वुफ में आध्यात्मिक एकस्वरता की खोज करके दोनों की आलोचना की; और उन्हें अस्वीकार किया। उन्होंने 'खुदी' (अहंता) का प्रबल समर्थन किया। इनके यहाँ यह जगत् न दृष्टिभ्रम है और न माया है तथा यह जीवन महान् आवरण भी नहीं है, बल्कि 'अहंता' ही वस्तुतः जगत् का केंद्र और जीवन की स्वीकृति है। 'अहंता' की कल्पना इकबाल के निकट बहुत व्यापक और गंभीर है।

तसव्वुफ ने प्रायः हर रूप में इच्छात्याग पर बल दिया है। बुद्धमत और वेदांत से लेकर इस्लामी तसव्वुफ के कुछ संप्रदायों तक हर एक ने 'अहंता' के परित्याग का यही मार्ग बताया है कि मानव अपनी इच्छाओं पर इस प्रकार विजय प्राप्त कर ले कि उसकी (भगवान्) इच्छा पर पूर्णतः निर्भर हो जाए और भाग्य से उसका कोई विरोध न रहे। इसके विपरीत इकबाल ने 'इच्छा' को ही जीवन का

मूल तत्व माना। जीवित मानव की सबसे पहली निशानी उनके विचार में यही है कि वह इच्छाएँ और अभिलाषाएँ रखता है और उसके दुःख दर्द कम करने का मार्ग यह नहीं कि इच्छाओं का त्याग करके मानव आत्मसमर्पण कर दे और अज्ञानजन्य अस्तित्व पर संतोष कर बैठे बल्कि मानव जीवन का रहस्य निरंतर सचेष्ट रहने और एक मंजिल से दूसरी कहीं अच्छी मंजिल की ओर अग्रसर होने में है। इसमें अकर्मण्यता और गतिरोध की खोज मृत्यु है।

लेकिन यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब एक व्यक्ति अपनी सारी इच्छाओं की पूर्णता का प्रयास करेगा तो निश्चय ही उसकी इच्छाएँ दूसरे व्यक्तियों से और एक जाति की सामूहिक इच्छाएँ दूसरी जाति की इच्छाओं से टकराएँगी और इनसे एक विश्वव्यापी कलह खड़ा हो जाएगा। इस कठिनाई का समाधान इकबाल ने 'अहंता' को दो प्रकारों से विभक्त करके प्रस्तुत किया। एक 'अहंता' वह है जो किसी दिव्य शक्ति के अधीन नहीं है, जो केवल अपने स्वत्व पर आश्रित है और जो समाज या समष्टि से मेल नहीं खाती। यह इसकी ध्वंसात्मक स्थिति है और उसका विकृत रूप है। दूसरे प्रकार की 'अहंता' वह हो सकती है जो समाज और मानवता से समभाव रखती हो, और जिसकी पूर्णता केवल निजी लाभ अथवा व्यक्तिगत उपलब्धियों के लिये ही न हो, बल्कि वह सामूहिक सत्ता को श्रेष्ठतर मंजिलों की ओर गतिशील कर सके।

इस प्रकार 'इब्लीस' को उन्होंने असभ्य एवं ध्वंसात्मक 'अहंता' का प्रतीक माना। वह क्रियाशील भी है और गतिमान् भी; लेकिन उसकी 'अहंता' ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण नहीं करती, और सामूहिक सत्ता से सामंजस्य नहीं कर सकती। इसके विपरीत समाज या समष्टि के साथ सामंजस्य के द्वारा 'अहंता' के ऐसे रूप का विकास होता है जो सभ्य और संस्कृत है और जो विश्वकल्याण का उद्देश्य भी पूरा करता है। इस प्रकार इकबाल ने समाज से गहरे लगाव को 'अहंता' की पूर्णता का रहस्य माना है—

फर्द कायम रब्त-ए-मिल्लत से है तन्हा कुछ नहीं।
मौज है दरिया में और बेरून-ए-दरया कुछ नहीं॥

× × ×

यकीं मुहकम अमल पैहम मुहब्बत फातह-ए-आलम।
जिहाद-ए-जिंदगानी में ये हैं मर्दों की शमशीरें॥

× × ×

खुदी क्या है राज-ए-दरून-ए हयात,
खुदी क्या है बेदारी-ए-काअनात।

× × ×

खुदी जलवा बदमस्त-ओ-खल्वत पसंद,
समंदर है इक बूँद पानी में बंद ॥
× × ×
अजल इसके पीछे अबद सामने,
न हद इसके पीछे न हद सामने ॥

पूर्वीय देशों की निष्प्राण अभिरुचि और पश्चिम की निर्जीव और अंधी कार्यक्षमता—इन दोनों से क्षुब्ध होकर इकबाल इन दोनों का एक समन्वित रूप प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं और इस चेष्टा में इस्लाम का नया दृष्टिकोण सामने लाते हैं। इकबाल की दृष्टि में इस्लाम एक मजहब या मौलवी की आस्था नहीं है, बल्कि वह इसमें एक विशिष्ट व्यवस्था की खोज करते हैं और उसको 'अजम' वालों के प्रभाव से विमुक्त करके एक विश्वव्यापी दर्शन के रूप में ग्रहण करते हैं।

इस मार्ग में उन्होंने बहुत से दार्शनिकों से प्रकाश ग्रहण किया है। इनकी फारसी रचनाओं 'असरार-ए-खुदी', 'रमूज-ए-बेखुदी', और 'पयाम-ए-मशरिक' में इन सब दार्शनिकों के चिंतन के स्पष्ट संकेत कवित्वपूर्ण शैली में प्रस्तुत हैं। वह नीत्शे से बहुत कुछ ग्रहण करते हैं। उसकी तरह वह भी भावना और प्रेम को बुद्धि और तर्क से कहीं अधिक सशक्त और उज्वल समझते हैं। बरगसाँ की भाँति वह भी भगवत्प्रेम की मस्ती में विश्वास रखते हैं। हीगल के संघर्ष-सिद्धांत से उन्होंने बहुत कुछ सीखा है। मार्क्स के विचारों से एक ओर उन्होंने सरमायादारी की विषमताओं को किसी सीमा तक समझा है, दूसरी ओर पतन की विभीषिकाओं को जाना है। लेकिन इन सब में जिनके साथ वह सबसे अधिक संबद्ध हैं वह हैं मौलाना रूम। कुरान मजीद और मुसलिम सिद्धांतों की व्याख्या में वह बहुत कुछ मौलाना रूम को पथप्रदर्शक स्वीकार करते हैं।

इकबाल ने एषणा और क्रियाशीलता को 'अहम्' का रहस्य बताया है, और क्रियाशीलता तथा निर्माण, 'अहम्' में निरंतर विकलता और स्थायी संघर्ष को वह भावना के अधीन अधिक, और बुद्धि तथा तर्क की सहायता से न्यूनतर समझते हैं। वह प्रेम को 'फ़कीर-ए-हरम' (काबे का फकीर) और अमीर-ए-जनूद (सेनाओं का सरदार) के रूप में वर्णित करते हैं, और इसमें निर्भीक होकर भड़कती आग में कूद पड़ने को वह बुद्धि के 'तमाशाए लबे बाम' से कहीं अधिक प्रिय समझते हैं। इस तरह रोमानी चिंतकों की भाँति उन्हें वैयक्तिकता की कल्पना भी अभीष्ट है, और वह मानवीय समाज के विकास की कल्पना 'मर्द-ए-कामिल' (पूर्ण पुरुष) के रूप में करते हैं, जो न केवल अहंभाव रखता हो, बल्कि उसका

अहम् सामूहिक स्वर को पूरे रूप से अपने व्यक्तित्व में समाविष्ट कर सकता हो। इसलिये उनकी सबसे अधिक प्रिय निशानी 'शाहीं' पक्षी है, जो कर्म और गति का प्रतीक है, जो पर्वतों की चोटियों पर बसेरा करता है, जो उड़ान में आह्लाद का अनुभव करता है और निरंतर संघर्ष का अभिलाषी है।

इकबाल की उर्दू रचनाओं में महत्वपूर्ण नज्में हैं—'खिजर-ए-राह', 'तुलूअ-ए-इस्लाम', 'साकीनामा', 'मस्जिद-ए-कुरतबा, 'जौक-ओ-शौक', 'जिब्रील-ओ-इबलीस' और 'इबलीस की मजलिस शूरा'। इनकी पूरी रचनाओं में एक दार्शनिक ऐक्य और एक दृष्टिकोण मिलता है। यह दृष्टिकोण का काव्य है जो सृष्टि का हजारों दिशाओं से अध्ययन करता है और हर विभाग का एक विशेष दृष्टि से सर्वेक्षण करता है। इसमें सिद्धांतों का प्रकाश है, लेकिन उपदेशात्मकता का सतहीपन बहुत कम है। यह काव्य सामयिक रूप से भावनाओं को भड़काने का आचरण करने पर तैयार करने या विशेष स्थितियों में विशेष प्रभाव उत्पन्न करने के लिये नहीं रचा गया है। इसका उद्देश्य चेतना का परिष्कार और व्यक्तित्व का विकास है।

इकबाल के दार्शनिक चिंतन पर विभिन्न तात्विकों द्वारा आक्षेप किए गए हैं। निस्संदेह उसे हर प्रकार के विरोधात्मक विचारों से रहित नहीं माना जा सकता। मुस्लिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने इस्लामी जगत् की एकता की जो कल्पना प्रस्तुत की थी और 'पाकिस्तान' शब्द का प्रयोग किया था, उसके आधार पर उनपर सांप्रदायिकता का दोष भी लगाया गया। कुछ लोगों ने इनके 'पूर्ण पुरुष' की कल्पना के आधार पर इनपर 'फासिज्म' का दोष भी लगाया। लेकिन वास्तविकता यह है कि इकबाल का संदेश केवल मुसलमानों के लिये नहीं। इनका इस्लाम परंपरागत सिद्धांतों पर आधारित भी नहीं है। इकबाल वस्तुतः मानव मात्र के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हितों की जो सुव्यवस्था प्रस्तुत करना चाहते थे वह उन्हें इस्लाम की एक विशेष कल्पना में दिखाई दी, और क्योंकि यह विचारधारा विश्वव्यापी और सर्वग्राह्य है, इसलिये इसे सांप्रदायिक कहना उतना ही गलत है जितना कि मिल्टन के पैराडाइज लॉस्ट' को ईसाई मत का, तुलसीदास के 'रामचरितमानस' को हिंदू धर्म का काव्य कहना।

वस्तुतः इकबाल दार्शनिक की अपेक्षा कवि अधिक हैं। अब से पहले उर्दू काव्य को किसी ने इतने अधिक सार्वभौम, सारगर्भित और गंभीर दर्शन का माध्यम नहीं बनाया था। सुधारवादी नज्में लिखनेवाले और सोद्देश्य काव्य-रचयिता प्रचार के जोश और विचारों के प्रवाह में प्रायः काव्य के सौंदर्यविधायक

तत्वों और साहित्यिक विधि विधानों की उपेक्षा कर बैठे थे। लेकिन इकबाल अपनी गंभीर दार्शनिकता के साथ साथ काव्यगत सौंदर्य को भी पूरी तरह निभाने में सफल हुए हैं। इनके काव्य में न केवल दार्शनिक चिंतन मिलता है, बल्कि यह चिंतन सुंदरतम काव्यविधानों में ढालकर प्रस्तुत किया गया है। उनकी एक अन्य विशेषता यह है कि पुराने प्रतीकों को उन्होंने बिल्कुल नए अर्थों में इस्तेमाल किया है।

इकबाल के काव्य में अहं, बुद्धि व प्रेम, चिंतन व दृष्टिकोण, प्रेमोन्माद व तर्क की सारी पुरानी परिभाषाएँ मिलती हैं, लेकिन इनके दार्शनिक चिंतन ने उन्हें नए अर्थों में ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त शब्दों की संगीतात्मकता, पद्यबंध की चुस्ती, बाह्य दृश्यों के अंकन, और आंतरिक प्रभावों के चित्रण के अनुपम नमूने उन्होंने प्रस्तुत किए हैं। दर्शन की गंभीर समस्याओं का साहित्य की सूक्ष्म कोमलता और काव्यसौष्ठव के साथ इतना मनोरम समन्वय उदूं काव्य के इतिहास में अभूतपूर्व है।

इस युग में दूसरी महत्वपूर्ण आवाज रोमानी साहित्यकारों की थी। इन्होंने काव्य में उपादेयता और उपदेशात्मक एवं नैतिक और राजनीतिक प्रचार के आग्रह के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में साहित्यिक बारीकियों के प्रयोग पर बल दिया और काव्य को व्यक्तिभावना की प्रबलता तथा यथावत् प्रत्यंकन तक सीमित रखा। कुछ साहित्यिकों की वैयक्तिकता इतनी अधिक विशद और प्रबल थी कि वह जीवन की विभिन्न सीमाओं से टकराई और सुव्यवस्था के हर पक्ष को अपनी एषणा के अनुसार ढालने की आवाज ऊँची करने लगी। परिणामतः इस युग के रोमानी कवियों के प्रेम में सुंदरता की अपेक्षा उससे उत्पन्न मादकता की मात्रा अधिक है। क्रांति की कल्पना इनकी आंतरिक एषणा की ही द्योतक है और इनके लिये स्वतंत्रता राजनीतिक मुक्ति की नहीं, वरन् दमन और दासता से विमुक्ति की पर्याय है, जहाँ वह अपने स्वप्नों को सरलता से साकार कर सके।

रोमानियत के उत्कर्ष काल में एक तो हाली की नैतिकता, और उनके परवर्ती काव्य की उपादेयता की प्रतिक्रिया शामिल थी और दूसरे इसमें टैगोर का प्रभाव भी था। इसके साथ साथ पाश्चात्य साहित्य से संबंध अब अपेक्षाकृत निकट होता जा रहा था। पाश्चात्य काव्य का अर्थ अब विक्टोरिया युग का नीतिकाव्य नहीं रह गया था; अब तो वहाँ के सौंदर्यप्रेमी और रोमानी कवियों ने हमारी काव्यचेतना को प्रभावित करना शुरू कर दिया था। फिर, अबु-उल-कलाम आजाद और इकबाल की समुज्ज्वल वैयक्तिता ने उदूं कवियों को भी वैयक्तिकता और अतीत के वैभव की ओर आकृष्ट किया। भावनाओं की मशालें जगमगा

उठीं और इश्क ने 'तमाशा-ए-लब-ए-बाम' से उतरकर बेखतर 'आतिश-ए-नमरूद' में कूद पड़ने को अधिक श्रेयस्कर समझा।

रोमानी कवियों में सबसे महत्वपूर्ण नाम अख्तर शीरानी का है। अख्तर की आरंभिक नज्मों में औरत, उसका सौंदर्य और उसका प्रेम सृष्टि का सार तत्व है। अख्तर ने पहली बार स्पष्ट रूप में और निर्भीक होकर प्रेम किया है और अपनी प्रेयसी का नाम लेकर आहें भरी हैं। लैला, सिलमा, रेहाना और उजरा के नाम काल्पनिक सही, पर उनके हाव भाव हमारी अपनी पृथ्वी और समाज की जीती जागती औरत के से हैं, जो बेचैन होती हैं और बेचैन करती हैं, जो कहीं देहात के प्राकृतिक अल्हड़पन के साथ, कहीं सजे हुए 'पाईन बाग' में 'सुनहरे पानी में चाँदी से पाँव लटकाए', और कहीं चाँदनी रातों में कल्पना के लोक में दिखाई देती है। अख्तर शीरानी का प्रेम रुग्ण प्रेमी का नहीं, वरन् एक सामान्य मानव का प्रेम है। यह और बात है कि भावनाओं की उत्कटता के कारण इन्होंने इसे जीवन का एक रूप समझने के स्थान पर इसे जीवन का सार तत्व ही घोषित कर दिया है।

अख्तर ने सूक्ष्मता से परे रहकर मादकता को जिस उत्कटता से अपनाया है उससे यह विचार उत्पन्न होता है कि उन्हें सौंदर्य से अधिक प्रेम अभीष्ट है। वह किसी विशेष प्रेयसी के हाव भाव का शिकार होने की अपेक्षा मादकता के प्रति अधिक आकृष्ट हैं और इस मादकता के लिये 'जज्बा-ए-रोमान' और लैला, सिलमा, शीरीं और उजरा केवल शीर्षक मात्र हैं।

रोमानी कवियों में सामाजिक स्वर और तूफान, तथा चमकती और कड़कती बिजलियों से भरा तत्व जोश मलीहाबादी ने शामिल किया। जोश सन् १८९६ में पैदा हुए। अवध की सेना के भूतपूर्व रिसालदार फकीर मुहम्मद खाँ 'गोया' इनके दादा थे। इन्हें अपने पठान होने और योद्धा वंश से संबंधित होने का सदैव गर्व रहा है। अरबी और फारसी की कुछ शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने अंग्रेजी पढ़ना शुरू किया। बाद में हैदराबाद में 'दार-उल-तर्जमा' से संबद्ध रहे। उन्होंने सन् १९३६ में 'कलीम' नामक पत्रिका निकाली, जिसके द्वारा अपने युग की साहित्यिक अभिरुचि के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया। इस युग के बाद से उनकी नज्मों में राजनीतिक स्वतंत्रता की चेतना अधिक होती गई और उनके क्रांतिपूर्ण काव्य ने भारत के स्वातंत्र्य संग्राम में बड़ा काम किया।

जोश का काव्य सच्ची रोमानी भावना से शुरू होता है। इन्हें उत्कट भावना और ओजस्विता में रुचि है। उन्हें मद्धम रंगों के स्थान पर शोखी से प्यार है। रोमानी साहित्यिकों की भाँति उन्हें अतीत की स्मृति के प्रति असीम श्रद्धा है। इन्होंने जिस वस्तु को चाहा है, भावना की पूरी उत्कटता और व्यक्तित्व

की पूरी शक्ति के साथ रहा है। इनके काव्य में बिछुड़े हुए क्षणों की मनोरंजकता भी मिलेगी। भारत और इस्लाम की अतीतकालीन प्रतिष्ठा और भव्यता भी मिलेगी। प्राकृतिक दृश्यों से संबंधित प्रेमगीत भी मिलेंगे। प्रातःकाल और अन्य प्राकृतिक दृश्यों के जितने मर्मस्पर्शी चित्र जोश में मिलते हैं, उर्दू के किसी दूसरे कवि में कठिनता से मिलेंगे। प्रकृति, इनके विचार से, केवल स्वर्गिक दृश्य ही नहीं है बल्कि एक शिक्षालय भी है, जो कभी ईश्वरीय सत्ता के प्रमाण प्रस्तुत करती है तो कभी मानव की व्यथित चेतना का रहस्य खोलती है।

जोश का काव्य यौवन की मादकता का काव्य है, और इनका राजनीतिक काव्य भी इसका एक भाग है। वह भावना के उत्तेजित रूप में विश्वास करते हैं। वह इस तड़प, इस भावनात्मक अनुभूति को बौद्धिकता का साधन समझते हैं। उनके शृंगारिक काव्य में यह उत्तेजना परंपरागत नैतिक और सामाजिक बंधनों से विद्रोह का रूप धारण करती है, जो हमें 'जामनवालियाँ', 'मेहतरानी', 'कोहिस्ताने दकन की औरत', 'जंगल की शाहजादी' आदि नज्मों में जाति पाँति, सामाजिक व्यवस्था और बंधनों से मुक्त होकर मिलता है। वह भावना को पूरी तरह खुल खेलने की आजादी देना चाहते हैं, और इसलिये उनके काव्य में आह्लाद का जैसा भरपूर और रूपसौंदर्य का जैसा मोहक चित्रण मिलता है वह अपना उदाहरण आप है :

जुल्फों को हटा के कुनमनाया कोई, फर्श-ए-मखमल पै रसमसाया कोई।
जैसे कुंदन पै मौज-ए-अक्स-ए-महताब, यों चौंक के सुबह मुस्कराया कोई ॥

इनकी नज्मों— अश्के अव्वलीन', 'जवानी', 'अँगीठी', 'ऐ नरगसे जानाँ, 'यह नजर किसके लिये है', 'यह कौन उठा है शरमाता' में रूपसौंदर्य और आह्लाद का भरपूर रंग पूरे निखार के साथ मिलता है।

रोमान के माध्यम से जोश सामाजिक क्रांति और राजनीतिक स्वतंत्रता तक पहुँचते हैं। जब वैयक्तिक इच्छाएँ और रोमानी अभिलाषाएँ भौतिक अधिकारों से टकराती हैं तो उन्हें सामाजिक परिवर्तन अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है, और वह सारी व्यवस्था को नए सिरे से मानव की भावनात्मक आवश्यकताओं के अनुसार ढालना जरूरी समझते हैं, और उनका प्रहार नीति, धर्म और परंपरा की घिसी पिटी परिकल्पनाओं से लेकर दासता व अत्याचार तक सभी पर होता है।

राजनीतिक क्रांति की आग को जोश ने जिस सुंदरता के साथ अपनी रचनाओं में समाविष्ट किया है, उसने हमारे यहाँ 'क्रांति काव्य' को नवीन युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति बना दिया है। इसमें संदेह नहीं कि इनकी क्रांतिविषयक

कला ।। रोमानी और भावनात्मक है, इनके संमुख भी इस युग के बहुत से राजनीतिक नेताओं की तरह स्वतंत्रता के बाद के भारत की कोई सुनिश्चित एवं स्पष्ट कल्पना नहीं थी, लेकिन राजनीतिक क्रांति की अभिलाषा इनके यहाँ पूरे सौंदर्य और उत्साह के साथ मौजूद है। इनके काव्य में उपदेशात्मकता की झलकियाँ भी कहीं कहीं मिलती हैं, लेकिन भावना की उत्कटता और 'इब्रानी काव्य' के से जोश ने इनके 'क्रांति काव्य' को अत्यंत प्रभावशाली बना दिया है। इनकी आवाज में अहं और शक्ति है, जिसने नई पीढ़ी में स्वाभिमान, साहस और क्रियाशीलता की भावनाएँ जगा दीं।

हफीज पर इकबाल का प्रभाव पहले तो 'जिंदगी', 'आजाद वादी' और 'मुहम्मद अली' जैसी नज्मों में प्रकट हुआ, जिनमें एक दार्शनिक शैली ग्रहण करने की चेष्टा की गई है और बाद में 'शाहनामा इस्लाम' की बृहद् रचना के रूप में। 'शाहनामा' को हफीज का महत्त्वपूर्ण काव्य माना जा सकता है। उन्होंने मुसलमानों के उत्कर्ष के इतिहास को 'रसूल अल्लाह' के युग से नज्म के साँचे में प्रस्तुत किया है। यद्यपि इसमें संतुलन और प्रसादगुण सर्वत्र नहीं मिलता फिर भी, इसके कुछ भाग विवरणात्मक काव्य के उत्कृष्ट नमूने कहे जा सकते हैं।

इस युग में सागर निजामी, एहसान दानिश और रविश सिद्दीकी ने आधुनिक उर्दू काव्य में एक नई प्रवृत्ति को जन्म दिया। सागर की नज्में जातीय भावना और राजनीतिक स्वतंत्रता की लगन से भरपूर हैं। उन्होंने संगीतात्मक छंदों को अपनाया और संगीत की नई व्यवस्था के साथ प्रतीकप्रयोग और चित्रण को अपना उद्देश्य बनाया। इनकी नज्मों में नई उपमाओं और प्रसंग-चित्रण का पूरा उपयोग है। विशेष रूप से 'ताजमहल शबे माह में', और 'बाँबी के बासों' में उन्होंने संगीत को विषय के साथ एकरस कर दिया है।

एहसान दानिश ने मजदूर, किसान और गरीबों की समस्याओं को अपनी नज्मों का विषय बनाया है। इनके काव्य में सहानुभूति का तत्व अधिक है और द्रवणशीलता कम। मजदूरों के विषय में इनका एक भावनात्मक दृष्टिकोण है जिससे उन्होंने जीवन के विभिन्न पक्षों पर दृष्टिपात किया है। जोश की 'हुस्न और मजदूरी' और 'किसान' जैसी नज्मों का प्रभाव स्पष्ट रूप से एहसान ने स्वीकार किया है। इनकी रचना का विवरणात्मक पक्ष सजीव है। लेकिन भावना में सहानुभूति का रंग अधिक होने और कल्पना की कमी के कारण इनके काव्य का प्रभाव चिरस्थायी नहीं रहता।

रविश की आत्मा नितांत पूर्वीय है। उन्होंने अपनी नज्मों में पूर्वीय संस्कृति की महत्ता के गीत गाए हैं। प्राकृतिक दृश्यों की रमणीयता और विशेष रूप से कश्मीर का सौंदर्य इनका प्रिय विषय है। यही नहीं, इनकी

आदि युग की कल्पना और सौंदर्य एवं प्रेम की भावना भी पुरातन सुव्यवस्था से प्रभावित है। 'एतराफ', 'अभी न जा' तथा दूसरी नज्मों में वह अफ्लातून की रूपसौंदर्य विषयक धारणा के बहुत निकट दिखाई देते हैं, जिसमें प्रेम केवल निरंतर परेशानी का नाम है, और रूपसौंदर्य केवल भक्ति के लिये है। प्रेम का उद्देश्य विरह और स्थायी पीड़ा है, और इसे सफल बनाने की चेष्टा पाप। रविश की इन छोटे छंदोंवाली नज्मों में रूपचित्रण के प्रयोग भी मिलते हैं और प्रतीकों के अच्छे नमूने भी। लेकिन सामूहिक रूप से रविश प्रकृतिप्रेम और सौंदर्यप्रेम की इस विचारधारा के प्रतिनिधि हैं, जो रोमान के साथ उर्दू काव्य में शुरू हुआ था।

नज्म के साथ साथ गजल में भी नए स्वरों का रस और नए लहजे का प्रभाव पैदा हुआ। यों तो गजल में सुधारवादी आंदोलन इससे बहुत पहले शुरू हो चुका था, लेकिन नवीन चेतना को प्राप्त करने में गजल काफी समय बाद सफल हुई। यह नूतन आकर्षण पूरी तरह से हसरत मोहानी, असगर गोंडवी, फानी बदायवीं और यगाना की गजलों में प्रकट हुआ है—यद्यपि इससे पूर्व शाद की गजलें अश्लीलता और सतहीपन को दूर करके कवित्व के नए प्रतिमानों की तलाश शुरू कर चुकी थीं।

शाद अजीमाबादी की रचना में न तो परंपरागत निराशावाद की झलकियाँ हैं और न तसव्वुफ की पुरानी तर्ज है। उन्होंने गजल में प्रफुल्लता, उत्कट बाँकपन और सहज प्रसन्न शैली के निर्वाह की कोशिश की है। इनके काव्य में न तो रुग्ण आंतरिकता है और न रुग्ण विलासिता। हाँ, आह्लाद इनका धर्म है, और इसकी सहायता से वह अपने वर्ण्य विषय में एक सजावट, और अपने अनुभवों में उज्वलता एवं ताजगी बनाए रहते हैं। कुछ शेर लीजिए :

अगर मरते हुए लब पर न तेरा नाम आएगा
तो मैं मरने से दरगुजरा मेरे किस काम आएगा।
शबे हिजराँ की सख्ती हो तो हो लेकिन यह क्या कम है
कि लब पर रात भर रह रह के तेरा नाम आएगा।
कहाँ से लाऊँ सब्र-ए-हजरत-ए-अय्यूब ऐ साकी
खुम आएगा, सुराही आएगी तब जाम आएगा।

× × ×

ढूँढोगे अगर मुल्कों मुल्कों मिलने के नहीं, नायाब हैं हम।
ताबीर है जिसकी हसरत-ओ-गम, ऐ हम-नफसो! वह ख्वाब हैं हम॥
मुर्गान-ए-कफस से फूलों ने ऐ शाद यह कहला भेजा है।
आ जाओ जो तुमको आना है ऐसे में भी शादाब हैं हम॥

× × ×

यह बज्म-ए-में हैं यां कोताहदस्ती में है महरूमी
जो बढ़कर खुद उठा ले हाथ में मीना उसी का है।

× × ×

खामोशी से मुसीबत और भी संगीन होती है
तड़प ऐ दिल तड़पने से जरा तस्कीन होती है॥

हसरत की गजल रचना, फिराक के कथनानुसार, 'नरम और रचे हुए कवित्व और आश्चर्यजनक प्रौढ़ता का समन्वय है'। हसरत के व्यक्तित्व में नूतनता थी। वह एक ही समय में सूफी, राजनीतिक नेता और कवि सभी कुछ थे। व्यवस्थित और अभिजात काव्यरुचि की सहायता से वह इन सब पक्षों को गजल के क्षेत्र में पूरे मनोयोग और मादकता के साथ प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने सदा अपने काव्य का ध्येय यही रखा है कि प्रेमाख्यानों के वर्णन में कृत्रिमता से काम न लिया जाय और भावनाओं का यथावत् प्रतिनिधित्व हो, चाहे वे भावनाएँ उत्तम कोटि की हों या अधम कोटि की। 'हसरत ने अपने जीवन में प्रेम, धर्म और राजनीति की सीमाओं को कई स्थलों पर मिला लिया था।' लेकिन इन तीनों भावनाओं को वह गजल ही की शैली में और संकेतात्मकता के साथ प्रस्तुत करते हैं।

हसरत के काव्य में असीम प्रेमभावना है और इनका प्रेम स्वास्थ्यप्रद और वास्तविक है। इसमें न दाग के काव्य की सी विलासिता है और न मीर के काव्य का सा निराशाभाव। वह आह्लादक क्षणों का भी जिक्र करते हैं और 'नंगे पाँव कोठे पर आने' और 'आँचल को दाँतों में दबाने' का भी। वह प्रेम में दाग के कथनानुसार ऐसे लुत्फ भी उठाते हैं और ऐसी वेदना और गम भी कि जी जानता है।

हसरत ने कई उस्तादों से प्रभाव ग्रहण किया। मीर से सादगी और आंतरिकता ग्रहण की। मोमिन की परिकल्पना और विषयनिष्ठता को ग्रहण किया। जुरअत और इंशा की अश्लीलता को छोड़कर उनके प्रेम से इन्होंने इसी धरातल के वरण्य विषय और सौंदर्यानुभूति ग्रहण की, मुसहफी व नसीम देहलवी से कवित्व की सँभली हुई, भव्य शैली प्राप्त की—और इन सबको मिलाकर अपने काव्यभवन का निर्माण किया। इनका कमाल यही है कि इन्होंने गजल के इस परंपरागत रंग में साज सज्जा और वैयक्तिक चेतना पैदा कर उसे बीसवीं शताब्दी के साधारण जन की भावनाओं को प्रकट करने का माध्यम बना दिया।

हसरत के काव्य में जहाँ प्रेम की पुष्ट तथा स्वस्थ कल्पना थी, वहाँ फानी की गजल एक विशिष्ट काव्यकौशल की द्योतक थी। मीर के उपरांत इतनी गहरी वेदना और निराशा फानी के अतिरिक्त और किसी कवि के यहाँ नहीं मिलती।

फानी का गम मीर की भाँति कवि की प्रकृति का एक अंग होने की अपेक्षा उसकी चिंता और चेतना का अंश बन गया है। फानी की निराशावादिता केवल भावना और अनुभूति की देन नहीं है, वह जीवन को एक स्थायी दर्द समझते हैं और इसे उनका दृष्टिकोण ही समझना चाहिए।

फानी ने गजल को केवल अनुभूतियों के संप्रेषण का माध्यम ही नहीं बनाया, बल्कि उसे अपने जीवनविषयक चिंतनदर्शन का आधार भी माना है। फानी की निराशावादिता केवल सूफियाना नहीं है, वह वैयक्तिक अनुभव की प्रबलता से ओतप्रोत है। फानी ने गजल का प्रयोग इसके पूरे क्लासिकी निखार के साथ किया है। और साथ ही इसकी अव्यवस्था को अपने दार्शनिक चिंतन द्वारा दूर करने का सफल प्रयास किया है। यह और बात है कि इनका जीवन-दर्शन वेदना और निराशावाद की गहरी बदलियों में घिर गया है:

फानी ही वह इक दीवाना था जो मौत से पहले मर जाए
क्या होश की काफिर दुनिया में इस मौत के काबिल कोई नहीं।

× × ×

लज्जत-ए-फना हर्गिज गुफ्तनी नहीं यानी
दिल ठहर गया फानी मौत की दुआ करके।

× × ×

हर नफस उम्र-ए-गुजश्ता की है मय्यत फानी
जिंदगी नाम है मर मर के जिए जाने का।

× × ×

अदा से आड़ में खंजर की मुँह छुपाए हुए
मेरी कजा को वो लाए दुल्हन बनाए हुए।

× × ×

असगर गोंडवी ने भी गजल को एक दार्शनिक रूप दिया। लेकिन असगर का दर्शन मुस्लिम तसव्वुफ के अतिरिक्त कुछ न था। असगर ने इस्लामी सूफियों की श्रेष्ठ शिक्षाओं का प्रतिबिंब अपने काव्य में प्रस्तुत किया है। वह सारे जगत् को परमात्मा के प्रतिबिंब के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझते। अहं इनके यहाँ केवल पर्दा है और अस्तित्व केवल आवरण, जो प्रेम को सौंदर्य से अलग करता है। असगर की दृष्टि में सौंदर्य सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में विभिन्न रंग ढंग से दीपित है और इस भावना और प्रेम की पराकाष्ठा यह है कि ब्रह्म, जीव और जगत् एक हो जाएँ:

परतव-ए-मेहर में जौक़-ए - रम - ओ - बेदारी है,
बिस्तर-ए-गुल पे है हर कतरा-ए-शबनम मदहोश।
ताकत कहाँ मुशाहिदा - ए - बेहिजाब की,
मुझको तो फूँक देगी तजल्ली नकाब की।
हुस्न के फितने उठे मेरे मजाक़-ए-शौक से,
जिससे मैं बेचैन हूँ वह खुद मेरी आवाज है।
बार-ए-अलम उठाया रंग - ए - निशात देखा,
आए नहीं हैं यूँ ही अंदाज बेहिसी के।

जिगर मुरादाबादी पहले दाग और इसके बाद असगर गोंडवी के शागिर्द हुए। लेकिन इनका व्यक्तित्व न दाग के सतहीपन पर संतोष कर सका और न असगर की सूफियाना शायरी पर। जिगर ने दाग से मस्ती, प्रवाह और सादगी तो अवश्य ग्रहण की, लेकिन इसमें इन्होंने अपनी व्यक्तिगत मस्ती और अपने प्रिय के प्रति संमानभाव की अभिवृद्धि कर दी, और यहाँ वह असगर की दार्शनिक गंभीरता, कल्पनाप्रियता, बारीकी और साज सज्जा से बहुत कुछ प्राप्त करते हैं। नई पौद को जिगर की गजल की मस्ती और उनके व्यक्तित्व की गरिमा ने जितना प्रभावित किया है उतना किसी दूसरे गजलरचयिता ने नहीं किया।

जिगर की रचना में अनुभूति की प्रचुरता और भावना की मस्ती मिलती है। वह चिंतन और दार्शनिकता से अपने काव्य को बोझिल नहीं होने देते। जिगर का काव्य प्रेम और मुहब्बत का काव्य है, और उनका प्रेम प्रभाव और कुतूहल का संमिश्रण है। यद्यपि दार्शनिक व्यवस्था और चिंतनतत्व उनकी विशेषताएँ नहीं हैं, लेकिन फिर भी कुतूहल और प्रभाव को उच्चतर एवं सौम्य स्तर पर प्रतिष्ठित करना इनके काव्यशिल्प की एक विशेषता है, और इसे वह कवित्व की पूरी अनुभूति और क्लासिकी गजल की सारी साज सज्जा के साथ निभाते हैं। कुछ शेर देखिए :

तस्वीर उमीदों की आईना मलालों का
इन्साँ जिसे कहते हैं महशर है खयालों का।
× × × ×
ऐ चारा साज हालत-ए-दर्द-ए-निहाँ न पूछ
इक राज है जो कह नहीं सकते जबाँ से हम।
× × × ×
कहाँ का इश्क कि खुद हुस्न को खबर न हुई
रह-ए-तलब में कुछ ऐसे भी इम्तिहाँ गुजरे।
× × × ×

ऐ मुहत्सिब न फेंक मेरे मोहत्सिब न फेंक
जालिम शराब है अरे जालिम शराब है।

× × ×

किधर से बर्क चमकती है देखें ऐ जाहिद
मैं अपना जाम उठाता हूँ तू किताब उठा।

यास यगाना चंगेजी की गजल एक मानसिक सभ्यता और अपार उत्साह की द्योतक है। वह भाषा और वर्णन के आधार पर लखनऊ स्कूल की काव्य-पद्धति से घनिष्ठ संबंध रखते हैं। लेकिन वर्ण्य विषय में उन्होंने गजल में एक विशेष कड़क और रंग ढंग स्थापित करने की कोशिश की है। यगाना की गजल में निराशा और वेदना पाप है। हाँ, शक्ति, सामर्थ्य और ताजगी उनका धर्म है। यगाना के व्यक्तित्व में वेदना और द्रवणशीलता के स्थान पर उत्साह और ओज है। हर स्थान पर वह इस उत्साह और बाँकपन का निर्वाह संतुलन के साथ कर सकते तो इनकी गजल उस युग की एक महत्वपूर्ण उद्भावना होती, फिर भी उस्तादाना कारीगरी और मुहावरों तथा लोकोक्तियों पर अधिकार, यह सब यगाना का एक महत्वपूर्ण योगदान है।

सीमाब अकबराबादी की गजलों में भी कुशल कवियों का रंग ढंग मिलता है। उन्होंने गजलों में मस्ती के स्थान पर बाह्य विवरण को काव्य का रूप देने पर अधिक बल दिया है। उनके लोकज्ञान और अनुभवों में नवीनता है। उनका काव्यजगत् आंतरिक वेदना और द्रवणशीलता तथा प्रेम तक सीमित नहीं, बल्कि इसमें सार्वभौमता और विस्तृति पाई जाती है। सीमाब की कविताओं में भी नैतिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का प्रतिबिंब मिलता है।

हमारे आधुनिक गजल रचयिताओं में फिराक गोरखपुरी का स्थान काफी ऊँचा है। फिराक ने गजल की रचना इन सब कवियों के अंत में शुरू की, लेकिन फिराक की गजल में वेदना की अलौकिक नूतन कल्पनाएँ मिलती हैं। फिराक के यहाँ प्रेम जीवन के सामान्य वृत्तों तथा घटनाओं से अनजान होकर गुजरने का नाम नहीं। वह अफलातूनी प्रेम को स्वीकार नहीं करते, बल्कि जीवन की विकृतियों में 'मस्ती और सौंदर्यविषयक गुणों' की खोज करते हैं, और यह प्रेम केवल शारीरिक क्रिया नहीं, उत्तम कोटि की आत्मिक और आंतरिक क्रिया भी है, जो मानव को पाशववृत्ति से दूर रख सभ्य बनना सिखाता है। इसलिये प्रेम की वेदना मानव के विकास के लिये उत्तरदायी है।

फिराक की गजल ऐसी ही प्रेमपीड़ा की द्योतक है। उनका प्रेम और सौंदर्य हमारे संसार और हमारे युग के हैं। इसलिये उनमें सामाजिक समस्याओं के दूसरे प्रतिबिंब भी मिलते हैं। फिराक ने गजल में हिंदू पुराण के मिथकों और

उनके सौंदर्य को प्रस्तुत किया है। अंग्रेजी काव्य की प्रकृति के अनुकरण में इन्होंने इसी धरातल के सौंदर्य में तथा इसी धरती की दलदल और धूल में सितारों की चमक और आकाशगंगा की उज्वलता को देखा है। उदाहरणार्थ—

किया है कारगह-ए-जिंदगी में रुख जिस सिम्त,
तेरे खयाल से टकरा के रह गया हूँ मैं।

× × ×

सर में सौदा भी नहीं दिल में तमन्ना भी नहीं,
लेकिन इस तर्क-ए मुहब्बत का भरोसा भी नहीं।

× × ×

मुद्दतें गुजरीं तेरी याद भी आई न हमें
और हम भूल गए हों तुझे ऐसा भी नहीं।

× × ×

हजार बार जमाना इधर से गुजरा है
नई नई सी है कुछ तेरी रहगुजर फिर भी।

× × ×

जिंदगी क्या है आज इसे ऐ दोस्त
सोच लें और उदास हो जाएँ।

× × ×

पिछले चालीस पैंतालीस वर्षों के उर्दू साहित्य में अत्यंत महत्वपूर्ण वर्ष सन् १९३६ था, जब लखनऊ में 'अंजमने तरक्कीपसंद मुसन्नफीन' (प्रगतिशील लेखकसंघ) की नींव पड़ी। प्रेमचंद ने अपने अध्यक्षीय भाषण में साहित्य में न केवल सामाजिक चेतना पर जोर दिया, बल्कि इसे राजनीतिक और सामाजिक हलचल में एक सक्रिय सहकारी की तरह प्रयोग करने का आह्वान किया। साहित्य का प्रयोग भूख, परतंत्रता, यौन संबंध तथा अन्य आवश्यक सामाजिक समस्याओं की अनुभूति करने और उनका समाधान ढूँढ़ने की कोशिश में किया जाने लगा। यहाँ एक रंगीन दौर समाप्त हो जाता है और हिंदी कविता की तरह उर्दू कविता भी एक नया मोड़ लेती है।

———

एकादश अध्याय

उपसंहार : मूल्यांकन

प्रस्तुत कालखंड की अवधि अत्यंत सीमित है—एक हजार वर्ष तक प्रसरित हिंदी काव्य की विराट् परंपरा में १७–१८ वर्ष की सत्ता ही क्या होती है ? फिर भी काव्यगुण की दृष्टि से, इसमें संदेह नहीं कि यह आधुनिक हिंदी साहित्य का सुवर्णयुग है जिसकी तुलना सगुण-भक्ति-काल से, वरन् उसके भी एक विशिष्ट खंड—अकबर-जहाँगीर-युग से ही की जा सकती है। इस उत्कर्ष एवं समृद्धि के आधारतत्वों का विश्लेषण करना कठिन नहीं है। व्यक्तिगत उपलब्धि की दृष्टि से यहाँ एक ओर वर्तमान युग की सर्वश्रेष्ठ काव्यप्रतिभाओं का समारोह मिलता है और दूसरी ओर अमर काव्यकृतियों का रम्य छायापथ। प्रवृत्तिगत उपलब्धि की दृष्टि से आधुनिक हिंदी काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति—राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा का परिपाक और दूसरी उत्कृष्ट काव्यप्रवृत्ति—छायावाद—का आविर्भाव एवं विकास भी इसी युग में हुआ जिससे हिंदी कविता को नए क्षितिज और नूतन आयाम प्राप्त हुए।

१. व्यक्तिगत उपलब्धि

(क) वर्तमान युग की सर्वश्रेष्ठ कविप्रतिभाओं का समारोह

इस अवधि के प्रमुख कवि ही वास्तव में वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ हिंदी कवि हैं जिनका स्थान हिंदी की संपूर्ण काव्यपरंपरा में भी इतना ही महत्वपूर्ण है। मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद की कविप्रतिभा की पूर्ण परिणति इसी युग में हुई। निराला, पंत तथा महादेवी की काव्यसाधना की भव्यतम उपलब्धियों का यही युग है—और उधर माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, सियारामशरण गुप्त, भगवती-चरण वर्मा आदि अग्रणी कवियों की काव्यकला का विकास भी इसी कालावधि में हुआ। आधुनिक युग में, हिंदी में ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में भी, कविप्रतिभाओं का ऐसा समारोह दुर्लभ है—गुण की, अर्थात् मौलिकता और समृद्धि की दृष्टि से भी और वैविध्य एवं वैचित्र्य की दृष्टि से भी। मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद एक युग के दो कवि; परिवेश एक, किंतु प्रकृति सर्वथा भिन्न : एक की प्रतिभा समदिक् और दूसरे की प्रतिभा ऊर्ध्व गहन विकास की ओर प्रवृत्त रही। निराला और पंत की काव्यसाधना समानांतर चलती रही—दोनों में ही

हिंदी काव्य का चरम उत्कर्ष मिलता है, परंतु अंतर उतना ही अधिक है जितना मधु ऋतु के समीर और वर्षा के प्रभंजन में। माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन दोनों का जीवनधर्म एक था—देशभक्ति और प्रेम की वेदी पर बलिदान होना, परंतु उनकी कविप्रकृति अत्यंत भिन्न थी। माखनलाल चतुर्वेदी की प्रतिभा में रम्याद्भुत तत्वों के साथ प्रयोग करने की विचित्र क्षमता थी जिसके कारण छायावाद और प्रयोगवाद दोनों के वृत्त में उनका समान रूप से आदर हुआ; परंतु नवीन जी की कविता में शुद्ध आवेग का ज्वार था। सियारामशरण गुप्त की स्थिति सभी से पृथक् थी, मानों समुद्र में प्रतिष्ठापित प्रेममंदिर हो। बाहर तूफान और आलोड़न, भीतर सत् और ऋत की प्रतिमा के सामने जलता हुआ घृत का दीपक!—और इनके साथ ही काव्यसर्जना में लीन थे भगवतीचरण वर्मा : हाला और हलाहल का एक साथ पान करनेवाले, मस्ती—अहं और प्रणय के कवि। इस नूतन वृत्त से बाहर थे हरिऔध और रत्नाकर जो ब्रजभाषा की समृद्ध काव्यपरंपरा के अंतिम समथ प्रतिनिधि कवि थे।

(ख) अमर काव्यकृतियों का अद्भुत छायापथ

इस युग को हिंदी काव्य के अनेक कालजयी ग्रंथों के निर्माण का श्रेय प्राप्त है—मेरा विचार है कि पूर्ववर्ती किसी भी एक युग में, भक्तिकाल में या रीतिकाल में, जिसका विस्तार इससे कम से कम दस गुना था, इतनी अधिक अमर कृतियों की रचना नहीं हुई। मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत', 'यशोधरा', 'द्वापर' 'दिवोदास' आदि की रचना इसी अवधि में हुई; प्रसाद की 'कामायनी', 'आँसू' और 'लहर'; निराला कृत 'परिमल', 'गीतिका', 'अनामिका' और 'तुलसीदास'; पंत के 'पल्लव', 'गुंजन' और 'युगांत'; महादेवी की 'नीरजा' और 'सांध्यगीत', माखनलाल चतुर्वेदी तथा नवीन की सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविताएँ; सियारामशरण गुप्त की अनेक स्फुट रचनाएँ तथा 'बापू', 'मधुकण' में संकलित भगवतीचरण वर्मा की श्रेष्ठ काव्यकृतियाँ इसी समय प्रकाशित हुईं—और उधर रत्नाकर के 'उद्धवशतक' तथा हरिऔध के 'रसकलश' का रचनाकाल भी यही है। ये सभी चित्रविचित्र कृतियाँ काल के फलक पर सदा के लिये अंकित रहेंगी और हिंदी काव्य का इतिहासकार इनके आधार पर परवर्ती काव्य का मूल्यांकन करेगा। यदि चयनिकाएँ तैयार की जाएँ तो उत्तम कृतियों का ऐसा रम्य छायापथ पूर्ववर्ती और परवर्ती युगों में दृष्टिगत नहीं होता।

२. प्रवृत्तिगत उपलब्धि

(क) परंपरा का विकास :

द्विवेदी युग के काव्य में वर्तमान भारतीय जीवन की जिस सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति राष्ट्रीय-सांस्कृतिक-चेतना का आविर्भाव हुआ था, उसके विकास

और परिष्कार का श्रेय इसी युग के कवियों को है। द्विवेदी युग के काव्य में राष्ट्रीय भावना प्रायः प्रत्यक्ष और मुखर है और नैतिक चेतना में विधि निषेध का प्राधान्य है। वहाँ पराधीन भारत के प्राणों के आक्रोश की अभिव्यक्ति ऋजु सरल है, उसमें अभिधा का सीधा प्रयोग है और कर्तव्याकर्तव्य की सीमारेखाएँ अत्यंत स्पष्ट हैं––उसमें कथन की प्रवृत्ति अधिक है, व्यंजना कम है, मुखरता अधिक है, गरिमा कम है। छायावाद युग में इस चेतना में एक ओर गहराई व शक्ति का समावेश हुआ, और दूसरी ओर परिष्कार एवं समृद्धि का। 'भारत भारती' की राष्ट्रभावना 'साकेत' में कहीं अधिक उज्वल और समृद्ध हो गई––माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद और निराला ने रम्याद्भुत तत्वों का सुंदर नियोजन कर उसे एक नया रोमानी रूप प्रदान किया और सियारामशरण के काव्य में वह एकांत सात्विक एवं तपःपूत बन गई। अतीत गौरव के प्रति पहले जहाँ एक प्रकार का सामंतीय गर्व मात्र था, वहाँ अब ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर अनेक प्रकार की सुवर्ण कल्पनाएँ जाग्रत हो गईं। कवियों की दृष्टि राजपूती साहसिकता की संकीर्ण परिधि को पारकर गुप्त और मौर्य काल के भारत की उदात्त शौर्य-भावना का अनुसंधान करने लगी। गांधी द्वारा प्रतिपादित सत्य और अहिंसा के दर्शन ने एक ओर उसमें वैष्णव भावना की सात्विकता और मानव करुणा का संचार किया तो दूसरी ओर उसे आत्मा के अपूर्व ओज से मंडित कर दिया। इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती युग के रिक्थ का संवर्धन कर इस युग के कवियों ने परंपरा का विकास किया।

(ख) नवीन दिशाएँ और आयाम

छायावाद का आविर्भाव इस युग की ही नहीं, हिंदी साहित्य के इतिहास की अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। काव्यगत रूढ़ियों से मुक्ति का यह अपूर्व अभियान था। छायावाद पर निश्चय ही अँगरेजी के स्वच्छंदतावादी काव्य का प्रभाव था, परंतु क्रमशः उसमें भारतीय काव्यचेतना के रमणीय तत्वों का समावेश हो गया था। रम्य और अद्भुत का जो सुंदर संयोग स्वच्छंदतावाद का आधार-तत्व है, वह प्राचीन भारतीय काव्य में पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान था। कालिदास की कविता में ऐसे अनेक गुणों का उत्कर्ष सहज सुलभ था जो स्वच्छंदतावादी काव्य के प्राणतत्व हैं। इधर मध्ययुग के मर्मी कवियों की रचनाओं में रहस्य भावना का अपूर्व ऐश्वर्य विद्यमान था। रवींद्रनाथ इन दोनों के समन्वय का मार्ग प्रशस्त कर चुके थे। अतः द्विवेदी युग के समाप्त होते होते हिंदी कविता में एक ऐसी समृद्ध प्रवृत्ति का आविर्भाव हुआ जिसने हिंदी कविता के विकास की नवीन दिशाएँ और नए आयाम उद्घाटित किए। आरंभ में, जैसा कि प्रत्येक आंदोलन में होता है, छायावाद में परंपरा के विरुद्ध क्रांति का स्वर अधिक

मुखर था, किंतु जैसे जैसे वह सुस्थिर होता गया, भारतीय काव्यपरंपरा का वैभव उसे आकृष्ट करने लगा और उसके कवियों में नूतनता के साथ उत्कर्ष तथा समृद्धि की स्पृहा भी बलवती होने लगी। छायावाद के प्रमुख कवियों ने अपनी प्रबुद्ध सौंदर्यभावना और सच्ची काव्यप्रतिभा के बल पर अविलंब ही यह अनुभव कर लिया कि सृजन में नव्यस्फूर्ति लाने के लिये नूतन प्रयोग आवश्यक हैं, परंतु प्रयोग मात्र का अर्थ सृजन नहीं है। अतः जल्दी ही उनके काव्य में स्थैर्य आ गया और वे प्रयोग न कर उत्तम काव्य का सृजन करने लगे। नई दिशाएँ और नए क्षितिज तो खुल ही गए, साथ ही उनमें ऐश्वर्य का समावेश भी हो गया जिसमें भारतीय काव्यपरंपरा की समृद्धि अंतर्भुक्त थी।

१. कथ्य का संशोधन

कथ्य के संशोधन और शिल्प की समृद्धि दोनों की ही दृष्टि से इस युग का गौरव अक्षुण्ण है। इसमें काव्य के कथ्य की परिधि का विस्तार और उसके गुण का परिष्कार हुआ।

(क) सौंदर्य की नवीन चेतना का उन्मेष

रीति युग में सौंदर्य प्रायः मधुर का पर्याय बनकर रह गया था और श्रृंगार की परिधि अत्यंत सीमित हो गई थी। भक्तिकाल में इष्ट के जिस अलौकिक सौंदर्य की मौलिक कल्पना प्रतिभावान् निर्गुण और सगुण कवियों ने की थी, वह सामान्य कवियों के काव्य में रूढ़िबद्ध हो गई थी। निर्गुण कवि रहस्यात्मक प्रतीकों का और सगुण कवि अलौकिक उपकरणों का सर्वथा रूढ़ प्रयोग करने लग गए थे जिसमें दिव्य सौंदर्य के उन्मेष की अपेक्षा अलंकार का चमत्कार अधिक रहता था। द्विवेदी युग के काव्य का वह अंग और भी दुर्बल था—उसमें सौंदर्य के प्रत्यक्ष गोचर रूप मात्र का कथन होता था, जैसा कि उस समय के लोकप्रिय चित्रकार रवि वर्मा के चित्रों में सीधी रेखाओं और स्पष्ट रंगों के द्वारा अंकित रहता था। रोमानी सौंदर्यचेतना के प्रभाव से नए काव्य में मधुर के साथ अद्भुत का संयोग हुआ—जिसके फलस्वरूप श्रृंगार के आलंबन एक रहस्यमय आलोक से मंडित हो उठे और अनुराग में विस्मय के तत्व का समावेश हो गया—चित्त की द्रुति में दीप्ति का मिश्रण हो जाने से श्रृंगार के परंपराभुक्त स्थायी भाव के स्वरूप में संशोधन हो गया। अब सौंदर्य की कल्पना मानों शरीर के अंगों के चक्षुगोचर 'रूप' से आगे बढ़कर मनःगोचर 'लावण्य' तक पहुँच गई थी। इस सूक्ष्मतर सौंदर्यव्यंजना को प्राचीन मर्मज्ञों ने 'छाया' भी कहा है :

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कांति की तरलता अंग में

लावण्य कही जाती है। प्रसाद ने इसी छाया के आधार पर छायावादी काव्य के प्राणतत्व की व्याख्या करते हुए छायावाद नाम की सार्थकता सिद्ध की है। इसी प्रकार अद्भुत के संयोग से 'वीर' के विराट् रूप 'उदात्त' की कल्पना छायावादी सौंदर्य चेतना की एक अन्य प्रमुख विशेषता है। वास्तव में हिंदी काव्य के इतिहास में 'लावण्य' और 'उदात्त' की जैसी रमणीय अभिव्यक्ति छायावाद में मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

मानव जगत् में गोचर सौंदर्य से सूक्ष्मतर, मन और चेतना के सौंदर्य की विवृति छायावाद की विशेषता है। छायावादी कवि नारी में अंगों की मांसलता के प्रति आकृष्ट न होकर उसके मन और आत्मा के सौंदर्य पर मुग्ध होता है; वह रूप के माध्यम से अभिव्यक्त उसके हृदय के माधुर्य को अनावृत करता है। सौंदर्य की यह भावरंजित कल्पना, जिसकी घनानंद जैसे कवि में एक झलक भर मिलती है, इसी युग में आकर पूर्णतः विकसित हुई। उधर प्रकृति के क्षेत्र में भी छायावाद के कवि ने इसी अंतःसौंदर्य की प्रतिष्ठा की। प्रकृति उद्दीपन न रहकर आलंबन के रूप में उपस्थित हुई और कवियों ने उसके भीतर चेतना की अंतःसत्ता का अनुसंधान कर उसके साथ एक नवीन रागात्मक संबंध स्थापित किया। इस युग में प्रकृति का चित्रण बिंब और मिथक रूप में अधिक हुआ है--और इसका मुख्य कारण यही है कि अब प्रकृति के चेतन सौंदर्य के प्रति आग्रह बढ़ता जा रहा था। रीतिकाल का कवि भी सच्ची काव्यसर्जना के क्षणों में कभी कभी प्रकृति के साथ रागात्मक संबंध अनुभव करता था—सेनापति और पद्माकर जैसे कवियों की प्रकृति-चेतना सर्वथा रूढ़ और आलंकारिक नहीं थी; किंतु वह संबंध स्थूल और ऐंद्रिय था। छायावाद के कवि ने प्रकृति को अपनी अंतर्मुख अनुभूतियों का माध्यम बनाकर उसके साथ जिस तादात्म्य का अनुभव किया वह ऐंद्रिय मानसिक न होकर रागात्मक एवं कल्पनात्मक था। इस प्रकार आलोच्य युग में सौंदर्य की परिधि का विस्तार हुआ। गोचर से अगोचर की ओर, प्रत्यक्ष से परोक्ष की ओर, चेतन से अंतश्चेतन की ओर। पाश्चात्य साहित्य पर इस समय अवचेतन मनोविज्ञान का गहरा प्रभाव पड़ रहा था, परंतु भारतीय भाषाओं तक उसकी व्याप्ति प्रायः नहीं हुई थी। हिंदी के कवि इस युग में प्रायः भारतीय चिंतन के लिये परिचित अंतश्चेतन की बहुविध प्रवृत्तियों का ही निरूपण करते हैं—न फ्रॉयड के अवचेतन का और न अरविंद के अतिचेतन का, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि चेतन की अपेक्षा अंतश्चेतन के प्रति बढ़ते हुए आग्रह के मूल में इन दोनों की अप्रत्यक्ष प्रेरणा थी। अंतश्चेतन की प्रवृत्तियाँ स्वभावतः अत्यंत सूक्ष्म तरल होती हैं, उनके प्रति आग्रह बढ़ने का परिणाम यह हुआ कि एक तो काव्य में संचारी भावों का

प्राधान्य होने लगा और दूसरे नाना प्रकार के सूक्ष्म तरल भावसंवेदन काव्य के कोष की श्रीवृद्धि करने लगे : अब स्थायी भाव के उपचय या परिपाक की अपेक्षा नहीं रही, सात्विक भाव, अनुभाव अथवा संचारी के स्पर्श मात्र से रस की सिद्धि हो सकती थी। मराठी आलोचकों ने इन सूक्ष्म भावसंवेदनों को भावगंध कहा है।

(ख) काव्यसंवेदना का परिष्कार

इस काव्य की एक अन्य अपूर्व उपलब्धि है काव्यसंवेदना का परिष्कार। भावना की जैसी परिष्कृति और कल्पना की जैसी नफासत छायावाद के माधुर्य-परक गीतों में मिलती है, वैसी हिंदी काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है। हिंदी में विद्यापति, सूर और बिहारी की काव्यसंवेदना की परिष्कृति प्रसिद्ध है, परंतु उनकी अपनी अपनी सीमाएँ हैं : विद्यापति की शृंगारसंवेदना प्रायः मुखर हो जाती है, सूर में गोपकाव्य के तत्व प्रबल हैं और बिहारी में रीतिकाव्य की अतिशय ऐंद्रियता उनकी नागरभावना को कभी कभी विकृत कर देती है। इस दृष्टि से भारत का एक ही कवि है जिसकी परिष्कृत काव्यभावना अनगढ़ तत्वों और ग्राम्य प्रभावों से प्रायः मुक्त रहती है और वह है कालिदास। यह ठीक है कि पंत और महादेवी की कविता में उतनी ऊष्मा नहीं है, परंतु नफासत की दृष्टि से पंत के सौंदर्य बोध का जवाब नहीं है। वास्तव में यह भावनाओं के उन्नयन का युग था। उत्तर मध्यकाल की रागात्मक विकृतियों के विरुद्ध नैतिक प्रतिक्रिया तो पुनर्जागरण काल में ही आरंभ हो गई थी, परंतु उसका संस्कार बाद में हुआ। उन्नयन की इस प्रक्रिया में नव्य आत्मवादी दर्शन का विशेष योगदान था। धर्म के क्षेत्र में रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानंद और काव्य एवं दर्शन के क्षेत्र में रवींद्रनाथ और श्री अरविंद का नव्य आत्मवाद देशभर के प्रबुद्ध चिंतकों को प्रभावित कर रहा था। यह आत्मवाद निश्चय ही प्रवृत्तिमूलक था और इसपर औपनिषदिक आनंदवाद का गहरा प्रभाव था। इसके परिणामस्वरूप काव्य में मनोवेगों के उन्नयन की प्रवृत्ति का विकास हुआ—राग के मृण्मय तत्वों के परिमार्जन तथा चिन्मय तत्वों के पोषण की स्पृहा बढ़ने लगी। उधर गांधी ने आत्मवाद के निवृत्तिमूलक रूप का नव्य व्याख्यान किया– एक ओर सत्य तथा आत्मा के और दूसरी ओर प्रेम तथा अहिंसा के ऐकात्म्य द्वारा गांधी ने भोग की अपेक्षा त्याग और तप की महत्वप्रतिष्ठा की। इस प्रकार इन प्रवृत्ति-निवृत्ति-मूलक प्रभावों के फलस्वरूप जीवन में एक ऐसी अतींद्रिय चेतना का प्रादुर्भाव हुआ जो प्रज्ञा और कल्पना की विभूतियों से मंडित थी। इस अनुभूति में जीवन के मधुर तिक्त रसों का अप्रत्यक्ष आस्वाद तो नहीं था, परंतु एक अत्यंत सूक्ष्म कोमल गंध थी जो संस्कारी व्यक्ति की

चेतना को अभिषिक्त कर देती थी। छायावादी कविता के कथ्य में इसके गहरे संस्कार विद्यमान हैं। इन कवियों ने अनेक पद्धतियों से अपने संवेद्य विषय का उन्नयन किया है। इसके लिये प्रायः स्थूल के स्थान पर कभी सूक्ष्म तत्वों का नियोजन और कभी सात्विक उपकरणों का प्रयोग किया गया है। प्रेम की व्यंजना में यहाँ भोग की अपेक्षा त्याग बलिदान की भावना का और संयोग की अपेक्षा विरह की अनुभूति का मूल्य कहीं अधिक है। प्रेम की अभिव्यक्ति के लिये गोचर उपकरणों का—प्रत्यक्ष कामप्रतीकों का—प्रयोग न कर प्रकृति के प्रतीकों को माध्यम बनाया गया है। छायावादी काव्य में प्रणय के आलंबन के भौतिक अस्तित्व का निराकरण अथवा अपेक्षा और उसके भावनात्मक अस्तित्व की स्वीकृति प्रमुख है। राग-द्वेष-मूलक व्यक्तिसंसर्गों से मुक्त, अहंकार से निर्लिप्त, भाव का वह रूप जो अपनी परिष्कृति में सौंदर्यचेतना या रस में परिणत हो जाता है, इस कविता में सहज सुलभ है।

(ग) आंतरिक जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा

छायावाद निश्चय ही एक आदर्शवादी काव्यप्रवृत्ति है। परंतु उसमें आदर्श के बाह्य एवं स्थूल रूपों के स्थान पर आंतरिक रूपों की प्रतिष्ठा है। वह आदर्श विवेक एवं तर्क द्वारा पोषित योगक्षेम अथवा कल्याणभावना का प्रतीक मात्र नहीं है। इसमें व्यवहारलोक से परे एक कल्पनारमणीय जीवन की भव्य कोमल भावनाएँ निहित हैं। छायावादी काव्य मानवचेतना के उत्कर्ष से अनुप्राणित है, किंतु विकास का यह पथ समदिक् न होकर उर्ध्वाधर ही अधिक है अर्थात् इस काव्य को प्रेरित करनेवाले जीवनादर्श बहिर्मुख न होकर प्रायः अंतर्मुख ही हैं जिनके मूल में सुधारयुग की नैतिक बुद्धि की अपेक्षा पश्चिम के स्वच्छंदतावादी आंदोलन से प्रभावित सांस्कृतिक पुनर्जागरण की चेतना अधिक है। इस प्रकार आलोच्य युग में जीवनमूल्यों का संशोधन हुआ। राष्ट्रीय सामाजिक चेतना का परिष्कार एवं विस्तार हुआ और नैतिक मूल्यों के स्थान पर सूक्ष्मतर सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई। चिंतन की पद्धति में वक्रता का समावेश हो जाने से अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की ऋजु सरल धारणाओं में परिवर्तन हुआ और आदर्शों की परिभाषाएँ परंपरारूढ़ न रहकर अधिक परिमार्जित एवं सूक्ष्म तरल बन गईं; कल्याण की कामना प्रीति की भावना से रससिक्त हो गई और श्रेय में प्रेय की सुगंध भर गई।

४. काव्यशिल्प की समृद्धि

काव्यशिल्प की समृद्धि की दृष्टि से इस युग का महत्व और भी अधिक है। सिद्धांत रूप में कथ्य और शिल्प के पार्थक्य की चर्चा सर्वथा संगत रही है, परंतु

व्यवहार में इसके बिना काम नहीं चल सकता। सौंदर्य की अनुभूति अखंड है, परंतु उसका विवेचन विश्लेषण करने के लिये तो खंडविचार करना ही पड़ेगा। अपने अखंड रूप में तो सौंदर्यानुभूति अनिवर्चनीय है—अविवेच्य है, खंड-धारणाओं के द्वारा ही वह विवेच्य हो सकती है। अतः औचित्य इसमें है कि शिल्प को जड़ प्रक्रिया न मानकर कथ्य की अनिवार्य अभिव्यक्ति के रूप में ही स्वीकार किया जाए—तत्व रूप में अविभाज्य होने पर भी व्यवहार में, विवेचन के लिये, जिसकी पृथक् कल्पना की जा सकती है :

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता॥ कुंतक-व० जी० १।६।

अलंकार अर्थात् शिल्प और अलंकार्य अर्थात् कथ्य को अलग अलग कर उनकी विवेचना काव्य की व्युत्पत्ति—काव्यसौंदर्य को ग्रहण करने की क्षमता का उपाय होने से ही की जाती है। वास्तव में तो सालंकार शब्दार्थ अर्थात् कथ्य और शिल्प दोनों की समष्टि का नाम ही काव्य है। अर्थात् अलंकार=शिल्प और अलंकार्य=कथ्य का पृथक् विवेचन, तत्वतः उचित नहीं है, फिर भी काव्य-सौंदर्य को ग्रहण करने के लिये यह प्रक्रिया आवश्यक होती है।

(क) चित्रबंध और बिंबयोजना : यों तो कविता और चित्र का चिरंतन संबंध है, परंतु प्राचीन हिंदी कविता में चित्रात्मकता का उतना विकास नहीं हो सका जितना संस्कृत अथवा अँगरेजी कविता में हुआ है। इसके अनेक कारण हैं जिनमें से प्रमुख यह है कि हिंदी कवियों की रूढ़िबद्ध रसकल्पना में बाह्य प्रकृति का प्रायः उद्दीपन रूप ही ग्रहण हुआ—यहाँ तक कि मानव का रूप—नारी का अलंकारवैभव भी उद्दीपन की स्थिति से आगे नहीं बढ़ सका। इसीलिये आचार्य शुक्ल प्राचीन हिंदी कविता में संश्लिष्ट चित्रयोजना के अभाव की बारंबार शिकायत करते हैं। नखशिख की अलंकारजड़ित वर्णनप्रणाली ने सूक्ष्म चित्रांकन की प्रवृत्ति को और भी कुंठित कर दिया और रीतिकवि शरीर के अंगों के प्रायः स्थिर चित्र ही आँकते रहे—उनमें दीपित लावण्य को शब्दों में बाँधने का प्रयत्न उन्होंने कम ही किया। द्विवेदी युग में हिंदी कविता के इस अभाव की चर्चा जोर से हुई और कविता की चित्रणशक्ति का संवर्धन करने के योजनाबद्ध प्रयास किए गए—चित्रों को आधार बनाकर कवि रचना करते थे और पत्रिकाएँ उन्हें आमने सामने छापती थीं। परंतु बात बन नहीं रही थी और ये चित्र अत्यंत स्थूल तथा अभिधात्मक होकर रह जाते थे। छायावाद युग में हिंदी कविता की चित्रात्मकता का अभूतपूर्व विकास हुआ। प्राकृतिक दृश्यों और मानव रूप के अत्यंत सूक्ष्म तरल, रंगोज्वल चित्र अंकित किए गए और अमूर्त कल्पनाओं को शब्दमूर्त करने की शत शत शिल्पविधियों का आविष्कार किया

गया। अकेले पंत का ही काव्य शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध के शब्दचित्रों का भव्य संग्रहालय है। इन चित्रों में काव्यसामग्री का अपूर्व ऐश्वर्य और प्रयोगकौशल का अद्भुत चमत्कार लक्षित होता है। पंत की चित्रणकला में प्रायः मणिकुट्टिम-शैली का प्रयोग किया गया है : कवि मानों रंग बिरंगे अर्थों से दीपित शब्दमणियों को बड़ी बारीकी से जड़कर चित्ररचना करते हैं। उनकी कला रत्नाकर की कला है। इससे अत्यंत भिन्न है निराला की चित्रणकला। उनकी कल्पना ऊर्मियों से खेलने अथवा फूलों पर किरणों से चित्र आँकने की अपेक्षा आकाश के विस्तार में छाया प्रकाश के खेल खेलने या इंद्रधनुष के विराट् चित्र अंकित करने में अधिक रमती है। निराला के मधुर चित्रों में भी महादेवी के चित्रों के समान रंगों का तरल कोमल मिश्रण या पंत की कला का जड़ाव कढ़ाव नहीं है—उनमें भी छाया प्रकाश के द्वारा गहराई को चित्रित करने का ही प्रयास अधिक है, अतः निराला के काव्य में प्रायः रेखाचित्र या सांकेतिक चित्र ही मिलते हैं जिनमें वर्तमान युग की अमूर्त कला का भी आभास रहता है। निराला रंगों को मिलाकर या मणियों को जड़कर चित्र तैयार नहीं करते; प्रेरणा के एक स्पर्श से ही चित्र उभर आता है। इसीलिये उनके चित्र प्रायः गत्यात्मक हैं। माखनलाल चतुर्वेदी चित्रभाषा में बोलते और लिखते थे। उनके चित्रों में छायावाद के रंग और परवर्ती प्रयोगवादी कविता के अमूर्त संकेतों का समन्वय है। उधर प्रसाद के चित्रों में मौर्य और गुप्त काल की समृद्धि है—उनके चित्रों में निराला के चित्रों की अपेक्षा अधिक अलंकृति और पंत के चित्रों की अपेक्षा अधिक विस्तार है—इस प्रकार छायावाद के कवियों की कलासाधना के फलस्वरूप हिंदी कविता सच्चे अर्थ में 'वर्णमय चित्र' का पर्याय बन गई। इसका प्रभाव छायावादी वृत्त से बाहर के कवियों पर भी पड़ा : मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम-शरण गुप्त, नवीन आदि कवियों—यहाँ तक कि ब्रजभाषा के आचार्य रत्नाकर के परवर्ती काव्य में उपलब्ध चित्रबंध पहले की अपेक्षा कहीं अधिक परिष्कृत एवं संश्लिष्ट हैं और उनके काव्यशिल्प की संरचना पहले से अधिक सूक्ष्म जटिल हो गई है।

काव्यचित्रों का उत्कर्ष स्वभावतः बिंबविधान की समृद्धि की अपेक्षा करता है और इसमें संदेह नहीं कि इस युग के कवियों की बिंबरचना अत्यंत वैविध्यपूर्ण एवं कल्पना रमणीय है। बिंब के समस्त प्रकारभेद इस युग के काव्य में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। सामान्यतः काव्य में चाक्षुष बिंबों का ही प्राधान्य रहता है—क्योंकि ऐंद्रिय बिंबों में सबसे सहज ग्राह्य रूप यही है, परंतु काव्यशिल्प का जैसे जैसे उत्कर्ष होता है वैसे वैसे अन्य सूक्ष्मतर भेदों की संख्या बढ़ती जाती है। छायावाद की कविता में चाक्षुष रूपबिंबों का अपार वैभव तो

है ही. शब्द, स्पर्श, रस और गंध के सूक्ष्मतर बिंबों की शोभा भी कम नहीं है। भक्तिकाव्य में बिंबों का प्राचुर्य है—सूर और तुलसी जैसे कवियों की बिंब-योजना में चारुत्व के साथ वैविध्य भी है। रीतिकाव्य में चारुत्व है, परंतु वैविध्य नहीं है। छायावाद में काव्यानुभूति के परिष्कार के साथ बिंबयोजना भी परिष्कृत एवं समृद्ध हुई और चारुत्व में वैविध्य तथा वैचित्र्य का भी योग हो गया। छायावाद के कवियों का प्राकृतिक वैभव पर पूर्ण अधिकार है—छायावाद का काव्यफलक प्रकृति के असंख्य सूक्ष्मतरल, रंगभास्वर, विराट् और दिव्य बिंबों से जगमग है। प्रकृति के समस्त रम्य उपकरण—आकाश, चंद्र, सूर्य, तारागण, आतप, चाँदनी, इंद्रधनुष, असंख्य फूल, पक्षी, वृक्ष और लताएँ, पर्वत, नदी, निर्झर और सागर, सोना चाँदी, मणि, माणिक्य अपने अपने रूप रंगों का वैभव लिए कविकल्पना के संकेतों के साथ नाचते हैं। सूक्ष्म अनुभूति और ललित कल्पना के संयोग से इन कवियों ने एक ओर तो ऐंद्रिय बिंबों के आधारपरिवर्तन द्वारा अत्यंत सूक्ष्म जटिल मिश्र बिंबों की रचना की और दूसरी ओर अपनी प्रबुद्ध मूर्तिविधायिनी कल्पना द्वारा संश्लिष्ट बिंबों अथवा बृहत्तर मिथक बिंबों का प्रचुर संख्या में निर्माण किया है। पूर्ववर्ती काव्य के रूढ़ और वस्तुपरक बिंबों के स्थान पर स्वच्छंद बिंबों का आकर्षण बढ़ा और हिंदी कविता में सूक्ष्म जटिल तथा आवेशविह्वल अनुभूतियों का गोचर रूप देने की शक्ति का विकास हुआ।

(ख) **अलंकार** : अलंकार के क्षेत्र में भी नवीन दृष्टि का उन्मेष हुआ। अलंकार और अलंकार्य का स्थूल भेद मिट गया और तत्व के मर्मी कवि ने अनुभव किया कि "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। वे वाणी के हास अश्रु, स्वप्न पुलक, हाव भाव हैं[१]।" अर्थात् इस युग के कवियों ने अलंकार को अभिव्यक्ति का अभिन्न अंग मानते हुए काव्य के साथ उसके अंतरंग संबंध को अत्यंत निर्भ्रांत रूप में स्वीकार किया। परिणाम यह हुआ कि हिंदी कविता के क्षेत्र में भावाभिव्यक्ति की नूतन भंगिमाओं का आविष्कार हुआ। प्राचीन कवि के लिये अलंकार एक पृथक् उपकरण था जिसका प्रयोग वह सचेष्ट होकर करता था क्योंकि वह जानता था कि यह कविकर्म का अंग है। नए कवि ने भी ऐसा किया है—उदाहरण के लिये पंत ने आरंभ में 'पल्लव', 'ग्रंथि' में और प्रसाद ने 'आँसू' में सादृश्यमूलक रूपक आदि तथा विरोधमूलक कतिपय अलंकारों का सचेष्ट उपयोग किया है, परंतु धीरे धीरे यह प्रवृत्ति समाप्त हो गई है। छायावाद का कवि बाद में चलकर जिस काव्यभाषा

१ पल्लव की भूमिका।

का उपयोग करता है उसका स्वरूप ही अलंकृत है: कवि अलंकार का अभिव्यंजना के साथ योग नहीं करता--अलंकार अभिव्यंजना में अंतर्भुक्त रहता है। प्रसाद, निराला, माखनलाल, पंत, महादेवी, सियारामशरण आदि की पद्यशैली ही नहीं गद्यशैली भी अनिवार्य रूप से अलंकृत है। नवीन सौंदर्यदृष्टि के उन्मेष के फलस्वरूप शब्द अर्थ के नए चमत्कृत प्रयोग होने लगे और ललित कल्पना द्वारा निर्मित अभिकल्पों[१] के स्थान पर अनुभूतिप्रेरित बिबवक्रताओं की सृष्टि होने लगी। प्रकृति के रमणीय रूपों मानव जीवन के रागात्मक क्षेत्रों, प्राचीन संस्कृति और साहित्य के समृद्ध कोषों से अलंकरण सामग्री का मुक्त भाव से संचयन किया गया। लक्षणा की चित्रमयी संभावनाओं का पूर्ण उपयोग हुआ और शब्द अर्थ की नव नव व्यंजनाओं का उद्घाटन किया गया। कुंतक द्वारा प्रकाशित शब्द और अर्थ की विभिन्न वक्रताओं के जितने प्रचुर उदाहरण छायावाद और उसके रंग में रँगी हुई इस युग की कविता में सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं उतने अन्यत्र नहीं। अक्षरसाम्य पर आधृत अनुप्रास आदि के स्थूल रूपों के स्थान पर यहाँ वर्ण-विन्यास-वक्रता के सूक्ष्मतर प्रयोग मिलते हैं और फिर पर्यायवक्रता विशेषणवक्रता, कारक, लिंग, क्रिया आदि के वक्रप्रयोग का ऐसा अक्षय कोष अन्यत्र कहाँ मिलेगा ? पाश्चात्य रोमानी काव्य के प्रभावस्वरूप मानवीकरण, विशेषणविपर्यय, अन्योक्तिरूपक, कल्पकथा आदि अलंकारों का समावेश हो जाने से हिंदी की अभिव्यंजनाशक्ति का नए रूपों में विकास हुआ। इस प्रकार अलंकारसाधनों की समृद्धि भी इस युग की एक विशेषता है। उसमें वैचित्र्य और वैविध्य का समावेश हुआ, उसके क्षेत्र का विस्तार भी हुआ, परंतु इस वैविध्य और विस्तार पर चारुत्व--अर्थात् कवि की सुरुचि का अनुशासन—सदा बना रहा। यहाँ रमणीय रूपों का ही ग्रहण किया गया, वैचित्र्य और नवीनता के लिये ऐसे उपमानों और उपकरणों का अंतर्भाव नहीं किया गया जो सहृदय के संस्कारों के साथ मेल न खाते हों। परवर्ती हिंदी कविता से छायावाद का यही मौलिक दृष्टिभेद है।

भाषा : खड़ी बोली का काव्योचित परिष्कार वास्तव में इसी युग में हुआ। आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति का प्रभावी माध्यम बनाने के लिये जिस भाषा का विकास तीन चार दशकों से किया जा रहा था, उसे काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय इसी युग के--वस्तुतः छायावाद के कवियों को है। द्विवेदी युग में ब्रजभाषा की रीतिबद्ध शृंगारसज्जा से खिन्न होकर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

[१] डिजाइन।

और उनके अनुयायी कवि आलोचक काव्यभाषा और व्यवहार की भाषा का भेद मिटाने का असफल प्रयत्न करते रहे--वे राग की भाषा और व्यवहार की भाषा के सहज अंतर को भूलकर पद्य की भाषा को गद्य के निकट लाने के लिये जिस प्रकार के कृत्रिम प्रयोग कर रहे थे, उनसे काव्यभाषा की समस्या हल नहीं हो रही थी और उस युग के सच्चे कवियों के संस्कार ब्रजभाषा का आँचल नहीं छोड़ पाते थे। छायावाद के कवियों ने रवींद्रनाथ, अंगरेजी के रोमानी कवियों और कालिदास से प्रेरणा ग्रहण कर, अपने युग की स्वीकृत भाषा की आंतरिक शक्तियों का विकास करते हुए एक नवीन काव्यभाषा का निर्माण किया जो रीतिभाषा से अधिक समर्थ और रीतिमुक्त भाषा से अधिक समृद्ध थी। रीतिकवियों का जितना आग्रह मसृणता और कांति के प्रति था उतना वक्रता और वैदग्ध्य अर्थात् भाषा की लाक्षणिक और व्यंजनात्मक शक्ति के विकास के प्रति नहीं था। घनानंद आदि रीतिमुक्त कवियों ने वक्रता और वैदग्ध्य का—भाषा की लाक्षणिक और व्यंजनात्मक शक्तियों का—विकास किया किंतु रीतिभाषा की मसृणता और कांति की रक्षा वे नहीं कर सके। छायावाद के कवियों ने भाषा के इन दोनों गुणों का युगपत् विकास किया—खड़ी बोली के खुरदरे उपकरणों को इस खूबी के साथ चिकना किया और चमकाया कि उनके भीतर के रंग बाहर फूट उठे। जिस भाषा में केवल इतिवृत्त-कथन की शक्ति थी उसमें अब मर्म की व्यंजना और कल्पना का अनुरंजन करने की सहज क्षमता आ गई। काव्यरचना के लिये जिस बिंबभाषा और प्रतीक-भाषा की अपेक्षा होती है उसका निर्माण वस्तुतः इसी युग में हुआ। संस्कृत के रत्नकोष के मुक्त उपयोग द्वारा शब्दभांडार समृद्ध हुआ, अँगरेजी की लाक्षणिक भंगिमाओं के आधार पर अनेक काव्यमय शब्दों का निर्माण हुआ और कलामर्मज्ञ कवियों ने उनके अंतःसंगीत का भरपूर उपयोग कर एक ऐसी चित्रभाषा का विकास किया जो कालिदास के बाद केवल रवींद्रनाथ के काव्य में ही उपलब्ध हो सकी थी। काव्यप्रयोगों से असंपृक्त उस नई अनगढ़ भाषा को एक ओर अनुभूति के सूक्ष्मतम स्पंदनों तथा दर्शन के गूढ़तम रहस्यों, दूसरी ओर जीवन व जगत् के विराट् रूपों को अभिव्यक्त करने की क्षमता प्राप्त हुई और हिंदी कविता को एक अत्यंत प्रौढ़ एवं समृद्ध माध्यम उपलब्ध हो गया जिसमें भावी विकास की संपूर्ण संभावनाएँ थीं।

भाषा का यह संस्कारसाधन छायावाद तक ही सीमित नहीं रहा। छायावाद के वृत्त से बाहर कवियों का एक प्रमुख वर्ग जो खड़ी बोली के व्यवहार गुण को—मुहावरे और अर्थवेत्ता को ही प्रमाण मानता था और सामान्य प्रयोग की भंगिमाओं तथा शब्दावली की परिधि के भीतर ही काव्यभाषा के विकास में विश्वास करता था, उसने भी इसका पूरा पूरा लाभ उठाया। मैथिलीशरण गुप्त

की मध्यवर्ती रचनाओं—'साकेत', 'यशोधरा' और 'द्वापर' की भाषा इसका प्रमाण है। इस भाषा ने खड़ी बोली के व्यावहारिक रूप को साग्रह स्वीकार करते हुए उसकी गद्यवत्ता का त्याग कर दिया और इसके प्रयोक्ताओं ने रीतिभाषा (डिक्शन) का विरोध करते हुए भी समृद्ध काव्यभाषा की संरचना के लिये अत्यंत मनोयोगपूर्वक साधना की। सिद्धांत में यह कवि वर्ग छायावाद और उसके काव्यशिल्प का विरोधी था, परंतु व्यवहार में उसके प्रभाव को अप्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करता चला जा रहा था। इस प्रकार विकासशील हिंदी कविता के लिये एक समृद्ध माध्यम का निर्माण करने में इस युग ने अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान किया।

(घ) **रूपबंध और छंदविधान** : कथ्य की नवीन भंगिमाओं की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिये इस युग के शिल्पी कवियों ने नए काव्यरूपों का आयात एवं आविष्कार किया। इस युग के काव्य में आत्मतत्व का प्राधान्य होने के कारण प्रगीत के अनेक रूपों का विकास हुआ। भारतीय काव्यपरंपरा में स्फुट काव्य के प्राय: दो रूपों का प्रचलन था—मुक्तक और पद। मुक्तक पूर्वापर संबंध से मुक्त, अपने में पूर्ण, रचना का नाम है जो किसी एक अनुभव को शब्दबद्ध कर कृतकार्य हो जाती है : इसका रूप प्राय: स्थिर और चित्रात्मक होता है। पद या गीत गेय रचना है जिसमें हृदय की कोमल भावनाएँ संगीत में द्रवित होती रहती हैं : इसका रूप तरल एवं गत्यात्मक होता है। इन दोनों के संयोग से आगे चलकर गेय मुक्तक का विकास हुआ जिसमें छंदोबद्ध भाव चित्र रागतत्व की ऊष्मा के कारण संगीतमय हो गया। हाल की गाथाओं और गोवर्धन की आर्याओं में गेय तत्व सहज ही विद्यमान है। छायावाद युग में पाश्चात्य प्रभाव से लिरिक की समानार्थक एक नवीन काव्यविधा प्रगीत का आविर्भाव हुआ जिसमें जीवन और जगत् के कल्पना रमणीय विषयों के प्रति भावुक मन की रागात्मक प्रतिक्रियाओं की बिंबात्मक अभिव्यक्ति के लिये अपेक्षाकृत अधिक अवकाश था। पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा काव्य में प्रगीत के अनेक रूपों का विवेचन एवं प्रयोग है। ये रूप भेद कथ्य और छंदबंध दोनों पर आधृत हैं। संबोध गति (ओड) प्राय: चिंतन प्रधान रचना होती है, शोकगीति (ऐलिजी) का संबंध इष्ट के नाश से है, चतुर्दशपदी (सॉनेट) का अपना एक विशेष छंदबंध होता है और इसकी रचना प्राय: प्रेम या नीति आदि विषयों को लेकर की जाती है—इनके अतिरिक्त प्रगीत के अनेक स्वतंत्र रूप भी हैं जिनमें कथ्य के अनुरूप छंदविधान और पदयोजना रहती है। उधर पाश्चात्य काव्य की एक प्रसिद्ध विधा है वीरगीत (बैलॅड), जिसमें लोकजीवन की किसी शौर्यगाथा का गेय शैली में वर्णन होता है। आख्यानकाव्य के अंतर्गत महाकाव्य, वीर काव्य, कथा काव्य,

प्रतीक काव्य, काव्य रूपक आदि अनेक भेद सामने आये जो परंपरागत भारतीय महाकाव्य और खंडकाव्य से शिल्प की दृष्टि से बहुत कुछ भिन्न थे। हिंदी के शिल्पी कवियों ने अपनी काव्य परंपरा और भाषा की प्रकृति के अनुसार उनके नव नव रूपों का निर्माण किया। छायावादी काव्य की प्रवृत्ति मूलतः अंतर्मुखी थी जिसमें प्रगीत तत्व का प्राधान्य था; अतः इस युग में कथा की अंतर्मुखी प्रवृत्तियों पर आख्यान काव्य की कुछ ऐसी रूपविधाओं का आविर्भाव हुआ जिनमें कथा का विकास बाह्य जगत में न होकर प्रायः मानवचेतना के भीतर होता है--जिनमें ऐहिक जीवन की कथा न होकर प्रायः मानव मन की कथा का वर्णन रहता है। उपन्यास और नाटक के वर्धमान प्रभाव से बड़े प्रबंधकाव्यों में औपान्यासिक एवं नाटकीय शिल्पविधियों का और छोटे कथाकाव्यों में कहानी की तकनीक का मुक्त प्रयोग होने लगा था जिसके फलस्वरूप इस क्षेत्र में अनेक नवीन उद्भावनाएँ हुईं और हिंदी के काव्यशिल्प को नये आयाम प्राप्त हुए।

इन सभी रूपबंधों का वहन करने के लिये छंदयोजना के क्षेत्र में भी अनेक प्रयोग किए गए। पंत ने मात्रिक छंदों की अनेकविध संयोजनाओं से नये नये छंदबंधों की रचना की--भावनाओं के स्वरूप और उनके संकोच विस्तार के अनुरूप छंद की लय चंचल एवं स्फीत होने लगी और खड़ी बोली की कविता ब्रजभाषा की सांगीतिक परंपरा से भिन्न एक नये संगीत में मुखरित हो उठी। कुछ कवियों ने संस्कृत के वर्णवृत्तों का सफल प्रयोग किया और मंदाक्रांता एवं शिखरिणी जैसे छंदों की तरंगित लय ने हिंदी के छंदविधान की समृद्धि में विशेष रूप से योगदान किया। निराला का नादसौंदर्य का सहज ज्ञान और भी अधिक संपन्न था। उन्होंने हिंदी के मात्रिक छंदों की स्वर मैत्री तथा वर्णिक छंदों की व्यंजन मैत्री की शत शत नवीन संयोजनाएँ प्रस्तुत कीं, गति तथा यति में परिवर्तन कर प्रचलित छंद लय में भावानुकूल संशोधन किये और एकाधिक छंदों के योग से नये छंदों का विधान किया। निराला का विशेष अवदान है मुक्तछंद। हिंदी के प्रतिनिधि छंद 'कवित्त' के आधार पर उन्होंने मुक्तछंद का आविष्कार कर भाषा की प्रकृति के अनुसार स्वच्छंद विचार प्रवाह एवं मुक्त भावधारा के अनुकूल अनेक रूपों में उसका विकास किया और उधर संलापोचित वाग्मिता का समावेश कर उसे अपने युग की राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति का समर्थ माध्यम बना दिया। मैथिलीशरण गुप्त ने बंगला के पयार छंद को हिंदी के वर्णसंगीत में ढालकर कथाप्रवाह का वहन करने के लिये एक नये माध्यम का निर्माण किया और सियारामशरण गुप्त ने उसके लयविधान के अंतर्गत नए नए अभिकल्प रचकर पद्य और गद्य की लय के कृत्रिम भेद को दृढ़ करने का सफल प्रयत्न किया। उधर महादेवी ने परिष्कृत शब्दसंगीत और लोकगीतों के लयविधान

के संयोग से 'कलागीत' की रचना की जिसके द्वारा संस्कृत मन की तरल कोमल भावनाओं को उचित अभिव्यक्ति मिल सकी। बाद में चलकर यही गीत वैयक्तिक कविता का सहज माध्यम बना।

इस प्रकार यह युग निश्चय ही हिंदी काव्य की चरम समृद्धि और परिष्कृति का युग है। परवर्ती कवियों और उनके समर्थक लेखकों ने अपने अस्तित्व की घोषणा करने के उद्देश्य से साहित्यिक एवं राजनीतिक मंचों से इसकी गरिमा का अवमूल्यन करने के लिये अनेक प्रकार की व्यूह रचनाएँ कीं जो आज भी बराबर चल रही हैं, परंतु इसका गौरव भारत के नहीं विश्व के साहित्यिक इतिहास में अक्षुण्ण रहेगा। किसी भी युग का कला मर्मज्ञ जब हिंदी काव्य की उपलब्धियों का आकलन करने बैठेगा तो यह कालखंड निश्चय ही उसे सबसे अधिक आकृष्ट करेगा।

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

भाग १०

उत्कर्ष काल : काव्य

लेखकानुक्रमणिका

टि०—डैश द्वारा संयोजित पृष्ठांकों पर विशेष विवरण उपलब्ध हैं।


नागरी
सभा
प्रचारिणी

